'प्रसाद'-साहित्य में नारी

—रजनी कपूर
एम० ए०

: निर्देशिका :

डा० शैलकुमारी

एम० ए०, डी० फिल्० (प्रयाग)

हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद ।

१९७०
इलाहाबाद ।

भूमिका

समाज के अस्तित्व के लिये नारी मेरुदंड है। वैदिक काल से अद्यप्रभृति भारतीय नारी गौरव का कारण रही है। अनेक बाह्य संस्कृतियों ने भारतीय संस्कृति को अपने आच्छादन से आवृत कर लेने का यत्न किया, किंतु भारतीय संस्कृति की समन्वय वृत्ति ने उन्हें अपने में आत्मसात् कर लिया, और इस संस्कृति की धारा अक्षुण्ण रूप में सत्यं शिवं और सुन्दरम् के तिरंगे ध्वज की छाया में प्रवाहित होती रही। इस प्रवाह में भारतीय नारी का विशेष योगदान रहा। यहां तक कि उस युग में भी, जब कि, हिन्दू और यवन संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष अपने उग्र रूप में चल रहा था, भारतीय नारियां जौहर की धू-धू करती लपटों में अपने सतीत्व की रक्षा के लिये स्वेच्छापूर्वक प्रविष्ट होती देखी गयीं। एक ओर भारतीय नारी का यह आदर्श, और उसके व्यक्तित्व में उदारता, आत्मसमर्पण, सेवाभाव, पतिभक्ति, मातृवत्सलता आदि के महानतम् आदर्श विद्यमान थे, और दूसरी ओर वही नारी एक लंबे युग तक समाज द्वारा निर्मित कृत्रिम प्रतिबंधों की दीवारों में घुट-घुटकर जीती हुई भी देखी गयी, जहां न उसका कोई व्यक्तित्व था, न कोई शिक्षा थी, न कोई अधिकार था, और न कोई अस्तित्व था। वहां वह पुरुष के हाथों की खिलौना बनकर रह गयी थी पुरुष जब चाहे उसे तोड़ दे, पुरुष जब चाहे उसे जोड़ दे। बाल-विवाह, पुरुषों में और से बहुविवाह की प्रवृत्ति, घर का कुंठाग्रस्त जीवन, सौते [illegible] परिवार की सेवा सुश्रूषा, अधिकार-विहीन, आज्ञा-पालन, प्रताड़ना, और अज्ञान से भरा धार्मिक जीवन, यही उसके भाग्य में रह गया था, और विकास के सारे मार्ग उसके लिये बंद थे।

दूसरे देशों में हम देखते हैं कि नारी-आंदोलन नारियों ने ही चलाया किंतु भारत में हम एक विलक्षण विशेषता पाते हैं, कि १९वीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों से लेकर लंबी परंपरा तक पुरुषों ने ही नारी-आंदोलन का

फंडा खड़ा किया। स्वतंत्रता - आंदोलन के साथ - साथ भारतीय नारी जागरण का भी आरंभ हुआ। देश की मुक्ति के लिये अनेक भारतीय ललनाओं ने पुरुषों के साथ कंधों से कंधा मिलाकर सक्रिय भाग लिया, और सबसे बड़ी बात हुई नारी में मातृत्व की शक्ति की उद्भावना, जिसे बंकिम बाबू ने पहले - पहल " वन्दे मातरम् " की ध्वनि से मुखरित किया। स्वतंत्रता आंदोलन ने व्यावहारिक रूप में प्रमाणित कर दिया कि नारी पुरुष की तुलना में किसी भी प्रकार क्षमता में कम नहीं है। हिन्दी - साहित्य में इन बातों को सर्वप्रथम अभिव्यक्ति प्रदान की भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने और उनके बाद पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय " हरिऔध " ने।

हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य मानवीय भावनाओं के संकुचन का साहित्य था, जिसमें नारी को केवल पुरुषों की वासना तृप्ति का एक माध्यम माना गया था। उसका समूचा व्यक्तित्व सिमटकर तरुणी नायिका के रूप में रह गया था, और उसका मातृत्व, स्त्रीत्व, सतीत्व आदि सभी गुणों का लोप हो गया था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और " हरिऔध " जी ने साहित्य में नारी को एक नये परिवेश में उपस्थित करने का यत्न अवश्य किया, किंतु उनसे नारी के पूर्ण और बहुविध व्यक्तित्व का अंकन न हो सका। इस कमी की पूर्ति की स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसाद ने, जिनका कि शोध की नारी समाज ऋणी है।

प्रसाद के साहित्य में नारी के विविध व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक आदि पक्षों में जितनी पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी है, वह हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है। हिन्दी साहित्य ही क्यों, संसार के किसी भी साहित्य में, किसी एक कवि या लेखक की रचनाओं में नारी के इतने विविध रूपों का चित्रण विरला होगा, जितना कि प्रसाद कर सके हैं। इन रूपों का चित्रण अवस्थानि में लेखक की भूमिका दे दी गय

हो, ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही नारी - जीवन और व्यक्तित्व के संदर्भ में प्रसाद की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ थीं, और उसके विकास के लिये निश्चित योजनाएँ थीं। उनके अनुशीलन और विवेचन की आवश्यकता है।

साधारणतया आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी की वस्तुस्थिति के बारे में पर्याप्त विवेचन किया गया है, और यथाप्रसंग प्रसाद जी के भी कुछ संदर्भ आये हैं। किंतु विशेष रूप में प्रसाद द्वारा सृजित नारियों के व्यक्तित्व विश्लेषण के क्षेत्र में बहुत कम अध्ययन हुआ है। उपलब्ध साहित्य में से एक प्रबंध डा० देवेश ठाकुर का अवश्य मिला है, जिसमें प्रसाद के नारी विवेचन के संबंध में काम किया गया है। प्रस्तुत प्रबंध की परिकल्पना में आधुनिक साहित्य के अन्य ग्रंथों के साथ उपर्युक्त प्रबंध का भी अध्ययन किया गया, किंतु कुछ मूलभूत तत्व ऐसे देखने को मिले, जिनकी कमी अब भी खटकती सी रही है। उपर्युक्त प्रबंध में यद्यपि वैदिक काल से स्वतंत्रता प्राप्ति तक भारतीय नारी के अभ्युत्थान पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है, और आधुनिक हिन्दी साहित्य में १८५० से १९०० तक के उत्थानकाल, और १९०१ से १९२० तक के जागृति काल तक के हिन्दी साहित्य की नारी का सामान्य विवेचन अच्छा किया गया है, फिर भी इन सामान्य प्रकरणों में प्रबंध का लगभग ७० प्रतिशत श्रम लग गया है। विशिष्ट रूप में प्रसाद कि नारी के विवेचन के लिये केवल प्रबंध का उत्तरार्द्ध अर्थात् द्वितीय खंड प्रयोग में आया है। अतः स्वाभाविक था कि प्रसाद की नारी का विस्तृत एवं सूक्ष्म विश्लेषण न हो पाता। इसीलिए इस प्रबंध में नारी - संबंधी सामान्य आदर्शों, सामाजिक नारी, नैतिक दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक भूमिका, सांस्कृतिक नारी, और आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रसाद की नारी सृष्टि का मूल्य और महत्व शीर्षक स्कंधों में ही प्रसाद की नारी संबंधी मान्यताओं का विवेचन हो पाया है। बहुत से क्षेत्र ऐसे रह गये, जो महत्व-पूर्ण होते हुये भी

प्रकाश में नहीं आये। अतः प्रसाद के नारी पात्रों के ओर भी विवेचन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इसी आवश्यकता का परिणाम प्रस्तुत प्रबंध है।

संदर्भगत विषय के अनुरूप प्रस्तुत प्रबंध को 'प्रसाद साहित्य में नारी' संज्ञा दी गयी है। विषय के सम्यक् स्पष्टीकरण के उद्देश्य से वैदिक काल से आज तक की नारी प्रगति का सामान्य विवरण भी इस प्रबंध में दिया गया है, साथ ही हिन्दी साहित्य में चित्रित नारी की सामान्य विशेषताओं का भी इस प्रबंध में उल्लेख किया गया है, किंतु ऐसे प्रकरणों में मूल उद्देश्य प्रसाद द्वारा प्रस्तुत नारी व्यक्तित्व को पूर्वापर की कसौटी पर परखना मात्र रहा है। नारी की प्रमुख विशेषताओं के साथ ही उसके बहुमुखी व्यक्तित्व के अंकन की ओर प्रसाद जी की विशेष अभिरुचि रही है, और इस क्षेत्र में उन्हें विशेष उपलब्धियाँ भी प्राप्त हुई हैं। प्रस्तुत प्रबंध में इन विशेषताओं एवं उपलब्धियों को क्रमबद्ध रूप में निरूपित करने का यत्न किया गया है। अपने इस उद्देश्य में मैं कहाँ तक सफल हो सकी हूँ, स्वयं नहीं कह सकती।

सुविधा के लिये विभिन्न अध्यायों में वर्णित प्रसंगों का संक्षिप्त संकेत निम्नवत् है :-

पीठिका -

(क) इस प्रकरण में संस्कृत साहित्य में नारी शीर्षक के अंतर्गत वैदिक-काल से लेकर संस्कृत साहित्य की रीति परंपरा तक की नारी का विश्लेषण किया गया है और प्रसाद की नारी - भावना पर संस्कृत साहित्य के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। स्मृतियों में नारी को पूज्या माना गया था - 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' (मनु)। उस मान्यता से लेकर पुराणों के युग तक नारी - परिकल्पना में जो अन्तर आया, और किस प्रकार प्रसाद ने नारी को 'श्रद्धा' का पर्यायवाची माना, इसका क्रमबद्ध विवरण

गया है।

(ख) इस प्रकरण में हिन्दी साहित्य में नारी के क्रमिक विकास का विवेचन किया गया है। संवत्गत क्रम से वीरगाथा काल की नारी और विशेष रूप में राजपूत युग की नारी का विश्लेषण करते हुए मुसलमानों के आक्रमण और सांस्कृतिक उथल - पुथल का चित्रण किया गया है, जिसमें नारी जाति का सांस्कृतिक पटल पर क्या योगदान रहा उसका भी चित्रण यथास्थान कर दिया गया है। वीरगाथाकाल के उपरांत आता है हिन्दी साहित्य का पूर्वमध्य काल जिसे भक्तिकाल भी कहते हैं। वीरगाथा काल में भारतीय नारी की जो स्थिति थी, भक्तिकाल में बदलती हुई परिस्थितियों के कारण एक परिवर्तन आया - एक परिष्कार हुआ। अतः इस प्रकरण में भक्तिकाल की नारी संबंधित आरंभिक स्थिति, बाहुबल के पराभव में भगवद्भक्ति की पुकार, सांस्कृतिक ह्रास के बीच भी नारी आदर्शों की नवीन स्थापना, उसकी आध्यात्मिक मान्यता, उसका आलम्ब और उसका प्रतीकात्मक अस्तित्व, उसका मायारूप आदि विविध रूप में चित्रित किया गया है। भक्ति भावनाओं के साथ ही उस युग में नारी, समाज को प्रभावित करनेवाली एक और काव्यधारा थी, जिसे सूफी काव्य की संज्ञा दी गयी। इस काव्यधारा के अंतर्गत नारी - जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जिसमें प्रेमकाव्य पनपा। अतः इस काव्य के मूलाधार का दिग्दर्शन करते हुये नारी की स्थिति की विवेचना की गई है। क्रमशः भक्ति-काव्य के राम काव्य, कृष्ण काव्य, मीरा की प्रेम व्यंजना और उसमें व्यंजित नारी समाज एवं कृष्ण काव्य में चित्रित नारी के सामाजिक पक्ष का भी विवेचन यथाप्रसंग किया गया है। भक्तिकाव्य के उपरांत रीतिकाल की सामान्य परिस्थितियों और उन परिस्थितियों में चित्रित नारी की व्यंजना तथा रीतिकालीन नारी संबंधित सामान्य निष्कर्ष देते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य

में चित्रित नारी की वस्तुस्थिति का विवेचन किया गया है। इस विवेचन में आधुनिक काल की पृष्ठभूमि, भारतेन्दु युग की परिस्थितियाँ और उनमें चित्रित नारी का विश्लेषण करते हुए नारी के सांस्कृतिक जागरण का संदर्भ प्रस्तुत किया गया है। राजाराममोहन राय और ब्रह्म समाज, दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज, महादेव गोविंद रानाडे और प्रार्थना समाज, एनीबेसेन्ट और थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन और इंडियन नेशनल कांग्रेस द्वारा नारी जागरण के प्रकरण में किये गये प्रयत्नों का परिचय दिया गया है। उपर्युक्त आंदोलनों के परिणामस्वरूप नारी को आधुनिक हिन्दी काव्य में जो अभिव्यक्ति मिली, उसका भी विवेचन प्रस्तुत प्रकरण में करते हुये प्रसाद जी के नारी संबंधी आधुनिक दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है।

अध्याय १ –

पीठिका के उपर्युक्त परिचयात्मक प्रकरणों के उपरांत प्रबंध के वास्तविक विषय के विवेचन का आरंभ अध्याय एक से होता है, जिसमें व्यक्तित्व के संदर्भ में प्रसाद की नारी-संरचना पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकरण के अंतर्गत नारी जीवन से संबंधित प्रसाद जी के पारिवारिक संदर्भ, सामाजिक संदर्भ, प्रसाद के व्यक्तित्व पर काशी की भावभूमि के प्रभाव यथा : शैव दर्शन, अर्धनारीश्वर रूप, बौद्ध दर्शन, जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण, स्वयं प्रसाद के प्रेरणास्त्रोत आदि का उल्लेख किया गया है। साथ ही प्रसाद जी के व्यक्तित्व में उनके द्वारा किये गये पर्यटनों द्वारा आई हुई व्यापक अनुभूतियों और उनके परिणामस्वरूप उद्भूत आधुनिक सामाजिक परिवेश के प्रति उनकी नवीन दृष्टि का विवेचन भी इस अध्याय में विस्तारूप में किया गया है। इस विवेचन का उद्देश्य प्रसाद की व्यक्तिगत अभिरुचि के प्रकाश में उनके द्वारा सृजित नारियों के व्यक्तित्व विश्लेषण का मार्ग प्रशस्त करना रहा है।

अध्याय २-

इस अध्याय के अंतर्गत प्रसाद - साहित्य की सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि की विवेचना की गई है। इसमें यथाप्रसंग संस्कृति की मौलिक उद्भावना, भारतीय संस्कृति के स्वरूप, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ आदि का विवेचन किया गया है, और उनके संदर्भ में प्रसाद जी की सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि का परिचय देते हुए उनके साहित्य का मूल्यांकन किया गया है। इस मूल्यांकन में शैव दर्शन और प्रसाद जी के साहित्य में शैव तत्व तथा आनंदवाद की प्रस्थापना से लेकर अद्वैतवाद, मंगलमय सृष्टि शिव व शक्ति के समन्वय आदि का विवेचन करते हुये प्रसाद जी पर बौद्ध दर्शन के प्रभावों का भी विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण के अनुरूप बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक आधारों, दुःखवाद, क्षेम - दया और अहिंसा, अष्टपदी तत्वों, और इनके प्रति प्रसाद जी के दृष्टिकोण का विस्तृत परिचय दिया गया है। साथ ही प्रसाद द्वारा प्रस्थापित आनंदवाद, मानववाद, राष्ट्रीय-चेतना आदि का भी यथा प्रसंग विवेचन भी इस अध्याय में किया गया है।

अध्याय ३ -

" छायावाद की पृष्ठभूमि और प्रसाद की नारी " शीर्षक इस अध्याय का विशेष महत्व है। रीतिकाल तथा उसके उपरांत जिस शृंगारात्मक और स्थूल धेरे में नारी का व्यक्तित्व अटका हुआ था, उससे निकालने का काम छायावाद ने ही किया था। छायावाद का सौंदर्यबोध नारी के संबंध में एक सर्वथा नवीन अध्याय जोड़ता है। अतः इस अध्याय में नारी - संबंधी छायावादी मान्यताओं का परिचय देते हुए प्रसाद की नारी - संबंधी छायावादी अभिव्यक्तियों की मीमांसा की गई है।

अध्याय ४ -

इस अध्याय में ऐतिहासिक परिवेश में नारी पात्रों की विवेचना करते हुए प्रसाद के नारी पात्रों को युगानुरूप निरूपित किया गया है। इस विभाजन के अंतर्गत

बौद्ध काल, मौर्य काल, गुप्त काल, हर्षवर्द्धन काल और मुगल काल का नारी वर्ग आता है। उपर्युक्त वर्गों के नारी चित्रण में प्रसाद द्वारा ग्रहण किये गये ऐतिहासिक आधारों और उनसे उद्भूत परिस्थितियों का विवेचन जिन नारी पात्रों में देखने को मिलता है, उनके संबंध में प्रसाद की नूतन और मौलिक उद्भावना का विवेचन भी इसी अध्याय में किया गया है। इसके साथ ही अर्द्धऐतिहासिक नारी-पात्रों का भी संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में दिया गया है।

अध्याय ५ -

इस अध्याय में प्रसाद द्वारा चित्रित पौराणिक परिवेश में नारीपात्रों की विवेचना की गयी है, और नारी की पौराणिक मान्यताओं को अक्षुण्ण रखते हुए भी प्रसाद ने अपने नारी-पात्रों में किस प्रकार आधुनिकता का समावेश किया है और उनके माध्यम से किस प्रकार आधुनिक परिस्थितियों के समाधान का मार्ग ढूंढा है, इसका भी विवेचन यथाप्रसंग नारी के व्यक्तित्व-विश्लेषण में कर दिया गया है।

अध्याय ६ -

इस अध्याय में प्रसाद की नारी संबंधी ऐसी समस्याओं का विश्लेषण है, जिन्हें सामाजिक परिवेश में लाकर यथार्थ की धरती पर देखा जा सकता है। समाज की भिन्न - भिन्न समस्याओं का समाधान भी अपने नारी-पात्रों के माध्यम से प्रसाद जी कर सके हैं, और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन समस्याओं के समाधान के लिए प्रसाद ने शास्त्रीय आधार स्त्रोत भी प्रस्तुत किये हैं, जिनका कि विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया जा सका है।

अध्याय ७ -

सौन्दर्य नारी के व्यक्तित्व का प्रमुख अंग है। इस अध्याय

रूप विधान के संदर्भ में प्रसाद के नारी पात्रों का विश्लेषण किया गया है। इस रूप विधान के अंतर्गत बाह्य रूप और तद्जनित बाह्य सौन्दर्य तथा अन्तःरूप और तद्जनित भावसौन्दर्य को भी प्रसाद ने किस रूप में आंका है और रूप सौन्दर्य के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण रहा है, इसका समुचित विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

अध्याय ८ -

इस अध्याय के अंतर्गत विशिष्ट रूप में प्रसाद के नारी - पात्रों का व्यक्तित्व - विश्लेषण किया गया है, और इन नारी पात्रों को उदात्त नारीवर्ग और अनुदात्त नारी वर्ग की रेखाओं में रखते हुये, उनके व्यक्तित्व को परखने की चेष्टा की गयी है। व्यक्तित्व के इस परीक्षण में मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तीनों आयामों को विशेष रूप में दृष्टि में रखा गया है

अध्याय ९ -

यह अध्याय प्रस्तुत प्रबंध का अंतिम और निष्कर्षात्मक अध्याय है, जिसमें नारी सृजन के क्षेत्र में प्रसाद की विशिष्ट उपलब्धियों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इस अध्याय के अनुशीलन से प्रसाद की नारीगत मान्यताओं का एक भावात्मक परिचय मिलता है।

प्रस्तुत प्रबंध की प्रेरणा और इसके संपादन में मेरे ऊपर कुछ व्यक्तियों का कृपापूर्ण आभार रहा है, जिनका प्रतिदान यद्यपि मैं नहीं कर सकती, फिर भी, आभार प्रदर्शन अवश्य कर सकती हूं। सर्वप्रथम मैं अपनी निर्देशिका डा० शैल कुमारी के चरण कमलों में कोटिशः प्रणाम अर्पित करती हूं, जिनकी असीम कृपा से मेरी साधना के बिखरे हुए पुष्प प्रस्तुत शोध- प्रबंध में संकलित हो सके हैं। उनके कृपापूर्ण सौजन्य के कारण ही गृहस्थ जीवन में सभी उत्तरदायित्वों

का निर्वाह करते हुए भी मैं शोध के गुरुतर कार्य को पूर्ण करने में सफल हुई। मैं जब भी सम्मुख आने वाली विषमताओं से विचलित होने लगती थी, उनकी आश्वासनपूर्ण वाणी सहायक एवं पथप्रदर्शक होती थी। अपने अथक परिश्रम के द्वारा वे स्वयं मुझे शोध-कार्य पूरा करने की प्रेरणा प्रदान करती रहीं।

मैं अपने गुरुदेव डा० रामकुमार वर्मा के प्रति भी अत्यधिक कृतज्ञ हूं, जिनकी मौलिक प्रेरणा से मैं अपने आप में प्रस्तुत प्रबंध के संबंध में अध्ययन करने के लिए प्रेरित हो सकी थी। चारुमित्रा नामक एकांकी पर मेरे द्वारा लिखित विवेचना को देखकर गुरुदेव ने मुझे जो आशीर्वाद दिया था, उसी का प्रतिफल यह प्रबंध है।

कुछ पारिवारिक स्नेह और अनुग्रह का भी आभार मेरे ऊपर है। निरंतर अध्ययनरत रहने की शुभ प्रेरणा मुझे अपने पूज्य पिता जी से मिली है जो स्वयं उच्च न्यायालय की अत्यधिक कार्य-व्यस्तता के उपरान्त भी विधि-विषय की विभिन्न शाखाओं में अध्ययनरत रहा करते हैं। पिता जी से प्राप्त इस प्रेरणा को सजग कर उसे सक्रियता का रूप प्रदान कराने में बहुत बड़ा योगदान है मेरे अनुज श्री दयाशंकर दुबे का, जो पारिवारिक आत्मीयता और स्वयं एक शोध-छात्र होने के नाते मेरे एक भाई भी हैं और भावात्मक आभार के नाते एक गुरु भी। मेरे परिवार के लोगों ने मुझे इतनी सुविधा दी है कि मैं गार्हस्थ्य-दायित्वों का निर्वाह करते हुए शोधकार्य कर सकी हूं। इन सभी लोगों के प्रति मैं आभार तो नहीं व्यक्त कर सकती; क्योंकि इन सभी लोगों के प्रति आत्मीयता का लगाव है। हाँ, इनके प्रति श्रद्धा से मस्तक स्वयमेव विनम्रावनत है।

मेरी भावात्मक कृतज्ञता उन सभी लेखकों और रचनाकारों के प्रति है, जिनकी रचनाएँ पढ़कर मुझमें कुछ लिख सकने की सामर्थ्य उत्पन्न हो सकी है।

रजनी कपूर
(रजनी कपूर)
एम० ए०

इलाहाबाद :
मई, [illegible]।

अनुक्रम

—पीठिका

(क) संस्कृत साहित्य मे नारी

(ख) हिन्दी साहित्य में नारी

(क) संस्कृत साहित्य में नारी

संस्कृत साहित्य में नारी

भारतीय संस्कृति को अपने नारीगत आदर्शों की महानता पर सदैव से अभिमान रहा है। शक्ति की अधिष्ठात्री नारी वैदिक काल से ही पावनता की प्रतीक मानी[1] गई है। वह सृष्टि की धात्री है और देवताओं के लिए भी वन्दनीया है।

भारत का प्राचीनतम वाङ्मय नारी की सामाजिक स्थिति, उसके व्यक्तित्व के स्वरूप एवं तत्संबंधी सौंदर्य शास्त्रीय (aesthotic) दृष्टि का साक्षी है। निश्चय ही समय भेद से इनमें से विशेष रूप से प्रथम बात को लेकर परिवर्तन हुए हैं जैसा कि हम आगे देखेंगे। किन्तु रोचक तथ्य यह है कि नारी व्यक्तित्व की परिकल्पना का आदर्श अद्यावधि लगभग वही है जिसके प्रमाण हमें प्राचीन काल में मिलते हैं।

वैदिक परिकल्पना में नारी की सृष्टि -

नारी और पुरुष क्रमशः शक्ति और पुरुषार्थ के दो रूप हैं। वैदिक ऋषियों ने आदि-पुरुष और आदिशक्ति के दर्शन किये। उन्होंने देखा कि निखिल सृष्टि[2] के मूल में दो ही तत्व प्रधान हैं -- एक है पुरुष और दूसरा है नारी।

आदि सृष्टि के मूलभूत तथ्यों पर विचार करते हुए ऋग्वेद में सर्वप्रथम ब्रह्म की कल्पना की गई है। आदिशक्ति नारी की उत्पत्ति के संबंध में कहा गया है कि ब्रह्म अकेले जब सृष्टि करने में समर्थ न हो सका -

---

१- मनुस्मृति ३- ५६।

२- The wife and husband being the equal halves of one substance were regarded equal in every respect and both took equal part in all duties - religious and social.
Rigveda V.61-8.

एकमेवा द्वितीयम् नेह नानास्ति किंचन[1]

तब उसने आत्ममंथन के द्वारा नारी की सृष्टि की । पुरुष रूप में ब्रह्म और प्रकृति रूप में स्त्री , दोनों मिलकर आगे की सृष्टि कर सकने में समर्थ हुए । दोनों एक ही तत्व के दो अनुपूरक अंग हैं ।

ऋग्वेद में नारीत्व का सर्वोत्कृष्ट रूप देवियों के वर्णनों में मिलता है । विभिन्न नारियों के दृष्टांत इस प्रकार हैं , जैसे अदिति स्वाधीनता की देवी मानी गई है , जो सृष्टि का संचार और बंधनों से मुक्ति प्रदान करती है , इन्द्राणी अपने त्याग और बलिदान से इन्द्र को बलवान बनाती है , दूसरी ओर पत्नी के रूप में भी प्रकट होती है । सूर्या आदर्श हिन्दू वधू का प्रतिनिधित्व करती है । एक ओर संगीत की देवी सरस्वती है , तो उषा प्रकाश की देवी के रूप में प्रतिष्ठित हुई है । इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने सौंदर्य को नारी के रूप में देखा है । प्राकृतिक सौंदर्य से संपन्न उषा का वर्णन वैदिक कालीन कवियों ने एक लावण्यमयी नारी के रूप में किया है ।

ऋग्वेद के प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि माता-पिता के दुलार एवं प्रेम की अपार राशि कन्या को प्राप्त होती थी । ऋग्वेद में कन्या और माता-पिता के संबंध का निरूपण इस प्रकार किया गया है :- .

" संगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे ।"

- ऋ० १। १८५। ५

(परस्पर उपकारी भाव से युक्त नित्य तरुण युवती और जामातृ पिता की गोद में बैठते हैं)

नारी की शक्ति और महत्व का स्रोत उसके प्रेम में होता था , तथा वही पति भाग्यवान् समझा जाता था । जो प्रेममयी पत्नी को प्राप्त कर सके ।[2]

१- बृहदारण्यक उपनिषद्

२- ऋग्वेद , ५। ३०। ३, तथा ऋग्वेद , १ ।

पति एवं पत्नी का संबंध अविच्छिन्न एवं अभिन्न होता था। एक के बिना दूसरे का जीवन अधूरा और कष्टमय समझा जाता था। पत्नी के बिना पति धार्मिक कृत्य संपादन में पंगु था, क्योंकि उसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं था --

" अयज्ञो वा एष यो पत्नीकः।"

-- तै० ब्रा० २।२।२।६

इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में नारी को पुरुषों की तुलना में समान अधिकार प्राप्त थे।

वैदिक साहित्य में दम्पति के दांपत्य प्रेम की सूचक ऋचाएँ स्थल-स्थल पर प्राप्त होती हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक साहित्य में पत्नी के व्यक्तित्व को भली-भाँति पहचाना गया है। सर्वत्र उसके प्रति सहानुभूति की भावना प्रदर्शित की गई है तथा उसके कल्याण की कामना की गई है।[2]

पत्नी रूप का चरम सौंदर्य उसके मातृत्व में होता है। वैदिक साहित्य में "मातृ" शब्द माता-पिता दोनों का बोध कराता है। गृह में पत्नी सेवकों का भी माता के समान पुत्रवत् लालन-पालन करती थी।[3]

ऋग्वेद के मंत्र -- " तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व" के अनुसार नारी शिवतमा है।[4] यह मंत्र जहाँ नारी के सौंदर्य और भोग्यरूप का वर्णन करता है, वहाँ दूसरी ओर इससे उसके कल्याणमय स्वरूप का निदर्शन भी होता है।

१- विल्सन : ऋग्वेद, भाग ५, पृ० १४० भा० ५ पृ० १७, भा० ८।

२- वीमेन इन ऋग्वेद, बा०एस०पी० उपाध्याय पृ० १७।

३- विल्सन : ऋग्वेद, भा० १ पृ० ९५, भा० ८।

४- ऋ०, १०।८५।३७।

वैदिक काल में नारी के यथार्थरूप का चित्रण हुआ है। जिसमें तत्कालीन नारी के वास्तविक जीवन में उसे पुत्री, पत्नी और माता रूप में भी देखा गया।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जाया अपना आधा अंश ही है।[1]

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में पति और पत्नी का संबंध वही था, जो शिव के अर्धनारीश्वर रूप में देखा जा सकता है। पति-पत्नी से कहता है सामवेद मैं हूं, तुम ऋग्वेद हो। हम दोनों परस्पर प्रिय हों, एक दूसरे के साथ प्रभान्वित हों, हम लोगों के मन परस्पर औदार्य करें और हम दोनों साथ सौ वर्ष जीयें। तुम पत्थर की भांति दृढ़ बनो।[2]

ऐतरीय ब्राह्मण में भी कहा है " सत्कर्मों द्वारा पति एवं पत्नी एक दूसरे से युक्त हो जांय। हल में बैलों की भांति उन्हें यज्ञ में जुट जाना चाहिए। दोनों एक मन हो शत्रुओं का नाश करें।"[3]

ब्राह्मणों के पश्चात् उपनिषद् ग्रंथों में भी नारी के स्वरूप की व्याख्या की गई। नारी लौकिक जीवन का एक आवश्यक अंग मानी गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह वर्णन आता है कि समाज में पति-पत्नी एक सूत्र में बंध कर एकात्मभाव से रहते थे। पत्नी के बिना पति अपूर्ण समझा जाता था।

" आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यात् "

- बृहद० उप० १। ४। १७

नारी यज्ञ की वेदिका थी, और पुत्र उसका फल, जो परलोक के

१- अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जायेति (५-२-१-१०)

२- महाभारत : आदिपर्व : ७४-४०

३- The words Pati (master) and Patni (mistress) used in the Rigveda signify the equality of position of husband and wife in the household.

लिए हितकारी था[1]।- बृहदा० ६।४।३

उपनिषद् काल में वैवाहिक संबंध मानव की प्राकृत वासनात्मक भावना का हेतु न था अपितु पुत्रोत्पत्ति के लिए वह एक धार्मिक अनुष्ठान का महत्व रखता था। उस समय जीवन की प्रत्येक क्रिया का एक याज्ञिक स्वरूप होता था।[2]

इसके साथ ही उपनिषदों में इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि नारी दार्शनिक क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष भाग लेती थी, और वह जीवन के सर्वोत्तम आध्यात्मिक सत्यों की मीमांसा करने में भी सक्षम होती थी। अनेक ऐसी महिलाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक रूपों में विशिष्ट सम्मान का स्थान प्राप्त कर लिया था। जैसे राजर्षि जनक की सभा में गार्गी ने तत्वज्ञानी याज्ञवल्क्य से ब्रह्म की सत्ता और प्रकृति के संबंध में अनेक प्रश्न किये थे। स्वयं याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सांसारिक वैभवों का तिरस्कार कर दिया था -

"सा हो वाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति।"[3]

(बृहदा० उप० ४।५।३-४)

अर्थात् (जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती उस धन का क्या करूंगी? भगवन् आप जो (अमरत्व के साधन) जानते हो वे कहें)

स्पष्ट है उपनिषदों ने नारी जीवन को बहुत महत्व दिया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में नारी का पुरुष के साथ समान अधिकार था। उसके व्यक्तित्व और प्रतिभा के स्वाभाविक विकास में बाधा नहीं थी। गृह ही प्रधान कार्य क्षेत्र था।

१- सरला दुआ; आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी; पृ० ३१

२- बृहदा० १।४

३- बृहदारण्यक उपनिषद् ११, ४

उपनिषदों में शिक्षित नारियों का भी उल्लेख है । वे शिक्षिकाएँ होती थीं तथा समाज में धर्म-शिक्षा का प्रचार करती थी ------उपनिषदों ने संसार को परब्रह्म की यज्ञशाला नर को होता तथा नारी को अग्निरूप में उपस्थित किया है । इस प्रकार से नर-संचायक है और नारी विभाजक । इसमें नारी को पुरुष के समान ही महत्ता प्राप्त है, और इसी के आधार पर सारा संसार स्थित है ।[1]

महाकाव्य काल और नारी

वेदों और उपनिषदों के बाद महाकाव्यों का युग आता है । त्रेता युग का प्रतिनिधित्व आदि कवि वाल्मीकि की रामायण करती है और महाभारत द्वापर का इतिवृत्तात्मक महाकाव्य है, जो उस समय की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर पूरा प्रकाश डालता है ।

(क) रामायण काल

रामायण काल में नारी को धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक और सामाजिक रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी । रामायण की अनेक नारियाँ भारतीय नारी आदर्शों से युक्त हैं । कौशल्या, कैकेयी, जानकी आदि नारियाँ आज भी भारतीय नारी समाज के लिए आदर्श बनी हुई हैं । कौशल्या का मातृ-रूप अपने प्रबलतम रूप में सामने आया है, और जानकी में पातिव्रत धर्म की पूर्णता देखी गई है ।

वाल्मीकि रामायण में अनसूया को महाभाग्यवती, तपस्विनी और धर्म में निरत स्त्री के रूप में माना गया है :[2]

अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम्

·अत्रि की ने श्री रामचंद्र जी से तपस्विनी एवं धर्मचारिणी अनसूया.

1- देवेश ठाकुर : प्रसाद के नारी चरित्र : पृ० ३३ -

2- वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, ११७-८ ।

का संपूर्ण वृत्तांत कहा था । " दस वर्ष तक बराबर जल की वृष्टि न होने से जब संसार भस्म होने लगा था , तब अनुसूया ने किस प्रकार अपनी उग्र तपस्या से ऋषियों के लिए फलमूल उत्पन्न किये और स्नान करने को गंगा नदी प्रवाहित कराया और हजार वर्ष तक उग्र तपस्या कर उन्होंने अपनी तपस्या के प्रभाव से सभी ऋषियों के तप के विघ्नों को नष्ट किया था ।"[१]

यहां तक कि अनुसूया की तपस्या में इतना बल था कि उन्होंने देवताओं का उपकार करने के लिए दस रात की एक रात कर दी थी । इसीलिए रामायण में अनुसूया को यशस्विनी और प्राणियों से नमस्कार किये जाने योग्य अर्थात् पूज्या के रूप में माना गया है ।[२]

अनुसूया ने सीता के प्रणाम का उत्तर देते हुए पातिव्रत धर्म की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया था । इसके साथ ही उन्होंने सीता से कहा था कि पति वन में रहे अथवा नगर में , पापी हो अथवा पुण्यात्मा , जो स्त्री अपने पति से प्रीति रखती है वह उत्तमोत्तम लोकों को प्राप्त होती है ।[३] इतना ही नहीं अपितु संभव है कि पति क्रूर स्वभाव का हो, कामी हो या धनहीन हो, किंतु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्री वही मानी गई है, जो ऐसे पति को भी देवता के तुल्य माने ।[४]

अनुसूया आगे स्त्री के लिए पति के महत्व को बतलाती हुई विशेष महत्वपूर्ण बात कही है । वे कहती है :-

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ।[५]

१- वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड , ११७-११-१२ -

२- तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां यशस्विनीम् ।

३- वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड , ११७-२३ ।

४- ,, ,, ,, ११७-२४ ।

५- ,, ,, ,, ११७-२५ ।

अर्थात् " हे वैदेही । मैंने भलीभाँति विचार करके देखा है पति से अधिक स्त्रियों का कोई बंधु नहीं होता । क्योंकि पति सभी अवस्थाओं में, अदाय रूप की तरह पत्नी की रक्षा कर सकने में समर्थ है । यहाँ पति को केवल इसीलिए आराध्य नहीं कहा गया है कि वह पति है इसलिए वंदनीय है, अपितु इसलिए वंदनीय कहा गया है कि वह सभी अवस्थाओं में अदाय्या रूप से पत्नी की रक्षा करता है । आगे चलकर स्त्रियों के लिए स्वर्ग का भी अधिकार माना गया है । अनुसूया सीता जी से कहती है :-

" स्त्रियः स्वर्गं चरिष्यन्ति यथा धर्मकृतस्तथा "[1]

अर्थात् जो स्त्रियाँ अच्छे और बुरे कर्मों के विवेक को ध्यान में रखती हुई आचरण करती हैं, वे पुण्यकर्मा पुरुषों की भाँति स्वर्ग प्राप्त करती हैं ।

जानकी का चरित्र भारतीय पत्नियों के महान् आदर्श का प्रतीक है । सीता का गौरव है कि वे निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, उसे अपने बायें पैर से भी नहीं छू सकती । उन्होंने कहा है -

" चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ।। "[2]

किंतु परिस्थितियों की विडंबनावश सीता का अपहरण होता है, और उन्हें लंका में निवास करना पड़ता है । वहाँ सीता जी ने अपने पतिव्रत धर्म की रक्षा किस प्रकार की है, उसका वर्णन रामायण में इस प्रकार है । सीता का एक लंबे समय तक रावण की पुरी में रहना और फिर भी अपने सतीत्व को बचाये रखना उनके लिए एक कठिन परीक्षा का समय था । उन्होंने बड़ी सच्चाई के साथ उस परीक्षा में अपने को खरा उतारा । राम रावण युद्ध के पश्चात् राम और सीता का साक्षात्कार होता है । राम सीता को पत्नी रूप में अंगीकार करने के पहले उनके सतीत्व की परीक्षा लेते हैं । अग्नि की

१- वाल्मीकि रामायण : अयोध्याकांड, ११७-२८ ।

२- सुन्दरकांड ५ । २६ । १० -

धू - धू लपटों में सीता तपस्या की पावन मूर्ति की तरह बैठ जाती है, और अग्नि की लपटें अपनी दाहक ज्वाला समेटकर उनके अखंड पातिव्रत धर्म का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। शायद ही किसी समाज और संस्कृति में नारी के पातिव्रत धर्म की इतनी बड़ी परीक्षा हुई हो और शायद ही किसी समाज की नारी को इतनी बड़ी परीक्षा से हंसती हुई निकलने का गौरव प्राप्त हो सका हो।

वाल्मीकि रामायण में जहाँ एक ओर नारी के इस महान् आदर्श और पातिव्रत धर्म की कल्पना की गई है, वहाँ एक संकेत यह भी मिलता है कि उन दिनों समाज में नारियों को रूढ़ियों और परंपराओं में भी बंधा रहना पड़ता था। उदाहरण के लिए महारानी सीता के ही जीवन को लें। उन्होंने अपने स्वयंवर की चर्चा करते हुए अनुसूया से स्वयं कहा है कि कन्या चाहे कितनी ही कुलवती, रूपवती और गुणवती क्यों न हो और कन्या का पिता चाहे इन्द्र के समान ही क्यों न हो तथा इसके समानान्तर वर पक्ष के लोग भले ही समान या हीन स्तर के हों, किंतु कन्या के पिता को वर पक्ष के सामने नीचा ही देखना पड़ता है। यथा :-

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्।
प्रधर्षणामवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि।[१]

इसी प्रकार आगे चलकर सीता जी के जीवन में एक और दारुण प्रसंग आ खड़ा होता है। जिस सीता की पवित्रता को दाहक लपटों ने प्रमाणित किया था और जिस सीता को वामपार्श्व में सिंहासनारूढ़ कराकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने राज्यभार ग्रहण किया था, उसी सीता पर एक अपवाद चल पड़ा। यह अपवाद पहले तो जनमानस में धुमैली सी गूँजता रहा, किंतु अंत में आकर एक धोबी के मुँह से प्रकट हो ही गया। सीता भले ही पवित्र क्यों न रही हों, किंतु समाज के शासन के आगे राम को भी झुकना पड़ा, और इस अपवाद को शांत करने के लिए राम को सीता के लिए वनवास जैसी कारुण, दारुण,

----

१- वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, ११८-३५।

और नियम व्यवस्था करनी पड़ी ।

इतने पर भी नारी अपने व्रत से विचलित न हुई । यहाँ तक कि गर्भ-भार से आक्रांत सीता राजाराम के इस कार्य के औचित्य को अच्छी तरह समझ रही हैं । फिर भी उन्हें उलाहना देने में नहीं चूकती । वे लक्ष्मण से पूछती हैं कि - " क्या ऐसी विकट परिस्थिति में उनका परित्याग शास्त्र या इक्ष्वाकुवंश की परंपराओं के अनुकूल है ? किंतु तुरंत ही उन्हें परिस्थितियों का आभास हो जाता है और वे कहती हैं कि " राम कल्याणबुद्धि ठहरे - अपने प्रियपात्रों के कल्याण की कामना करने वाले हैं । वे भी फिर किसी अकल्याण वस्तुकी क्या कभी कल्पना कर सकते हैं ? वह अनुभव करती हैं कि यह मेरे ही प्राचीन पातकों का जागरूक फल है । "

" कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारोमयि शंकनीय ,
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाक विस्फूर्जथुरप्रसह्यः । [१]

अपने पातकों को दूर करने का एक ही साधन है और वह साधन है तपस्या । परंतु सीता की एक विषादमयी प्रार्थना है, राम राजा ठहरे । मैं ठहरी एक तापसी , एकाकिनी तपस्विनी । कृपया एक सामान्य प्रजा की दृष्टि से ही वे मेरा ध्यान रखें । यही अंतिम निवेदन है :-

" तपस्विसामान्यमवेक्षणीया [१] ।

इस प्रार्थना में कितना ओज भरा है , कितनी करुणा है और कितना आत्म-त्याग है । भारतीय नारी का यही त्यागमय जीवन है । पति के कल्याण या मंगल के निमित्त आत्मनिषेध या आत्मसमर्पण ही नारीत्व है ।

यहाँ सीता नारी के उस आदर्श को व्यक्त करती हैं , जहाँ अपने अधिकारों और अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान होते हुए भी नारी ने अपने आप को पति की व्यवस्था और अनुशासन के ऊपर समर्पित कर दिया है । सीता कहीं

१- वाल्मीकि रामायण

में दो - दो शिशुओं का भार लिए यातनाओं से भरा अपना जीवन वाल्मीकि के आश्रम में बिता देती हैं, किंतु पति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अतिक्रमण कदापि नहीं करतीं। यहाँ तक कि उनके दोनों पुत्रों लव और कुश को रामायण की पूरी कहानी कंठाग्र करा दी जाती है, किंतु उन शिशुओं को उस समय तक इस बात का पता नहीं लगता कि अयोध्या के उसी राम ने उनकी जननी को इतनी कठिन यातनाओं का शिकार बनाया है।

(ख) <u>महाभारत काल -</u>

महाभारत काल में भी अनेक नारियों के दृष्टांत आये हैं और उसके विविध व्यक्तित्वों के सामाजिक और धार्मिक पक्षों का विश्लेषण हुआ है।

महाभारत काल में नारी के पत्नी स्वरूप को उच्च महत्व मिला है। स्त्रियाँ घरों में लक्ष्मी समझी जाती थीं। जिस घर में स्त्रियाँ नहीं होती थीं, उसे घर नहीं कानन कहा जाता था। महाभारत में कहा गया है : -

" न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते ॥[१]

- महाभारत १२। १४४। ६

इस काल में स्त्री जाति को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। स्त्री रक्षा का श्रेय स्त्रीवर्ग को देते हुए महाभारत में कहा गया है -

" वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपयन्ति कुलस्त्रियः
आत्मानमात्मना सत्यो, जितः स्वर्गो न संशयः ॥[२]

महाभारत की नारियों में वात्सल्य वैशिष्ट्य की प्रधानता देखी गई है। गांधारी, कुन्ती, माद्री आदि नारियाँ मातृत्व के गुणों से पूर्ण हैं।

१- (घर स्वयं घर नहीं है। गृहिणी ही घर कहलाती है, गृहिणी के बिना गृह अरण्य से भी निकृष्ट एवं निर्जन प्रतीत होता है)

२- वनपर्व ७४, २५।

' मातृदेवो भव '[1] भारत का प्राचीन वैदिक आदर्श रहा है, यही आदर्श हमें महाभारत में प्रतिष्ठित मिलता है :-

' गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरु '[2]।

महाभारत काल तक पहुँचते पहुँचते भारतीय नारी का यथार्थमय सामाजिक रूप निखरकर सामने आ गया था। उसकी धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं के निश्चित मापदंड निर्धारित किये जा चुके थे। विवाह एक ऐसा धार्मिक बंधन बन चुका था, जिसकी पूर्ण व्यवस्था समाज के भीतर दिखाई पड़ती थी। विवाह के पूर्व किसी स्त्री को संतान की प्राप्ति एक जघन्य सामाजिक अपराध माना जाता था। कुन्ती का दृष्टांत सामने है। विवाह के पूर्व कुन्ती ने सूर्य से उनके समान तेजवान पुत्र की कामना की थी। उसके लिए यह वरदान प्राप्त कर लेना सरल था किंतु उसका निर्वाह करना कठिन। सामाजिक मान्यताएँ उसे कदापि ग्राह्य न मानती थीं। सामाजिक भर्त्सना के भय से कुन्ती को अपनी संतान कर्ण को अपने ही हाथों नदी में प्रवाहित करना पड़ा।

जहाँ कुन्ती के इस अपवादजनित संतानोत्पत्ति की कथा है वहीं महाभारत में इस बात का भी उल्लेख है कि कुन्ती को किसी भी देवता को अपने पास बुला सकने का वरदान प्राप्त था। भारत ऐसी ही नारियों की कल्पना करता है, जिसके गुणों और जिसकी साधना के बल पर देवत्व को भी अपने पद का त्याग कर उसके समीप तक खिंचकर आना पड़ता है।

दुर्योधन और युधिष्ठिर के बीच होने वाली द्यूतक्रीड़ा में भी एक ऐसा ही प्रसंग और आता है। युधिष्ठिर जुए में सब कुछ हार चुका है - राज्य, धन, धरती और यहाँ तक कि द्रौपदी को भी। विजय के मद में चूर दुःशासन द्रौपदी को खींचकर सभा में उपस्थित करता है, और नग्न वासनाओं के

१- तैत्तिरीय ब्राह्मण १। ११

२- महाभारत १। २११। १९

अट्टहासमय वातावरण में उसके वस्त्रों को खींचकर उसे नंगी करना चाहता है । नारी के दुर्भाग्य का यह एक ऐसा निष्करुण इतिहास है, जहाँ समाज के सभी लब्ध प्रतिष्ठ व्यक्ति उपस्थित हों और उनके बीच एक अबला नारी अपनी लज्जा के परिधान से वंचित की जाय । समाज भले ही अंधा हो , किंतु नारी का आत्मबल तब भी जीवित था , और इसी आत्मबल की प्रेरणा के आधार पर नारी ने एक ऐसी करुण चीत्कार की कि उस चीत्कार के कंपन में स्वयं भगवान् कृष्ण का सिंहासन डोल उठा और उन्हें उसकी रक्षा के लिए अक्षत्र चीर लेकर दौड़ना पड़ा ।

महाभारत में पातिव्रत धर्म के अखंड पालन का अद्भुत दृष्टांत मिलता है । गांधारी , सावित्री , दमयन्ती , द्रौपदी , पातिव्रत पालन की मूर्तियाँ हैं । धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे । उनकी पत्नी गान्धारी को यह बात असह्य थी , कि उनके पति संसार की किसी वस्तु को न देख सकें और वह अपनी दोनों आँखों से संसार के ऐश्वर्य का अवलोकन करती रहे । अत: उसने यह निश्चय किया , कि यदि पति को नेत्र सुख नहीं मिल सका है तो वह भी अपने दोनों नेत्रों से संसार का बाह्य सुख नहीं देखेगी । इसी कारण उसने जीवन भर अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे रखी । इससे बढ़कर पति में आत्मार्पण की कौन सी कल्पना हो सकती है ?

स्मृतिकालीन नारी -

स्मृतिकाल में नारी को अधिक प्रतिष्ठित स्वरूप प्रदान किया गया । मनु ने मनुस्मृति में नारी के अस्तित्व को बहुत ही वंदनीय स्वीकार किया है । उनका तो यहाँ तक कहना है कि - " यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता "[1] अर्थात् जहाँ नारियाँ पूजी जाती हैं, वहीं देवताओं का निवास होता है । पूजने का यहाँ तात्पर्य नारी की मान्यताओं के प्रति सामाजिक श्रद्धा और कोमल

१- मनु ३- ५६ ।

भावनाओं से है ।

स्मृतिकाल में देखने में तो स्त्रियों की गति की आधीनता बढ़ी, किंतु वास्तव में गार्हस्थ्य सूत्र और दृढ़ हुए। इस युग के आदर्शों के अनुसार स्त्रियां जिस पुरुष को पतिरूप में स्वीकार करती थीं, उसके गुण वह उसी तरह ग्रहण कर लेती थीं, जैसे समुद्र से मिलनेवाली नदी समुद्र के गुण ग्रहण कर लेती है। अक्षमाला (अरुन्धती) नीच जाति की होती हुई भी पति वशिष्ठ से मिलने से और शारंगी मंदपाल के संयोग से ऊंची उठ गई, और प्रशंसा का भाजन बनी। याज्ञवल्क्य स्मृति में माता को गुरु, आचार्य, उपाध्याय, ऋत्विक, इन सबसे अधिक बड़ा माना गया है। मनु ने माता को गृहलक्ष्मी बताया है।[1]

एम० विन्टरनित्ज ने अपने ग्रंथ 'वीमन इन द सेकेन्ड स्क्रिप्चर्स'[2] में लिखा है कि स्मृतिकारों ने स्त्री को किसी प्रकार की सामाजिक स्वतंत्रता नहीं प्रदान की है। उनके अनुसार स्मृतिकालीन समाज रूढ़िवादिता की दिशा में अग्रसर हो रहा था। मनु ने सतीप्रथा का तीव्र खंडन किया है और उनका कहना था कि साध्वी पत्नी पति की मृत्यु के बाद यदि पवित्रता का जीवन यापन करती है तो उसे पवित्र पति की ही भाँति स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

मनु ने कहीं-कहीं पर नारी को पुरुष के प्रगति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा के रूप में माना है। उनका कहना है कि इसी कारण विद्वान लोग स्त्री का साथ नहीं करते। उनका यहाँ तक कहना है कि स्त्री अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को तो अपने मोहपाश में बाँध ही लेती है, वह साधुओं और मेधावी लोगों को भी पथभ्रष्ट कर उनमें कामना उद्दीप्त कर देने की शक्ति से युक्त है।[3]

१- प्रजानार्थं महाभाग : पूजार्हा गृहदीप्तय:

स्त्रियश्च श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन

(९,२६)

२- एम० विन्टरनित्ज : वीमन इन द सेकेन्ड स्क्रिप्चर्स ; पृ० ८७ -

३- जार्ज बिहलर : मनुस्मृति ; पृ० ३६ ।

स्मृतिकाल में नारी के प्रति जो वैराग्य प्रेरित घृणा दृष्टि देखी गई है। यद्यपि प्रमुख रूप से उसी वृत्ति का अनुसरण एक लंबे समय तक होता रहा, किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नारी के विकास और उन्नयन के लिए स्मृतिकारों ने सभी प्रकार के मार्ग बंद कर दिए हों। उन्होंने जहां तक वासना और इन्द्रियजगत का संबंध था, यह अनुभव किया कि इस क्षेत्र में नारी पुरुषों की आसक्ति का कारण है, अत: उसके इस आकर्षण से स्मृतिकारों ने पुरुष वर्ग को दूर रहने का उपदेश दिया है। किंतु जहां तक नारी के शाश्वत व्यक्तित्व का प्रश्न था स्मृतिकार उसके प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव न व्यक्त कर सके। समाज में यद्यपि नारी को जीवन के प्रति उत्तरदायी माना गया और उसके पति को उसके जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया, किंतु स्मृतिकारों का उद्देश्य यह कदापि नहीं था कि नारी को परंपरा के सीमित बंधनों में इतना जकड़ दिया जाये कि फिर वह बाहर निकल ही न सके। नारी के शाश्वत नारीत्व को पूज्य मानने के साथ ही स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी थी कि आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियां दूसरे पति का वरण भी कर सकें। इस संबंध में नारद और पाराशर की व्यवस्थाओं[१] में ऐसे आपद् धर्म की कल्पना की गई है जब कि समाज में नारी को शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल पुनर्विवाह की अनुमति दी जा सकती है। पराशर ने स्पष्टत: लिखा है कि पति यदि नष्ट हो जाय, मर जाय, या पतित हो जाय तो इन पांच आपज्जनित परिस्थितियों में स्त्रियों को अधिकार है कि वे दूसरे पति का वरण कर सकें।

१- "आपत्स्वपि स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति" (नारद)
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।। (पराशर)

बौद्ध और जैन काल में नारी

लगभग ६०० वर्ष ई० पूर्व भारतीय साहित्य में अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख आया है। बौद्ध धर्म की अनेक नारियां भिक्षुणियों के रूप में धर्म-प्रचार के लिए दूर-दूर देशों तक जाती थीं। स्वयं सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को धर्म - प्रचार के लिए श्री लंका आदि द्वीपों को भेजा था। सम्राट् हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री अपने भाई के साथ दरबार में बैठती तथा राजनीतिक एवं आध्यात्मिक प्रसंगों पर शास्त्रार्थ करती थी।

बौद्ध धर्म की स्थापना जीव-दया, अहिंसा और मानव प्रेम के आधारों पर हुई। भगवान् बुद्ध ने प्राणिमात्र को समान माना और सबको जीवन का समान अधिकार देने के सिद्धांत पर बल दिया। स्वाभाविक है कि बुद्ध की अहिंसा और करुणा की छाया में नारी के लिए भी समान अधिकार होता, किंतु पुरुष और स्त्री के संबंधों का विश्लेषण करते हुए आरंभ में भगवान् बुद्ध ने स्त्रियों के लिए संघ में प्रवेश निषिद्ध कर दिया था। इस निषेध की व्यवस्था देते हुए उन्होंने कहा था :-

" पर, अब जब स्त्रियों का प्रवेश हो गया है,
आनन्द, धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा।"[१]

इससे स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध धर्म के प्रसंग में स्त्रियों को समानाधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। कालान्तर में जब स्त्रियां संघ में प्रविष्ट हो गईं तब स्त्रियों को इस प्रवेश की छूट मिल गई। अनेक स्त्रियों ने भिक्षुणियों के रूप में अपने-आपको परिवर्तित कर लिया। हिंदू धर्म की कट्टरताओं से विक्षुब्ध होकर नारियों ने बौद्ध - धर्म को व्यापक रूप से स्वीकार किया। हिंदुओं में विधवा-विवाह लगभग बंद हो गए। उनके लिए समाज में न कोई स्थान था, न गति। इसलिए वे विधवाएं अधिकतर बौद्ध संघ में दीक्षित होकर ~~तपस्या~~ तपश्चर्या का जीवन व्यतीत

१- विनयपिटक : चुल्लवग्ग १०।१

करने लगीं । भगवान् बुद्ध ने आठ कठोर नियमों का प्रतिपादन किया था जिनका पालन उन्हें करना पड़ता था जिसमें ब्रह्मचर्य और सात्त्विक जीवन मुख्य नियम थे। भिक्षुणी कदापि किसी स्वतंत्र मठ की अधिकारिणी नहीं बन सकती थी । उसे किसी न किसी भिक्षु के निर्देशन में रहना पड़ता था। उदाहरण के लिए १०० वर्षों की भिक्षुणी को भी किसी न किसी भिक्षु की अभ्यर्थना करनी पड़ती थी, चाहे भिक्षु केवल एक ही दिन का दीक्षित क्यों न हो[1]। इतना ही नहीं बौद्ध धर्म में दीक्षा प्राप्त भिक्षुणियाँ भी भिक्षुओं के साथ स्वेच्छा से वार्तालाप नहीं कर सकती थी, जब कि भिक्षुओं को इस बन्धन से स्वतंत्रता प्राप्त थी ।

महात्मा बुद्ध को इस बात की आशंका थी कि संघ में स्त्रियों के अधिक संख्या में प्रविष्ट हो जाने से मठों और विहारों का संयम टूट जायेगा। तात्पर्य यह कि भगवान् बुद्ध भी नारी को पुरुष के लिए मायाजनित आकर्षण का केंद्र मानते थे। यथा :-

" अमुर्निसर्गविकृतश्च जीवलोके,
 वनितानामयमीदृश: स्वभाव: ।
 वासनाभरणैस्तु वञ्च्यमान:,
 पुरुष: स्त्रीविषयेषु रागमेति ।[2]

भगवान् बुद्ध ने यह अभिमति प्रकट की थी कि स्त्रियों का क्षेत्र घर के भीतर है और उन्हें घर का परित्याग किसी भी परिस्थिति में नहीं करना चाहिए उन्होंने कहा था :- " ---- जिस प्रकार ऐसे घरों में जिनमें स्त्रियां अधिक और कम पुरुष होते हैं, चोरी विशेष रूप से होती है, कुछ इस प्रकार की अवस्था उस सूत्र और विनय की समझनी चाहिए जिसमें स्त्रियां घर का परित्याग करके गृह-विहीन जीवन में प्रवेश करने लगती हैं।[3] किंतु आगे चलकर यही

१- विनयपिटक : चुल्लवग्ग

२- बु० च० ४.४४ तथा भी बु० च० ४.७२ - ८१।

३- विनयपिटक : चुल्लवग्ग १०।१

गौतम बुद्ध यशोधरा को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने से अस्वीकार न कर सके।

उपर्युक्त प्रतिबंधों को छोड़कर शेष क्षेत्रों में बौद्धकालीन नारी स्वतंत्र थी। उसका गृहस्थी और संघ दोनों में स्थान था, किंतु आवश्यक नहीं था कि वह घर का पूर्ण परित्याग करके संघ में सम्मिलित हो जाय।

संघ में स्त्रियों का प्रवेश और परिणाम -

स्त्रियों का संघ में प्रवेश हुआ। संयम के आठ नियम भी लागू हुये, किंतु परिणाम बहुत अनुकूल न हो सका। आगे चलकर बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो शाखाओं में विभक्त हो गया। हीनयान शाखा के बौद्ध भिक्षु परंपरागत कामनाहीन जीवन व्यतीत करने के समर्थक थे और सिद्धांतों के परिवर्तन का जहां तक संबंध है वे अनुदारवादी या कट्टरपंथी थे। महायान शाखा का उदय होना बौद्ध धर्म के इतिहास में एक महान् घटना थी। इस शाखा के बौद्धों ने कट्टरपंथ का विरोध किया और इस बात को स्वीकार किया कि व्यक्तिगत जीवन को अकारण कठोर और साधनामय बनाने की आवश्यकता नहीं है।

महायान शाखा के उदारवादी दृष्टिकोण के कारण भिक्षु-भिक्षुणी परस्पर एक दूसरे के संपर्क में आये। धार्मिक उपदेशों, धर्म के प्रचारार्थ पर्यटनों आदि में उनका साथ हुआ। इस स्वतंत्रता से बौद्ध-कालीन नारी के अधिकार क्षेत्र में विस्तार हुआ, किंतु यहीं से उस काल की नारी के पतन का भी आरंभ हो गया।

भिक्षु और भिक्षुणी अभी तक नियमतः एक दूसरे से पृथक् थे। अब एक दूसरे के निकट आने के कारण उनके संपर्क बढ़े और संघ की मर्यादाओं का टूटना भी आरंभ हो गया। संयम के स्खलन के कारण संघों का पतन हो गया, साथ ही स्वयं नारी-समाज के चरित्र का भी सामूहिक रूप से ह्रास हुआ और महायान शाखा के अंतर्गत पनपने वाले मठों की धनसंपन्नता और सुख-विपुलता की छाया में भिक्षुणियां मठाधीशों/भिक्षुओं और स्थविरों की अबाध कामवासना की शिकार बन गईं। वात्स्यायन[1] ने कहा है -- समाज में चारित्रिक भ्रंश के -

---

१- कामसूत्र ४,५८

लिए ही ये विचित्र नारियां होती हैं जिनके नाम हैं, भिक्षुकी, अकर्णा, दाक्षणा, कुलटा, कुलका, छदाणिका। उनके अनुसार भली स्त्रियों को इनसे बचना चाहिए।

बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव मौर्य वंश, कुशाणों और वर्धन साम्राज्य तक रहा। अशोक, कनिष्क और हर्ष ने इस धर्म को अधिक प्रश्रय दिया। इस लंबे युग में लगभग बारह शताब्दियां सम्मिलित हैं। इतिहास प्रमाणित करता है कि इस युग में भी महान् आदर्शों से युक्त नारियां उत्पन्न हुईं, किंतु बौद्ध-संघों में भिक्षुणी रूप में नारी का जो वर्ग सम्मिलित हुआ, उसके प्रति आगे चलकर समाज की धारणा बहुत ही निम्न हो गई थी। बौद्ध धर्म के भारत से विलुप्त हो जाने के अनेक कारणों में यह चारित्रिक पतन भी एक कारण है।

बौद्ध धर्म के साथ ही जैन धर्म का भी उदय हुआ था। जैन धर्म में जीवन की सादगी, अहिंसा और तपोबल पर विशेष महत्व दिया गया। जैन धर्म ग्रंथों में नारी के प्रति अटूट विरक्ति की भावना दृष्टिगत होती है। आगे चलकर यह धर्म बौद्ध-धर्म की ही भाँति दो शाखाओं में बंट गया। परंपरावादी जैन धर्मावलंबी अपने को दिगंबर और उदारवादी श्वेतांबर मानने लगे। दिगंबर जैनी प्राकृतिक जीवन के पक्षपाती थे। यहाँ तक कि वे वस्त्र-धारण करना भी एक कृत्रिमता का चिन्ह मानते थे। यही कारण है कि जैन मंदिरों में नग्न चित्रों की बहुतायत मिलती है। आगे चलकर इस परंपरावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और श्वेतांबर शाखा का उदय हुआ। इस शाखा के लोग श्वेत वस्त्र धारण करना और अहिंसा में विश्वास करना अपना मुख्य कर्तव्य मानते थे। यद्यपि तीर्थंकार ने नारी-समाज के लिए जैन धर्म का अंगीकरण वर्जित नहीं माना था, किंतु धीरे-धीरे इस धर्म में नारी माया-रूप में स्वीकार की गई और यथासंभव धर्म के क्षेत्र में आने वालों के लिए नारी का सामीप्य वर्जित माना गया।

<u>पौराणिक नारी परिकल्पना</u>

पौराणिक परंपरा में नारी का अस्तित्व पतिपरायणता में ही सीमित

हो गया। आध्यात्मिक आधार पर नारी माया-रूपिणी मान ली गयी। उसे पुरुष के मार्ग में बाधक और उसे माया में लिप्त करने वाली माना गया। पुराण काल तक पहुंचते पहुंचते शूद्रों और नारियों को वेदाध्ययन से वंचित कर दिया गया। केवल विवाह के अवसर पर ही उसे कुछ मंत्रोच्चारण के अवसर दिये जाते थे। नारी की शिक्षा के अवसर भी समाप्त हो चुके थे। स्मृति-काल में मनु ने "ब्राह्मणों को अधिक स्वतंत्रता एवं अधिकार देकर नारी और शूद्रों की स्थिति को बहुत नीचे गिरा दिया। अब नारी की अपनी वैयक्तिकता समाप्त हो चुकी थी। पुरुष उसका नियामक बनने की दिशा में अग्रसर हो रहा था।"[1]

पौराणिक युग में नारी की स्थिति और भी दयनीय हो गई। वस्तुत: पुराणों की रचना बौद्ध काल के ह्रास के समय और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के समय हुई थी। बौद्ध और जैन धर्मों ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था, अब उनकी तीव्र प्रतिक्रिया प्रकट हुई। मठों और बौद्ध-विहारों में भिक्षु-भिक्षुणियों का जीवन विलासयुक्त हो गया था। अत: पुराणों में इस बात की प्रतिष्ठापना की गई कि विवाह हर स्त्री का एक अनिवार्य धर्म है, और पति की आराधना के माध्यम से स्त्री आध्यात्मिक धरातल पर ब्रह्म के प्रति जीव की आराधना का प्रतिनिधित्व करती है।[2]

पुराणों में स्त्री के लिए यह कड़ा प्रतिबंध आरोपित कर दिया गया कि विवाहित होने पर पति ही उसका लक्ष्य, धर्म और आदर्श है। धर्म की सारी मर्यादा स्त्री के लिए पति में निहित कर दी गयी, और "वास्तव में पुराणों में स्त्रियों को किसी भी परिस्थितियों में सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में पूरी स्वतंत्रता नहीं प्रदान की गई, साथ ही वैवाहिक संबंधों में भी उसके लिए यह एक धार्मिक कर्तव्य आरोपित कर दिया गया कि वह पूरी निष्ठा के साथ अपने पति की सेवा में लगी रहे।"[3]

१- देवेश ठाकुर : प्रसाद के नारी चरित्र ; पृ० ३०-३८
२- पद्मपुराण, : प्रथमखंड ; पृ० ४६, ७०
३- राधिकृष्ण हवारा : ग्रेट विमेन आफ इंडिया, `अध्याय १०` पृ० २२१-२२

पुराणों में यह भी व्यवस्था कर दी गयी कि स्त्रियों, शूद्रों और निम्न वर्ग के द्विजों को वेद न तो सुनने का अधिकार है, और न पढ़ने का; उनकी भलाई के लिये तो केवल पुराणों की रचना की गई है।[1]

स्मृतिकार मनु और पौराणिक काल की नारियों से तुलना इस प्रकार की जा सकती है। "यह कौटिल्य युग की वह नारी नहीं थी, जो अपने पति के विरुद्ध न्यायालय में अपमान और आघात का वाद उपस्थित कर सके या पति को पीटने के प्रसंग में न्यायालय में लाई जा सके। यह मानव-युग की वह नारी भी नहीं थी, जो 'पारस्परिक प्रेम' को उच्चतम कर्तव्य मानती हो। यह तो याज्ञवल्क्य की वह नारी थी, जिसका धर्म ही था आज्ञापालन करना तथा असाधारण ढंग से सहिष्णु बनी रहना।"[2]

सामाजिक रूढ़ियों और परंपराओं में जकड़ी जाकर भी पुराणकाल में कुछ ऐसी महान नारियां हुईं, जिन्हें हम आदर्श रूप में मान सकते हैं। इन नारियों में मंदालसा, देवहुति, सती, उमा, शैव्या, सुनीति, मानिनी, शर्मिष्ठा, देवयानी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

मार्कण्डेय पुराण[3] में मंदालसा को गंधर्वों के राजा विश्वावसु की युवती, गुणवती, और अत्यंत ही सुंदरी पुत्री लिखा है। एक दिन जब वह बगीचे में बैठ रही थी, पातालकेतु उसे भगा ले गया। वह दानव जब उसे लेकर मृत्युलोक में

१- राजेन्द्रकुमार हजारा : ग्रेट विमेन आफ इंडिया, अध्याय १० पृ० २२१-

२- It was not the wife of the time of the Kautilya who would bring an action for defamation or assault and become a defendant in the court for beating her husband. It was not the wife of the time of Manava who regarded 'Mutual Fidelity' to be highest duty. It was the wife of Yagnavalkya age permeated to the core like pickle......... with the dharma of abject obedience and unnatural tolerance.

३- मार्कण्डेय - पुराण, अध्याय २० -

पहुंचा तो कृतध्वज नामक राज कुमार ने उसे बाणों से मारा। मंदालसा अपनी रक्षा करने वाले राजकुमार से विवाह करने को सहमत हो गई। उस समय कुंडला ने कृतध्वज को जो उपदेश दिया है वह पौराणिक काल की नारी का आदर्शमय संरक्षित रूप कहा जा सकता है - यथा - " पति को अवश्य ही अपनी पत्नी से प्रेम और उसकी सुरक्षा करनी चाहिये। धर्म, धन और प्रेम की पूर्ण प्राप्ति में पत्नी पति के लिए एक सहचरी है। उस समय जब कि पत्नी और पति दोनों एक दूसरे से नियंत्रित होते हैं, तभी धर्म, अर्थ और काम मिलकर एक होते हैं।"[1]

मंदालसा पौराणिक युग की एक महानतम विदुषी थी। जिसने अपने पुत्रों को धर्म और आत्मतत्व का ज्ञान कराया था। चौथे पुत्र अलर्क को उसने राजनीति और युद्ध-विद्या का भी ज्ञान कराया था।[2] इससे प्रकट होता है कि मंदालसा को धर्म-शास्त्र, राजनीति तथा शस्त्र-विद्या का पूरा ज्ञान था।

भागवत् पुराण[3] में देवहूति का उल्लेख आया है जिसे स्वयंभू मनु की पुत्री माना गया है। देवहूति को जन्म से ही योग का पूर्ण ज्ञान था। महर्षि कपिल ने देवहूति के आग्रह पर उसे भक्ति-संबंधी सांख्ययोग का ज्ञान कराया था, जिसमें प्रकृति और पुरुष का विवेचन किया गया है। " जब कपिल अपने दार्शनिक विचारों को स्पष्ट कर रहे थे देवहूति उनसे बहुत ही प्रखर प्रश्न कर रही थी जिससे उसकी असाधारण प्रतिभा, रुचि और बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है। कपिल के उपदेशों से देवहूति को ज्ञान प्राप्त हो गया और वह सच्चे अर्थों में ब्रह्मवादिनी बन सकी। उसने अपना पूरा जीवन सर्वात्म-ब्रह्म की प्राप्ति में लगा दिया।"[4]

वायुपुराण, लिंगपुराण, स्कंदपुराण, भागवत्पुराण, ब्रह्मपुराण,

१- मार्कण्डेय पुराण, २१-७०-१, ७४-८।

२- मार्कण्डेय पुराण, २६-३४-६ ।

३- भागवत् पुराण, ३-२१-३३।

४- रा[illegible]चंद्र द्वारा, ग्रेट वीमेन आफ इंडिया (माधवानन्द शास्त्री-मजुमदार) अध्याय ७ ; पृ० २३२ ।

शिवपुराण , बृहत् धर्मपुराण और महाभागवत् में सती , उमा , शैव्या , सुनीति , मानिनी आदि आदर्श पत्नियों का उल्लेख आया है ।

पुराणों में शर्मिष्ठा और देवयानी नामक ऐसी भी नारियों का उल्लेख है जो जीवन भर अविवाहित रहीं[१] ।

उपर्युक्त नारियों को पौराणिक काल की नारियों के सामान्य व्यक्तित्व का अपवाद कहा जा सकता है । वास्तविकता यह थी कि नारी-जीवन पौराणिक काल में उपेक्षित हो गया था । यह मान्यता घर कर गई थी कि यदि कोई पिता अपनी पुत्री को योग्य वर के हाथों में उसके बचपन में ही सौंप नहीं देता तो वह उतनी बार भ्रूण हत्या का अपराधी होगा , जितनी बार उसकी पुत्री उसके सामने स्त्रीत्व प्राप्त कर लेने के उपरांत स्त्रीधर्म से युक्त होती है[२] । फलत: बालविवाह होने लगे थे और कन्याएं उसी समय विवाहित कर दी जाती थीं जबकि स्त्री-सुलभ लज्जा या संकोच की भावना उनमें उत्पन्न नहीं रहती थीं , उन्हें "नग्निका"[३] कहा जाता था । पुरुष वर्ग बहुविवाह के लिए अधिकृत था । विधवाओं के लिये यह एक पवित्रतम आदर्श माना जाता था कि पति की मृत्यु के बाद या तो वह अपने आपको पति की चिता में सौंप कर समाप्त कर दे , या आजीवन सांसारिक वासनाओं से रहित रहकर एक अखंड साधना का जीवन बितावे । विधवा-विवाह प्रचलित नहीं था । इन सब कुंठाओं में ग्रसित पौराणिक काल की नारी बहुत ही दयनीय स्थिति को पहुंच चुकी थी । एक ओर उसे माया का रूप कहकर उसकी उपेक्षा की जाती थी और दूसरी ओर कामलोलुप समाज उसे अपनी पिपासाओं की पूर्ति का साधन बनाने से चूकता नहीं था ।

१- मत्स्यपुराण

२- " ब्रूणहत्यामवाप्नोति ..... ।"
पराशर , ६, १३

३- यावन्न लज्जाङ्गानि कन्या पुरुषसन्निधौ ।
योन्यादीन्यवगूहेत तावद्भवति नग्निका ।।
पुराण (In Ses., P. 213)

तांत्रिक साहित्य में शक्ति की परिकल्पना -

पुराणों के साथ ही एक ऐसे साहित्य का उदय हुआ जिसे तांत्रिक साहित्य कहा जा सकता है। पौराणिक काल में नारी की सामाजिक दृष्टि से उपेक्षा की गयी थी। पुराणों में नारी को केवल पति के वृत्त तक परिसीमित कर दिया था। नारी के स्वत: व्यक्तित्व के संबंध में उसे अबला कहकर उसका तिरस्कार किया गया था। इसकी तीव्र प्रतिक्रिया तांत्रिक-साहित्य में देखी गयी, जिसमें शक्ति का समूचा केंद्र नारी में निहित माना गया। उसका मातृवत्सल स्वरूप जितना सुकोमल रूप में व्यंजित हुआ, उसका रौद्र और शक्ति रूप में उतना ही प्रचंड, भयंकर और विनाशकारी रूप सामने आया। शक्ति के वृत्त में उपासना केंद्रित करने वाले लोगों को शाक्त कहा गया।

साधारणतया शक्ति उपासक अपनी आराधना का केंद्रबिंदु दुर्गा को मानते हैं, और उन्हें प्रसन्न करने के लिये वे मंत्रों का जाप और तांत्रिक पद्धति की साधना अपनाते हैं।

सृष्टि की तीन महान् शक्तियों को इस संप्रदाय वालों ने देवि दुर्गा में निहित माना। वे तीनों शक्तियां हैं -- सृष्टि की रचना करने की शक्ति, सृष्टि के संरक्षण और पोषण की शक्ति और सृष्टि के संहार की शक्ति[1]। पौराणिक मान्यता के अंतर्गत इन तीनों शक्तियों का प्रतिनिधित्व पुरुष देवताओं में क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूपों में किया था। किंतु शाक्त मतावलंबियों के अनुसार ये तीनों शक्तियां मातृस्वरूपा, जगदम्बिका, महामाया, दुर्गा में निहित माना। भक्तों के लिए उनका मातृरूप ही आराध्य बना, किंतु उनके व्यापक प्रभाव के मूल में उनका अद्‌भुत शौर्य, पराक्रम और तेज निहित था। उन्होंने शुम्भ, निशुम्भ और महिषासुर जैसे प्रबल

१- निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगति

शंकराचार्य : सौन्दर्यलहरी ; ५५ -

राक्षसों का संहार किया। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि देवि दुर्गा ने इन असुरों के माध्यम से मनुष्यमात्र की समस्त बुराइयों को विनष्ट करने की क्रांति की सूचना दी। एक ओर उन्हें "सर्व प्रपंचजननि" कहकर समस्त संसार के उद्भव का कारण, सर्वमंगलमयी कहकर संसार को सुख शांति से पूरित करने वाली कल्याणी भी कहा गया।

आरंभ में शक्ति का संबंध रुद्र अर्थात् शिव से था। शिव की शक्ति को उमा, पार्वती, दुर्गा, इन्द्राणी, लक्ष्मी आदि नामों से अभिहित किया गया। इस क्रम में इस शक्ति को जगत्-जननि मां के रूप में स्वीकार किया गया तथा शक्तिमाता और शक्ति में कोई भेद नहीं माना।

शक्तिश्च वो शक्तिमतो विभिन्ना।
तेनैहि नो भेदमियम् पृथक्त्वम् ।।

शक्ति के उपासकों ने शिव को ब्रह्म रूप में माना, और ब्रह्म को उस समय तक अपूर्ण और निश्चेष्ट माना है, जब तक कि उसमें शक्ति का संघात नहीं होता। शिव और शक्ति का यह पारस्परिक संघात सृष्टि की संरचना का कारण होता है। इसीलिए शिव को अर्द्धनारीश्वर के रूप में माना गया है। "शक्ति तंत्रों में शक्ति की ही प्रधानता मानी जाती है और शक्ति के बिना शिव को शव समान माना जाता है।"[1] यह भी उल्लेखनीय है कि "भारतीय संस्कृति की परंपरा में देव-दंपत्तियों के नामों में स्त्री पद की प्राथमिकता है (पार्वती-परमेश्वरी, भवानी-शंकरी, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि)"[2] फिर भी शक्ति यदि चाहे तो ब्रह्म को कभी कुछ कर सकने को आंदोलित कर सकती है। शिव का तांडव नर्तन वस्तुत: शक्ति के ही रौद्र नर्तन का परिणाम है।

१- रामानन्द तिवारी : "सत्यं शिवं सुन्दरम्", अध्याय २७; पृ० ५४३-
२- वही

कहा जा सकता है कि " शक्ति वस्तुत: शिव के उर्जित रूप का ही एक पक्ष है जिसमें इदितुम्, स्थातुम्, की प्रवृत्ति निहित है। यही शक्ति आनंद के क्षणों में सुख और उल्लासकारिणी होती है। दूसरे शब्दों में शक्ति शिव की ही चेतन प्रकृति का नाम है। इसीलिए शक्ति में उन्मुखी भावना विद्यमान होती है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार बीज में अंकुरण की शक्ति होती है, किंतु वास्तविक अंकुरण तभी होता है, जब कि उसे उद्दीपन की अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होती है।[१]

शक्ति को अनेक नामों से पुकारा गया। प्रत्येक नाम उसके गुण और विशेषता के द्योतक हैं। कुछ प्रमुख नाम, जिनके साथ शक्ति का गुण धर्म भी निहित है, इस प्रकार दिये जा सकते हैं। कुमारी (पवित्रता की शक्ति) काली (काले वर्णवाली या संहारकारिणी) कापाली (मुंडमाला धारण करने वाली) महाकाली (महाविनाशिनी), चंडी (क्रोध की देवी; कात्यायनी (कात्यवंशवाली) कराला (भयावनी) विजया (विजया की देवी) कौशिकी (कौशिकवंशवाली);[२] उमा (शिव की पत्नी) कान्तारवासिनी (वनवासिनी) कराला, चामुंडा[३], आदि।

१- Sakti is the slightly swelled up aspect of Siva in which he possesses the tendency of visualising (इदितुम्), maintaining (स्थातुम्) and projecting the world while experiencing the most supreme felicity of joy which he feel by feasting upon his own self sweelined by the honey of his inner content of joy. In other words Sakti is the conscious nature of Siva. "Therefore Sakti is explained as a sort of tendency (उन्मुखी भावना)of a seed slightly swelled up just before the shooting out of the plant which erstwhile remained in the seed in a nascent state."

R.G.Bhandarkar.

२- R. G. Bhandarkar : The Saktas or Sakti worshippers.

३- अतिरिक्त नामों के लिए दुर्गासप्तशती का अवलोकन करें।

दुर्गा वीरता और संहार की शक्ति हैं। वीरत्व, क्रोध, कठोरता, विनाश, संहार आदि उनके प्रबल गुण हैं। असुरों के संहार के लिए उनकी रक्त से सम्पित बरछी और जीभ सदैव निकली रही। उन्होंने फूलों की माला के स्थान पर असुरों की मुंडमाला धारण की। वीरत्व को उन्मत्त कर देने वाली मदिरा और मन की दुर्बलताओं का विनाश कर देने वाला मांस, रक्त आदि उनके भोजन के रूप में माना गया। अपने इसी गुण के कारण शक्ति की मान्यता आर्यों और अनार्यों दोनों के बीच देखी गयी।[1]

शक्ति की इस व्यापक मान्यता के प्रमुख आधार इस प्रकार कहे जा सकते हैं -

शिव और शक्ति के पारस्परिक सामंजस्य की परिकल्पना में पुरुष और नारी के संपृक्त व्यक्तित्व की पूर्णता आभासित होती है, क्योंकि जिस प्रकार अकेला पुरुष अधूरा है, उसी प्रकार अकेली नारी भी अपूर्ण है। यथा -

त्वया हृत्वा वामं वपु परितृप्तेन मनसा
शरीरार्धं शंभोरपरमपि शंके हृतमभूत।[2]

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।"[3]

दुर्गा के भिन्न-भिन्न नामों की कल्पना में नारी को ही समस्त शक्तियों का केंद्र माना गया। इच्छा, क्रिया, सृष्टि आदि की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न देवियों के रूप में नारी में ही निहित मानी गई। अपने रौद्र रूप में काली का संबंध कापालिकों से माना गया, जिसमें बलि की प्रधानता रही। काली को तृप्त करने के लिए पशुबलि की अनिवार्यता मानी गयी। इससे इस बात को समर्थित किया

१- मार्कण्डेय पुराण अध्याय २२।

२- (शांकर ग्रन्थावलि Vol. 17 सौंदर्य लहरी -२३)

३- (वही ,, सौंदर्य लहरी - १)

गया कि नारी केवल कोमलता की ही देवी नहीं , अपितु संहार और विनाश की शक्ति भी उसमें निहित है ।

काली को आनंद भैरवी , त्रिपुरसुन्दरी और ललिता भी कहा गया है । यह नारी के सौंदर्य और कलात्मक एवम् कल्याणकारी रूप का प्रतिनिधान है । ऐसी कल्पना की गई है कि एक अमृत सागर है , जिसमें पांच कल्पवृक्ष हैं , इनके बीच सकल इच्छाओं की पूर्ति करने वाला प्रस्तर है , और उस पर निर्मित गढ़ में त्रिपुर सुन्दरी का निवास है , जो कि सकल इच्छाओं की पूर्ति करने वाली है । ब्रह्म देव , हरि रुद्र और ईश्वर उस देवी के सिंहासन की पीठिका को संभाले हुए हैं । ये भिन्न -भिन्न देव भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं , जो अपने कार्यों के लिए उसी एक शक्ति से उत्प्रेरणा प्राप्त करते हैं ।

आनंद-भैरव या महाभैरव उस शिव का नाम है जो आत्मा का प्रतीक है , और जो नव तत्वों से मिलकर बना है , जोकि संसार की रचना के कारण हैं । ये तत्व कालव्यूह कहलाते हैं, जिसमें कालव्यूह, नामव्यूह , जननव्यूह तथा चेतना हृदय , इच्छा शक्ति , बुद्धि , और मस्तिष्क चित्तव्यूह के अंतर्गत आता है । महाभैरव, आनंदभैरवी की आत्मा के स्वरूप हैं , इसीलिए प्रकारांतर से वह भी उन्हीं नौ तत्वों से युक्त है , जो कि महाभैरव में विद्यमान है । इसलिए दोनों मिलकर एक पूर्ण इकाई निर्मित करते हैं । उन दोनों में जब सामरस्य उत्पन्न हो जाता है , तो सृष्टि की रचना होती है । सृष्टि की रचना में संरचना और विनाश दोनों की आवश्यकता पड़ती है । महाभैरवी स्त्री तत्व के रूप में सृष्टि उत्पन्न करतीं तथा महाभैरव पुरुष तत्व के रूप में विनाश का कार्य करते हैं ।

दार्शनिक दृष्टि से शाक्त मत के अनुसार शिव और शक्ति दो तत्व हैं । शिव प्रकाश रूप में बिम्ब बनकर शक्ति में प्रवेश करते हैं , और एक बिंदु का रूप ले लेते हैं । इसी प्रकार शक्ति भी शिव में प्रविष्ट होती है , और बिंदु विकसित होने लगता है । बिंदु के इस विकास से स्त्री तत्व नाद उत्पन्न होता है । पुरुष बिंदु और नाद दोनों जब मिल जाते हैं ; तो एक पूर्ण बिंदु बन जाता है । यही

तत्व पुरुष और स्त्री की भिन्न-भिन्न शक्तियों की समानता प्रकट करता है, और काम कहा जाता है। बिंदु दो प्रकार के हैं - एक श्वेत और दूसरा लाल। श्वेत बिंदु पुरुष तत्व का घोतक है, और लाल बिंदु स्त्री तत्व का घोतक है, और इनसे मिलकर कला उत्पन्न होती है। यही संयुक्त बिंदु श्वेत बिंदु और लाल बिंदु मिलकर काम-कला कहलाते हैं।

बिंदुओं के इस संयोजन में चार शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं :- (१) मौलिक बिंदु - जो कि उस तत्व का घोतन करता है, जिससे कि यह संसार बना है (२) नाद - वह तत्व जिससे भिन्न-भिन्न बिंदुओं का नामकरण होता है, किंतु इस बिंदु से अकेले सृष्टि की रचना नहीं होती ; (३) श्वेत नर बिंदु- जो अकेले सृष्टि की संरचना नहीं कर सकता (४) लाल स्त्री बिंदु - जो पुरुष बिंदु से मिलकर परस्पर संघात से सृष्टि की रचना करता है। यही चारों शक्तियां संयुक्त होकर कामकला कहलाती हैं।[१]

त्रिपुर सुंदरी और शिव ये दोनों उपर्युक्त तत्व स्त्री तत्व और पुरुष तत्व का घोतक है। ये दोनों तत्व पृथक्-पृथक् रहकर सृष्टि की संरचना नहीं कर सकते। इसीलिये दोनों को अर्पण कहा गया है। इसी धारणा को लेकर शिव को अर्द्धनारीश्वर कहा गया और जहां शिव की पूजा होती है, वहां लिंग और योनि दोनों का प्रतीक चिन्ह रहता है और जहां शक्ति की आराधना[२] होती है, वहां शिव के भी अस्तित्व की अनिवार्य कल्पना की जाती है।

१- R.G.Bhandarkar : The saktas or sakti worshippers..

२- "This representation of Shiva-shakti by the Linga-yoni is a popular religious practice in India, and in most of the ancient and modern temples of Shiva the twin are worshipped in their symbolic representations."

Swami Madhavananda, Ramesh Chandra Majumdar "Great Women of Indi

शाक्त मत के अनुसार काम-कला का प्रतिफल सृष्टि को माना जाता है, जिसे परिणाम की संज्ञा दी जाती है। इसे संभव दर्शन का सिद्धांत माना जाता है। आरंभ में पुरुष तत्व की प्रधानता होती है, किंतु आगे चलकर स्त्री तत्व अर्थात् त्रिपुर सुंदरि का प्रबल अस्तित्व प्रभावकारी हो जाता है। इसीलिए प्रत्येक शाक्त मतावलंबी की महानतम् इच्छा त्रिपुर सुंदरी में अपने आपको लीन कर देने की होती है।

एक और तथ्य भी विचारणीय है," शैव परंपरा के मातृकातंत्र में "आ" आनंद का वाचक माना जाता है। शक्ति स्वरूपा नारी के आनंदमयी होने के कारण ही अधिकांश स्त्री वाचक पद आकारांत होते हैं।[1]" कहना न होगा कि प्रसाद की परिकल्पना में जो आनंद का स्वरूप है, उसका केंद्र श्रद्धा और मालविका, देवसेना जैसी नारियाँ ही हैं। तंत्रों में कला शिव की सृजनात्मिका शक्ति है। " तंत्रों की कला को सौंदर्य भी कहते हैं। वह भी सृष्टि में सौंदर्य की रचना करती है। सृष्टि का सौंदर्य उस कला शक्ति का ही विलास है।[2]" शंकराचार्य ने उस शक्ति की आराधना में " सौंदर्यलहरी " और " आनंदलहरी " दो ग्रंथ लिखे हैं। प्रसाद की नारी-परिकल्पना में आनंद और सृजन का यही कलात्मक रूप चरितार्थ हुआ है।

भारतीय परंपरा में देवी के उद्भव की कथा भी अद्भुत प्रतीकात्मक अर्थ रखती है। समस्त देवताओं की मुख से जो ज्योति प्रस्तुत हुई उसको नारी का रूप ही मिला और उस प्रचंड शक्ति ने उन बर्बर राक्षसों का संहार किया जिसका संहार देवता भी नहीं कर सके थे। " शैव तंत्रों में शक्ति की उपासना नारी के रूप में ही होती है। सृजन और पालन के लिए भी शक्ति अपेक्षित है।[3]" शैव तंत्र और वेदांत में एक प्रमुख भेद यह है कि तंत्रों की शक्ति वेदान्त की माया

१- डा० रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन' : साहित्य और कला ; पृ०२३-
२- वही ; पृ० २४-
३- रामानन्द तिवारी 'सत्यम् शिवं सुन्दरम्', अध्याय ३४ ; पृ० ६६-

के समान मिथ्या नहीं है ----शिव के आध्यात्मिक स्वरूप का उज्ज्वल प्रकाश शक्ति की सर्वांग सृष्टि में झलता है। ---- तंत्रों की यह शक्ति सृजनात्मक है। सृजन ही सौंदर्य है अतः तंत्रों की शक्ति का नाम कला और सुंदरी है।[१]

प्रसाद जी ने अपने साहित्य में शक्ति सिद्धांत की उपासना से बहुत कुछ ग्रहण किया है। यद्यपि वे पूरी कसौटी पर तांत्रिक साहित्य की परंपरा में नहीं बढ़े हैं, किन्तु कामायनी में उन्होंने उस समरसता को लाक्षणिक रूप मनु और श्रद्धा के सम्मिलन में स्वीकार किया है, जिसकी कल्पना शक्ति की उपासना में की गई है। शाक्त परंपरा के अनुकूल ही प्रसाद जी ने अपने साहित्य में पहले पुरुष-तत्व की प्रधानता व्यक्त की है और तदुपरांत स्त्री-तत्व को प्रवहकारी प्रभाव से युक्त माना है। कामायनी में एक मनोवैज्ञानिक विकास की भूमिका में जीवन की आनंदमयी परिणति का चित्रण किया गया है। यह कल्पना प्रसादजी पर शाक्त दर्शन के प्रभाव को ही आभासित करती है। स्थान-स्थान पर बिंदु, रहस्य, त्रिपुर-सुंदरी[२] आनंद आदि शब्दों की प्रतीकात्मक व्यंजना इसी दर्शन के प्रभाव को व्यक्त करती है।

१- रामानन्द तिवारी : "सत्यम् शिवं सुन्दरम्", अध्याय ५२ ; पृ० ७७७

२- "यही त्रिपुर है देखा तुमने,
तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख-सुख में,
भिन्न हुये हैं ये सब कितने।
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।"

प्रसाद: कामायनी, "रहस्यसर्ग" ; पृ० २८४-

लौकिक संस्कृत साहित्य में नारी -

गुप्त काल भारत के इतिहास का स्वर्णिम काल है। उस युग में संस्कृत साहित्य का अभ्युदय हुआ। साहित्य ने धार्मिक उपदेशों और कथानकों का आश्रय छोड़कर जन-जीवन को अधिक निकटता से अपनाया। युग की परिस्थितियों के अनुकूल नारी का भी प्रभावित होना स्वाभाविक था।

संस्कृत साहित्य के इस अभ्युदय काल में पुनः एक बार वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इसी युग में ब्राह्मण धर्म का पुनः व्यापक रूप से प्रसार हुआ। इसी युग में संस्कृत साहित्य के अनेक काव्य-ग्रंथों और नाटकों की रचना हुई। इन सभी रचनाओं में भारतीय नारी का एक ऐसा रूप स्थिर हुआ जो अपने आप में ही शाश्वत और मर्यादापूर्ण था।

नारी त्याग, तपस्या, स्नेह और सृजन की प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। नारी को शक्ति स्वरूपा, दुर्गा, वित्तस्वरूपा लक्ष्मी और विद्या स्वरूपा सरस्वती के महानतम् पदों पर प्रतिष्ठित किया गया। नारी शक्ति के रूप में, प्रगति की धात्री अर्थात् ज्ञान बुद्धि और विद्या की प्रतिमा के रूप में मानी गई और गृहलक्ष्मी के रूप में भी उसका सम्मान किया गया।

शंकर और पार्वती का युग्म एक ऐसे स्वच्छंद दांपत्य का प्रमाण है जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों को समान अधिकार दिये जाने की भावना का समर्थन मिलता है। मिथुन युग्म के अनेक चित्र अजन्ता और एलोरा की गुफाओं में देखने को मिलते हैं, यहाँ तक कि इन युग्मों के रति-कृत्य संबंधी खुले चित्र भी उस समय बनाये गये थे। पुरुष और पत्नी के बीच के लैंगिक संबंधों को सृष्टि-शृंखला के पुण्य कृत्यों के रूप में चित्रित किया गया। संस्कृत-साहित्य काल में कालिदास द्वारा चित्रित दुष्यंत और शकुंतला की प्रणय-कहानी नारी के स्वच्छंद प्रेम और गांधर्व विवाह की पद्धति का पोषण करती है। इसके साथ ही कुमारसंभव में पार्वती की क्रीडाओं का मोहक वर्णन इस युग की देन है।

कालिदास ने एक नूतन और नवीन सौंदर्य दृष्टि दी। बौद्ध और जैन धर्मों

ने करुणा और सम्वेदना के भाव को लेकर भी नारी के वास्तविक सौंदर्य को नहीं देखा था। स्मृतिकारों ने नारी के प्रेम और सौंदर्य में दुख और नरक के बीज पाये थे, किंतु कालिदास ने उन्हीं चीजों को एक अभिनव सौंदर्य प्रदान किया तथा उसमें स्वर्गीय उल्लास की प्राण-प्रतिष्ठा की।

संस्कृत साहित्य में नारी चित्रण के क्षेत्र में कालिदास का स्थान प्रमुख है। कालिदास ने रघुवंश में सीताजी के चरित्र का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। कालिदास रमणी के स्निग्ध रूप के चित्रण में ही समर्थ नहीं हैं, बल्कि नारी के स्वाभिमान तथा उदात्त रूप के प्रदर्शन में भी समर्थ हैं। राम के परित्याग किये जाने पर सीताजी कहती हैं कि यदि हमारे अंदर आया हुआ आपका यह तेज यदि बाधक न होता, जिसकी रक्षा करना[1] परम कर्तव्य है, तो मैं आपसे सदा के लिए बिछुड़े हुये अपने प्राण त्याग देती।

सीता के मन में पति के प्रति दृढ़ आस्था है। पति द्वारा त्यागे जाने पर भी वह यही कामना करती हैं कि अगले जन्म में आप ही मेरे पति हों। वह कहती हैं -

"साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः[2]

नारी चरित्र की उदात्तता का ही परिणाम है कि विषम परिस्थिति में पड़ने पर भी सीताजी राम के लिए एक भी अपशब्द का प्रयोग नहीं करतीं, बल्कि अपने पूर्व जन्म के पापों का ही फल मानती हैं। राम के मन में पुनः संशय होने पर सीता जी सभी लोगों के समक्ष पुनः अपनी शुद्धि के विषय में कहती हैं - "यदि मैंने मन, वचन, कर्म से भी अपना पातिव्रत भंग किया हो तो हे धरती

१- किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे, कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः॥
कालिदास : रघुवंश ॥ ६५ ॥

२- कालिदास : रघुवंश ; चतुर्दशः सर्ग : ॥ ६६ ॥

माता ! तुम मुझे अपनी गोद में छिपा लो ।[१]

इस युग में पातिव्रत धर्म की मर्यादा इतनी दृढ़ हो गयी थी कि सीताजी के ऐसा कहने पर स्वयं धरती माता का हृदय उन्हें अपनी गोद में ले लेने के लिए आतुर होकर खुल गया । सीताजी पृथ्वी में समा जाती हैं ।

कालिदास के पात्र जीवनी शक्ति से संपन्न जीते-जागते प्राणी हैं । निसर्ग कन्या शकुंतला काव्य की अभूतपूर्व सृष्टि है, जिसके जीवन को बाह्य प्रकृति ने अपने प्रभाव से कोमल तथा स्निग्ध बनाया है । आश्रम की बालिका शकुंतला को अलंकृत करने के लिए प्रकृति स्नेह से आभूषण वितरण करती है, मृग का छौना शकुन्तला को जाने नहीं देता । प्रकृति पत्तों के गिरने के व्याज से आँसू बहाती है :-

उद्गलितदर्भकवला: मृग्य : परित्यक्तनर्तना मयूरी : ।
अपसृतपाण्डुपत्रा : मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता : ।[२]

शकुन्तला का चरित्र संस्कृत साहित्य की अनुपम देन है । दुष्यंत द्वारा शकुंतला को न स्वीकार करने पर कण्व ऋषि ने शार्ङ्गरव के द्वारा राजा के पास यह संदेश भेजा कि मेरी शकुंतला शरीरधारिणी सत्क्रिया है -

" शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।[३]

इस प्रकार कालिदास की नारी अपने स्वरूप में साध्वी, ममतामयी मूर्तिमयी तथा सत्क्रिया-स्वरूप है ।

शकुन्तला और सीता दोनों नारियों का चरित्र सर्वथा भारतीय है । शकुंतला के भीतर नारीत्व की सभी कोमलताएँ विद्यमान हैं । संकोच एवं लज्जा उसके चरित्र के दो महान् गुण हैं । उसके ये गुण यहाँ तक कि उसका सर्वनाश भी हो जा

१- वाङ्मन: कर्मभि: पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वंभरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ।।
- रघुवंश पंचदश: सर्ग : ।। ८१ ।।

२- कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तल ४ । १२

३- वही ,, ; पंचम अंक । १६ ।

अर्थात् दुष्यंत से विवाह न होने पर भी दूर नहीं हो पाते।

करुण रस में रस-राजत्व की परिकल्पना करने वाले भवभूति ने नारी को संयोगावस्था और वियोगावस्था दोनों रूपों में चित्रित किया है। ' मालती - माधव ' संयोग पक्ष और ' उत्तररामचरित ' वियोग पक्ष प्रधान नाटक है। इन दोनों नाटकों में नारी के सौंदर्यपक्ष और हृदयपक्ष दोनों का बहुत ही सुंदर चित्रण किया गया है। मालती-माधव में कल्पना के आधार पर मालती तथा माधव का प्रेम प्रसंग सुंदर ढंग से चित्रित है। " इसमें यौवन के उन्माद प्रेम का बड़ा ही रसीला चित्रण है। पूरे प्रकरण में प्रेम की बड़ी ऊँची उदात्त कल्पना दर्शकों के सामने रखी गई है।"[१] किंतु धर्म से विरोध करने वाले प्रेम, को भवभूति ने समाज के लिए हानिकारक समझ उसकी उपेक्षा कर दी है। तात्पर्य यह कि भवभूति ने प्रेम को धर्म के प्रतिबंधों से आवृत माना है।

प्रसाद जी की कल्पना में भवभूति के समान प्रेम और धर्म की अनिवार्यता का कोई प्रश्न नहीं है। प्रसाद जी ने प्रेम की जिस स्वच्छंदता का चित्रण किया है, वह किसी भी प्रकार के सामाजिक, जातिगत, धार्मिक या सांस्कृतिक प्रतिबंधों को बंधन के रूप में नहीं मानता। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में मानवीय भावनाओं पर धर्म का जो प्रतिबंध आरोपित किया गया है, प्रसाद उसे मानने को तैयार नहीं हैं।

' उत्तररामचरित ' में विरहिणी सीता के हृदय की वेदना के साथ ही विरही राम की अंतर्वेदना को भी चित्रित करने का सफल प्रयास किया गया है। इस नाटक में जहाँ सीता राम के विरह में स्वयं रोती हैं, और उनके रुदन पर पहाड़, पत्थर, वनस्पति आदि सभी आठ-आठ आँसू रोते हैं, दूसरी ओर पंचवटी में राम अतीत की घटनाओं के स्मरण से सीता के विरह में और भी व्यथित हो जाते हैं तथा मूर्छित होकर संज्ञाहीन से होने लगते हैं। यहाँ तक कि नाटककार ने इस बात की भी कल्पना की है कि सीता ने छाया रूप धारण कर मूर्छित राम का स्पर्श किया था, और उससे राम पुनर्जीवित हो गये थे। यथा -

----

१- बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५५३ -

* चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरत:
प्रवासेऽप्याश्वासं खलु न करोति प्रियजन: ।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ।।[१]

प्रवास में प्रिय का बारंबार ध्यान करते समय प्रतीत होता है कि वह सामने ही आकर उपस्थित है ; इसी से वह वियोग में आश्वासन प्रदान करता है। परंतु कल्पित मूर्ति के नाश होते ही वह संसार बीहड़ सुनसान जंगल के समान जान पड़ता है, और तदनन्तर भूसी की आग में हृदय पकने लगता है, जो धीरे-धीरे हृदय को सुलगा कर भस्म कर देती है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य के धरातल पर इस बात की स्पष्ट कल्पना की जा चुकी थी कि जहां विरह अथवा दु:खजन्य परिस्थितियों का गहरा प्रभाव नारी-हृदय पर पड़ता है, वहां पुरुष-हृदय उससे वंचित नहीं रह पाता। यद्यपि हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में इस तथ्य को बिल्कुल ही विस्मृत कर दिया गया था, और पुरुष का केवल संभोग-प्रधान व्यक्तित्व ही स्वीकार किया गया। प्रसाद जी ने रीतिकाल की इस मान्यता को बिल्कुल ही ठुकरा दिया। उन्होंने प्रेम और संवेदना के क्षेत्र में पुरुष और स्त्री को समान स्तर पर ला खड़ा किया प्रसाद जी में भवभूति के समान ही यौवन काल की उद्दाम कामनाएँ और विश्वस्त हृदय के सच्चे शुद्ध प्रेम दोनों का सार्थक रूप में चित्रण हुआ है। भवभूति ने सच्चे प्रेम की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है, जिसे हम प्रसाद जी के साहित्य में बहुत अंश तक प्रतिफलित होते हुए पाते हैं। यथा -

अद्वैतं सुखदु:खयोरनुगुणं, सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रस: ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ।[२]

१- भवभूति : उत्तररामचरित [illegible] -
२- भवभूति : उत्तररामचरित [illegible] -

अर्थात् सच्चा प्रेम सुख यथा दु:ख में एक सा रहता है। हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, वह अनुकूल रहता है, जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था आने से जिसमें रस की कमी नहीं होती। समय बीतने पर बाहरी लज्जा, संकोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है।

भवभूति ने स्पष्टत: लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अंकुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़ने के लिए कोई भीतरी कारण होता है -

व्यतिषजति पदार्थानान्तर: कोऽपि हेतु -
र्न खलु बहिरुपाधीन्, प्रीतय: संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त:[1]

"भवभूति का प्रेम-चित्रण किसी रखैल या परकीया नायिका या किसी गणिका का नहीं है। वह तो दाम्पत्य जीवन से आबद्ध है। इसीलिए उसमें पवित्रता है। उसमें गांभीर्य है, स्थिरता है और एकरसता है।"[2]

इस प्रकार कालिदास और भवभूति की नारी का विश्लेषण करते हुये हम कह सकते हैं कि जहाँ कालिदास की दृष्टि नारी के बाह्य सौंदर्य पर रही है, वहीं भवभूति ने नारी के अन्त:सौंदर्य को विशेष महत्व दिया है। यही कारण है कि जहाँ कालिदास नारी को 'चित्राधरा' कहना अधिक पसंद करते हैं, वहीं भवभूति नारी की उपयोगिता "इयं गेहे लक्ष्मी:" होने में समझते हैं।

कालिदास ने नारी को कन्या, प्रिया (कुमारसंभव) माता, पत्नी — (रघुवंश) प्रिया, कन्या, माता (अभिज्ञानशाकुंतल) आदि रूपों में चित्रित किया और इन सभी रूपों में उसका शृंगारिक लावण्य तथा समाजगत मर्यादा की निष्ठा

१- भवभूति : उत्तररामचरित ६।१२ -
२- वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास ; पृ० ६४४।

प्रतिबिंबित हुई। भारवि ने कालिदास की परंपरा से भिन्न वीर रस को अपने काव्य का विषय बनाया और उसने अपने प्रसिद्ध काव्य "किरातार्जुनीय" में द्रौपदी के उस भयंकर रूप को चित्रित किया, जो अपमान की भीषण ज्वाला से जल रही है, और जिसके तेज ने एक बहुत बड़ी क्रांति उत्पन्न कर दी। किंतु इस चित्रण में भी वे नारी के शृंगारपरक सौंदर्य की उपेक्षा न कर सके यथा -

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥[१]

" जल में अवगाहन करते समय उन दिव्य ललनाओं की दीर्घ केश-राशि ने अस्तव्यस्त हो जाने के कारण उनके मुख को ढक लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि उनके वे मुख मानो भ्रमरपंक्ति से आच्छादित कमल हों।"

इसी प्रकार अप्सराओं की क्रीड़ा के वर्णन में तथा अर्जुन को मोहित करने के लिये किये गये उनके द्वारा वर्णनों में भी पूर्ण शृंगारिकता का समावेश है।

प्राकृत कवियों में हाल की गाथा सप्तशती नारी संबंधित विभिन्न उद्भावनाओं के लिए प्रसिद्ध है। गाथा सप्तशती में नारी के सुकोमल, भोले, प्रेमपरक और प्रभावकारी रूपों का चित्रण हुआ है। प्रकृति के भोलेपन में नारी जीवन भी बहुत ही भोला और आकर्षक है।

सातवाहनवंशी महाकवि हाल द्वारा संगृहीत गाथा में नारी जीवन की अनेक अवस्थाओं को सहृदयता - पूर्वक देखा गया है। यहाँ तक कि ग्रामीण जीवन के बहुत ही यथार्थ और स्वाभाविक रूपों का वे बहुत ही प्रभावकारी चित्रण कर सके हैं। गाथा के छंदों में पत्नीरूप का सजीव चित्रण किया गया है। किसी प्रिय वीज को प्राप्त करने पर पत्नी के हृदय में असीम उल्लास की भावना उत्पन्न हो जाती है। "किसान की मुग्धा पुत्रवधू को एक नयी रंगीन साड़ी मिली है; उसका" उल्लास इतना असीम हो रहा है कि गांव के चौड़े रास्ते में भी वह समा नहीं - समा रही है ----कृषक युवक अपनी गर्भवती पत्नी से उसकी दोहद अभिलाषा

१- भारवि : किरातार्जुनीय ; ८ । ७७ -

पूछता है, पति को आर्थिक कष्ट न देने के लिए वह केवल जल के लिए इच्छा प्रकट करती है।[1]

उपर्युक्त गाथा शैली में नारी के त्याग का अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्रण है। नारी केवल पत्नी ही नहीं, मातृत्व के गुणों से संपन्न एक आदर्श माता भी है। कृषक पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिए उस पर झुककर पानी की बूंदें अपने सिर पर ले रही है। पर कवि कहता है उसे यह नहीं पता कि इस प्रकार वह अपने नयनों से झरते नीर को उसको भिगो रही है।[2]

गाथासप्तशती की सबसे प्रमुख विशेषता है - प्रणय का मार्मिक चित्रण तथा प्रेम और करुणा के भाव का तथा प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाओं का सजीव चित्रण। इन चित्रणों में केवल नागरिक अप्सराओं का ही चित्रण नहीं है, अपितु अहीर और अहिरिनों की प्रेमगाथायें, ग्राम वधुओं की श्रृंगार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुंदरियों के चित्र, प्यासे पथिक को पानी पिलाती हुई चंद्रमुखी के सुधा का आकंठपान, माला गूंथने वाली मालिन की मृदुलता का सौंदर्य, धान के खेत की रखवाली करने वाली कृषक सुंदरी द्वारा पथिकों को मार्ग बताने का विभ्रम तथा दांपत्य जीवन की अनेक रोचक घटनाएँ सप्तशती में बहुत ही स्वाभाविक ढंग से वर्णित की हुई है। रसोई बनाते हुए पत्नी के मुख पर धब्बा लग जाने पर पति मुस्कराता हुआ कहता है, कि अब तो तुम्हारे मुख और चंद्रमा में कुछ भी अंतर नहीं है -

गृहिण्या महानसकर्मलग्नमषिमलिनितेन हस्तेन।
स्पृष्टं मुखमुपहसति चन्द्रावस्थां गतमिति पतिः।[3]

गाथासप्तशती में कहीं-कहीं श्रृंगारिक उद्भावनाएँ बहुत ही नवीन और वैदग्ध्यपूर्ण हैं, जैसे प्रेमी अपनी प्रेमिका के शरीर सौंदर्य को देखता है और कल्पना

१- हाल: गाथासप्तशती

२- वही ,,

३- गाथासप्तशती।

करता है कि प्रेमिका के उरोज बादलों को चीरकर बाहर निकलते हुए चंद्रमा के समान है, फिर चंद्रमा और प्रेमिका के मुख की बराबरी कैसे की जा सकती है

तव मुखसादृश्यं नो लभत इति हि पूर्णिमाशशी विधिना
घर्षयितुमिवान्यमर्गितमिव पुनरपि परिहराह्यते शशभृत्।[1]

महाकवि हाल ने जिस प्रेमिका का चित्रण किया है वह आंतरिक और स्निग्ध प्रेम से युक्त है। उसके प्रेम में जीवन की यथार्थताओं की मर्मस्पर्शी अनुभूति है, केवल कामपरक बाह्य अनुभूतियों की उत्तेजना नहीं। अधोलिखित दो चित्रों से गाथासप्तशती में चित्रित नारी के सहज और स्वाभाविक प्रेम की गहराई का पता चल सकता है -

(१) पति परदेश गया है। पत्नी उसके परदेश जाने के दिन को दीवाल पर लकीर रखकर गिन रही है। पति को घर छोड़े अभी दोपहर भी नहीं हुये, कि उसने दीवाल के ऊपर "आज वह गया" "आज वह गया" लिखकर पूरी दीवाल को भर देती है -

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहि चित्तलिओ।।[2]

उपर्युक्त छंदों से नारी के मनोविज्ञान का पता लगता है। नारी का संपूर्ण जीवन उस काल में पति पर ही निर्भर था। इसके साथ ही स्त्रियाँ ग्रामीण अवश्य हैं, परंतु उनका भाव ग्रामीण नहीं है। उनमें स्वाभाविकता है, सरलता है, परंतु ग्राम्यता नहीं। प्रियतम के परदेश चले जाने पर रेखाएँ खींचकर उसके आगमन की आतुर प्रतीक्षा करना उसके लगन का द्योतक है।

(२) पति पत्नी के बाल्य का मनोवैज्ञानिक चित्रण निम्न पंक्तियों से हो जाता है -

सब्भावं म्म पि दट्ठ तहवि हु कि ऊअह णिव्वुदिअव्व
वं तेण मामकहे रुव्वाहिरव्वं कओ गहिओ।[3]

1- हाल : गाथा सप्तशती।
2- वही ,, ,, ; ३८
3- हाल : गाथा सप्तशती ६ ३२६ -

अर्थात् घर आग की लपटों से भस्म हो जाने पर, उसके नष्ट होने का दुख पति पत्नी को होता है, किंतु पत्नी सर्वस्व नष्ट हो जाने की स्थिति में भी एक बात पर हृदय में शीतलता का अनुभव करती है कि इस आग ने इतना अवसर प्रदान किया कि उसके प्रियतम् उसके द्वारा पानी से भरे हुये घड़े को अपने हाथों से पकड़ते रहे।

संदेशरासक[1] नारी के करुणा कलित हृदय और विरह वेदना का प्रतिनिधि काव्य है। इस रासक में विरहजनित उद्गारों के संदेश और रुदन जनित अनुभूतियों की प्रबलता है। आरंभिक परंपरा से ही नारी पुरुष के पौरुष पर निर्भर रही है। सुख के दिनों में विलास और दुख के दिनों में संरक्षण दोनों उसे पुरुष की ओर से मिलता रहा है। और वह अपने इस सहारे को छोड़ नहीं सकती। फिर प्रिय का परदेश चला जाना, और लंबी अवधि तक कोई सुधि न लेना विरहिणी के दुख का बहुत बड़ा कारण है। पहले अपनी वेदना को वह अपने आप ही सहती हुई मार्ग में आंखे बिछाये प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करती है। प्रिय लौटकर नहीं आता। वेदना मुखरित होने लगती है, और कोई भी पथिक जो मुल्तान की ओर से आता हुआ या मुल्तान की ओर जाता हुआ दिखाई पड़ता है; वह उससे अपनी वेदना व्यक्त करने लगती है, और संदेश कहने को प्रेरित करती है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विरहिणी के इस संदेश कथन में उसके हृदय की सच्ची अनुभूति का आभास पाया है। यथा -

" इस संदेश में ऐसी करुणा है, जो पाठक को बरबस आकृष्ट करती है। ------ प्रिय के नगर से आने वाले अपरिचित पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार के दुराव का भाव नहीं है। वह बड़े सहज ढंग से अपनी कहानी कहती जाती है। सारा वातावरण विश्वास और घरेलूपन का वातावरण है।"[2]

१- अब्दुलरहमान कृत

२- हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ० ६०

भारतीय नारी मर्यादा में पति और पत्नी के बीच की पारस्परिक दुखजन्य अथवा सुखजन्य अनुभूतियाँ तथा अनन्य पातिव्रत्य को बहुत अधिक प्रचारित करने की परंपरा नहीं रही है। किंतु दुख की विकट परिस्थितियों में हृदय की सच्ची अनुभूतियों पर लगा हुआ यह प्रतिबंध टूट जाता है, और जिस किसी व्यक्ति से भी प्रिय के लगाव का अनुमान हो जाता है, उसके समक्ष दुख की अनुभूतियों का प्रकट हो जाना नितांत स्वाभाविक है। विरहिणी संदेश कहती हुई अपने को प्रकट करने से रोकना भी चाहती है, किंतु विरहाग्नि के धुंए से आंसे सजल हो जाना नहीं मानती -

मह न रुन्नु विरग्गि धूम लोयण सवणु[१]

संदेशरासक में विरहिणी का वह रूप भी चित्रित हुआ है, जो अपनी तन्मयता में सर्वथा अनूठा है। उसमें एक युवती का अविकल उन्माद है। विरहजनित परिस्थितियों ने उसकी आंतरिक मनोव्यथा के साथ ही उसकी कामजनित वेदना को भी जागृत कर दिया है। प्रिय के पास जाने वाले अथवा उसके पास से लौकर लौटने वाले पथिक को जाता हुआ देखकर वह आत्मविस्मृत होकर अपना संदेश कहने को दौड़ पड़ती है। इसी बीच सोयी हुई कामनायें अनजाने में ही जाग पड़ती हैं, और उसके वस्त्रों तथा अंगों से स्पष्ट आभासित होने लगती हैं। चित्रित ही स्थित है - -

" पथिक को देखकर विरहिणी जब उतावली से चली तो कटि-प्रदेश से रसनावलि छूट गयी और किंकिणियाँ किण-किण ध्वनि करती हुई बिखर गईं। किसी तरह उन्हें समेट गांठ-बांधकर वह बेचारी आगे बढ़ी, तो उसकी मोतियों की लड़ी भी बिखर गई, और उसे संभालते - संभालते नूपुरों से चरण उलझ गये और वह गिर पड़ी। इसके बाद वह लजाती हुई उठी तो देखा कि उसका आंचल सरक गया है कंचुकी भी मसक गई है। वह स्त्री अपने हाथों से किसी प्रकार स्तन ढांप कर पथिक

१- संदेशरासक -

के पास पहुंचती है।[१]

नारी का यह चित्रण साधारणतया रीतिकालीन परंपरा में एक कामुक चित्रण कहा जायेगा, किंतु प्रिय के संदेश की आशा में सुधि-बुधि खोकर उसका दौड़ पड़ना, और फिर अपने को संभालने में ही उलझ जाना उसकी तीव्र आतुरता का घोतन करता है।

विरहिणी अपने संदेश में प्रियतम से जो कुछ कहलाती है, वह और भी मार्मिक है। नारी अपने नारीत्व की रक्षा के लिए पुरुष के पौरुष की प्रतीक्षा करती है। दुख के समय वह उसी पुरुषार्थ को जगाने की चेष्टा करती है। संदेश में वह कहती है -- हे प्रिय! तुम्हारे जैसे पौरुषसंपन्न पति के रहते हुए भी मेरा पराभव हो रहा है, इसे कैसे सहन करूं?

यहां तक कि विरहिणी यह भूल जाती है कि वह स्वयं अपने प्रियतम से बातें नहीं कर रही है, अपितु किसी पथिक से अपने विरह की व्यथा को व्यक्त कर रही है। वह इस शालीनता को भी अपनी तन्मयता में भूल जाती है, कि पथिक से वह कौन सा वर्णन करे और कौन सा नहीं। वह कहती है - जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया, वही अंग विरह द्वारा जलाये जा रहे हैं। इतना कहते कहते उसकी तन्मयता अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच जाती है और हिचकियों में बदल जाती है।

> गरुहउ परिहवु किम सहउ, पइ पोरिस निलयम्मि।
> जिहि अंगिहि तू विलसिया, ते दद्धा विरहेण।।[२]

इस प्रकार संदेशरासक नारी की अंतर्व्यथा का एक मुखरित काव्य है। पृथ्वीराजरासो में जहां नारी के प्रिय मिलन का उल्लास है, वहां संदेशरासक नारी के विरह जनित आंसुओं से आद्योपांत भीगा हुआ है। द्विवेदी जी के ही शब्दों में

१- स यं मेहउ ठवइ गंठि णिरुट्ठुर तुरिय
तुडिय ताव पेडावहि ठायसर हारिय
सा तिवि किवि संवरिवि चडवि किवि संरिरिया
बाविर चरणा विलग्गिवि तह पहि पंखिय।
- संदेशरासक -

२- संदेशरासक।

" पृथ्वीराजरासो प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है, और संदेशरासक विरह पक्ष का ; रासो काव्य रूढ़ियों के द्वारा वातावरण तैयार करता है और संदेशरासक, हृदय की मर्मवेदना के द्वारा। 'रासो' में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और 'संदेशरासक' में भीतर का। रासो नये-नये रोमांस प्रस्तुत करता है, और संदेशरासक पुरानी प्रीति निखार देता है।"[१]

संस्कृत साहित्य की रीति परंपरा और नारी -

उत्तर काल में संस्कृत साहित्य में सम्भ्रान्त नारियों के साथ ही साथ एक ऐसी भी ढंग की नारियों की कल्पना की गई है, जो अपने गुण और धर्म में रीतिकालीन नारी की संज्ञा से विहित की गई। संस्कृत साहित्य में रीतिकाव्य की एक लंबी परंपरा चल पड़ी। कवियों ने काम की उद्दीपक सामग्री का प्रचुर उपयोग अपने काव्य में किया। इसके निमित्त संध्या, सूर्योदय, प्रभात, अंधकार चंद्रोदय आदि उद्दीपक वस्तुओं के साथ ही साथ स्त्रियों की जलक्रीड़ा, नाना प्रकार की उद्दीपक कामचेष्टाओं का भी विवरण हमें इन काव्यों में प्राप्त है। अनेक कवियों ने 'काम-सूत्र' में वर्णित कामी जनों की ललित चेष्टाओं के प्रदर्शन के लिये ही अपने काव्यों के अनेक अंश का निर्माण किया है।[२]

संस्कृत साहित्य में और मुख्यतः काव्य साहित्य में अधिकांशतः स्त्री और पुरुष के प्रेम के आख्यान चुने गये हैं। इस प्रेम पद्धति में पुरुष का प्राधान्य और स्त्री की ओर से चेष्टाजनित स्वच्छंदता विशेषरूप से उल्लेखनीय रही है। विद्वानों का कहना है कि संस्कृत कवि काम को मानव जीवन को क्षुब्ध करने वाली मौलिक क्षुधा के रूप में ग्रहण करता है और इसीलिए काम के शारीरिक प्रभाव के चित्रण करने में वह पराङ्मुख नहीं होता।[३] कामपरक सौंदर्य शारीरिक गठन की ही सुंदरता

१- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य ; सं० ५३ पृ० ७२, ७३

२- बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास ; पृ० १३५-

३- वही ,, ,, ; पृ० १३५ -

को प्रबल रूप में सामने चित्रित करता है। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में चित्रित नारी कोई आवरण ढक कर सामने नहीं आती, अपितु भोग्य, अभोग्य, लाक्षणिक और व्यंजक सभी कुछ अपनी यथार्थता में प्रकट होकर सामने आता है।

संस्कृत साहित्य में वात्स्यायन ने काममरक चेष्टाओं को स्पष्ट रूप में व्यंजित करने की एक विशिष्ट परंपरा ही स्थापित कर दी। उनका कामसूत्र स्त्री और पुरुष के यौनजनित संबंधों के निःसंकोच चित्रण का एक अद्भुत नमूना है। इस ग्रंथ में वात्स्यायन ने उन सभी संभव परिस्थितियों का चित्रण किया है, जो काममरक चेष्टाओं के अंतर्गत आ सकती हैं। कामसूत्र में नारी को जो रूप प्रदान किया गया है, उसमें नारी का अस्तित्व उतनी ही दूर तक प्रबल है, जहाँ तक कि वह पुरुष की कामपिपासा को संतुष्ट करने के काम आती है।

प्रसंगवश कामसूत्र में वात्स्यायन ने पत्नी के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया है। उन कर्तव्यों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि पत्नी का काम कुछ और नहीं पति की इच्छाओं की पूर्ति करना मात्र है। उनके अनुसार ऐसी स्त्री जो अपने पति की अकेली पत्नी है, और जो सात्विक ढंग से पति से प्रेम करती है, उसे अपने पति को देवता मानकर उसकी पूजा करनी चाहिये और उसकी इच्छाओं, अभिलाषाओं को ध्यान में रखते हुए तदनुसार आचरण करना चाहिये।[1]

जहाँ तक भोजन का संबंध है पत्नी को अपने पति की रुचि, अरुचि को जानना चाहिये और उसके लिए क्या लाभदायक है और क्या हानिकारक इसका भी ज्ञान होना चाहिये।[2]

जब बाहर से पति लौटकर आता है, और पत्नी बाहर से पति की आवाज सुन लेती है तो उसे घर के पीछे आ जाना चाहिये और विनम्रता से उसकी आवश्यकताओं को जानना चाहिये, और उन्हें संतुष्ट करना चाहिये।[3] पति की

१- एस०सी० उपाध्याय : कामसूत्र आफ वात्स्यायन, पृ० १६३; सूत्र १ -
२- वही ,, ,, ; सूत्र १० -
३- वही ,, ,, ; सूत्र ११ -

परिचर्या में दासियों की सहायता न लेकर स्वयं उसकी सेवा करनी चाहिये और उनके चरण प्रक्षालन करना चाहिये।[1] अपने माता-पिता के घर जाने, किसी शादी विवाह, यज्ञ, भ्रमण, दावत, सामाजिक बैठक या धार्मिक त्योहारों में सम्मिलित होने से पहले पति की आज्ञा लेनी चाहिये।[2] उसे पति के सो जाने के बाद ही सो जाना चाहिये और उनके जागने के पहले जग जाना चाहिये तथा सुबह होने के पहले नींद में कभी विघ्न न डालना चाहिये।[3] यदि पति के किसी कठोर वचन या व्यवहार से पत्नी को आघात लगा है तो उसे तुरंत विरोध प्रदर्शन नहीं करना चाहिये।[4] पति को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण से उसे सुसज्जित रखना चाहिये। रंगीन फूलों, सुगंधियुक्त पदार्थों रंगीन वस्त्रों आदि से उसे अपने को सुसज्जित रखना चाहिए।[5]

इस प्रकार से हम देखते हैं कि कामसूत्र में नारी के दो रूप व्यक्त हुए हैं - (१) गृहिणी रूप में; और (२) भोग्या रूप में। दोनों में पुरुष पक्ष की प्रधानता है और नारी पुरुष की तुलना में कम महत्व की मानी गई है।

कामसूत्र की परंपरा से प्रभावित होकर संस्कृत के अनेक कवियों ने रीतिकाव्य में नारी के नग्न शृंगारिक वर्णन का आश्रय लिया है। रति स्थायीभाव के आधार पर नायिकाओं के वर्गीकरण, उनकी चेष्टाओं के वर्गीकरण और - रतिक्रियाओं के वर्णन की प्रधानता संस्कृत के रीतिकाल में दिखाई पड़ती है। इन काव्यों पर दो शास्त्रों कामशास्त्र और अलंकारशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वात्स्यायन कृत कामसूत्र से कवियों को नायक और नायिका का आदर्श प्राप्त हुआ नायक-नायिका के आहार-विहार, हाव-भाव, कटाक्ष, भ्रू-विलास आदि समस्त शृंगारिक विषय कवि के लिए काम-सूत्र में प्रस्तुत हैं।

१- डा० डी० उपाध्याय : काम सूत्र आफ वात्स्यायन ; सूत्र १२
२- वही ,, ,, ; सूत्र १५
३- वही ,, ,, ; सूत्र १७
४- वही ,, ,, ; सूत्र १८
५- वही ,, ,, ; सूत्र २४

आचार्य भरत से चली आनेवाली संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा में नायिका भेद का विवेचन अपना विशेष स्थान रखता है। एक ओर वात्स्यायन का कामसूत्र दूसरी ओर श्रृंगार रस को लेकर काव्य-शास्त्रीय परिकल्पनाएँ - दोनों ने मिलकर नारी को विशिष्ट सांचों में बांध दिया।

६वीं शताब्दी में रचित 'अग्निपुराण' में नायक-नायिका के विषय को श्रृंगार रस के अंतर्गत लिया गया। उसके बाद रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार सूत्र' में (६वीं शताब्दी) भोज ने अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'श्रृंगारप्रकाश' में (११वीं शताब्दी) हेमचंद्र ने 'काव्यानुशासन' में (१२वीं शताब्दी) शारदातनय ने 'भावप्रकाश' में (१२वीं शताब्दी) भानुदत्त ने 'रसमंजरी' में (१३वीं शताब्दी) विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में (१४वीं शताब्दी) रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' (१६वीं शताब्दी) में इस विषय को विस्तार दिया। संस्कृत काव्यशास्त्र की व्यापक विवेचनाओं में अथवा रस की विवेचना के अंतर्गत नायिकाभेद के विषय को प्रस्तुत किया गया। इससे एक परिपाटी बन गई, जिसका अनुसरण आगे चलकर हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने भी किया।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में धर्म दर्शन और भक्ति का सामंजस्य भी दिखलाई पड़ता है, जो आगे चलकर हिन्दी में धीरे-धीरे लुप्त हो गया। किंतु यह तो निर्विवाद है कि 'रसस्तु परकीया' कहकर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने परकीया नायिका को वैशिष्ट्य प्रदान किया। स्वकीया, परकीया और सामान्या नामों भेदों में फूटकर काव्य-शास्त्र के जगत पर छा जाती हैं, और इस समस्त विभाजन का एकमात्र आधार है श्रृंगार भाव। पुरुष के साथ रतिजनित संबंध।

प्रसाद की नारी भावना पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव -

प्रसाद जी को अपने साहित्य में नारी पात्रों के सृजन में नारी संबंधी वैदिक मान्यताओं से बहुत कुछ सहायता मिली है। अपने साहित्य के संबंध में उन्होंने ऋग्वेद, अथर्ववेद, उपनिषदों, महाभारत, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तरीय ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म ग्रंथों, स्मृतियों, विशेषरूप से मनुस्मृति, चाणक्य के

अर्थशास्त्र तथा गुप्तकालीन संस्कृत साहित्य का मनन और मंथन किया था। बीच बीच में अपनी रचनाओं के लिए उन्होंने स्तद्-विषयक संदर्भ भी दिये हैं।

साधारणतया प्रसाद ने अपने साहित्य में जिन नारी पात्रों का चित्रण किया है, उनमें से वैदिक या पौराणिक नामधारिणी अल्प ही नारियाँ हैं जैसे श्रद्धा, इड़ा, मनसा या सरमा।

प्रसाद जी ने व्यक्तित्व संपन्न साहित्य की कल्पना की है। यही कारण है स्मृतियों और पुराणों की व्यक्तित्वहीन नारी कल्पना को उन्होंने अपना आदर्श नहीं बनाया। अपने नारी पात्रों में प्रसाद जी ने जिस व्यक्तित्व की परिकल्पना की है, वह वैदिक व संस्कृत साहित्य की नारियों के सर्वथा अनुकूल है। साथ ही ये नारियां भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल अर्थात् मुख्यत: गुप्त-काल का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनकी कुछ नारियां गुप्त-काल से भी दूर बढ़कर उस संक्रमणकाल का बोध कराती हैं, जब कि भारतीय और यौरोपीय संस्कृतियों में परस्पर आदान प्रदान बढ़ रहा था और प्रश्न था कि समाज में नारी को जो नया अस्तित्व प्रदान किया जाय वह किस प्रकार का हो? प्रसाद जी ने नि:संकोच भाव से नारी को एक उदात्त और विकासशील परिवेश में प्रस्तुत किया।

यहां तक कि स्मृतिकालीन अथवा पौराणिक नारी पात्रों के लिए उन्होंने प्रामाणिक ग्रंथों के संदर्भ प्रस्तुत किये हैं जैसे कामायनी में या जनमेजय के नागयज्ञ में, किंतु ऐतिहासिक नारी पात्रों में भी जहां उन्होंने भारत के प्राचीनतम् इतिहास का आश्रय लिया है वहां भी विभिन्न प्रमाण के लिए उन्होंने पुरातन ग्रंथों का ही उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न को प्रामाणिक कहते हुए उन्होंने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, शतपथ, तैत्तरीय ब्राह्मण ग्रंथों आदि से लेकर चाणक्य के अर्थशास्त्र तक का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

यद्यपि प्रसाद जी ने प्राचीन भारतीय वांगमय की महानतम् नारियों जैसे सीता, सावित्री, विदुला, गार्गी, मंदालसा, अनसूया, शकुंतला, यौधा आदि किसी भी नारी चरित्र पर साहित्य सृजन नहीं किया है, किंतु इतिहास के परिप्रेक्ष्य से जिन नारियों को उन्होंने चुना है, उनमें अधिक स्फूर्ति, अधिक सक्रियता,

स्वतंत्र व्यक्तित्व , कलात्मकता तथा जीवन के विविध क्षेत्रों में कुशलता देखी जा सकती है। सीता या सावित्री की परिकल्पना में कामायनी की श्रद्धा को छे सकते हैं , किंतु सीता व सावित्री की तुलना में श्रद्धा का व्यक्तित्व अधिक प्रांजल , उदात्त विकसित और सुस्पष्ट है। ऐसी ही बात अन्य नारी पात्रों के संबंध में भी कही जा सकती है। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे के प्रकरण में करेंगे।

(ख) हिन्दी साहित्य में नारी

हिन्दी साहित्य में नारी

हिन्दी साहित्य की परंपरा में चित्रित होने वाले नारी-समाज को सुविधानुसार निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

(क) वीरगाथा काल की नारी -
(१०वीं शता० से १४वीं शताब्दी)

(ख) भक्ति-काल की नारी -
(१४वीं शता० से १६वीं शताब्दी)

(ग) रीतिकाल की नारी -
(१६वीं शता० के मध्य भाग से १९वीं शता० के मध्य भाग)

(घ) आधुनिक काल का नवीन उद्बोधन और नारी का पुनर्जागरण -
(१९वीं शता० के मध्य भाग से आज तक)

(ङ) भारतेन्दु युग की प्रगति और नारी का नवीन उत्कर्ष -
(१९वीं शताब्दी)

(च) द्विवेदी युग और उत्तर द्विवेदी युग का साहित्य और नारी -
(२०वीं शता० का पूर्वार्द्ध)

आगे हम उपर्युक्त वर्गीकरण के स्तंभों के क्रम में प्रत्येक युग की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन करते हुए उसमें नारी के अस्तित्व और स्थान का वर्णन करेंगे।

( ) वीरगाथा काल और नारी

हिन्दी साहित्य का उद्भव एक ऐसे युग में हुआ जो आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से वैभव और समृद्धि का युग था। राजपूत युग तक पहुंचते - पहुंचते पुरुष वर्ग का पुरुषार्थ निश्चित रूप से विजयी हुआ था। समाज के विकास तथा राज्य के संचालन का भार पुरुष के कंधों पर आ गया। और नारी अपना बाह्य व्यक्तित्व समेट कर घर की सीमाओं में बंधी गई थी।

देश में अनेक छोटी - छोटी प्रशासनिक इकाइयां थीं। राजपूत राजा भारतीय संस्कृति के पोषक, और भारत राष्ट्र तथा हिंदुत्व के अनन्य भक्त थे। किंतु नारी संबंधी मान्यताओं में राजपूत काल में सामाजीकरण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। इस युग की नारी को उसके पति के व्यक्तित्व से ही समझा जा सकता था।

युद्धों की निरंतरता -

राजपूत राजा वीर, निडर और युद्ध प्रेमी हुआ करते थे। आगे चल कर यह युद्ध-प्रेम, परस्पर लोड़ और शत्रुता में बदल गया। राजा एक दूसरे के प्रतिद्वंदी होने लगे। अपनी - अपनी जाति और अपने अपने कुल के बड़प्पन को सिद्ध करने के लिए एक राजा दूसरे राजा से अपने को महान् प्रमाणित करने में लगा था। युद्ध के प्राय: दो कारण हुआ करते थे :-

१- विवाह प्रस्ताव ;

२- पूर्वजों की शत्रुता का बदला।

प्राय: कोई महत्वाकांक्षी राजा किसी दूसरे राजा से इसलिए शत्रुता मोल लिया करता था, कि उसे अपने पूर्वजों की शत्रुता का निर्वाह करना है और जब तक वह अपने पूर्वजों की शत्रुता का पूरा - पूरा बदला नहीं ले लेगा, तब तक स्थिर चित्त नहीं होगा।

युद्ध का दूसरा कारण विवाह का प्रस्ताव था। यदि कोई राजा किसी दूसरे राजा के यहां कोई सुंदरी युवती या राजकुमारी देखता था जो वह

उस पर मुग्ध होकर उसे अपने लिए प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया जाता था। विवाह के प्रस्ताव भेजे जाते थे और यदि वह प्रस्ताव ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया तब तो कोई बात नहीं। यदि प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया तो फिर यह दोनों पक्ष के लिये सम्मान का प्रश्न बन जाता था, और दोनों पक्ष अपने अपमान का प्राणप्रण से बदला लेने के लिये तुल जाते थे। इसी प्रसंग में जाति और वंश मर्यादा के ऊँच नीच होने का प्रश्न भी सन्निहित हो जाता था। यद्यपि प्रस्तावकर्ता राजा अपने से हीन वंश परंपरा वाले राजा के यहाँ से भी रमणी युवती प्राप्त करने में जाति संबंधी किसी अड़चन का अनुभव न करता था, क्योंकि उस समय यह मान्यता थी कि स्त्री और घोड़े की जाति नहीं देखी जाती। किंतु यदि प्रस्तावकर्ता राजा स्वयं ही हीन वंश परंपरा का हुआ तब तो यह प्रस्ताव उसके समूल वंश के विनाश का कारण बन जाता था। बघेलों, बंदेलों, परिहारों, गुर्जरों आदि की कहानी ऐसी ही कहानी है।

<u>राजपूत युग और नारी</u> -

सामान्यत: यह देखा गया है कि जिस जाति का जीवन संघर्षमय अथवा जो जाति अपने अस्तित्व की रक्षा में संघर्षरत रहती है, सामूहिक रूप से वीरत्व के गुण आ जाते हैं। राजपूतों के लिए भी यही बात कही जा सकती है। उस युग में परस्पर असहिष्णुता, तथा विदेशी आक्रमणों के बढ़ने के कारण युद्ध की प्रवृत्ति का विकास हुआ और उस विकास से पुरुष और स्त्री दोनों प्रभावित हुये। सामान्यत: स्त्री जाति के लिए युद्ध में भाग लेना प्रचलित नहीं था, किन्तु घरों के भीतर भी वीरत्व प्रदर्शन के कुछ गुण उनमें आये। अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं जब कि नारी ने स्वयं आत्म-बलिदान करके पुरुषों को आगे रण में जाने के लिए ललकारा और प्रोत्साहन किया है। सती-प्रथा और जौहर इस युग की दो ऐसी प्रथायें हैं जिनके समान दुनियां के इतिहास में कोई अन्य दृष्टांत नहीं मिलता। राजपूत रमणियाँ जब यह जानती थीं कि उनके पति युद्ध में मारे जा चुके हैं और ऐसी स्थिति आ गई है कि

संभवत: प्राण देने के उपरांत भी विजय न मिल सके तो वे एक सामूहिक मरणोत्सव मनाया करती थीं। स्वयं सज-धज कर सामने आती थीं। पुरुषों को केसरिया वस्त्र पहनाती, रोली लगाती, और हाथों में तलवार देकर रण में जाने के लिये तत्पर कर देती थीं। स्वयं अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए धू धू करती हुई चिताओं की लपटों में युग-युगांतर तक सुहागिन बनी रहने की कामना से हंसती हुई प्रविष्ट कर जाया करती थीं। एक स्थिति उस समय भी उपस्थित होती थी जब कि पति का देहान्त हो जाता था। उस समय भी राजपूत क्षत्राणियां एक अपूर्व आत्मदान किया करती थीं। उसे सती-प्रथा कहते हैं। प्राय: नारी समाज में यह मान्यता थी कि स्त्री पति के लिए उत्पन्न हुई है और पति के अस्तित्व से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है इसीलिए इस युग में यह भी माना जाता था कि पति की मृत्यु के उपरांत स्त्री के जीवित रहने का कोई प्रयोजन नहीं है। दूसरी भावना यह थी कि स्त्री सुहागिन होकर संसार में आती है और सुहाग ही उसके जीवन का अंतिम लक्ष्य है इसलिए पति के मरने के बाद कहीं उस सुहागबिंदु को मस्तक से धो न देना पड़े। इस भावना से प्रेरित होकर पति के मरने पर और भी अधिक शृंगार करतीं, अपनी मांग को अधिक सिंदूर से आपूरित करतीं और पति के शव के साथ हंसती हुई चिता में लेट जातीं और अपने सतीत्व का चरम प्रमाण देते अपने शरीर को लपटों के स्वाहा-कार किया करती थीं। नारी के आदर्श और मर्यादा की यह एक अभूतपूर्व कहानी है। भावात्मक रूप से इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि इस युग की नारी का आध्यात्मिक उत्कर्ष इस सीमा तक पहुंच चुका था कि वह पति के मरने पर आग की लपटों को प्रसन्नतापूर्वक सहती हुई अपने शरीर को भस्मसात् कर सके। शरीर और प्राण का कोई भी मोह और सांसारिक सुखों की कोई लालसा पति को प्राप्त करने के मार्ग में बाधक नहीं हो सकती थी।

इस युग की नारी की सामाजिक स्थिति की विवेचना करते हुये डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने निम्नलिखित निष्कर्ष किया है :-

मध्य युग का प्रमुख धर्मशास्त्रीय ग्रंथ मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका) से तत्कालीन पारिवारिक व्यवस्था का

अच्छा परिचय मिलता है। ----पति - पत्नी को समानाधिकार प्राप्त था। पति का नियंत्रण रहता अवश्य था, किंतु वह पत्नी को क्रीत दासी के रूप में नहीं समझता था। परिवार के लगभग सभी महत्वपूर्ण कार्य उसकी इच्छानुसार होते थे। वह पति स्नेह की पूर्ण अधिकारिणी ही नहीं, साक्षात् गृह-लक्ष्मी समझी जाती थी। संयुक्त संपत्ति में स्त्री का केवल 'स्त्रीधन' पर एकाधिकार था। ------एक ही पत्नी रखना अधिक अच्छा समझा जाता था। शुद्ध यौनाचार पर बल दिया जाता था। संतान को माता - पिता का स्नेह और भरण-पोषण का अधिकार तो प्राप्त होता ही था, किंतु संतान के कुछ नैतिक कर्तव्य निर्धारित कर दिए जाते थे जिनका उनसे कठोरतापूर्वक पालन कराया जाता था। ----गृहस्थ आश्रम एक ऐसे मर्यादित आश्रम के रूप में माना जाता था जिसके द्वारा अर्थ और काम की प्राप्ति हो सकती थी। स्मृतियों में गिनाए गये ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गांधर्व, आसुर, पिशाच और राक्षस ये आठ प्रकार के विवाह सैद्धांतिक दृष्टि से मान्य थे। किंतु व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्म विवाह का ही अधिक प्रचार था ----स्वयंवर की प्रथा राजकुलों तक ही सीमित रह गई थी। मुसलमानी आक्रमणों के पश्चात् बाल-विवाह भी प्रचलित हो गया था।"[१]

<u>मुस्लिम के आक्रमण और सांस्कृतिक उथल-पुथल</u>

राजपूत युग में सांस्कृतिक अभ्युत्थान के साथ ही कुछ विघटनकारी तत्व भी पनपने लगे थे। पारस्परिक संघर्षों ने सामाजिक, और राजनीतिक जीवन को अशान्त कर दिया था। इसी बीच मुस्लिम के आक्रमण आरम्भ हो गये। इन आक्रमणों ने एक उथल-पुथल की स्थिति उत्पन्न कर दी। इन आक्रमणों के कारण केवल राजनीतिक जीवन ही विशृंखलित नहीं हो उठा,

---

१- डा० वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६२

अपितु धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी एक प्रबल आँधी आ गई। मुस्लिम आक्रमणों का उद्देश्य लूट मार के साथ-साथ इस्लाम धर्म का प्रचार करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आक्रमणकारियों की ओर से हर संभव उत्पात किये गये। राजपूतों का पारस्परिक मतभेद मुगलों के विजय का कारण बनता गया। आरंभ में कुछ राजपूत राजाओं ने डटकर आक्रमणकारियों का सामना किया। कुछ वीरों ने देश की रक्षा के लिए अभूतपूर्व युद्ध कौशल का प्रदर्शन किया। पृथ्वीराज चौहान ऐसे ही वीर और देशभक्त राजाओं में से था। किंतु राजपूत राजाओं की समूची शक्ति एक संगठन में आबद्ध होकर कभी भी आक्रमणकारियों को परास्त करने के लिये आगे न आ सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि एक के बाद एक राजपूत राजा मुगलों की अधीनता स्वीकार करता गया, और क्रमश: बाह्य आक्रमणकारी भारतीय राजधानी के सुल्तान बन गये।

इस संक्रमण की स्थिति में भारत की सामाजिक व्यवस्था में अनेक नये परिवर्तन हुए। हिन्दू जाति ने जब देखा कि राजा उनकी रक्षा नहीं कर पा रहे हैं, तो उसने बहुत सी ऐसी चीजों को अपना लिया जिससे उनके धर्म एवं संस्कृति की रक्षा हो सके। इसमें प्रमुख प्रथायें थीं -- बाल विवाह तथा पर्दा-प्रथा, नारी समाज के लिए घर के बाहर का वातावरण बंद कर देना, नारी को शिक्षा के अवसरों से वंचित कर देना, आदि।

इस परिवर्तन से साहित्य भी प्रभावित हुआ। इसी का प्रभाव है कि वीरगाथा काल के साहित्य में मुख्यत: राजपूत राजाओं के शौर्य, मुस्लिम आक्रमकों की लोलुप प्रवृत्तियों, राजपूत नारियों के स्वयंवर, क्षत्राणी रूप, श्रृंगार-संयोग और वियोग आदि के चित्रण की बहुलता है। वीरगाथा काल का समूचा साहित्य ही एक प्रकार से युद्ध और श्रृंगार का साहित्य बन गया है।

हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल में चित्रित नारी:—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है युद्ध के वातावरण में जिस साहित्य का सृजन हुआ वह भी बहुधा वीरत्वपूर्ण था। कवि राज्याश्रित

चारणों के रूप में रहते थे। वे अपने - अपने अन्नदाता एवं उनके पूर्वजों की विरुदावली गाया करते थे। युद्ध में उनके जोशपूर्ण कवितापाठ से योद्धाओं में एक नया उत्साह आ जाया करता था। " ---- जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तबसे हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति शृंगार आदि के फुटकल दोहे राज सभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रम पूर्ण चरितों और गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध परंपरा " रासो " के नाम से पाई जाती है ---- "[१]।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की नारी के दो व्यक्तित्व हमारे समक्ष आते हैं। एक तो है उसका क्षत्राणी रूप और दूसरा है, उसका वह शृंगारिक रूप जो किसी भी राजकुमार को लुभा लेने के लिये पर्याप्त आकर्षण से युक्त है। एक ओर तलवारों की झंकार है और दूसरी ओर वेणी के काले नागों की फुंकार। एक ओर नारी के अभूतपूर्व बलिदानों की रोमांचक कहानी है, और दूसरी ओर है तरुणी के प्रसाधन का स्निग्ध वातावरण।

(क) क्षत्राणी रूप -

राजपूत काल के युद्धों, वीरत्व और पुरुषार्थ का नारी समाज पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। पति, भाई अथवा अन्य सगे संबंधियों को युद्ध में मांगलिक उपचारों के बाद भेज देने वाली नारी स्वतः एक उच्च मनोबल से युक्त महान स्त्री थी। वीरगाथा काल में जिन नारियों का वर्णन आया है उनमें एक वर्ग वीरांगनाओं का भी है। उस काल की नारी की मान्यतायें कुछ विशिष्ट प्रकार की रही हैं। उस मान्यता का वर्णन करते हुए एक पत्नी अपनी सखी से कहती है :-

---

१- रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृष्ठ ३ ।

महु कन्त हो बे दोसड़ा , हेल्लि मफंखहि आलु ।
देन्त हो हउं पर उव्वरिय , जुज्झन्त हो करवालु ।।[1]

(एक सखी दूसरी सखी से उसके पति के बारे में चर्चा करती है , जो कि युद्धस्थल में गया हुआ है , उसकी बातों का उत्तर देते हुये दूसरी सखी कहती है -- हे सखी मेरे पति को कोई दोष मत दो । यदि उनमें दोष है तो केवल दो प्रकार का । वे दान में बहुत ही प्रवीण हैं और युद्ध में बहुत ही कुशल है । दान करने लगते हैं तो मुझे छोड़कर शेष सभी चीजों को दान कर देते हैं और युद्ध करने लगते हैं तो तलवार को छोड़कर शेष सभी चीजों को नष्ट कर देते हैं ।)

उस युग की नारी की मान्यताओं में एक ऐसा पति वरणीय माना गया था जो अंकुश के बंधन को भी अस्वीकार कर देने वाले मदमस्त हाथी से अकारण ही भिड़ सके , अर्थात् जिसमें पूर्ण पुरुषार्थ भरा हुआ हो -

आयह जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तहं चत्तंकुसहं जो अ॰ अभिड़इ हसन्तु ।।[2]

डा० जयकिशन प्रसाद के शब्दों में " राजस्थान की वीरांगनाओं के शौर्य और उनके रण-कौशल से राजस्थानी कविता भरी पड़ी है । इसके साथ ही श्रृंगार रस वीर रस के सहायक के रूप में आया है , क्योंकि प्राय: स्त्रियां युद्ध का मूल कारण हुआ करती थीं । इस प्रकार वीर पुरुषों के अतिरिक्त वीरांगनाओं के युद्ध कौशल का सजीव और सुंदर वर्णन राजस्थानी कवियों की अपनी विशेषता है । वीरांगनाओं के हृदय के वीर-भावों का सजीव-चित्रण इन कवियों की विश्व-साहित्य को अपूर्व देन है । साथ ही उनके अपूर्व सौन्दर्य का भी कलापूर्ण वर्णन मिलता है ।"[3]

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ६३-६४ -
२- वही ,, ,, ,,
३- डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६१-

युद्ध प्रियता और (ख) आश्रयदाताओं की भोगलिप्सा। चारण कवि इन दोनों की गहराई में जा सकने में समर्थ थे।

शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में नारी के हृदय की विदग्धता कम और कामजनित शारीरिक पीड़ा की अधिक व्यंजना हुई है। भोगपरक शृंगार ने उस नारी को एक विचित्र सी स्थिति में पहुँचा दिया है। ऐसी ही एक नारी का चित्रण इस प्रकार है :-

त जं मेहल ठवइ गंढि णिट्ठुर सुहय
तुडिय तार थठासहि अवसर हारलय।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिया
णेवर चरण विलग्गवि तह पहि पलुट्टिय।।[१]

उपर्युक्त पद्य में एक ऐसी विरहिणी का चित्रण है जो पथिक को अपने प्रिय से संदेश कहने के लिए जाती है। प्रिय के प्रति संदेश कहना है, मात्र इसी भावना से उसकी संयोगजनित सारी पीड़ायें जाग उठती हैं, और बड़ी ही कठिनाई से अपने आपको संभाल पाती है। संदेश कहने के लिये उतावली में, वह उक्त संदेश में प्रिया का प्रिय के प्रति हृदय-जन्य प्रेम किंचित भी आभासित नहीं होता। आभासित होता है, तो केवल अंगों की पीड़ा का मांसल चित्र, जो कि अनंग की तूलिकाओं से उभाल कर सजाया गया है। कहाँ तो युद्ध का वह भीषण वातावरण और कहाँ विरहिणी की यह अनंग पीड़ा? उस समाज के नारी वर्ग की दयनीय स्थिति का दूसरा कौन सा उदाहरण हो सकता है? संदेश रासक और पृथ्वीराज रासो की तुलना करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "पृथ्वीराज रासो प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है, और सन्देश रासक विरह पक्ष का, रासो काव्य रूढ़ियों के द्वारा वातावरण तैयार करता है, और सन्देशरासक हृदय की मर्म-वेदना के द्वारा। "रासो" में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और "सन्देश रासक" में भीतर का। रासो नये-नये रोमांच प्रस्तुत करता है और संदेशरासक पुरानी प्रीति निखार देता है।[३]

१- अब्दुलरहमान : संदेशरासक
२- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : पृष्ठ ७२-७३

डा० वार्ष्णेय[1] ने सिद्धों की रचनाओं के उदाहरण से उस युग की नारी के प्रति एक रहस्यात्मक भावना के भी प्रमाण दिये हैं जो इस प्रकार हैं :-

` जोइनि तंइ बिनु खनहि न जीवमि।
तो मुह चुम्बी कमलरस पिवमि।`

- गुण्डरीपा

(योगिनि! मैं तेरे बिना क्षण भर के लिए भी जीवित नहीं रहता। मैं तो तेरे चुम्बन द्वारा कमलरस का पान किया करता हूँ।)

` तो विण तरुणि णिरन्तर णेहें।
बोहि कि लब्भइ एण वि देहें।।`

- कण्हपा

(हे तरुणि! तेरे प्रति बिना निरन्तर स्नेह द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।)

` जिम लोण विलिज्जइ पाणि एहि, तिम घरिणि लइ चित्त।
समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त।।`

- कण्हपा

(जिस तरह पानी में नमक घुल जाता है, उसी तरह गृहिणी के प्रेम में लीन हो जाने से तत्काल समरस की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, यदि वह हमेशा स्थिर रहे।) वह चलती है तो उसके कटिप्रदेश से रसनायाँ छूट जाती हैं और किंकिणियाँ किंण-किंण ध्वनि करती हुई बिखर जाती हैं। उन्हें वह किसी प्रकार समेट कर गाँठ बाँधती और आगे को चलती है तो उसकी मोतियों की लड़ भी बिखर जाती है, उन्हें संभालते संभालते नूपुरों में पैर उलझ जाते हैं और वह गिर पड़ती है। केवल इतना ही नहीं प्रिय के स्मरण मात्र से और भी उत्तेजक और भोगपरक भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। लज्जित होती हुई

---

[1]- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ ७५

वह उठती है तो देखती है कि उसका आंचल सरक गया है , कंचुकी मसक गई है और वह स्तनों को किसी प्रकार हाथों से ढक कर प्रिय के प्रति संदेश कहने के लिए पथिक के पास पहुंचती है ।

यह तो रहा उस विरहिणी का भोगपरक शारीरिक अनुभाव । वह अपने प्रिय के प्रति जो संदेश कहलाती है वह और भी विचित्र है । प्रिय के प्रति वह भी तीसरे माध्यम से संदेश कहलाने में विरहणी के हृदय से उत्पन्न प्रेमजनित भावों की अभिव्यंजना के बदले पुन: वही इन्द्रिय जनित शृंगार का और बहुत ही स्पष्ट शब्दों में रोना धोना है । वह कहती है -

गरुवउ परिहवु कि न सहउ , पइ पोरिस निलएण ।
जिहि अँगिहि तू विलसियउ , ते दद्धा विरहेण ।।[1]

अर्थात् " हे प्रिय ! तुम पौरुष सम्पन्न हो तुम्हारे रहते मुझे किसी प्रपीड़न का शिकार नहीं होना चाहिए। किंतु यहां उल्टा हो रहा है । जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया वही अंग विरह द्वारा जलाये जा रहे हैं ।"

वीरगाथा - काल में पुरुष के पुरुषार्थ का प्रदर्शन तो हुआ, किंतु नारी केवल पुरुष के सौंदर्य पिपासा की तृप्ति का साधन बनकर रह गई । उसका वह विकट रूप इस काव्य में प्रदर्शित न हुआ जो क्षत्राणी का वस्तुत: अपने सतीत्व की रक्षा में हुआ करता है । पृथ्वी राज के १४विवाह के प्रसंग आये हैं । इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में भी नारी का संबंध केवल विवाह और प्रेम वर्णन में आया है । साहित्य केवल नखशिख वर्णन और विलास तक ही सीमित रहा ।[2]

वीर काव्य की सुंदरी नारी अपने यौवन भार से लदी हुई किसी सामंत के आकर्षण के लिए पर्याप्त मानी गई है । कहीं कहीं पर कोई राज-कुमारी प्रणयी सामंत के रूप- सौंदर्य अथवा पुरुषार्थ पर रीझकर प्रेम की पीड़ा में तड़पती भी दिखाई गयी है । कहीं विरह में आंसू भी गिरते दिखाये

१- डा० नलिनिविलोचन प्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां : पृष्ठ ७०
२- राम चंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृष्ठ ३

गये हैं, किंतु युद्धोपरांत उसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। यथा बीसलदेव रासो में मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से सांभर के बीसलदेव का विवाह होता है। बीसलदेव राजमती से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करता है। राजमती विरह से व्याकुल होकर तड़पती हुई एक साल बिताती है। बीसलदेव उड़ीसा लौट आते हैं। इधर भोज अपनी पुत्री को अपने घर लिवा लाते हैं। किंतु बीसलदेव राजमती को फिर चित्तौड़ ले आता है और जीवन प्रेम-विलास में बदल जाता है। इसी प्रकार पृथ्वीराज रासो में मुख्यत: पृथ्वीराज और संयोगिता के गंधर्व विवाह और अपहरण की कथा है।

इसी प्रकार पृथ्वीराज एक ओर पराक्रम का प्रबल प्रतीक है और दूसरी ओर संयोगिता से विवाह करने के उपरांत उसका सारा समय भोग-विलास में ही बीतता दिखाई पड़ता है। अंत में कहानी नया मोड़ लेकर शब्दभेदी-बाण तक पहुंचती है, किंतु उसमें संयोगिता का कोई प्रखर व्यक्तित्व सामने नहीं आता। जगनिक के आल्हखंड में भी आल्हा और ऊदल के वीरतापूर्ण अद्भुत युद्ध कृत्यों का मुख्यत: वर्णन है। इस प्रकार वीरगाथा काल के काव्य में कहा जा सकता है कि राजाओं का युद्ध कौशल और पराक्रम तो अवश्य व्यंजित हुआ किंतु उससे समाज के किसी उच्च आदर्शयुक्त नारी पात्र का गौरव मुखरित न हो पाया।

राजपूत युग की सामान्य राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि इस युग में राजपूत राजाओं की रानियों को छोड़कर शेष नारी समाज पर्दे की ओट में रहा गया था। और पति के संकेतों पर जीवन न्योछावर करना ही उसका आदर्श रह गया था। मर्यादाओं में बंधी हुई नारी के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास इस युग में रुक गया। नारी के अमूल्यपूर्ण बलिदान का पुरुष वर्ग ने उचित मूल्यांकन नहीं किया। इसी युग में एक सामान्य परंपरा सी बन गई कि एक पुरुष चाहे जितनी स्त्रियों से शादी कर सकता है और चाहे जितनी भी पत्नियां रख सकता है। अत: राजपूत युग को जहां हम एक ओर नारी के भावात्मक उत्थान का युग कहेंगे, वहीं उसके

पराभव और परिहास का भी युग मानेंगे।

राजपूत युग में भारतीय नारी को पुरुष के पुरुषार्थ के आगे पूर्णतया अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी, और इसी युग से नारी पुरुष की छाया मात्र बन कर रह गई। बहु विवाह, बाल विवाह, आदि कुप्रथाओं ने इसी युग में पनपने का पूर्ण अवसर प्राप्त किया। यही कारण है कि राजपूत कालीन हिन्दी साहित्य का वीरकाव्य अनेक ऐसी नारियों के दृष्टांतों से भरा पड़ा है जिनकी परिधि में युद्ध की विभीषिकायें तांडव नृत्य करती रहीं, किंतु न तो उद्घोषणा कर सकीं और न स्वयं जुट कर युद्ध के क्षेत्र में उतर सकीं। उसका सारा व्यक्तित्व एक सुंदरी किंतु निर्जीव गुड़िया की भाँति बनकर रह गया।

भक्ति-काल की नारी

आरंभिक स्थिति -

वीरगाथा काल में ही भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थिति में बहुत परिवर्तन आ गये थे। मुगलों के आक्रमणों, राजपूत राजाओं की पराजयों, धार्मिक अस्थिरताओं तथा सामाजिक अशान्ति और अरक्षा के वातावरण ने भारतीय आकाश को पूर्णतः घेर लिया था।

हिन्दू जाति बहुत समय तक मुसलमानों के बर्बर आक्रमणों का साहस के साथ सामना करती रही। कतिपय राजपूत राजा भी प्राण-पण से हिन्दू धर्म, समाज और संस्कृति को बचाने के लिए लड़ते रहे, किंतु एकता के अभाव में उनकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। अब प्रश्न यह था कि हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा किस प्रकार की जाय ? मुसलमान आक्रामकों का लक्ष्य राज्य जीतने, तथा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का भी था। मंदिर ढहा दिये गये और उनके बदले में मस्जिदें खड़ी की गईं। खून की नदियां बहाई गईं। माँ बहनों का सतीत्व लूटा गया और पूरे समाज को अपमान, ग्लानि क्षोभ और असभ्यता का शिकार होना पड़ा। भारतीय समाज और संस्कृति के जीवन और मरण का प्रश्न था।

मुस्लिम आक्रमणों से राजनीतिक और सामाजिक अस्त-व्यस्तता तो अवश्य उत्पन्न हुई, किंतु इससे परोक्षत: एक बहुत बड़ा लाभ भी हुआ। वैदिक काल के बाद बौद्ध और जैन धर्मों की प्रतिक्रिया के कारण वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों आदि का जो महत्त्व हृास होने लगा था, उसके परिणामस्वरूप समाज में बुराइयां और रूढ़िग्रस्तता भी आने लगी थी।

इसका प्रभाव स्त्री जाति पर भी पड़ा। अभी तक भारतवर्ष में नारी जाति को जो आदर और सम्मान प्राप्त था, उसमें पर्दा प्रथा के लिए कोई स्थान नहीं था। महिलायें पंडितों की सभा में शास्त्रार्थ करतीं, दरबारों में राजनीतिक विषयों पर तर्क - वितर्क करतीं तथा शासन के संचालन में सम्राटों को सहयोग और मंत्रणा प्रदान किया करती थीं। हर्षवर्धन की बहन राजश्री का प्रमाण सामने है। किंतु तुर्कों और मुगलों के आक्रमणों और अत्याचारों ने भारतीय समाज की नारी जाति के लिए एक दुखद और विकट मोड़ लाकर उपस्थित कर दिया। अपने सतीत्व, अपनी लज्जा और अपनी मर्यादा को बचाने के लिए नारियों को पर्दे की ओट में जाना पड़ा।

<u>बाहुबल के पराभव की स्थिति और भगवान की पुकार -</u>

प्राय: देखा गया है, कि जब तक मनुष्य का पुरुषार्थ शेष रहता है, वह अपनी रक्षा के लिए अपनी ही भुजाओं के बल पर निर्भर रहा करता है। जब वह अपनी रक्षा में अपने आपको विफल पाता है, तब परमात्मा की पुकार करता है। ऐसा अनुभव किया गया है कि उसकी यह पुकार सीधे उसकी अंतरात्मा से उठती है। इसी कारण यह पुकार उसमें एक अपरिमित आत्मबल उत्पन्न कर दिया करती है, और उसकी अंतर्निहित शक्तियां प्रकट होकर बाहर आ जाती हैं। यही बात हिंदू जाति के संबंध में भी घटित हुई। हिन्दुओं ने जब देखा कि उनका देश विधर्मियों के हाथ में आ रहा है, तब उसने बाह्य उपचारों को छोड़कर परमात्मा को पुकारा। उधर नहीं, दसवीं शताब्दी में शंकराचार्य के प्रभाव में एक आध्यात्मिक लहर फैली तथा ब्रह्म के अद्वैत रूप में विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि सिद्धांत भी प्रचलित हुये। निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने भक्ति मार्ग का प्रबल समर्थन किया।

आंदोलन से तत्कालीन समाज, संस्कृति और साहित्य का प्रभावित होना स्वाभाविक ही था।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, " देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देव-मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[१] फलत: इससे हिंदू जाति का आत्मबल जागृत हुआ और वैदिक काल की उन परंपराओं का निरीक्षण भी किया गया जो समय की गति के साथ धुंधली होती जा रही थी। वस्तुत: भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का वह स्वर्णिम काल है, जब भारतीय संस्कृति का नवोन्मेष हुआ। महिलाएँ भी इस क्षेत्र में आई। इनमें से मीरा, मुक्ता, दीमा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सांस्कृतिक ह्रास के बीच भी नारी-आदर्शों की नवीन स्थापना -

साधारणत: भक्ति काल में नारी का सामाजिक जीवन उन्हीं रूढ़ियों और परंपराओं में जकड़ा रहा जिनमें कि वीरगाथा काल के अंत में था। किंतु इस में नारी जाति में जागरण की एक स्फुरणा उत्पन्न हुई। शिक्षित समुदाय ने नारी के विकासशील व्यक्तित्व की भी मान्यता दी।

इस युग में व्यावहारिक रूप में ब्रह्म को पुरुष और नारी को प्रकृति

१- रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृष्ठ ६१

रूप में माना गया। यहाँ तक माना गया कि शक्ति आगे आगे चलती है और पुरुषार्थ उसका अनुगमन करता है। इसी कारण इस युग में भगवान् के प्रत्येक नाम के साथ शक्ति का संयोग किया गया ; जैसे सीताराम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर, (पार्वती-शिव) आदि भगवान के युगल नामों की परंपरा का आरंभ यहीं से होता है।

शक्ति की आराधना का वेग इतना प्रबल हो गया कि आगे चल कर सखी संप्रदाय, सीतायन संप्रदाय, रसिकी संप्रदाय, राधा वल्लभी संप्रदाय आदि की स्थापना होने लगी और शक्ति की उपासना के विविध ढंग पनपने लग गये। इस मान्यता में पुरुष की अपेक्षा नारी को अधिक महत्व प्रदान किया गया। यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास ने भी गीतावली तथा विनय-पत्रिका में अपनी मुक्ति की याचना स्वयं राम से न करके सीता से की है। सूरदास की राधा और जायसी की पद्मावती सभी किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक उत्कर्ष की परिचायक हैं।

नारी और उसकी आध्यात्मिक मान्यता -

इस काल में उक्त संप्रदायों की स्थापना के साथ नारी को एक आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्व मिला। इस महत्व के साथ ही उसके कार्य-क्षेत्र का व्यापक रूप में विस्तार हुआ, तथा उसके गुणात्मक मूल्यों का स्थिरीकरण भी हुआ। समाज में वेदों की इस मान्यता को पुन: स्थान मिला कि पुरुष की भाँति नारी भी शिक्षा प्राप्त कर सकती, धर्माचरण कर सकती, भक्ति के माध्यम से भगवान् की पूजा कर सकती और यहाँ तक कि बड़े से बड़ा शास्त्रार्थ भी कर सकती है।

डा० देवेश ठाकुर के अनुसार " पुराणों और स्मृतियों ने पातिव्रत धर्म के निभाने पर ही ईश्वर-प्राप्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। परंतु भक्ति काल में पतिता, वेश्या और कुलीना भी मोक्ष प्राप्त कर सकने का अधिकार रखती थीं।"[१] उदाहरण के लिए सूर या तुलसी द्वारा वर्णित गणिका

१- डा० देवेश ठाकुर प्रसाद के नारी चरित्र ; पृ० ४५।

और शबरी का नाम लिया जा सकता है ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में नारी जीवन की पवित्रता को स्वीकार किया गया । लक्ष्मी , सरस्वती , पार्वती , शची , रति आदि ऐसी नारियों के आदर्श सामने लाये गये , जिन्हें पूर्ण आध्यात्मिक मान्यता प्राप्त थी । इन नारियों के माध्यम से समाज में नारी जीवन के यथार्थ एवं आदर्श दोनों की प्रतिष्ठा हुई । ब्रह्म के साथ प्रकृति की कल्पना करते हुए भगवान् कृष्ण को लीला विहारी और गोपियों को उनकी विभिन्न शक्तियों के रूप में माना गया , तथा उन दोनों के निरंतर के साहचर्य द्वारा यह प्रकट करने की चेष्टा की गई कि पुरुष और स्त्री का साहचर्य केवल पाप कृत्यों के उद्देश्य से ही नहीं , अपितु आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना से भी होना संभव है । इस विचारधारा का तत्कालीन समाज पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ।

गोस्वामी तुलसीदास को तुलसीदास बना देने वाली उनकी पत्नी रत्नावली ही थी । सूर को भी संसार के प्रति वैराग्य और भगवान् कृष्ण के प्रति तादात्म्य किसी नारी के ही माध्यम से तो पाया था । इसी प्रकार नंददास भी राधाकृष्ण के सौंदर्य पर रीझे । यहाँ तक कि कबीर व जायसी की प्रेरणाओं में भी कुछ न कुछ अंश तक नारी का भावात्मक अथवा ज्ञानात्मक रूप रहा है । कबीर , उस ठगिनी से बहुत ही सावधान होकर चले हैं , जिसने सारे संसार को अपने वश में कर लिया है और जिसका नाम है माया । किंतु वही कबीर आगे चलकर उस नारी रूप में इतने श्रद्धावनत हो जाते हैं , कि उन्हें यह कहने में संकोच नहीं होता कि वे स्वयं ही नारी रूप हैं और उनका 'भरतार' उनसे विवाह करने के लिए आया है ।[१] अर्थात् कबीर अंत तक पहुँचते-पहुँचते स्वयं नारी का आवरण अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं ।

ज्ञान पक्ष और नारी का प्रतीकात्मक अस्तित्व -

ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर , दादू, नानक तुकाराम आदि मुख्य संत कवि थे । इन

१- दुलहिन गावहु मंगलचार,
   आये राजाराम भरतार । -- कबीर

संत कवियों ने एकेश्वरवाद को अपनाया तथा जीवन का चरम लक्ष्य आत्मज्ञान के द्वारा ब्रह्म में विलीन होना माना। यह संत निवृत्तिमार्गी थे, निवृत्तिमार्ग में संसार की ऐहिक एषणाओं का त्याग करना आवश्यक माना गया है। संत कवियों ने स्त्री को मायारूपिणी माना, और उससे विरक्त रहने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

कबीर ने " माया महा ठगिनी हम जानी " कहकर ब्रह्मांड भर में स्त्री को व्याप्त माना है। किंतु उन्होंने नारी को कहीं भी हेय नहीं कहा है। उन्होंने अपने कई पदों में लोई को संबोधित करते हुये ज्ञानोपदेश किया है, और उनके जीवनवृत्त को देखने से स्पष्टतः पता लगता है कि उनकी धर्म-साधना के मार्ग में उनकी पत्नी बहुत बड़ी सहायक शक्ति थी।

यही नहीं, आगे चलकर उन्होंने नारी के उस उदात्त चरित्र को भी देखा, जो अपनी चुंदरी बिना मैली किये ही अपने प्रियतम के पास पहुँचना चाहती है। उस नारी में उस प्रियतम के प्रति अपूर्व निष्ठा और निमग्नता है। वह कभी ऐसा अनुभव करती कि उसका प्रियतम उससे विवाह करने के लिए बारात लेकर आ गया है। वह तरह-तरह ढंग से साज श्रृंगार करती है। मंगलाचार के विविध उपक्रम करती है, और अत्यंत ही सात्विक लालसा व्यक्त करती है कि वह " तनरति कर " मन रत कर सकेगी। वही नारी प्रियतम के वियोग में इतनी रत हो जाती है और यहाँ तक कि एकनिष्ठ वियोगिनी नारी उस राम अर्थात् प्रियतम रूपी ब्रह्म की साधना में इतनी लीन हो जाती है कि उस राम के आगमन की बाट जोहते - जोहते उसकी आँखों में धुंध पड़ गये और उसका स्मरण करते-करते जिव्हा में छाले पड़ गये, किंतु वह राम अभी तक नहीं आया[१]।

नारी का माया रूप

अन्य संत कवियों ने भी अपने उपदेशों में नारी को माया के रूप में ही स्वीकार किया है और उसके प्रति विरक्ति की भावना का समर्थन किया है।

१- आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि-पुकारि ।। - कबीर

डा० देवेश ठाकुर ने लिखा है कि " एकनाथ ने साधक को नारी से दूर रहने का आदेश दिया है ।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि पुरुष का नारी से आवश्यकता से अधिक संपर्क स्थापित करना उचित नहीं है । तुकाराम ने भी इसी प्रकार नारी संसर्ग से अलग रहने की इच्छा प्रकट की है , क्योंकि उसके संपर्क से भगवद् भक्ति में बाधा पड़ती है तथा मनोभाव संयमित नहीं रह पाते हैं ।[2] चैतन्य उस पुरुष से किसी भी प्रकार का संपर्क नहीं रखना चाहते जो नारी से अधिक संबंध बढ़ाता है ।

कबीर की भाँति धर्मदास ने भी प्रेम की अभिव्यंजना में अपने आपको महानतम् योगिनी के रूप में यह व्यंजित किया है कि --

जोगिन हुयो कै मैं बन बन ढूंढौं , हमरा के पिरह वैराग दै गैली ।
संग कि सखी सब पार उतरि गइली, हम धनि बाढ़ि अकेली रहिगैलौं ।[3]

सुंदरदास ने सृष्टि-तत्व की विवेचना करते हुये लिखा है कि --

ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई ,
प्रकृति ते महतत्त्व , पुनि अहंकार है ।
अहंकार हू ते तीन गुण सत, रज , तम ,[4]
तमहू ते महाभूत विषय प्रसार है ।

स्पष्ट है कि संत कवियों ने प्रकृति को नारी का पर्यायवाची माना है और माया रूप में भले ही उसका परित्याग करने का उपदेश किया हो , किंतु अपने उदात्त रूप में निश्चय ही वह उसी ब्रह्म का एक अनुपूरक अंग है जिसका कि एक अंग पुरुष माना गया है । अतः जहाँ उसका एक पक्ष माया प्रधान है वहाँ दूसरा पक्ष शक्ति प्रधान भी है । संत काव्य धारा या ज्ञानमार्ग वास्तविक रूप में

१- बेल्वेलकर रानाडे , ' हीस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी '
दूसरी पोथी ; पृ० २५२ ।
२- वही ।
३- रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ० ७७-७८
४- ,, ,, ,, ; पृ० ८३ -

नारी के यथार्थ रूप को न ग्रहण कर उसके आध्यात्म रूप को ग्रहण करता है। उस काव्य में नारी के शरीरजन्य सहवास से निवृत्ति और पलायन का मार्ग अपनाया गया है, किंतु उसके आध्यात्मिक और भावात्मक व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा के भाव व्यंजित किये गये हैं।

सूफी काव्य धारा और नारी जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण

प्रेम काव्य का आरम्भ -

हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक मिलन और समझौते का परिणाम यह हुआ कि क्रमशः दो संस्कृतियों का पारस्परिक मेल आरम्भ हुआ। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के निकट आये। दोनों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ा। इस प्रभाव को भावनात्मक ऐक्य का स्वरूप प्रदान करने वालों में अग्रणी हुए सूफी परंपरा के प्रेम मार्गी कवि।

प्रेम काव्य का मूलाधार -

डा० वार्ष्णेय के शब्दों में -- " जिस समय भारतवर्ष में मुसलमानी शासन स्थापित हुआ था उसी समय देश में धार्मिक संघर्ष छिड़ गया था। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब कि हिन्दुओं को इस्लाम या मृत्यु इन दो में से एक को चुनने का अवसर दिया जाता था। किन्तु साथ ही ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं था जो दोनों धर्मावलंबियों में सौहार्द भाव उत्पन्न करने की आकांक्षा रखते थे। शेरशाह हिन्दू धर्म के प्रति सहिष्णुता और उदारता का भाव रखता था। अनेक साधारण मुसलमान ऐसे थे जो एक ओर तो सूफी धर्म की प्रचार-भावना में विश्वास रखते थे, तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म के आदर्शों को सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। प्रेम काव्य की रचना का मूलाधार यही भावना है। "[१]

सूफी कवि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रेम की एक नवीन पीर लेकर

१- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० १३७।

सामने आये। उनके अनुसार प्रेम की उत्कट आभा पुरुष में प्रस्फुटित होती है और अंतिम लक्ष्य प्रियतमा की प्राप्ति है, इस प्राप्ति के लिए वे साधना मार्ग अपनाते हैं। प्रेम अर्थात् इश्क उनकी परिभाषा में मनुष्य की महानतम् और पवित्रतम् शक्ति है, और इसके बल पर माशूक स्वयमेव आशिक की ओर खिंचा चला आता है। आशिक और माशूक का यह मिलन भावात्मक पक्ष में भले ही प्रतीकात्मक हो, किंतु ऐहिक पक्ष में स्त्री और पुरुष के मिलन की एक भूमिका है।

सूफी काव्य धारा में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आराध्य के स्थान पर स्वयं पुरुष प्रतिष्ठित नहीं होता, वह तो एक साधक मात्र है जो अपने हृदय में निरंतर प्रेम की ज्योति जलाये रखता है। उसके लक्ष्य की आराधिका स्वयं वह माशूक है अर्थात् स्त्री है जिसके प्रति प्रेमी साधना में निरंतर रत रहता है। "सभी सूफी कवियों ने पुरुष के उत्कट-प्रेम और प्रियतमा को प्राप्त करने की साधना का उल्लेख किया है। प्रेम (इश्क) के समान संसार में अन्य कोई वस्तु नहीं। उसी के द्वारा सारी सृष्टि का रहस्य समझा जा सकता है। प्रेम की पीर से जर्जरित तन ही अपना अस्तित्व सफल करता है। उसका अन्त सुखद और आनंदमय होता है। वह मनुष्य को अमरत्व प्रदान करता है। किन्तु प्रेम का मार्ग जितना सुंदर है उतना ही कंटकाकीर्ण भी।"[1]

सूफी कवि संपूर्ण संसार को एक रहस्यमय प्रेम सूत्र में बंधा हुआ देखता है। किन्तु यह प्रेम सूत्र तभी प्रगाढ़ होता है जब बीच में विरह आकर प्रेमाग्नि को प्रज्वलित कर देता है। सूफियों के अनुसार "जिसके हृदय में यह विरह होता है, उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास - अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। ये भाव प्रेममार्गी सूफी संप्रदाय के सब कवियों - में पाए जाते हैं।"[2]

१-डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ; हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १३० -
२-रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ० ८० -

प्रेम काव्य में नारी का अस्तित्व -

सूफी संप्रदाय मुख्यत: मुसलमानों का संप्रदाय है। सूफी [illegible] मुसलमानों में पवित्र आत्माओं के लिये भी कहा जाता है, कि जिन पवित्र आत्माओं के हृदय में प्रेम है, वही खुदा के सामने पंक्तिबद्ध होकर खड़े हो सकेंगे। उनके प्रेम का आधार चिरन्तन मिलन आकांक्षा है। उनका विरह शाश्वत है और जीवन की संपूर्ण यथार्थता को अपने आप में लपेटे है। इस प्रकार नारी पुरुष रूपी साधक के लिए साधना का विषय बन गई। सूफी कवियों ने प्रेम मार्ग के अनुसरण द्वारा हिन्दी में इस परंपरा को स्थापित किया। कबीर ने अपने आपको नारी मानते हुए जिस रहस्यात्मक पुरुष की कल्पना की थी, प्रेम काव्य में ठीक इसके विपरीत नारी को ही गूढ़ और सघन प्रेमाभिव्यक्ति का माध्यम मान लिया गया। सूफियों की " इश्क मजाजी " भले ही मुसलमानों की परंपरा से भारतवर्ष में आई हो, किंतु उसने इस रहस्य को स्पष्ट कर दिया कि पुरुष और स्त्री की परस्पर मिलन-आकांक्षा केवल दैहिक वासनाओं के कारण नहीं अपितु हृदय में निरंतर बसने वाले प्रेम के कारण होती है। इस प्रकार नारी का जो माया रूप[1] संत कवियों की लेखनी से उद्भूत हुआ था, प्रेम मार्गी काव्य में सर्वथा दूसरे रूप में ही व्यक्त होता है। संत काव्य धारा में नारी को माया कहकर उसका तिरस्कार किया था, किन्तु प्रेममार्गी कवियों ने उसे आराध्य के स्थान पर प्रतिष्ठित कर उसे पाने के लिए अनेक योजनाओं का उपक्रम किया। पद्मावत का रत्नसेन पद्मावती को पाने के लिये यती का रूप बनाता है। यतियों का झुंड संग्रह करता है, सात समुद्र पार जाता है, और जब तक पद्मावती उसे मिल नहीं जाती, उसके लिए निरंतर साधनारत रहता है, यह एक मौलिक भेद था, जिसने नारी के व्यक्तित्व को एक दृष्टि से निखारने का यत्न किया - वह दृष्टि है प्रेम के क्षेत्र में नारी की मान्यता।

१- नारी की झाँई परत अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी के संग।।

नारी का व्यक्तित्व : एक रहस्यात्मक ध्वनि

प्रेम काव्य के अंतर्गत विरह मुख्य तत्व है। पुरुष और नारी का मिलन उतना प्रभावकारी नहीं है, जितना उन दोनों का पारस्परिक वियोग। सूफी मान्यताओं के अंतर्गत यह आवश्यक नहीं है कि प्रेमी ने प्रेमिका को देखा ही हो या उसके संपर्क में आया ही हो। प्रेम की ज्वाला तो स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है, और बिना किसी साक्षात्कार के वह हृदय में प्रज्वलित हो उठती है। रत्नसेन पद्मावती को देखने का अवसर नहीं पाता, केवल हीरामन तोते के मुंह से उसके सौंदर्य का वर्णन सुन लेता है। बस, उसके हृदय में प्रेम की अनन्त ज्वाला उत्पन्न हो जाती है, और वह पद्मावती को प्राप्त करने के लिए विरह से अधीर तन और मन लेकर साधना में लीन हो जाता है, उसकी यह साधना उससे अनेक पुरुषार्थ कराती है, किंतु सिंघलद्वीप में जब प्रथम बार मंदिर में साधक अपने आराध्य को देखता है, तो वह उसकी पूरी शोभा देख भी नहीं पाता और मूर्छित हो जाता है। पद्मावती उसे वैसे ही भाव से देखती है जैसे कोई शिशु रो-रोकर अब अपनी माता के आगमन के समय नींद में सो गया हो। केवल पद्मावत में ही नहीं, सूफी काव्य के सभी ग्रंथों में प्रेम के इस रहस्यात्मक स्वरूप का चित्रण हुआ है, और इन काव्यों में नारी को रहस्यात्मक अभिव्यक्ति मिलती गयी है।

सूफी काव्य और नारी का यथार्थ जीवन

सूफी काव्य धारा में जहाँ नारी के प्रति एक रहस्यात्मक इश्क की भावना उत्पन्न हुई है, वहीं इन कवियों ने भारतीय नारी के यथार्थ[illegible] जीवन को भी अपनाया है। पद्मावत की नागमती इस प्रसंग में एक ज्वलंत उदाहरण है। सूफी कवियों ने नारी के दो प्रकार के व्यक्तित्वों की कल्पना की है : (१) एक तो उसका आराध्य व्यक्तित्व और (२) दूसरा उसका गार्हस्थ्य व्यक्तित्व।

जहाँ तक नारी के गार्हस्थ्य जीवन का सम्बन्ध है, सूफी कवियों ने

विशेष रूप से जायसी ने नारी को पुरुष के ऊपर आश्रित माना है । रत्नसेन के चले जाने के बाद नागमती अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई पति के वियोग में रोती है, उसके रोने में केवल रति की पीड़ा ही नहीं, अपितु जीवन की कठोर यथार्थता आभासित होती है । दुख के समय न कोई रंक और न कोई राजा । नागमती भूल जाती है कि वह एक रानी है और उसे किसी ऐसे छप्पर में नहीं रहना है, जो वर्षा की बूंदों के आघात को न सह सकेगा । वह एक विपद्ग्रस्त अबला की भाँति रो-रो कर वन के पशु - पक्षी को रुला देती है । अपने क्रंदन में वह कहती है -- " अषाढ़ आ गया, बादल छा गये, रिमझिम रिमझिम वर्षा होगी, स्वामी घर में नहीं हैं, मेरा यह छप्पर कौन छायेगा ?"[1] वह देखती है कि वर्षा होने लगी है, और वर्षा की बूंद खपरैलों पर से होकर नीचे को गिर रही है, अपने हृदय में भी वह वर्षा के उसी वेग को पाती है, और देखती है कि उसकी आँखें " औरी " की भाँति पानी बहाती जा रही है[2] वह प्रियतम के प्रति अनेक संदेश कहलवाती है और अपने दुख से दुखी होकर समग्र प्रकृति को वह दुखी देखती है । यहाँ तक कि भौंरे व कौवे से भी कहती है :--

पिय सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग ।
सो धनि बिरहे जरि मुई, तेहिक धुँआ हम लागि ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी काव्य में जो विरह की कल्पना की गई है, वह विरह स्त्री के हृदय से उद्भूत है और रहस्यात्मक विरह से भिन्न है । रहस्यात्मक विरह की अनुभूति पुरुष में होती है जो उसे एक साधक के रूप में परिणत कर देती है और यथार्थमय विरह की अनुभूति स्त्री के हृदय में होती है, जो जीवन की समग्र यथार्थताओं को लेकर उस स्त्री के लिए जीवन और मरण की समस्या उत्पन्न कर देती है ।

१- चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा, हाँ नहिं नाह मंदिर को छाजा ।।
२- भीरि दोउ नैन चुवै जस औरी ।

प्रेम काव्य की परंपरा में प्रेम के सच्चे स्वरूप का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि विरह का भी अस्तित्व है। मिलन के बाद फिर प्रेम की तीव्र आकांक्षा नहीं रह जाती। यथार्थमय जीवन रहस्यात्मक प्रेम के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं प्रस्तुत करता। उदाहरण पद्मावत से ही हैं।

पद्मावती रत्नसेन को प्राप्त हो जाती है, और रत्नसेन उसे लेकर घर वापस आता है। यहीं से यथार्थमय जीवन का आरम्भ होता है। सपत्नियों का पारस्परिक कलह, पद्मावती का झरोखे से सुल्तान को दृष्टि-दर्शन, युद्ध और अंत में पराजय तथा मृत्यु। पद्मावती, जो कभी रत्नसेन के लिए आराध्य थी अब एक सती साध्वी गृहिणी की भाँति नागमती के साथ चिता में प्रवेश कर जाती है। यहाँ उसका गार्हस्थ्य धर्म अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिखाई पड़ता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रेम काव्य के अंतर्गत नारी के भावात्मक और यथार्थ दोनों जीवन को शाश्वत रूप में अंगीकार किया गया। एक ओर तो वह प्रेम के अंतिम लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित हुई और दूसरी ओर गार्हस्थ्य धर्म तथा पातिव्रत धर्म दोनों की पराकाष्ठा उसमें देखी गई। एक ओर वह सूफी काव्य में एक रहस्यात्मक व्यक्तित्व लेकर सामने आती है, किंतु वह उसके वास्तविक व्यक्तित्व का द्योतक नहीं है। उसका वास्तविक व्यक्तित्व निखरकर सामने आता है गार्हस्थ्य जीवन में, जहाँ उसे जीवन की पूर्ण उपलब्धि पातिव्रत धर्म के निर्वाह में पूरी करनी पड़ती है।

भक्ति काव्य और नारी

भक्ति काव्य दो प्रमुख धाराओं में होकर बहा :-
(१) राम भक्ति धारा ; और २- कृष्ण भक्ति धारा ।

इन दोनों धाराओं में क्रमश: विष्णु के दो अवतारों राम और कृष्ण के प्रति भक्ति के उद्गार प्रकट किये गये। इन उद्गारों में तत्कालीन समाज का पूरा इतिवृत्त भी चित्रित हुआ। नारी भी इस प्रभाव से अछूती न रही। सांस्कृतिक जागरण के साथ ही प्राचीनकाल की मर्यादाएँ फिर से आयुत

हुई। वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों, पुराणों आदि में समाज की जो मान्यताएँ उपलब्ध हुईं, उनके यथार्थ रूप को इस युग के साहित्य में अंगीकृत किया गया। भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में माने गये और उन्हें बारह कलाओं से पूर्ण जीवन की पूर्णता का उज्ज्वल आदर्श कहा गया। भगवान् कृष्ण सोलह कलाओं से पूर्ण लीलाधारी नटनागर के रूप में माने गये और उनमें हृदय की रागात्मक वृत्तियों की संतुष्टि का एक परिपाक माना गया। अतः दोनों काव्यों में जो नारी का चित्रण हुआ, क्रमशः इस प्रकार है -

राम काव्य में नारी का अस्तित्व -

राम काव्य में पूरे समाज का एक संश्लिष्ट चित्रण है। कोई प्रकरण केवल नारी-चित्रण के लिए किया गया हो, राम काव्य में ऐसी बात नहीं है। फिर भी नारी के विविध सामाजिक और आध्यात्मिक आदर्शों तथा उत्कर्षों का चित्रण स्थान-स्थान पर हुआ है। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में तीन प्रकार की नारियों का उल्लेख है :-

१- धात्री रूप में, महान आदर्शों से पूर्ण नारी ;
२- माया रूप में, अनेक दुर्गुणों और वासनाओं से युक्त नारी और ;
३- मूलतः राजसी वातावरण में रहती हुयी भी पुनीत आदर्शों के प्रति उन्मुख नारी।

कौशल्या, सुमित्रा, सुनयना, सीता, अनुसूया आदि ऐसी नारियाँ हैं, जिनके त्याग, जिनकी तपस्या और जिनके विवेक पर किसी भी समाज को गौरव का अनुभव हो सकता है। सपत्नी कैकेयी के हठ पर अपने प्राणों से भी प्यारे उस पुत्र को जो राजा बनने जा रहा था चौदह वर्षों के लिए वन को जाने की अनुमति दे देना माता कौशल्या का ऐसा त्यागपूर्ण कार्य है जो किसी भी उदात्त नारीत्व व मातृत्व का घोतन करता है। कौशल्या परिवार में कलह की संभावना को दूर करने के लिए अपनी ममतामयी छाती पर पत्थर रखकर भी राम को वन जाने के लिए कह देती हैं। उन्हें माता के रूप में अपने अधिकारों का भी ज्ञान है, किंतु माता का पद कितना महान है और कैकेयी भी राम की

माँ की है, केवल यही एक आधार है जो कौशल्या का मुँह कुछ भी कहने से रोक देता है। "रामचरितमानस" में वनगमन के समय वे राम से कहती हैं

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ।।[1]

सबसे बड़ी बात यह है कि कौशल्या केवल राम को वन जाने की अनुमति नहीं देतीं अपितु भरत में वे वही छाया देखा करतीं हैं जो राम में देखा करती थीं।

सीता में पातिव्रत धर्म की पराकाष्ठा है। जन्म से ही जिसका पालन-पोषण एक राजकुमारी के रूप में सुख और उल्लास के बीच हुआ हो और जिसने कभी कठोरताओं का स्वप्न भी न देखा हो, वही राजरानी सीता पति के पीछे-पीछे, पैदल वनवासिनी रूप में दिखाई पड़ती हैं।

आज भी पत्नी रूप में माता सीता का आदर्श भारतीय नारियों के लिए एक पावनतम् आदर्श है।

इसी प्रकार अनसूया का भी उल्लेख किया जा सकता है जो वन में रहते हुये भी नारी धर्म के गूढ़ रहस्यों से पूर्णतया विज्ञ हैं, और यहाँ तक कि सीता को भी उपदेश करती हैं :-

वृद्ध रोगबस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना ।।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ।।
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ।।[2]

राम काव्य के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास की धारणा नारियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण न थी, और इसके साक्ष्य में - "ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।" की अर्धाली कही जाती है। किंतु ये पंक्तियाँ तुलसी ने स्वयं रूप में न कहकर प्रसंगवश दूसरे के मुख से कहलवाया है,

---

१- गोस्वामी तुलसीदास : अयोध्याकांड, ३०६
२- गोस्वामी तुलसीदास : रामचरित मानस, अरण्यकांड ; पृ० ६०१

और निश्चय ही यहाँ जिस नारी का संकेत है वह ८ अवगुणों से संयुक्त ऊपर कथित नारी ही हो सकती है । कौशल्या , सुमित्रा , सुनयना या अनुसूया जैसी नारियां इस कोटि में नहीं आ सकतीं । राम काव्य के तीसरे वर्ग की नारियां निश्चय ही ऐसे नारी समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं जो आज पुरातनता के वातावरण में पड़कर पिछड़ी हुई हैं , किंतु उनका यह पिछड़ापन उनकी प्रकृति का शाश्वत धर्म नहीं है । यदि उनके व्यक्तित्व को प्रस्फुटित होने का अवसर दिया जाय तो वे निश्चय ही समाज में कल्याणी रूप में प्रकट हो सकती हैं । इस कोटि में शबरी , मंदोदरी , कैकेयी , आदि हैं । इनके उदाहरण से सिद्ध होता है कि यदि समाज में नारी अशिक्षित है , यदि उसका कार्य क्षेत्र केवल संतानोत्पत्ति तक सीमित है और यदि उसे विकास के उचित सामाजिक अवसर नहीं दिए जाते तो इसमें आश्चर्य ही क्या है कि वह सरोवर के बंद पानी की भाँति कीचड़ और काई से युक्त हो जाय ? किंतु इस अधोगति को उनकी शाश्वत गति नहीं कही जा सकती । जागरण और संस्कारों का उन्नयन प्रत्येक समाज में संभव है और कोई कारण नहीं कि सम्यक वातावरण और शिक्षा प्रदान करने पर अन्य नारियां भी कौशल्या , सुनयना , अनुसूया , मंदोदरी आदि नारियों की भाँति न बन सकें ।

इस युग के अंत में नारी समाज के प्रति कुछ अन्यथा भावनायें भी देखी गईं , जिनका विवेचन डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस प्रकार किया है - " तुलसीदास की वैधी भक्ति में प्रेम के साथ - साथ श्रद्धा और मर्यादा थी । किंतु आगे चलकर १८वीं शताब्दी के लगभग अंत में रामायत वैष्णव के अंतर्गत राम कथाओं में केवल मधुर से ओतप्रोत श्रृंगारपूर्ण भावनाओं को ही अधिक स्थान दिया जाने लगा । ------ अयोध्या के महंत रामचरणदास ने ------ पति पत्नी भाव की उपासना चलाई । वह सीता को अपनी सौत मानते थे । ------ कुछ कवियों जैसे जीवाराम , युगलप्रिया , अयोध्या के युगलानंद आदि ने राम से सखी संबंध स्थापित किया , और उन्होंने राम के क्रीड़ा , कुंजों , उनकी तिरछी चितवनों और बाँकी अदाओं के गीत गाये । "[१] इस प्रकार भक्ति काल के उत्तरार्द्ध में नारी

१- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय: हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० [illegible]

का कार्य क्षेत्र पुनः सिमटने लगा था और वह माधुर्य और श्रृंगार का आलंबन बनने लगी थी ।

कृष्ण काव्य में नारी का अस्तित्व -

हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्य एक अनूठा भाव सौंदर्य लेकर आता है । राम काव्य में समाज का जो धारावाहिक रूप चित्रित किया गया उसमें सामाजिक जीवन की पूर्णता और जीवन के दार्शनिक पक्षों की व्यवहृति अवश्य देखी गई , किंतु इससे हृदय की सौंदर्यानुभूति और प्रेम-भावना का पूर्ण परिपाक न हुआ । इस पूर्ति का सबल माध्यम बनकर कृष्ण काव्य अपने माधुर्य , लालित्य और आकर्षण के साथ साहित्य के प्रांगण में अवतरित हुआ ।

भगवान् के प्रति प्रेम - भावना को " ८४ वैष्णव की वार्ता " में इस प्रकार व्यंजित किया गया , " श्री आचार्य जी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप है ? माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह की पराकाष्ठा है । स्नेह आगे भगवान् के रहत नाहीं ताते भगवान बेर बेर माहात्म्य जनावत है । ------- इन व्रजभक्तन को स्नेह परमकाष्ठापन्न है । ताहि समय तो माहात्म्य रहै , पीछे विस्मृत होय जाय ।"[१]

इस काव्य में प्रेमलक्षणा भक्ति पर विशेष बल दिया गया और पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन हुआ । इस भक्ति में राधा तथा गोपियां भक्ति के रूप में मानी गईं । विद्यापति ने अपने काव्य में नारी का जो चित्रण किया वह राधा कृष्ण के प्रेमपूर्ण मिलन और विरह के श्रृंगारपरक हैं । इसमें अनुभूति , भावोन्माद , सूक्ष्मता के साथ ही साथ काम , पीड़ा[२] की व्यंजना भी प्रखर रूप में सामने आई और शरीर में व्यंजित की गई । डा० वार्ष्णेय ने विद्यापति के कृष्ण संबन्धी संसार को " कामदेव का संसार "[३] कहा है । इसीप्रवृत्ति को लेकर

१- चौरासी वैष्णव की वार्ता ।

२- " कहि मोर पिया,
 सपनहु न आओल कुटिल हिया ।।"

३- डा०वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ० १४५ -

आगे के कृष्ण काव्य के कवियों ने राधा और गोपियों को ब्रह्म के अवतारी अंश कृष्ण की विविध शक्तियों के रूप में माना है, जो कृष्ण के ही वृत्त में घूमती हैं और जिनके माध्यम से कृष्ण को पाया जा सकता है। कृष्ण लीलाविहारी हैं, कर्मयोगी नहीं। कृष्ण और गोपियों का प्रेम बाल्यावस्था के सहज, स्वाभाविक प्रेम से उत्पन्न होकर क्रमश: यौवनावस्था के प्रेम में परिणत हो जाता है। इस प्रेम की आकुलता इतनी अधिक बढ़ती है कि कृष्ण के मादक वंशी की तान सुनकर गोपिकाएं गृह की समस्त लज्जाओं और मर्यादाओं को छोड़कर दौड़ पड़ती हैं, और जमुना के किनारे कदम्ब की शीतल छाया में जहां कृष्ण गायें चराते और रास करते हुए मन को लुभाते हैं, वहां पहुंच जाती हैं तथा आत्मविभोर होकर रासलीला करती हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह लीला ही ब्रह्मांड के मूल में छिपी सृष्टि की शाश्वत प्रक्रिया है, किंतु सामाजिक दृष्टिकोण से सूर के काव्य में गोपियों की इस प्रेम आकुलता को जो आध्यात्मिक रूप दिया गया, वह आगे चलकर सात्विक न रह गया। यहीं से विषय सामग्री लेकर आगे के कवियों ने रीतिकालीन साहित्य का सृजन किया, जिसमें कृष्ण एक लौकिक नायक और राधा तथा अन्य गोपियां लौकिक नायिकाओं तथा राधा और कृष्ण की ओट में कामजन्य वासनाओं का खुला नर्तन होने लगा। रासलीला के विविध उपक्रम सामने आये और रसिक कृष्ण की लीलायें गोपियों के बीच अभिनीत की जाने लगीं। माखन चोरी से लेकर कलाई मरोड़ने और जल में स्नान करने वाली गोपियों के वस्त्र लेकर कदम्ब की शाखाओं में छिपने तक की नग्न लीलायें सामने आने लगीं।

कृष्ण काव्य में संयोग श्रृंगार के अंतर्गत राधा और गोपिकाओं का जो रूप दिखाया गया है, उसमें हृदय की भावविह्वलता अधिक है, शरीरजन्य कामातुरता या कामपीड़न प्रगल्भ होकर व्यक्त नहीं हुआ है। विप्रलंभ श्रृंगार के वर्णन में भी भावनाओं की प्रधानता रही है। ब्रज से मथुरा चले जाने के उपरांत कृष्ण फिर वापस नहीं आये। राधा और गोपिकायें उनके विरह में

रोती , तड़पती , उच्छ्वासें भरती और उनके आगमन की अवधि गिनती रहीं । कृष्ण आते नहीं अपने ब्रह्मज्ञानी सखा उद्धव को उपदेश देने के लिए भेज देते हैं । उद्धव निर्गुण ब्रह्म की उपयुक्तता का उपदेश देते हैं , किंतु उनका समूचा उपदेश गोपियों के सगुण प्रेम तर्क की आंधी में उड़ जाता है । बस यहीं से कृष्ण काव्य में नारी समाज के जीवन का कार्य-क्षेत्र संकुचित होकर भगवान् कृष्ण के विरह में आठ-आठ आंसू रोने तक सीमित हो जाता है ।

मीरा की प्रेम - व्यंजना -

मीरा के काव्य में नारी हृदय की उदात्त भावात्मक वृत्तियों का परिचय मिलता है । नारी जीवन का यह इतिहास है कि वह त्याग करना जानती है , बदले में कुछ प्राप्त करने की लालसा उसकी नहीं होती ।

विष का प्याला ओठों से लेकर मीरा कृष्ण के उस रूप का गान करती है , जिसे उन्होंने भावनाओं में अपना पति मान लिया है । संसार उपहास करता है , उपालम्भ देता है , प्रपीड़न देता है , किंतु मीरा उन सभी प्रपीड़नों को चुपचाप सह लेती हैं । मीरा अपने आपको कृष्णमय कर लेती हैं । यह आत्मार्पण इस सीमा तक पहुंचता है कि (कृष्ण) जिसके सिर पर मोर का मुकुट है , वह(कृष्ण) मीरा का पति बन जाता है । संसार की कोई बाधा मीरा को अपने उस पति से मिलने से रोक नहीं सकती । मीरा को अपने उस पति के प्रति प्रेम सहज ही में प्राप्त हुआ है और अब उन्हें इस बात की चिंता नहीं है कि लोग उनकी प्रेम साधना का कितना उपहास करेंगे ।

मीरा का काव्य हृदय की उदार वृत्तियों का एक भावात्मक काव्य है और समूचे कृष्ण काव्य में प्रेम की सात्विक पीर के लिए अपना और कोई सानी नहीं रखता ।

मीरा के काव्य में व्यंजित नारी समाज -

मीरा ने अपने जीवन में सांसारिक वैभव का परित्याग किया और उन्होंने साधु समाज के बीच बैठकर कृष्ण का गुणगान करना अपने जीवन का चरम

उदय माना। स्वयं मीरा के लिए कृष्ण-भक्ति कितनी भी प्रिय क्यों न रही हो, किंतु समाज में उसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उससे हम तत्कालीन नारी समाज पर कुछ निष्कर्ष अवश्य निकाल सकते हैं। मीरा के परिवार वालों ने अथवा साधुओं को छोड़कर समाज में अन्य लोगों ने इस बात की सराहना नहीं की कि मीरा कुलवधू की मर्यादा छोड़कर मंदिरों में जायं और भगवान् की आराधना में अपने को लीन कर दें। उस समय का समाज नारी को इतनी इस सीमा तक स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं था।

यहां तक कि मीरा को स्पष्ट रूप में यह स्वीकार करना पड़ा कि " लोक लाज खो कर भी उन्होंने कृष्ण की भक्ति स्वीकार की है। उनके कुटुंबीजनोंने उन्हें विष पिलाकर समाप्त कर देना चाहा ; उन्हें अनेक प्रकार की ताड़नाएं दी गई, उनके अनेक प्रकार के उपहास किए गये, किंतु इतना होते हुए भी वे अपने मार्ग से नहीं डिगीं।"

केवल परिवार वालों ने मीरा के विरुद्ध ऐसा कोई षड्यंत्र किया हो और उसका व्यापक रूप में समाज को ज्ञान न रहा हो, ऐसी बात नहीं थी। फिर भी समाज में इतनी स्पष्टवादिता या विवेक नहीं था, कि लोग मीरा के परिवार वालों को रोक पाते। तात्पर्य यह है कि जिस समय मीरा हृदय में कृष्ण के प्रति वात्सल्य विभोर होकर नाचती रहती थीं, उसी समय नारी के संबंध में समाज की अनेक कुंठायें उन्हें निगल जाने के लिए बढ़ती आ रही थीं। निश्चय ही उस समय तक नारी को घर की सीमाओं से बाहर जाते देख समाज के अधिष्ठाता कहे जाने वाले लोगों में विपरीत प्रतिक्रिया होती थी।

<u>कृष्ण काव्य में चित्रित नारी का सामाजिक पक्ष</u>

कृष्ण काव्य में राधा और कृष्ण का जो भावात्मक प्रेम दिखाया गया, उसके साथ ही पुरुष और नारी के संबंधों के बीच एक ऐसे भी प्रसंग की कल्पना की गई, जो भारतीय वाङ्मय तथा भारतीय समाज के लिए सर्वथा नया था। जहां तक राधा और कृष्ण का पारस्परिक प्रेम का संबंध है तथा उस प्रेम के कारण एक दूसरे से मिलते रहने का प्रसंग है, कहा जा सकता है कि दोनों के

बीच प्रेम की तल्लीनता इतनी अधिक थी कि दोनों परस्पर मिल जाया करते थे। किंतु इसके साथ ही कृष्ण काव्य में एक ऐसी भी कल्पना है कि कृष्ण की मधुर मुरली की तान सुनकर केवल राधा ही नहीं, अपितु ब्रज की सभी गोपियां- विवाहिता, अविवाहिता दोनों - अपने अपने घरों से निकल पड़ती थीं, और कुल की मर्यादा छोड़ कर भी जमुना के किनारे, कदम्ब की शीतल छाया में अथवा किसी कुंज-कुंज के बीच रात-रात भर रास लीलायें किया करती थीं। यद्यपि यह कहानी आध्यात्मिक है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कृष्ण को ब्रह्म-स्वरूप और गोपियों को उनकी शक्ति-स्वरूपा कहा जाता है और इस रासलीला में किसी प्रकार की अन्यथा कल्पना नहीं की जा सकती, फिर भी सामाजिक दृष्टिकोण से गोपियों के सामूहिक रूप से अभिगमन और रासलीला का प्रश्न विचारणीय है।

वेदों से लेकर महाकाव्य काल तक, यहाँ तक कि स्वयं महाभारत में ऐसे किसी पुरुष की कल्पना नहीं की गई है, जिसके वृत्त में किसी क्षेत्र की समूची नारियां घूमती हों। मर्यादा पुरुषोत्तम राम एक-पत्नीव्रत धारी थे। महाभारत काल के बाद भी भारतीय संस्कृति में यह कभी कल्पना नहीं की गई कि किसी एक पुरुष चाहे वह कितना ही प्रतिभावान क्यों न हो, अनेक नारियां एक साथ उस पर रीझ कर उसके साथ रास-लीलायें करें। सूरदास जी तुलसीदास के लगभग समकालीन थे। तुलसीदास ने अपने काव्य में जिस नारी समाज को चित्रित किया है, वह निश्चय ही सूरदास के नारी समाज से भिन्न है, फिर, प्रश्न उठता है कि कृष्ण के साथ अनेक गोपियों का एक साथ अपने-अपने घरों से बाहर निकल कर किसी निर्जन में जमुना के किनारे रात-रात भर रास-लीलायें करते रहना कहाँ तक मान्य था?

भारतीय समाज में नारी जाति को कुल की मर्यादाओं को देखते हुए कभी भी इतनी छूट नहीं मिली है जितनी कि सूरदास ने अपने काव्य में कल्पना की है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद केवल राधा ही कृष्ण के विरह में नहीं रोती, अपितु ब्रज की सभी गोपियां समान तन्मयता से विरहाकुल और -

शोकमग्न हैं। उध्धव के उत्तर प्रतिउत्तर करने में केवल राधा ही आगे नहीं आती, अपितु सभी गोपिकाएँ एक समान रूप से तर्क-वितर्क करतीं और अपने हृदयों की विरहजनित पीड़ा को व्यक्त करती हैं। इस विरह की पीड़ा में वे सभी की सभी किसी न किसी अंश में अनंग पीड़ा की भी चर्चा करती हैं। स्थूल दृष्टि से यदि देखें तो प्रश्न उठता है कि कृष्ण के विरह में स्वाभाविक किसी प्रिय के बिछुड़ जाने का दुख तो समझ में आता है, किंतु सामूहिक रूप से यह अनंग पीड़ा कैसी है।[१]

सूरदास ने अपने काव्य में जिस नारी समाज की कल्पना की है, उसमें हृदय जन्य भावुकता अधिक है। यह भावुकता प्रेमजनित है। सूरदास ने अपने काव्य में कृष्ण के विरह में रोती हुई गोपियों का जितना चित्रण किया है उतना प्राणों से भी प्यारे पुत्र के चले जाने पर माता यशोदा के दुख का चित्रण नहीं कर सके हैं। भगवान् कृष्ण भी अपने सखा उध्धव को मुख्य रूप से गोपियों के पास ही ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देने हेतु भेजते हैं। माता यशोदा या बाबा नंद के प्रति वे केवल अपना पुत्रोपम आभार व्यक्त कर देते हैं।[२]

निश्चय ही गोपियों और कृष्ण का प्रेम तरुणाई की अवस्था का संवेगजनित प्रेम है। भगवान् कृष्ण इस व्यापक रास-प्रकरण को ब्रज में ही समाप्त कर देते हैं - वे लौट कर फिर कभी ब्रज नहीं आते, और मथुरा में भी, राधा रूप में भले ही उनकी अनेक रानियों की कल्पना की जाती हो, किंतु ऐसा प्रकरण उनके जीवन में फिर कभी नहीं आता जब कि अनेक ऐसी स्त्रियाँ उनके प्रति अनंग पीड़ा का अनुभव करें, जिनका विवाह सामाजिक दृष्टिकोण से कृष्ण से न हुआ हो।

सूरदास ने पुरुष और नारी के संबंधों के बीच एक स्वतंत्र वातावरण

१- मदन मारि कीन्हे, हम हूँ - सूरदास -

२- धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार ; पृ० २२५ -
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।

की कल्पना की है। उनके द्वारा व्यंजित अनंग पीड़ा वास्तव में भावात्मक प्रेम की पीड़ा है। आगे के कवियों ने नारी की इस स्वच्छंदता का समर्थन नहीं किया और सूरदास ने जिस स्वच्छंदता को नारी जीवन का आधार माना था, वह वहीं लुप्त हो गया। आगे चलकर रीति काल में वह प्रकट भी हुआ तो उसमें अनेक कालुष्य और अनेक शरीरजन्य वासनाओं का समावेश हो चुका था।

रीतिकाल

सामान्य परिस्थितियाँ -

युग बदला। देश में मुसलमानों का शासन स्थिर हो गया। मुसलमान शासकों ने भी यह अनुभव किया कि शासन को दृढ़ और स्थिर करने के लिए हिन्दुओं का भी सहयोग लेना आवश्यक है। युद्ध का वातावरण शांति के वातावरण में परिणत हुआ।

भक्ति-काल में कवियों के लिये जहाँ यह प्रसिद्ध था कि "संतन कहा सीकरी सो काम" वहाँ रीतिकाल तक आते-आते कवि पुनः दरबार में सिमटने लगे, और अपने-अपने हृदयों में दरबार की शान-शौकत के अनुकूल भावुकता, सहृदयता और रसार्द्रता उत्पन्न करने लगे। काव्य के विषय तो राधा और कृष्ण ही रहे, और उनके संयोग और वियोग की विभिन्न दशाओं का पूरी तन्मयता के साथ कवियों ने चित्रण किया। किंतु रीतिकाल के राधा और कृष्ण भक्ति-कालीन राधा और कृष्ण न रह गये। वे शृंगार और वासना-प्रधान नायक और नायिका के नये रूप में सामने आये। एक लम्बा युग ही ऐसा हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आया जो रीतिकाल के नाम से पुकारा जाता है और जिसमें काव्य के लिये एकमात्र विषय रह गया - नारी का आंगिक सौंदर्य, और नायक तथा नायिका का विविध हाव-भाव प्रदर्शन।

रीतिकालीन काव्य भारत के सामन्त युग का प्रतिनिधित्व करता है। उस युग में हिन्दू राजा नाम-मात्र के रह गये। प्रशासन या राजनीति की दृष्टि से उनका कोई प्रभुत्व न था। परंपरागत दरबार लगा करते थे, किंतु उन -

दरबारों में राजनीतिक या प्रशासकीय महत्व के प्रश्नों पर विचार करने की कोई आवश्यकता न रह गयी थी , केवल ऐश-आराम और भोग-विलास की चर्चाएँ हुआ करती थीं और उन चर्चाओं में प्रमुख हाथ या तो रसिक कवियों का हुआ करता था , या रसवंती नर्तकियों का।

शिवकुमार शर्मा के अनुसार " हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल सं० १७०० से १६०० तक स्वीकार किया जाता है। इस समूचे समय में व्यक्तिवादी , निरंकुश राजतंत्र का बोलबाला रहा। ---- अकबर के पश्चात् जहाँगीर ने राज्य के सम्बन्ध में कोई योगदान नहीं दिया। हाँ उसकी सुरा और सुन्दरी के प्रति असभ्य लोलुपता और असंतुलित लालसा उत्तराधिकारियों को विरासत में अवश्य मिली " " इस युग में जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान कलाक्षेत्र में प्रदर्शन-प्रवृत्ति की ही प्रधानता रही। सामंती वातावरण में फूलने-फलने वाली कला में वासनात्मकता का आ जाना नैसर्गिक था। रीतिकाल में परंपराबद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह होता रहा , उसमें मौलिक प्रतिभा और सप्राणता का नितांत अभाव है , इसके स्थान पर उसमें नग्नता की मात्रा अधिक है। 'स्वामिनः सुखाय' उद्भूत कला में सात्विकता की अपेक्षा बजारूपन अधिक होता है। प्रदर्शन-प्रधान रीतिकालीन चित्रकला नायक-नायिकाओं की बंधी - बंधाई प्रतिकृतियाँ (Models) तैयार होती रहीं।[1]

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार कवियों के रहन-सहन , चिंतन आदि में भी परिवर्तन आया। युद्ध और शांति के समय में ऐश्वर्य और वैभव के प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति देखी जाती है , कविगण उसके अपवाद न सिद्ध हुये। उनमें कला प्रदर्शन और आचार्यत्व की प्रवृत्ति आ गई। जीवन राज-दरबार के बृंत में घूमने लगा , और कब के कवि एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फियाँ[2] प्राप्त कर अपनी कला की पूर्ण सार्थकता मानने लगे। कवियों के मस्तिष्क में जन-कल्याण

१- डा० शिव कुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ ; पृ० ३०३, ३०६-
२- बिहारी -

और लोक-संरक्षण की भावनाओं से कहीं दूर केवल एक प्रश्न घूमने लगा[1]
"कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन।"

तात्पर्य यह कि सुरा, सुराही, सुप्याला और सुबाला के वातावरण में कवि की वाणी भी उन्मादमयी हो गयी। उनके काव्य का क्षेत्र सिमट कर नायक और नायिका के पारस्परिक रति जनित संयोग और वियोग तथा नायिका के स्थूल और शरीर तक सीमित हो गया। इस युग में छंद, अलंकार भावाभिव्यक्ति आदि के सौष्ठव तो प्रकट हुये, किंतु अलंकारों के आवरण में मानवीय आत्मा कहीं दूर छिप गयी।

रीतिकाल में चित्रित नारी -

रीतिकाल की कविता दरबारी संस्कृति के बीच पली थी। कविगण अपने-अपने आश्रयदाताओं की वासनाओं और लिप्साओं के अनुकूल काव्य रचने में लगे हुए थे। इसी कारण रीतिकाल में शृंगार मुख्य रूप से काव्य का विषय माना गया। कवियों की दृष्टि के केन्द्र में नायक और नायिका आकर स्थित हो गये। सूरदास के काव्य में जिस कृष्ण और राधा अथवा कृष्ण और गोपियों के आध्यात्मिक, किंतु मधुर संयोग और वियोग की पावन सरिता प्रवाहित हुई थी, उसने आगे चलकर रीतिकालीन कवियों को एक प्रोत्साहन दे दिया। राधा और कृष्ण को ईश्वर और उनकी शक्ति के रूप में यदा-कदा स्वीकार करते हुए भी इन कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम में नायक और नायिका के प्रेम का समावेश कर दिया। राधा अथवा गोपी अथवा सखी या दूती-यह सभी के सभी इस काल के साहित्य में वासनात्मक रूप लेकर उतरने लगी।

इस युग में नारी का जो अस्तित्व निरूपित किया गया वह अवश्य ही उस युग की संकुचित मनोवृत्ति का प्रबल रूप में द्योतक है। कविता करने का स्वत्व केवल पुरुष कवियों का रह गया।[2] नारी अपनी समूची प्रतिभा और

१- केशव -
२- रीतिकाल की किसी महिला कवयित्री का विशेष नामोल्लेख नहीं मिलता

व्यक्तित्व को तिलांजलि देकर केवल ऐसे काव्य के सृजन की वस्तु बन गयी, जो कामोद्दीपक था।

रीतिकाल के इस युग में मुख्यतया नारी का ऐहिक सौंदर्य ही चित्रित किया गया और वह भी केवल ऐसी तरुणी का जो परिरंभण प्रिय है, और जिसके अंगों से काम की उत्तेजना की चिनगारियाँ निकल रही हैं। स्पष्ट है कि रीतिकाल में नारी का वह भी अस्तित्व न रह गया जो बहन, माता, या मित्र के रूप में होना चाहिए था। वह स्वकीया भी बनी, परकीया भी बनी, नवोढ़ा भी बनी, प्रौढ़ा भी बनी, अनुकूलरति में लीन दिखाई गई, और प्रतिकूलरति में दग्ध चित्रित की गई। उसके अंग-अंग पर कवियों की पैनी दृष्टि पड़ी। कभी उसे सरोवर से स्नान करके निकलते हुये उस समय देखा गया जब कि उसके झीने वस्त्र उसके अंगों से चिपट कर उसे अर्द्धनग्न किये दे रहे थे। इस प्रकार नारी के प्रति अधिकाधिक लिप्सात्मक अनुभावों को प्रकट करना इस काल के कवियों का युग धर्म सा हो गया।

बिहारी का एक दोहा है :-

" बिहसति सकुचति सी दिये कुच-आँचर बिच बाँह।
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह।।"

इस दोहे पर टिप्पणी करते हुये कहा गया है," स्तन नारी का सर्वाधिक आकर्षक अंग है। स्नानोपरान्त झीना वस्त्र उसके शरीर में चिपक जाता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह बाहों से स्तनों को ढक लेती है। कामजन्य डर के अभाव में लज्जा की भावना उद्दीप्त नहीं होती। एकान्त स्थान में स्नान करती हुई स्त्री के लिए गोपन क्रिया बहुत आवश्यक नहीं है। यह काम जन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है, विशेष-रूप से पुरुष के सामने। स्मरण रखने की बात है कि बिहारी की नायिका सरोवर से निकल रही है। उसके तट पर बिहारी जैसे अनेकों रसिकों का जमघट लगा रहता होगा।"[१]

१- डा० बच्चन सिंह : बिहारी का नया मूल्यांकन ; पृ० ३० ।

इसी प्रकार एक नायक किसी नायिका को फूल चुनते हुए देखता है। फूल चुनने में स्वाभाविक है कि, " हाथ को ऊँचे करने तथा ग्रीवा को पीछे की ओर झुकाने में उसके कुच आगे को निकल आए, एवं अंचल के सरकने में भुजमूल तथा उदर कुछ उघर गए।"[1]

इस प्रकार नायिका की झलकी देखकर नायक का मन मुग्ध हो जाता है :-

बढ़त निकसि कुचकोर-रुचि, बढ़त गौर भुज मूल।[2]
मनु छुटि गौ लोटनु चढ़त चौंटत ऊँचे फूल।।

बिहारी ने नायिका को केवल नायक के आकर्षण का केन्द्र ही नहीं माना है अपितु कहीं - कहीं तो उस नायिका को नायक के संयोग सुख के लिये इतना आतुर तक दिखाया है कि वह नायक से स्वयं न मिल सकने के कारण नायक के पतंग की छाया जहाँ जहाँ पड़ती दिखाई पड़ रही है नायिका वहाँ दौड़-दौड़कर कुछ संयोग सुख का आभास पा रही है इतना ही नहीं बिहारी की नायिका दूती का संदेश पाने के उपरांत तुरंत अभिसार के लिये तैयार हो जाती है। नियोजित कार्यक्रम के अनुसार नायक और नायिका का मिलन होता है, मदिरापान होता है, थोड़ी देर तक झूठी नहीं- नहीं की आवाज आती है और इसके पश्चात् वह सुरति सुख में लीन हो जाती है। फिर वह क्या क्या नहीं करती इसका दृष्टांत निम्नलिखित दोहों में मिल जाता है :-

" मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिंग जाइ,
हंस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ रही गरें लपटाइ।
दीप उजेरें हू पतिहिं हरत बसनु रति काज,
रही लिपटि छबि की छटनु नैकौ छुटी न लाज।।"[3]

1- डा० बच्चन सिंह : बिहारी का नया मूल्यांकन ; पृ० ८८।
2- बिहारी।
3- बिहारी।

रीतिकाल का कवि वासना के क्षेत्र में बहुत ही निरंकुश हो गया है। उनकी उक्तियों में कामुकता और उन्माद का वातावरण इतना अधिक समा गया है कि कृष्ण एक लम्पट नायक के रूप में सामने आते हैं और नायिकाएँ 'सरी रस लूट' के चक्कर में लोक लज्जा को तिलांजलि देने के लिए तुली बैठी हैं। निवाज कवि की एक नायिका दूसरी नायिका से कहती है, "हे सखि अब तो बुराई हो ही रही है, फिर यह लाज का आवरण हटाकर पर्यंक क्यों नहीं देती और मन से रास रंग क्यों नहीं करती। कलंक फैल ही गया तो निडर होकर लाल को अंक से क्यों नहीं लगा लेती ?"

आगे तो कीन्हीं लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूं जो छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो, ब्रज की बनिता सबयों ठहरावति।।
कौन संकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहू तरसावति।
बावरि! जो पै कलंक लग्यो तो निसंक है क्यों नहिं अंक लगावति।।[१]

नायक और नायिका के पारस्परिक संबंधों के बीच जितनी वासनाजनित स्वच्छंदता रीतिकाल में दिखाई गई है, उतना अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। पद्माकर ने होली का वर्णन करते हुये एक ऐसी नायिका का वर्णन किया है जो समाज के सामने ऐसी भी होली खेलती है, उसके अतिरिक्त कुछ अक विशेष प्रकार की होली भी खेलती है। कृष्ण को वह भीड़ से अलग किसी कमरे में ले जाती है, उनके ऊपर अबीर की फोली डाल देती है, उनके कमर से पीताम्बर छीन लेती है, और उनके गालों में रोली रगड़ने लगती है। संभवतः कोई संकोच रहा हो, जिससे कवि उस नायिका की ओर से किसी और प्रतिक्रिया को व्यक्त करना उचित न माना हो, अतः केवल इतना ही कहकर कवि सब कुछ कह देता है कि वह नायिका नैनों को नचाकर और मुस्कराकर उन्हें फिर इसी प्रकार की होली खेलने के लिये आने को कहेव देती है :-

---

१- डा० भगीरथ प्रसाद खण्डेलवाल : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ ; पृष्ठ २१६-

" फागु की भीर अबीरिन में गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी ।
भाय करी मन की पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की फोरी ।।
छीने पितंबर कम्मरतें सु, बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाय कही मुसकाय," लला फिर आइयो खेलन होरी" ।।" [1]

मतिराम के नायक कृष्ण अपनी काम क्रीड़ाओं से कभी थकते नहीं, रात्रि में नायिकाओं के साथ जो उत्पात उन्होंने किया, उनके लिये उतना ही पर्याप्त नहीं था। यदि रात में वे परकीया से रत करते हैं, तो दिन में स्वकीया से। दिन में वे किस प्रकार रति के लिये आवाहन करते हैं :-

कैलि के राति अघानी नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई ।
प्यास लगी कोउ, पानी दै जाइयो, भीतर बैठी कै बात सुनाई ।।
जेठी पठाइ गई दुलही, हँसि हेरि हेरैं मतिराम बुलाई ।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हीं, सुगेह की देहरी पै धरि धाई ।। [2]

रीतिकालीन नारी : सामान्य निष्कर्ष

रीतिकाल के काव्य के अंतर्गत नारी के जिस सौंदर्य का अंकन हुआ वह श्रृंगार प्रधान और कामोत्तेजक था। नख-शिख वर्णन में वह एक ऐसी सुंदरी के रूप में चित्रित की गई, जिसके अंग-अंग पर काम पिपासा के आभूषण लदे हुये थे, किंतु सामाजिक लज्जा और संकोच के परिधान को धारण करना वह भूल गई थी।

विविध आभूषणों से लदी हुई किंतु तन, ढकने वाले वस्त्र से रहित नारी का जो कुछ भी सौंदर्य हो सकता है वह सब कुछ रीतिकाल के काव्य में विद्यमान है। इस काल की नारी वह कल्याणी नारी नहीं है जो पुरुष में

१- पद्माकर ।
२- मतिराम -- (कृष्णप्रिया दुलहिन अन्दर आई और " लला " की चालाकी जानकर पानी रख कर चुपचाप जाने लगीं, तब तो कामी कान्ह ने दौड़कर देहरी पर से पकड़ अन्दर खींच लिया और रात की कसर दिन में पूरी की)

पुरुषार्थ का संचार और जीवन का नवोन्मेष कर सके, अपितु उसका वह रूप है जो अंगों में मादक यौवन और हाथों में विषाक्त मदिरा लेकर अपने नायक को पिलाने खड़ी है। नारी का यह व्यक्तित्व कवियों और तात्कालीन राज दरबारों के लिये भले ही रहा हो, किंतु व्यापक दृष्टियों से यह उसकी वीभत्सता का रूप था। सारा काव्य एक लम्बे युग तक उसी वीभत्सता अश्लीलता और नग्नता का प्याला छलकाता और नशे में झूमता रहा।

रीतिकाल के कवियों ने नारी का जो चित्रण किया वह सामन्त युग की दरबारी प्रवृत्तियों का परिचायक भले ही हो, किंतु यह उस युग के सामान्य नारी समाज का परिचायक नहीं कहा जा सकता। आचार्य शुक्ल ने तो[1] इसे साधारण जनता की रुचि का परिचायक भी नहीं माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य का लगभग तीन सौ वर्षों का समय नारी जीवन के घोर पतन और अस्तित्वहीनता का समय था। इसका इंद्रियजनित सौंदर्य उसके लिये एक भार बन गया था। पुरुष की छलनामयी पैनी आंखों ने उस सौंदर्य को देख-देखकर मानो उसमें घाव उत्पन्न कर दिया। उस घाव की सड़ांध नारी के बाह्य जीवन से लेकर अंतरात्मा तक फैल गयी। वह और कुछ नहीं केवल कामुकता की पूर्ति की एक उत्तेजक वस्तु रह गयी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी

आधुनिक काल की पृष्ठभूमि :

हिन्दी के आधुनिक युग का आरंभ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से होता है। यह युग जागरण और उन्नयन का युग है। इसी युग से भारतीय वांग्मय में एक नवीन क्रान्ति आई। लगभग तीन सौ वर्षों की लम्बी परंपरा का काला अंधकार उद्बोधन की नवीन रश्मियों से आलोकित होने लगा। यहीं से वासनाओं के कलुषित बादलों का घटाटोप तितर-बितर होने लगा और हिन्दी साहित्य का गगन नवीन शुभ्रता लेकर निखरने लगा।

१- रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ० २४१ -

रीतिकाल की कविता पहले तो शृंगारिक रसज्ञता से भाव-भीनी थी, किन्तु आगे चलकर वह नग्न वासनात्मक चित्रण और कृत्रिम अलंकार-विधान के मायाजाल में फंस गई :- " रीतिकाल का अधिकतर साहित्य राजमहलों में पल रहा था। जो कि अब सहर्ष भोपड़ियों में आकर जनता के सुख-दुख की बात कहने लगा। रीतिकालीन साहित्य नारी के कुचकटाक्ष के सीमित कटघरे में बंद था, जब कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट उदारता, व्यापकता, और विविधता आई। जिसके फलस्वरूप उसने विशाल जनसमूह को खुली आंखों से देखा -------- संक्षेप में रीति साहित्य की भाषा भाव और शैली सभी कुछ रूढ़िग्रस्त थी ------- अत: आधुनिक साहित्य में इन सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण क्रांति हुई। ------- भारतेन्दु-युग का साहित्य हिन्दी के विकास क्रम को स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ाता है, किंतु पुरानी परंपराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए ही। इस प्रकार भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेश द्वार है जिसमें काफी सीमा तक संधि साहित्य का निर्माण हुआ। द्विवेदी-युग के साहित्य में विषयगत और कलागत आमूलचूल परिवर्तन हुआ।"[१]

आगे हम क्रमश: इन दोनों युगों में होने वाले सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिवर्तनों की चर्चा करते हुए इस बात का विवेचन करेंगे कि उन परिवर्तनों का नारी समाज के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा, और विशेष रूप में साहित्यिक क्षेत्र में स्वर्गीय प्रसाद जी ने किस प्रकार नारी-जीवन के लिए एक नवीन क्रान्ति का मार्ग-दर्शन कराया।

भारतेन्दु-युग के पूर्व का भारतीय समाज -

(१) सामाजिक परिस्थितियाँ

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में अंग्रेजों का आगमन हो गया था।

१- प्रो० शिव कुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ ; ४२१ से ४२२।

इस आगमन से एक नई राजनीतिक व्यवस्था का आरंभ हुआ। इस व्यवस्था का धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों पर भी प्रबल प्रभाव पड़ा। जिस समय अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ था, भारतीय समाज में अनेक प्रकार की कुरीतियों और अंधविश्वासों ने जड़ जमा ली थी। दृढ़ सामाजिक नियमों छुआछूत, भेद-भाव आदि की ऊँची दीवारें और अनेक सामाजिक कुप्रथाएँ, जिनका नारी से सीधा संबंध है, समाज की रीढ़ पर वज्राघात करतीं जा रही थीं, उनमें मुख्य इस प्रकार है :- कन्यावध, सती प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध आदि। " देश -काल के अनुसार सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के अन्तर्गत सती-प्रथा, बाल-हत्या और नरबलि धर्म-सम्मत मानी जाती थी। बाल-विवाह समाज में घुन की तरह काम कर रहा था। असंख्य जातियों और उपजातियों के भेद के कारण भारतवासियों के संगठित होने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। इसके साथ ही विधवा-विवाह-निषेध, बहु-विवाह, खान-पान संबंधी प्रतिबन्ध, समुद्र-यात्रा के कारण जाति-बहिष्कार, नशाखोरी, पर्दा, स्त्रियों की हीनावस्था, धार्मिक, साम्प्रदायिकता, अफीम खाना आदि कुप्रथाओं का चलन हो गया था। इनमें से कुछ तो कालवश स्वयं हिन्दू जाति में उत्पन्न हो गई थीं। आधुनिक काल तक आते-आते हिन्दू धर्म और समाज की अत्यंत शोचनीय अवस्था दृष्टिगोचर होने लगती है।[1]

(२) राजनीतिक परिस्थितियां -

भारत में अंग्रेज मुख्यत: व्यापार करने के उद्देश्य से आये थे। भारत में आने के पश्चात् उन्होंने यहाँ की तत्कालीन शिथिल राजनीतिक व्यवस्था से लाभ उठाकर वहाँ के राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया और एक के बाद दूसरे नवाब को क्रमश: अपने चंगुल में करते - करते प्लासी के युद्ध (वर्ष-१७५७) के पश्चात् उन्होंने भारत में अपनी एक पृथक् राजसत्ता स्थापित

१- डा० वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृष्ठ २२२-

कर ली । हेस्टिंग्स और डलहौजी की साम्राज्यवादी नीतियों ने अंग्रेजी सत्ता की नींव और भी दृढ़ कर दी । इससे प्रकट रूप में तो देश की बहुत बड़ी हानि हुई और भारत जैसा विशाल देश लगभग २०० वर्षों के लिए परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ गया ; किन्तु इस नवीन राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना से परोक्षत: एक लाभ भी हुआ और उस लाभ का प्रभाव बहुत ही व्यापक और स्थायी था ।

अंग्रेजों की नवीन राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना के परिणाम-स्वरूप मुगलिया शान-शौकत और ऐशो-आराम के राजदरबारों का अंत हो गया । पैमाने छलकाती हुई दरबारी नर्तकियों, भोग-विलास के वातावरण में मद से विमंडित नवाबों और राजाओं, शराब की मादकता में श्रृंगारिक छंदों का पुट देकर वातावरण को और भी मादक बना देने वाले कवियों आदि का युग समाप्त हो गया । एक नवीन केन्द्रीय व्यवस्था का आरंभ हुआ । शक्तियों का केन्द्रीकरण किया गया । भारतीय समाज की कूप-मंडूकता को एक नया धक्का लगा और धरती और आकाश के बीच की दूरी अब प्रत्यक्षत: आंखों के सामने दिखायी पड़ने लगी । परतंत्रता की दुखद अनुभूतियों ने राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जनमानस के भीतर ही भीतर क्रांति की आग सुलगा दी । वह आग सन् १८५७ में पहली बार धू-धू करती हुई प्रबल वेग से भड़की थी । यद्यपि अंग्रेजों के नृशंस दमन-चक्र ने उस आग को बीच में ही दबा दिया, किन्तु वह शान्ति एक असंतोष और क्षोभ की ही शान्ति थी ; मरघट की निर्जीव शान्ति नहीं थी । सन् १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम से कम से कम अंग्रेज प्रशासकों को इस बात का आभास अवश्य हो गया कि वे केवल तोपों और बन्दूकों के बल पर भारत में अपना शासन स्थायी नहीं रख सकते । इस संग्राम की समाप्ति पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन का अंत और महारानी विक्टोरिया के सीधे शासन-सूत्र का आरंभ होना इस बात का द्योतक है । निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महारानी विक्टोरिया के समय से जिस प्रकार का शासन संचालित हुआ मूल रूप में अनुदार होते हुए भी ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की तुलना में उदार था ।

कि अंग्रेजों ने भारतीय भाषाओं का अध्ययन आरंभ किया तथा भारतवासियों को भी अंग्रेजी का ज्ञान कराना आरंभ किया। इससे अंग्रेज और भारतवासी एक दूसरे के निकट आये। ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से अनेक भारतवासियों ने यूरोप की यात्रायें कीं। वहाँ के समाज, संस्कृति, स्वतंत्र वातावरण, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, समाजवादी उत्थान आदि से वे लोग प्रभावित हुये और उन्होंने भारत की परिस्थितियों में भी उन बातों के समावेश की आकांक्षा की। इससे पाश्चात्य और पौर्वात्य संस्कृतियों में पारस्परिक निकटता का संपर्क स्थापित हुआ।

पाश्चात्य सभ्यता में आरंभ से ही पुरुष और नारी के बीच विकास की कोई इतनी जटिल, ऐसा नहीं खींची गई, जिसमें शिक्षा, सामाजिक, क्रिया कलाप, नौकरी राजनीतिक मंच पर गतिशीलता आदि नारी के लिए वर्जित हो। भारतीय नारी को प्राचीन काल में ऐसी स्वतंत्रतायें अवश्य प्राप्त थीं, किन्तु परिस्थितियों की विडंबना में मुगल काल से ही नारी के इन अधिकारों का लोप हो गया था। पाश्चात्य नारी - समाज की गतिविधि का भारतीय नारी-समाज पर भी प्रभाव पड़ा और भारत की नारियों की स्थिति में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा।

(५) साहित्यिक परिस्थितियाँ -

अंग्रेजों ने इस स्थिति का भली-भाँति अनुमान कर लिया था, कि भारतवासियों से अधिकाधिक संपर्क बढ़ाने की दृष्टि से किसी एक भारतीय भाषा को इस रूप में विकसित करना होगा जो बोलचाल की सामान्य भाषा होते हुए भी साहित्य के क्षेत्र में इतनी संपन्न हो कि उसमें प्रशासन का भी कार्य किया जा सके। उस समय हिन्दी का गद्य-साहित्य विकसित नहीं था। छन्दबद्ध रीतिकालीन भाषा न तो बोलचाल में आ सकती थी, न उसमें गहन विचार ही व्यक्त किये जा सकते थे और न उससे प्रशासन का कार्य ही किया जा सकता था। इसीलिए गिलक्राइस्ट महोदय के सौजन्य से हिन्दी के चार प्रमुख

विद्यालयों की स्थापना की गई और प्रथम बार दिग्गजों, सदासुखलाल, इंशा अल्लाखां, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने हिन्दी गद्य को एक दिशा प्रदान की। राजा लक्ष्मण सिंह और शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने उस गद्य की भाषा के लिए दो विकल्प खड़े किये, जिसका समाधान लेकर उपस्थित हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। यहाँ तक पहुंचते-पहुंचते यह अनुभव पूर्णत: किया जा चुका था कि युग के अनुसार साहित्य को भी बदलना होगा। युग की पुकार थी कि नवीन चेतना और जागरण का आवाहन किया जाय और साहित्यिक रंगमंच पर बहुत लंबे समय से चलने वाले नायक-नायिका से अनुकूल और विपरीत रति के स्वांगों पर पटाक्षेप किया जाय। भारतेन्दु काल में युग की इस पुकार का पूरा समावेश परिलक्षित होता है। अत: अवश्यंभावी था कि नारी के प्रति मान्यताओं में भी एक नवीन दृष्टि आवे और नारी को भी जन्म-जन्म की कारा से मुक्ति मिले।

(६) शैक्षणिक परिस्थितियाँ -

अंग्रेजी शिक्षा के व्यापक प्रचार से देश में अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति अरुचि के भाव तो अवश्य उत्पन्न हुये, किन्तु एक नवीन, वैज्ञानिक और स्पष्ट अन्तर्दृष्टि की भी उद्भावना हुई जिससे देश का युवक और युवती-समाज विशेष रूप से प्रभावित हुआ। मैकाले ने जिस प्रबल रूप में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का पक्ष-समर्थन किया था उससे भारतीय जन-मानस में यह उद्वेग उठ खड़ा हुआ था कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाय अथवा भारतीय भाषाओं का विस्तार किया जाय। यद्यपि बालकों और बालिकाओं दोनों की शिक्षा के लिए सरकारी स्तर पर अंग्रेजी भाषा को ही माध्यम माना गया, किन्तु भारतीय भाषाओं में भी अपने-आपको उद्बद्ध करने की एक स्पर्धा उत्पन्न हुई। विचार बदले। शैली बदली। विषय बदले। नारी भी इस व्यापक उद्बोधन से वंचित न रही।

उपर्युक्त परिस्थितियों में समय - समय पर भारतीय जन-मानस को प्रगति और सुधार की नवीन दिशाएं प्रदान करने वाले कुछ उन्नायक उत्पन्न होते

रहे। उनमें से प्रत्येक द्वारा आरंभ किये गये कार्य-क्रम में नारी-जीवन के भी पुनर्जागरण का एक निश्चित लक्ष्य था। इन सुधार आन्दोलनों का भारतीय नारी पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा और उन आन्दोलनों को सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान करने का काम किया तत्कालीन प्रगतिशील साहित्य और साहित्यिक ने। यहाँ हम उनमें से प्रमुख आन्दोलनों का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

सांस्कृतिक जागरण

(१) राजाराममोहन राय और ब्रह्म-समाज -

लार्ड विलियम बैंटिंक के सुधारवादी कार्यक्रमों में पूर्ण सहयोग था नवजागरण के प्रवर्तक राजा राममोहन राय का। राजाराममोहन राय १६वीं शताब्दी के नवोत्थान के जनक कहे जाते हैं। इन्होंने सर्वप्रथम सुधारवादी आन्दोलन का आरंभ किया और आन्दोलन को सक्रिय रूप प्रदान करने के लिये उन्होंने 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की।' ब्रह्म-समाज' चारित्रिक दृढ़ता और अगाध विश्वास को लेकर उत्पन्न हुआ। ब्रह्म-समाज ने उन सभी धार्मिक रूढ़ियों और विकृतियों का बहिष्कार किया, जिनसे बंगाल की जनता अभिभूत थी। धार्मिक संस्था होते हुए भी समाज के परिष्कार और प्रगति की ओर भी 'ब्रह्म-समाज' का काफी योगदान रहा। ब्रह्म-समाज के प्रवर्तक राजाराममोहन राय ने स्त्री समाज में प्रचलित सती-प्रथा तथा बाल-विवाह को और विधवा-विवाह-निषेध को वैधानिक रूप से अमान्य घोषित करवाये तथा जातिभेद से उत्पन्न होने वाली अन्य कुरीतियों का भी समूल उन्मूलन किया।[१] इस प्रकार उन्होंने जातिप्रथा की निंदा कर, स्त्रियों की शोचनीय दशा का सुधार कर, उनके हितों की रक्षा कर, सामाजिकता का मार्ग प्रशस्त किया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने दो बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किये। सर्वप्रथम सती-प्रथा का निवारण और कन्या-वध बंद करना। उन्होंने स्त्रियों के संपत्ति विषायक अधिकारों तथा अंतर्जातीय विवाह के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला।

१- डा० माधुरी दुबे : हिन्दी गद्य का वैभव-काल ; पृ० १६५ -

उनका दृष्टिकोण मुख्यत: धार्मिक था और वह धार्मिक सुधार पहले चाहते थे -- " जो व्यक्ति की है वह देश की है। वास्तविक उन्नति के लिए पहले उन्नत धर्म प्रचार होना चाहिये। वे भारतीय समाज में एक सर्वांगीण क्रांति करना चाहते थे और उसके लिए हमारे धार्मिक विचार में पहले क्रांति होनी चाहिए थी यह उनका विश्वास था। पहला धार्मिक सुधार, दूसरा सामाजिक सुधार और फिर तीसरा राजनैतिक सुधार यह क्रम उन्होंने अपने मन में निश्चित कर रखा था।"[१]

उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर ही राजाराममोहन राय ने विभिन्न देवी-देवताओं के स्थान पर एक अनादि निर्विकार ब्रह्म की स्थापना की थी।

(२) स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य-समाज -

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने आर्य समाज की स्थापना की। वस्तुत: 'ब्रह्म समाज' की स्थापना के मूल में जो कारण निहित थे, आर्य समाज की स्थापना के भी मूलत: वही आधार स्तंभ थे। 'आर्य-समाज' का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था। किंतु इसका स्वरूप प्रधानत: धार्मिक था। स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदों को ही धर्म का आदि-स्त्रोत मानते थे और उनका प्रमुख उद्देश्य वैदिक आदर्शों की पुनर्स्थापना करना था। " सामाजिक संस्कारों की बाह्य धार्मिक आंतरिक विकृति ने धर्म को ऐसी परिस्थितियों में पहुंचा दिया था जहां रूढ़िग्रस्त रहने का नाम निष्ठा और कर्मकांड में उलझे रहने का नाम भक्ति था।"[२]

१- They were admitted to the Arya Samaj on a basis of equality; for the Aryas are not a caste. "The Aryas are all men of superior principles; and the Dasyas are they who lead a life of wickedness and sin."

The life of Ramakrishna; Roman Rolland

(अनु० हरिभाऊ उपाध्याय) पृ० ५२

२- महादेवी, दीपशिखा की भूमिका ; पृ० १२ -

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारत के अतीत से प्रेरणा ग्रहण की और वैदिक धर्म के महान् आदर्श को जनता के सामने रखा। उन्होंने पुराणों के आधार पर स्थापित अनेक धार्मिक प्रथाओं को निरर्थक सिद्ध किया, और उन्हें वेद के विरुद्ध प्रमाणित कर धर्म के महान् आदर्श को जनता के सामने रखा। " वे आर्य समाज को समानता के आधार पर स्वीकार करते थे। आर्य कोई वर्ण नहीं, श्रेष्ठ सिद्धांतों के सभी व्यक्ति 'आर्य' हैं और दस्यु वह है जो दुराचार और पाप का जीवन व्यतीत करता है।"[1]

सामाजिक क्षेत्र में नारी की उन्नति के लिए भी काफी प्रयत्न किये गये। बाल-विवाह, अंधरूढ़िवादिता, अशिक्षा, पर्दा-प्रथा, छुआछूत, विधवा-विवाह आदि को दूर करने का अथक प्रयत्न किया। आर्य समाज द्वारा स्त्री शिक्षा को भी काफी प्रोत्साहन मिला, जिसका परिणाम यह हुआ कि नारी को पुरुषों के समकक्ष आने का अवसर मिला।

(३) महादेव गोविन्द रानाडे और प्रार्थना-समाज -

सुधारवादी आंदोलन में "प्रार्थना-समाज" का भी नाम विशेष महत्व का है। जस्टिस गोविंद रानाडे ने "प्रार्थना-समाज" द्वारा स्त्री समाज की ओर विशेष ध्यान दिया। रानाडे ने प्रार्थना समाज को हिन्दू धर्म से अलग ले जाकर एक नये संप्रदाय का रूप नहीं दिया। वे परिष्कार के विश्वासी थे। उनका कहना था कि " हिन्दू जनता इतनी बुरी नहीं है कि हम उसे साडांध (सड़ांध) से भरा हुआ बर्बादियों का अम्बार कहें। यह जनता कुछ दूर तक कट्टर अवश्य है, किंतु इसी कट्टरता ने इसकी रक्षा भी की है। जो जाति अपने विश्वास और भौतिकता, अपने आचारों और सामाजिक आचरण को फैशन के समान आसानी से बदल दे, वह इतिहास में किसी बड़े उद्देश्य की प्राप्ति से वंचित रहेगी। साथ ही यह भी सच है कि हमारी कट्टरता इतनी

१- शंकरदत्तात्रेय जावडेकर, आधुनिक भारत (अनु०) हरिभाऊ उपाध्याय; पृ०१७-

भयानक भी नहीं है कि हम नये विचारों और नूतन प्रयोगों को अपने भीतर धीरे-धीरे नहीं पचा सके।"[1] यही कारण है कि प्रार्थना समाज के अनुयायियों ने अपना ध्यान प्रमुखतया जातिप्रथा विरोध, विधवा-विवाह का समर्थन, स्त्री-शिक्षा का प्रचार, आदि की ओर ही विशेष रूप से रखा। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा को अधिक प्रोत्साहन दिया गया और बाल-विवाह का बहिष्कार किया। अनाथालय, विधवा-आश्रम और कन्या पाठशालाओं की स्थापना भी इसी संस्था के सहयोग से निर्मित हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रार्थना-समाज' द्वारा भी स्त्री की सामाजिक दशा के सुधार की ओर पूरा योगदान मिला। पंढरपुर में अनाथाश्रम, रात्रि पाठशालायें, विधवाश्रम, अछूतोद्धार के हेतु संस्था तथा अन्य उपयोगी संस्थायें भी निर्मित की गई, जिससे स्त्री की दशा का काफी सुधार हुआ।

(४) एनी बेसेण्ट और थियोसोफिकल सोसायटी.-

रूढ़ियों का खंडन करने वाली अन्य संस्थायें भी थीं। एनी बेसेन्ट की 'थियोसोफिकल सोसायटी' ने समाज के हित में बहुत काम किया। इसकी स्थापना विदेश में हुई थी, किंतु पल्लवित भारत में हुई। यह ब्रह्म-समाज तथा आर्य-समाज से भिन्न थी। एनीबेसेन्ट हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानती थी। उसने विज्ञान की अतिबौद्धिकता का घोर विरोध किया तथा भारतीय आध्यात्मिकता का समर्थन किया। "इस संस्था ने हिन्दू धर्म के केवल संशोधित रूप को ही मान्यता न प्रदान करके तत्कालीन पौराणिक धर्म को भी रक्षणीय मानकर उनका समर्थन किया है ------ जब जहाँ जो बात मिली सबके द्वारा हिंदुत्व के प्रचलित समग्र रूप का समर्थन करना आरंभ कर दिया था।"[2]

१- दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय 'चौथा अध्याय'; पृ० ४६१।
(रैना सा० आफ हिन्दुइज्म)
२- डा०रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय; पृ० ४५६।

(५) स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद -

१९वीं शताब्दी का अंतिम महान धार्मिक आन्दोलन था । हिन्दू धर्म की सर्वधर्म समन्वय की भावना लेकर स्वामी परमहंस की अवतारणा हुई थी । वे प्रचारक नहीं साधक थे । उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने उनकी इस साधना की व्याख्या कर रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की थी । इस मिशन का मुख्य उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक उन्नति का था । उन्होंने आर्य-समाज द्वारा प्रस्थापित वेदांत धर्म को युगानुरूप नवीन पृष्ठभूमि पर स्थापित किया । और धर्म की ऐसी व्यवहारिक व्याख्या की जो मानवतावादी , और लोकोपयोगी हो । उन्होंने भक्ति , ध्यान और योग से यह अनुभव कर लिया कि सब धर्म एक ही सनातन धर्म के अंश हैं । धर्म मंदिर में ईश्वर के स्थान पर " मानव " की स्थापना की गई तथा ईश्वराधना के स्थान पर "मानवसेवा" एवं लोकसेवा को अधिक महत्ता प्रदान की गई ।" मानव में ईश्वर का दर्शन ही सच्चा दर्शन है " यह विवेकानंद का ही स्वर था ।

इस मिशन ने स्त्री शिक्षा के लिए भी पूर्ण सहयोग प्रदान किया । कई विद्यालय खुलवाये गये , जिनसे ज्ञान व शिक्षा का प्रचार हुआ । स्त्रियों के लिए अनाथालयों व आश्रमों का निर्माण हुआ , इसका परिणाम धीरे-धीरे यह हुआ कि नारी , पुरुष के समकक्ष समानता के धरातल पर आती गई । यही उनका मानवतावाद था , जहां मनुष्य - मनुष्य के भेदभाव दूर हो गये । गांधी जी का अछूतोद्धार आन्दोलन इसी मानवतावाद का ही एक रूप था , जिसने दलित-वर्ग को भी मानवमात्र के रूप में स्वीकार किया है ।

(६) इंडियन नेशनल कांग्रेस - (१८८५)

भारत की विभिन्न राजनीतिक चेतनाओं को सन् १८८५ में पहली बार इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के साथ संगठित रूप में मुखरित होने का

अवसर मिला । आगे बढ़ कर महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । कांग्रेस का अभ्युदय राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था ही , सामाजिक उत्थान की दृष्टि से भी इस संगठन द्वारा संचालित आंदोलनों का विशेष महत्व रहा । अपने आरंभिक दिनों में तो "राष्ट्रीय महासभा" का उद्देश्य समाज-सुधार विशेष-रूप से था । जब गांधी जी अफ्रीका से लौटकर आये और उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण कर लिया तो उसके बाद संपूर्ण भारत एक अद्भुत जागृति , उत्साह और देशभक्ति के भाव से उद्वेलित हो उठा । लगभग १९१७ से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक का यह युग भारतीय जनचेतना और राजनीति के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । स्वदेशी आंदोलन (१९२०-२२) और असहयोग आन्दोलन (१९२१-२३) तथा उसके उपरांत "भारत छोड़ो आन्दोलन" इस युग के विशेष स्तंभ हैं । यही युग(१९१३ - १९३७) प्रसाद का रचनाकाल है । जिसमें धीरे-धीरे "काननकुसुम" से लेकर "कामायनी" तक उनका कला-काल फैला हुआ है । यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि युग चेतना का गहरा प्रभाव कवि मानस में था , जो उनकी देशभक्ति पूर्ण कविताओं एवं देशभक्ति से अनुप्राणित अलका , जयमाला आदि जैसी स्त्री पात्रों की रचना में विकीर्ण हुआ है ।

स्वतंत्रता आन्दोलन में स्त्रियाँ भी आगे आयीं । कुछ महिला देश-भक्तों ने स्वयं विभिन्न आन्दोलनों का नेतृत्व संभाला । " बीसवीं शताब्दी की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है स्त्रियों का राजनैतिक क्षेत्र में अवतरण । मिसेज एनीबेसेंट के भारत में जागृति फूंकने के समय (१९१४) से तथा उनके कांग्रेस की सभापति होने (१९१७) से भारतीय स्त्रियों में राजनैतिक चेतना जागृत हुई । १९१७ की कलकत्ता कांग्रेस में तीन स्त्रियाँ मिसेज एनीबेसेन्ट , सरोजनी नायडू तथा बेगम अमन

बीबी महत्वपूर्ण पदों पर स्थित थीं ।"[1]

सन् १६०५ में कांग्रेस के एक वर्ग की ओर से " स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है " की आवाज गूँजने लगी । १६०६ में मार्ले-मिन्टो सुधारों के साथ ही राजनीतिक उत्कर्षों का सम्यक रूप से आरंभ हुआ । माण्टेग्यु की भारत यात्रा के साथ ही स्त्रियों को भी पुरुषों के समान नागरिक अधिकारों को प्रदान करने का दावा पहली बार किया गया । क्रांति की तीव्र लहर ने थोड़े ही समय में इस मान्यता को पूर्णतया प्रस्थापित कर दिया, कि सामाजिक राजनीतिक या अन्य किसी क्षेत्र में नारी को पुरुष का समानाधिकार मिलना चाहिये ।

१६१७ के कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में निश्चित रूप से प्रस्ताव पारित किया गया कि " शिक्षा तथा स्थानीय सरकार से संबंध रखने वाली निर्वाचित - संस्थाओं में मत देने तथा उम्मीदवार खड़े होने की, स्त्रियों के लिए भी, वही शर्तें रखी जायँ, जो पुरुषों के लिये हैं ।"[2]

आगे चलकर क्रमशः यह मान्यता और भी दृढ़ होती गई कि स्त्रियों को किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से न्यून या तुच्छ न माना जाय । सन् १६२१ से २२ तक के असहयोग आंदोलन में भारत माता की बहनों और बेटियां आंदोलन में भाग लेने के लिये आगे आयीं । १६२६ में प्रथम बार डाक्टर मुथु लक्ष्मी रेड्डी विधान परिषद् की सदस्या भी हुई । जलसों में सम्मिलित होने से लेकर कारागार

१- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी - भावना ; पृ० १६
२- डा० बी० पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास ; पृ० ५८ -

तक स्त्रियों ने पुरुषों के साथ पूरा सहयोग किया। सरोजनी नायडू, कमला देवी चट्टोपाध्याय, रुक्मनी लक्ष्मीपति, हंसा मेहता, कस्तूरबा गांधी, मीरा-बेन, नेली सेनगुप्त, सत्यवती देवी तथा जाफर अली आदि मुख्य नारियां थीं, जिन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन के प्रथम चरण में वीरता के साथ भाग लिया। आगे नेहरू परिवार की महिलाओं ने भी इस आंदोलन को सक्रिय रूप में आगे बढ़ाया। सन् १९३६ के आम चुनाव में राजनीतिक जागरण यहां तक पहुंच चुका था, कि उस वर्ष के निर्वाचन में लगभग ५० लाख महिलाओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया था, और ८० महिलायें विधायक के रूप में निर्वाचित हुई थीं। इस प्रकार अखिल भारतीय कांग्रेस के विभिन्न आंदोलनों के साथ भारतीय महिला समाज में भी उत्थान के द्वार खुले। संरक्षण भी प्रदान किया गया है।

प्रसाद जी के जीवनकाल में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आंदोलनों का तीव्र दौर चालू था। भारतीय स्वतंत्रता कि उद्भावनाओं से प्रसाद का प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। कहीं - कहीं तो प्रसाद ने ऐसे नारी चरित्रों का अंकन किया है जिनसे आभासित होता है कि प्रकारांतर से भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को ही मुखरित करना चाहते हैं। प्रसाद के अधिकांश नारी पात्र ऐतिहासिक होकर भी वर्तमान युग की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं, यह भी युग व्यापी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के प्रभाव को परिलक्षित करता है।

उपर्युक्त आन्दोलनों का परिणाम -

उपर्युक्त आन्दोलनों से हिन्दू समाज में देशव्यापी क्रांति हुई। स्त्री समाज की स्थिति को सुधारने के भी अनेक ठोस प्रयास किये गये; जैसे जातिप्रथा की जटिलता को दूर किया गया। सती-प्रथा का नाश करने के लिए राजाराममोहन राय ने सरकार का हाथ बंटाया। बाल-विवाह का उन्मूलन कर बहु-विवाह को दंडनीय अपराध घोषित किया गया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

ने (१८०२-१८६१ में) विधवा-विवाह के लिए तीव्र आन्दोलन किया। शिक्षित विधवाओं को नौकरी देकर वैधव्य जीवन की जटिलता, नीरसता व यातनाओं को कम किया गया। सन् १८६१ में बंबई की विधवा सुधार लीग आदि खोलकर विधवा-विवाह को सामाजिक दृष्टि से निष्कलंक बतलाकर प्रोत्साहित किया गया। १६०७ में 'इण्डियन वोमेन्स एसोसिएशन'[1] की स्थापना के बाद से ही स्त्री शिक्षा की ओर, और अधिक ध्यान दिया जाने लगा। १६१७ में महिला मताधिकार आंदोलन को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई तथा स्त्रियां अनेक कौंसिलों, संस्थाओं, कारपोरेशन व म्यूनिसपैलटियों में सदस्य होने लगीं, कुछ ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लिया।

" २०वीं शताब्दी नारी भावना में नवयुग का संदेश लेकर आई। इस युग में नारी भावना में परिवर्तन की गति स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी। ------ काव्य ने अपनी परिपाटी को छोड़कर नवीन भावनायें, नवीन दृष्टिकोण और अभूतपूर्व विचार विकसित किए और नए विचारों ने नारी भावना में भी नवीनता की।"[2]

भारतेन्दु युग की नारी -

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य में एक नई क्रांति लेकर आया। गद्य साहित्य के विकास के साथ ही काव्यगत मान्यताओं में भी अनेक परिवर्तन हुये। रीतिकाल की वासनामूलक अभिव्यंजना पद्धति को छोड़कर काव्य ने एक नवीन अभिव्यंजना का माध्यम ग्रहण किया। यद्यपि ब्रजभाषा काव्य में अब भी राधा और कृष्ण के प्रेम को काव्य का विषय माना गया, फिर भी दृष्टिकोण का परिवर्तन स्पष्टत: सामने

१- Indian Women's Association.

२- डा० शैलकुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना, पृ० १२ -

दिखाई पड़ा। युग की नई पुकार के साथ नारी भावना में भी परिवर्तन आया।
रीतिकाल की लंबी परंपरा में जो राधा और कृष्ण परस्पर काम-केलि के
प्रगल्भ नायक नायिका थे वे अब एक नई परिभाषा में व्यंजित किये जाने लगी।
इस परिभाषा के अनुसार पुरुष और नारी में कोई तात्विक भेद नहीं रह
गया, जो कृष्ण हैं, वही राधा हैं, जो शिव हैं वही शक्ति हैं, जो नारी
है वही पुरुष है ; इनमें कोई विभाजन नहीं किया जा सकता।[१]

भारतेन्दु युग का कवि इस मान्यता से ऊपर उठने लगा कि नारी
का तात्पर्य ही राधा है, और राधा का तात्पर्य ही नायिका है, और उसने
नारी के लिये सीता, अनसूया, सती, अरुन्धती आदि नारियों के आदर्श
ग्रहण करने की बात करनी आरंभ कर दी।[२]

नारी के व्यक्तित्व की मान्यता में भी एक परिवर्तन आया और
अब उसके कामिनी रूप के स्थान पर वीर प्रसविनी रूप की आकांक्षा की जाने
लगी। भारतेन्दु बाबू ने स्वयं नारी के लिए जो ~~आदर्श~~ मापदंड निश्चय किये
उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा --

वीर प्रसविनी बुध वधू, होइ दीनता खोय
नारि नर अरधंग की, साँचहि स्वामिनी होय।[३]

यद्यपि भारतेन्दु बाबू ने शृंगार की रसज्ञता को भी छोड़ा नहीं, किंतु
इस शृंगार के अंतर्गत उन्होंने नारी प्रेम को वासना के कीचड़ से निकाल कर एक
परिष्कृत रूप देने का प्रयत्न किया। यथा :-

१- जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोइ शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष, यामें कछु न विभक्ति।
-- भारतेंदु हरिश्चन्द्र : बालाबोधिनी -

२- सीता अनसूया सती अरुन्धती अनुहारि।
शील लाज, विद्यादि गुण लहौ सकल जग नारि।।
-- वही -

३- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : बालाबोधिनी -

पिय प्यारे निहारे बिना, दुखिया अँखिया नहिं मानत है

या

मोहु प आलि ये सुधी ही रह जायेंगी[१]

यही नहीं अपितु भारतेन्दु के नारी प्रेम में त्याग और तपस्या की भावना भी आकर निहित दिखाई पड़ती है -

पगन में छाले पड़े,

नाघिबे को नाले पड़े ,

तऊ लाल लाले पड़े,

रावरे दरस के ।। -- भारतेन्दु

रीतिकाल में जिस कृष्ण से मुग्धा नायिका या प्रौढ़ा नायिका के रति संसर्ग की बात कही जाती थी , उसी कृष्ण से अब देश और जाति की मर्म भरी वेदना कही जाने लगी -

कहाँ करुणानिधि केशव सोए ?

जागत नाहिं अनेक जतन करि,

भारतवासी रोए ।।[२]

इसी प्रकार राधा कृष्ण दास ने कृष्ण से याचना की -

प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए।

अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए

महा अविद्या रादास ने या देसहिं बहुत सतायो ।

साहस पुरुषारथ उद्यम धन सब ही विधिन गँवायो ।।

-- राधाकृष्णदास -

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है , कि भारतेन्दु युग में नारी की परिस्थितियों में कुछ सुधार हुआ , और वह पुरुष के लिए तृप्ति का एक साधन मात्र न रह

१- शुक्ल जी : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ० ५३४-

२- भारतेन्दु : नीलदेवी -

गई, बल्कि पुरुष के समकक्ष ही उसके व्यक्तित्व की कल्पना भी की जाने लगी। यद्यपि इस युग में उद्धवशतक जैसी रचनाओं में शृंगारिक संयोग और वियोग का रोना-धोना बना ही रहा, फिर भी दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया उसे रायदेवीप्रसाद पूर्ण के एक उद्धरण से देखा जा सकता है :-

" नारी के सुधारे देश जग में प्रसिद्ध होत,
नारी के संवारे होत सिद्ध धन बढ है।
शोभा गेह- गेह की है सीमा सुचि नेह की है,
दाता नर देह की है संपदा की पढ है।
कैसे है। भरतखंड हो गयो उधार तेरो,
दुखित अखंड आपे नारिन की दढ हैं।
है के गुन बालक अबस बन जाने यही,
नारी बस बालक बनावन की कढ है।"[1]

प्रतापनारायण मिश्र ने भी स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन, बाल-विवाह का विरोध और विधवाओं की स्थिति से शोक व्यक्त करते हुए लिखा है :-

" निज धर्म भली विधि जानैं, निज गौरव पहिचानैं;
स्त्रीगण को विद्या देवैं, करि पतिव्रता यशलेवैं।
फूठी यह गुलाब की डाली चोवत ही मिटि जाय;
बाल-व्याह की रीति मिटावो रहे डाली मुंह बाय;
विधवा बिलखैं नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय गोहार नहीं।"

इस परिवर्तन के उपरांत भी भारतेन्दु युग नारी जीवन में कोई तात्विक परिवर्तन न ला सका। डा० शैल कुमारी के शब्दों में :- " नारी को लेकर सुधार भावना से प्रेरित होकर कुछ कवियों ने उनकी शिक्षा आदि की आवश्यकता की ओर लक्ष्य किया, किंतु नारी संबंधी उदार भाव इस युग में

१- अवधिकशन प्रसाद खण्डेलवाल : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ ; पृ० ३४४

कम ही मिलते हैं, क्योंकि पुरानी विचारधारा समाज में तथा काव्य में अब भी प्रबल थी। विधवा-विवाह और पर्दा-खंडन के विरुद्ध अनेक व्यंगपूर्ण कविताएँ पाते हैं, तथा रीतिकालीन परंपरा के काव्य की रचना प्रचुर रूप से होती रही। नारी को विशिष्ट रूपों में देखने की आदत से कवि छुटकारा न पा सके।[1]

उदाहरण के लिये स्वयं भारतेन्दु जी की प्रेम की चंचल और परपीड़क व्यंजना देखी जा सकती है, जिसमें काम क्रीड़ा और विपरीत रति तक की पूर्ण व्यंजना है :

> 'सजि सेज रंग के महल में उमंग भरी।
> पिय गर लागी कम-कसक मिटायें लेत।।
> ठानि विपरीति पूरी मैन मसूसन सों।
> सुरत-समर जयपत्रहि लिखायें लेत।।
> हरीचन्द उझकि उझकि रति गाढ़ी करि।
> जोम भरी पियहिं झकोरन हरायें लेत।।
> याद करि पी की सब निरदय घातैं आजु।
> प्रथम समागम को बदलो चुकायें लेत।।'[2]

द्विवेदी युग की नारी

भारतेन्दु युग ने युग-परिवर्तन की जो भूमिका आरम्भ की थी, द्विवेदी-युग में उसका पूर्ण विकास और स्थिरीकरण देखने को मिलता है। इस युग में आकर हिन्दी साहित्य की समस्त विधाएँ स्वस्थ और सुसंस्कृत मार्गों पर प्रस्फुटित हुई लेखकों और कवियों के विचारों और भावनाओं में युग की नवीन परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन आये। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन ने भारत के

१- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना, पृ० १२

२- जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ ; पृ० ३५८

जनमानस में एक नई क्रांति और नया दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया। देश-भक्ति राष्ट्र-प्रेम और भारतीय संस्कृति के उन्नयन के नूतन संदेश कवियों और लेखकों की चेतना शक्ति को घेरने लगे। नारी इस क्रांति में पीछे न रही। स्वतंत्रता आंदोलन में भारत की देवियों ने झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई का अनुगमन किया। वे भी स्वतंत्रता आंदोलन में खुलकर सामने आईं। महाकवि तुरवा, श्रीमती सरोजनी नायडू आदि ने देश के युवकों के साथ स्वतंत्रता संग्राम में कदम बढ़ाया। देश-भक्ति की इस नई लहर का कवियों और लेखकों पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

स्वयं द्विवेदी जी ने नारी जाति की स्वतंत्रता का समर्थन किया और उन्होंने "उर्मिला विषयक कवियों की उदासीनता" नामक विशेष निबंध लिखकर इस बात की प्रेरणा दी कि जिस नारी विशेष में त्याग और तपस्या की भावना अधिक देखी जाय, वह नारी पूजा के योग्य होनी चाहिए।

इस युग में सर्वप्रथम पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय नारी का एक स्वच्छंद, सहृदय और गंभीर व्यक्तित्व लेकर काव्य के क्षेत्र में सामने आये।

हरिऔध जी की प्रियप्रवास दो कारणों से अपनी उपलब्धियों में विशेष महत्वपूर्ण है। पहला तो यह कि कवि ने साहित्यिकों के समक्ष यह स्पष्टरूप में प्रमाणित कर दिया कि काव्य की सरस अभिव्यक्ति केवल ब्रजभाषा में ही नहीं हो सकती अपितु खड़ीबोली भी इस अभिव्यक्ति के लिए सक्षम है। दूसरा कारण यह है कि उपाध्याय जी ने शताब्दियों से राधा के शृंगारिक रूप को एक नवीन परिवेश में ढाला और मानों राधा शताब्दियों से वासना की शृंखलाओं में जकड़ी रहने के उपरांत अब पुन: स्वच्छंदता के वातावरण में आ सकीं। डा० शैल कुमारी के शब्दों में --" राधा- ब्रज की गोपी और कृष्ण की प्रेयसी - लगभग १४वीं शताब्दी से हिन्दी-काव्य की प्रमुख नायिका रही हैं (और संस्कृत-काव्य में उससे भी कई शताब्दी पूर्व से)। किन्तु अभी तक वह प्राय: शृंगारिक लीलाओं के ही क्षेत्र में स्थान पाती रही थी और कवियों द्वारा नवोढ़ा, प्रगल्भा, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका - आदि के रूप में ही देखी

जाती रही थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने राधा को एक सर्वथा नवीन रूप में उपस्थित किया।"[1]

उपाध्याय जी ने प्रिय-प्रवास में राधा का परिचय देते हुए उन्हें "तन्वंगी, कल-कामिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली"[2] यह तो रहा राधा का कलात्मक और रसज्ञ रूप, किंतु इसके साथ ही राधा रोगियों, वृद्धों और अन्य लोगों के उपकार में निरंतर लगी रहने वाली तथा अच्छे शास्त्रों के अध्ययन में लीन रहने वाली है।[3]

प्रिय-प्रवास वास्तव में एक विरह काव्य ही है, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद संपूर्ण ब्रज क्षेत्र में शोक की गहनतम छाया व्याप्त हो गई। माता यशोदा, बाबा नंद, गोप गोपिकाएँ आदि सभी शोकमग्न हो गये। राधा का हृदय भी शोकाकुल हो उठा। उसके हृदय का प्रेम, जो अभी तक स्वीय प्राणेश के प्रति ही था, अब शोक की गहनतम अनुभूति में विश्व-प्रेम की ओर उद्बुद्ध होने लगा। संयोगजनित स्वकीयप्रेम अब त्यागजनित विश्वप्रेम के रूप में परिणत होने लगा। और जिस विश्वात्मा के प्रति भक्तिकालीन अथवा रीतिकालीन उद्धो तत्कालीन राधा के हृदय में अनुराग न उत्पन्न कर पाये थे, वही राधा स्वयमेव उस विश्वात्मा की ओर झुक जाती है।[4]

१- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना, पृ० ६० -
२- अयोध्यासिंह उपाध्याय : प्रियप्रवास चतुर्थसर्ग -
३- "रोगी वृद्धजनोपकारनिरता सच्छास्त्रचिन्तापरा" प्रियप्रवास चतुर्थ सर्ग -
४- मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा।
    मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में।।
    पाई जाती विविध जितनी वस्तु हैं जो सबों में।
    मैं प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूं।।
    तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूंगी।
    यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा।।
  (अयोध्यासिंह उपाध्याय- प्रियप्रवास सर्ग १६, पृ० २५२-५३, १०६, १०(४))

इस प्रकार एक ओर तो राधा के प्रेम का प्रियप्रवास में आकर परिष्कार हुआ और दूसरी ओर उसके नारीजनित विविध व्यक्तित्व की भी कल्पना की गई, क्योंकि राधा प्रिय को संदेश भेजती हुई अनेक उत्पीड़कों रोगीजनों,, व्यथितजनों आदि के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखती है, और सोलहवें सर्ग में वह कृष्ण के प्रति जो संदेश कहलाती है, उसमें उसका प्रस्फुटित नारीत्व परिलक्षित होता है। डा० शैल कुमारी के शब्दों में " कृष्ण के वियोग में राधा का कार्यक्रम रोना-चिल्लाना या पुष्प-शय्या पर तड़पना नहीं रहता, वरन वह ब्रजवासियों की सेवा में तन-मन से लीन हो जाती हैं।[1]

इस प्रकार उपाध्याय जी ने राधा को उदात्त नारी गुणों से युक्त एक समाज-सेविका के रूप में चित्रित किया है।[2] संभवत: संस्कृत और हिन्दी साहित्य में राधा का यह कायापलट पहली बार ही देखने को मिलता है। यह कायापलट वास्तव में केवल राधा का ही कायापलट नहीं, अपितु उस माध्यम से भारत के समग्र नारी समाज का कायापलट है, जिसे अभी तक रीतिकालीन परंपराओं के बंधन में जकड़ कर बांध रखा गया था। उपाध्याय जी ने अपनी इसी आकांक्षा को व्यापक रूप में व्यक्त करते हुए लिखा है -

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व के प्रेम में डूबी।
हे विश्वात्मा भरत भुवि के अंक में और आवें।[3]

१- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी-काव्य में नारी भावना ; पृ० ६१।
२- " वे छाया थीं सुजन सिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की॥
दीनों की थीं भगिनी जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं ब्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।"
(अयोध्यासिंह उपाध्याय- प्रियप्रवास, पृ० १७, २५६, ५८)
३- वही, पृ० २५६, ५४ -

द्विवेदी युग के कवियों में नारी के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण त्रिशूल जी की कविता में देखने को मिलता है[1]। त्रिशूल जी क्रांति के एक उद्बोधक के रूप में सामने आये। उन्होंने इस क्रांति के क्षेत्र में नारी को भी एक चुनौती दी। उन्होंने माँ भारती से यह शिकायत की कि " हे माँ तुम्हारी यह चाल देखकर तथा नई-नई नायिकाओं से तुम्हारी यह लगन देखकर, साथ ही परकीया में लगा हुआ मन देखकर मुझे उजड़े हुए स्वदेश की याद आती है। इधर धरती व्याकुल होकर आँसू बहा रही है, फिर यह तुम्हारा राग-रंग कैसा[2]।

श्रीधर पाठक और राम नरेश त्रिपाठी की कविताओं में भी नारी के प्रति एक नवीन दृष्टि देखी गई। श्रीधर पाठक ने 'आर्यमहिला' को एक नये परिवेश में देखना चाहा। उन्होंने भारत की महिलाओं के लिए पूज्या तथा आर्यकुल-प्यारी, आर्य-गृह-लक्ष्मी, सरस्वती, आर्य-लोक-उजियारी, आर्य-मर्याद-स्त्रोतिनी, आर्य हृदय की स्वामिनी, आर्य ज्योति, आर्यत्व धोतिनी, आर्यवीर्यधनदामिनी, आदि नई संज्ञाओं से अभिहित किया[3]।

१- चेतन शर्मा उग्र।

२- माँ भारती तुम्हारा चलन देख-देख कर,
नव नायिका से नित्य लगन देख देखकर।
परकीया में लगा हुआ मन देख-देखकर,
उजड़ा हुआ स्वदेश का वन देख-देखकर।।
आकुल अजस्त्र धार से आँसू बहा रही।
होकर अधीर धैर्य भवन है ढहा रही।।
त्रिशूल-त्रिशूल तरंग : कविराज से संबोधन, पृ० ७०-७१।

३- अहो पूज्य भारत-महिलागण, अहो आर्य कुल-प्यारी।
अहो आर्य-गृह-लक्ष्मी-सरस्वती, आर्य लोक उजियारी।।
अहो आर्य मर्याद-स्त्रोतिनी, आर्य हृदय की स्वामिनी।
आर्य ज्योति, आर्यत्व धोतिनी, आर्य-वीर्य-धन-दामिनी।।
आर्य-धर्म-जीवन-महिमामयी, आर्य-जन्म संजीवनि।
श्रीधर पाठक : आर्य महिला ; पृ० ११३ -

इसी प्रकार राम नरेश त्रिपाठी ने नारी के एक दृढ़ नारीत्व की कल्पना की और उसे गृह की देहली से बाहर निकालकर उसे देश-प्रेम के नूतन मार्ग पर ले आये।[१]

लाला भगवानदीन ने जननी जन्मभूमि की इज्जत और बेटी बहन नारि की लाज रखने के लिये सुख, संपत्ति,धन,प्राण आदि सभी कुछ झोंकने की प्रेरणा दी है। उनकी कल्पना है कि यदि कोई क्षत्रिय ऐसा है जिसमें इतना सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य नहीं है, निश्चय ही उसकी माँ ने उसे जन्म देने में निश्फल ही अपने यौवन को गला डाला।[२]

द्विवेदी युग के कवियों में नारी के प्रति सबसे अधिक गंभीर और पुष्ट भावना मिलती है - राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त में। गुप्त जी का

१- पति अभिलाषा पूर्ण करना ही,
 , है मेरा ध्रुव धर्म।
 सदा करूँगी मैं स्वदेश की,
  सेवा का शुभ कर्म।।
 जिस प्रकार अब स्वदेश का,
  होगा पुनरुत्थान।
 वही करूँगी वह अहर्निश,
  देकर तन-मन-प्राण।।
(राम नरेश त्रिपाठी - मिलन, दूसरा सर्ग, पृ० ३२, ३३, ३४।)

२-" जननी जन्मभूमि की इज्जत, बेटी बहन नारि की लाज।
 सुख सम्पत्ति धन प्राण झोंककर रखना है क्षत्री को काज।।
 इतना करने का बल साहस जिस क्षत्री के अंग न होय।
 बस, जानो उसकी माता ने नाहक यौवन डाला खोय।।
 जन्म भूमि की मर्यादा को जो क्षत्री नहिं सके रखाय।
 जिस नारी के सती धर्म को जब सकि है वह क्रूर बचाय।।
(भगवानदीन - वीर क्षत्राणी, नीला या नीलादेवी, पृ० १०)

साहित्यिक ऐश्वर्य ही देशभक्ति के उद्बोधक गानों से आरंभ हुआ। भारत-भारती उनका एक ऐसा काव्य है जिसे स्वदेश प्रेम का उद्बोधक काव्य कहा जा सकता है। उन्होंने देखा कि नारी की अवहेला करने का कारण कोई और नहीं अपितु पुरुष लोग ही हैं। पुरुषों की ओर से उपेक्षा का परिणाम ही है कि आज नारी अधोगति को प्राप्त हो रही है। उन्होंने इसका विश्लेषण करते हुए भारत-भारती में लिखा है :-

" ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे।
भागें न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियां,
पाती स्त्रियां आदर जहां रहतीं वहीं सब ऋद्धियां।।"[१]

आगे चलकर यशोधरा में गुप्तजी की नारी भावना में और भी शाश्वत परिष्कार हुआ और उन्होंने नारी की एक पृथक परिभाषा ही दी उस परिभाषा में नारी आंखों में आंसू और आंचल में दूध भरे हुए करुणा प्लावित रूप में दिखाई पड़ीं।[२]

गुप्त जी ने यशोधरा के अनजाने में सिद्धार्थ के चले जाने को भी, सिद्धार्थ की ओर से किया गया एक अविश्वासपूर्ण कार्य माना। यशोधरा के व्यक्तित्व में बैठी हुई नारी का स्वाभिमान जब जागता है तब वह कहती है, -" हे सखी यदि वे मुझसे कहकर जाते तो क्या मुझे अपने मार्ग का बाधा ही पाते? भारतीय नारियों का तो यह आदर्श रहा है कि वे क्षात्र-धर्म के नाते स्वयं अपने प्रिय को तिलक से विभूषित कर रण में भेज दिया करती हैं। फिर क्या मैं अपने प्रिय के लिए बौद्ध प्राप्ति के मार्ग में बाधक बन

१- मैथिलीशरण गुप्त - भारत-भारती : वर्तमान खंड : "स्त्रियां", पृ० १३६-

२- अबला-जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी -
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।
यशोधरा ; पृ॰ ५९

जाती ?"[1]

जयद्रथ-वध में गुप्तजी ने उत्तरा के रूप में एक कर्त्तव्यपरायणा हिन्दू गृहिणी का रूप चित्रित किया है। साकेत में पहुँचकर गुप्त जी नारी के विशेष पुष्ट और सबल व्यक्तित्व को चित्रित कर सके हैं। कैकेयी सीता और उर्मिला - इन तीनों नारी पात्रों के माध्यम से गुप्तजी ने नारी व्यक्तित्व को आभ्यांतरिक और बाह्य दोनों प्रकार की प्रौढ़ता प्रदान की है। कैकेयी के मुख से उन्होंने आत्मग्लानि के क्षणों में नारी की एक सार्वभौमिक परिभाषा को व्यक्त कराया है।[2] सीता के मुख से - "मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया"[3] कहलाकर गुप्त जी ने भारतीय नारी के उस आदर्श को चित्रित किया है जो रानी

१- सखी, वे मुझसे कहकर जाते,
तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में, -
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
(गुप्त जी : यशोधरा पृ० २१,२२)

२- "कहते आते थे यही अभी नरदेही,
माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।"
अब कहें सभी "यह हाय! विरुद्ध विधाता,
"है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।"
(मैथिलीशरण गुप्त : साकेत ; अष्टम सर्ग पृ० २४८-)

३- क्या सुंदर लता-वितान तना है मेरा,
पुंजाकृति गुंजित कुंज घना है मेरा।
जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा।
गढ़ चित्रकूट दृढ़-दिव्य बना है मेरा।
प्रहरी निर्झर, परिखा प्रवाह की काया
मेरी कुटिया में राजभवन मन-भाया।
(गुप्त जी : साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २२३)

होकर भी कुटिया के सुख के आगे अपने रानीपन को तिलांजलि दे देती है। साथ ही उर्मिला के रूप में गुप्त जी ने एक ऐसी हिंदू गृहिणी की कल्पना की है, जो विरहाकुल होते हुए भी अपने कर्तव्य पथ में अग्रसर होती है। वह पूरे परिवार के लिए खाना बनाती है, किंतु उसके हृदय में एक वेदना है कि 'अलोना सलोना' वह किसे खिलाये।[१] विरह की अनुभूतियाँ में वह कभी-कभी जायसी के बारहमासे की प्रतिध्वनि भी करने लगी है, किंतु इस प्रतिध्वनि में उसकी अंतरात्मा की वेदना ही व्याप्त दिखाई पड़ती है, कामजनित वासना ही नहीं।

सुभद्रा कुमारी चौहान अपने काव्य में नारी के और भी संयत व्यक्तित्व को लेकर उपस्थित हुईं। उन्होंने बसंत ऋतु को एक नई ललकार दी। वर्णचित्रन और धनुषबाण के बीच उन्होंने एक नई रेखा खींची। गलबाहें तथा कृपाण के बीच उन्होंने एक नया विकल्प सामने रखा। तथा बसंत से स्पष्टतः उन्होंने पूछा - " मुझे बता दो, वीरों का बसंत कैसा हो।"[२] झांसी की रानी में श्रीमती चौहान ने महारानी लक्ष्मीबाई के वीर क्षत्राणी रूप का रोमांचकारी विवरण प्रस्तुत किया। उन्होंने नारी के उस मातृत्व रूप को भी देखा जो अपनी पुत्री के रूप में अपने आपको पूर्ण अभिव्यक्ति पाती हैं।

आगे बढ़कर कविवर पंत ने नारी को युग-युग की कारा से मुक्त करने

१- बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
 इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
 रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
 खिलाऊं किसे मैं अलोना-सलोना ?
 (गुप्त : साकेत ' नवम् सर्ग ' ; पृ० २७० -)

२- सुभद्रा कुमारी चौहान : वीरों का बसंत -

का आवाहन किया[1] और उसे देवि, माँ, सहचरि और प्राण[2] के रूपों में देखा। निराला ने माँ सरस्वती में उसी नारी का एक रूप स्थिर किया तथा तुलसीदास में रत्नावली को एक नई भावभूमि पर ले आये।

काव्य के साथ ही गद्य क्षेत्र में भी नारी जीवन के विविध रूपों को अभिव्यक्ति मिली। शुक्लजी ने सूर की गोपियों और जायसी की नागमती के विरह की तुलना करते हुए नागमती के यथार्थ जीवन से संयत दुख को हिन्दू नारी जीवन के अधिक अनुकूल माना[3]।

नारी जीवन को पूर्ण और यथार्थ अभिव्यक्ति मिली स्वर्गीय प्रेमचन्द्र के उपन्यासों और कहानियों में। प्रेमचन्द्र के प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास 'सेवासदन' में रूढ़िबद्ध विवाह पद्धति तथा पर्दा-प्रथा के कारण समाज में जो अव्यवस्था आ जाती है, उसका चित्रण किया गया है। विवाह की रूढ़िबद्धता के कारण ही सुमन जैसी गृहस्थ स्त्री वेश्या बन जाती है[4]। निर्मला में भी विवाह पद्धति से संबंधित रूढ़ियों का खंडन किया गया है। प्रेमचन्द्र की अनेक ऐसी कहानियाँ भी मानसरोवर में संगृहित हैं[5], जिनमें रूढ़ियों का तिरस्कार किया गया है। भगवतीचरण वर्मा के पतन तथा तीन वर्ष में समाज की पाशविक रूढ़ियों का तिरस्कार किया गया है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' में विभिन्न वर्णों के विवाह की समस्या को लिया गया है[6]। विराटा की पद्मनी

१- "मुक्त करो नारी को मानव। चिर बंदिनी नारी को।
युग-युग की बर्बरता से, जननी, सखी, प्यारी को।"
(सुमित्रानंदन पंत - युगवाणी : नारी पृ० ५८)

२- देखो छायावाद की पृष्ठ भूमि में नारी ; पृ०

३- रामचंद्र शुक्ल - त्रिवेणी, जायसी।

४- प्रेमचन्द्र : सेवासदन, पृ० ४, ४१।

५- वेश्या उद्धार, निर्वासन, नैराश्य लीला, तगर, नैराश्य, दंड।

६- वृन्दावनलाल वर्मा : गढ़कुंडार ; पृ० ५०७।

में भी ऊँच-नीच के भेद की समस्या को लिया गया है। असवर्ण विवाह की समस्या `झाँसी की रानी` में भी है। ठीक इसी प्रकार `कुंडली चक्र` में समाज में प्रचलित बहु-विवाह का उपहास किया गया है। लगन में दहेज समस्या का चित्रण है। जैनेन्द्र के `त्याग-पत्र` में रूढ़ियों से प्रताड़ित नारी का सजीव चित्र है। महादेवी ने अपने `अतीत के चलचित्र` और `स्मृति की रेखाएँ` में समाज की अस्वस्थता का कारण ऐसी ही रूढ़ियों को खोजा है।

इस प्रकार द्विवेदी युग में नारी जीवन के प्रति एक अभिनव दृष्टि दिखाई पड़ी। नारी पुरुष के समान ही जातिगौरव, देशोन्नति, राष्ट्रप्रेम और स्वाभिमान से पूर्ण चित्रित की गई। इस युग में प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं के पुनरावर्तन की एक प्रवृत्ति देखी गई और उस प्रवृत्ति के सबसे सबल और सार्थक उद्घोषकर्ता थे कविवर प्रसाद जी।

आधुनिक कवियों में प्रसाद जी और उनका नारी के प्रति दृष्टिकोण

जिन दिनों द्विवेदी युग के कवि और लेखक एक नये युग की चेतना को लेकर साहित्य सृजन में लगे हुये थे, उन्हीं दिनों माँ भारतीय का एक भावुक सपूत भारत के इतिहास के गह्वर में कुछ मोती चुनने में लगा हुआ था। उसने संस्कृति की मूल प्रेरणा- नारी को अपनी अंतश्चेतना का केंद्रबिंदु मानकर अपनी समग्र संवेदनशीलता, सौंदर्य और भावुक प्रेम के परखने में अर्पित कर दी। यह प्रेम व्यक्ति प्रेम से लेकर राष्ट्र प्रेम और विश्व प्रेम तक व्यापक था।

कहानी, नाटक, उपन्यास और काव्य सभी क्षेत्रों में नारी के पुष्ट व्यक्तित्व का चित्रण करने वाले प्रसाद जी हैं। प्रसाद ने मूल सृष्टि के गहनतम् रहस्य के रूप में पुरुष और स्त्री के आकर्षण को ही माना है। एक दार्शनिक की परिभाषा देते हुये उन्होंने स्कंदगुप्त के मातृगुप्त से कहलाया है :-
" समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि की अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण होती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन

रहस्य है।"[1]

यह तो रही पुरुष और स्त्री के परस्पर समन्वय की परिभाषा, किंतु प्रसाद जी के विचारों में नारी के लिए एक स्वतंत्र परिभाषा भी निश्चित है, उसे वे कामायनी में व्यक्त करते हैं। इस परिभाषा के अंतर्गत नारी और कुछ नहीं, केवल श्रद्धा है। वह अपने श्रद्धा रूप में "विश्वास रजत नग पग तल में" निरंतर जीवन के लिए एक सुंदर समतल तैयार करती हुई अविकल रूप में पीयूष के स्त्रोत के समान बहती रहे, यही नारी जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।[2]

प्रसाद नारी स्वातंत्र्य के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने मूलत: नारी को हृदय की सात्विक भावनाओं का प्रतीक माना है। अपने इस व्यक्तित्व में वह पूर्ण है। उसके बाह्य आकृति की सुंदरता उसके हृदय की उदार वृत्तियों की परिचायक है।[3] उसमें आत्मिक बल भी है और भावुकता भी है। अपने आत्मिक बल के कारण वह अपने सतीत्व की रक्षा करती, समाज, देश, राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा करने के लिए क्रांति करती और जीवन का नवीन उद्घोष करती है। अपने इस रूप में वह शक्ति की परिचायिका है। अपने भावुक रूप में वह संवेदनशील है, अनुरागमयी है, त्यागमयी है और प्रेम के भावाकुल क्षणों में पूर्ण आत्म-समर्पणमयी है। प्रसाद ने प्रेम को नारी हृदय का एक शाश्वत धर्म माना है।[4] प्रेम की यह पवित्रता आदि से अंत तक समान प्रभावी बनी रहती है। उसमें स्खलन का कोई अवसर उपस्थित नहीं होता। यहां तक कि कामायनी में मनु और श्रद्धा का भावात्मक आत्म-समर्पण शरीरजन्य समर्पण में भी बदल जाता है। किंतु ऐसे क्षणों के वर्णन में भी कवि की लेखनी में कहीं से रीतिकालीन रति केलि की ध्वनि नहीं आ

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त, अंक १ ; पृ० ३।

२- ,, : कामायनी, लज्जा ; पृ० ८४।

३- हृदय की अनुकृति बाह्य उदार

४- प्रसाद : छाया, तानसेन ; पृ० ८ -

सकी है।[1]

इस समर्पण की मूल प्रेरणा भले ही कामजनित हो, किंतु इसका उद्गम रीतिकालीन ऐहिक और इंद्रियजन्य वासना नहीं है। वस्तुत: कवि ने मनु के हृदय में श्रद्धा के प्रति इतनी अधिक उत्कंठा जाग्रत कर दी है कि उस उत्कंठा में मनु पुकार - पुकार कर कहते हैं -

" मैं देख रहा हूं जो कुछ भी,
वह सब क्या छाया उलझन है?
सुन्दरता के इस परदे में,
क्या अन्य धरा कोई धन है?

मेरी अक्षयनिधि! तुम क्या हो,
पहचान सकूंगा क्या न तुम्हें?
उलझन प्राणों के धागों की,
सुलझन का समझूं मान तुम्हें।"

इस समर्पण के उपरांत श्रद्धा में भी जो प्रतिक्रिया होती है वह लंकिता नायिका जैसी कोई रीतिकालीन प्रतिक्रिया नहीं है। श्रद्धा जीवन के आभारों के बोझ से दबी जा रही है, और वह पूछती है कि क्या मैं वह अपना इतना बड़ा दायित्व संभाल सकेगी -

" किंतु बोली " क्या समर्पण आज का हे देव।
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूंगी दान।
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान?"[2]

१- गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदंब-सा था भरा गदगद बोल।
(प्रसाद : कामायनी, काम सर्ग ; पृ० ६४।
२- प्रसाद : कामायनी, वासना सर्ग ; पृ० ६४।

अन्य स्थलों पर जहाँ प्रसाद ने नारी हृदय के प्रेम की कल्पना की है वहाँ आवश्यक नहीं रहा है कि वे इंद्रियजनित वासनात्मक संबंधों की भी कल्पना करते। वस्तुत: उन्होंने प्रेम को विवाह का पर्याय ही माना है। उनके साहित्य में अनेक ऐसी नारियाँ मिलती हैं जो अपने प्रेम में तो अदुष्ण है किंतु उस प्रेम के कारण विवाह में पड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती।[१]

प्रसाद ने नारी जीवन के लिये कुछ निश्चित मापदंड निर्धारित कर दिये हैं। वह पुरुष तत्व के लिये शक्तिस्वरूपा है, वह सृष्टि के लिए एक संदेशवाहिका है। वह पुरुष के आकुल हृदय के लिए एक मीठी तृप्ति के समान है। समाज में फैली हुई रूढ़ियों[२] के लिये उसमें प्रतिरोध, प्रतिकार, और नेतृत्व का बल भरा हुआ है। देश की मर्यादा की रक्षा के लिये वह अपने प्रेम तथा अपने प्रेमी तथा स्वयं अपने आपको भी खतरे में डाल सकती है।[३] वह अपने पिता का बदला लेने के लिये अपने प्रेमी के हृदय में कृपाण भी प्रवेश कर देने में सक्षम है।[४] इतना सब कुछ होते हुये भी वह भारतीय संस्कृति की पोषक है। यहाँ तक कि भारतीय संस्कृति और ललित कलाओं के सौष्ठव को प्रसाद की ऐसी नारियाँ अपनाने में नहीं चूकतीं, जो किसी विदेशी संस्कृतियों से आई हुई हैं।[५]

प्रसाद ने नारी की स्वतंत्रता का समर्थन किया है, किंतु यह स्वतंत्रता भारत की प्राचीन संस्कृति के अनुकूल ही है। पाश्चात्य भौतिकवाद के मायाजाल में विभ्रमित नारी, अथवा वासना की भूल-भुलैयों में भटकने वाली नारी प्रसाद के लिये कभी भी प्रिय नहीं रही है। ऐसी भी नारियों के लिये उन्होंने जीवन के सुंदर समतल में पदार्पण करने का एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर

१- देवसेना, मालविका
२- ध्रुवस्वामिनी।
३- मधूलिका - पुरस्कार।
४- चंपा -आकाशदीप।
५- कार्नेलिया, शैला।

दिया है।[१]

प्रसाद नारी जीवन में परिवर्तन के एक प्रतिभासंपन्न गायक हैं। उनकी रचना का संबल पाकर नारी के व्यापक व्यक्तित्व को विविध रूपों में व्यंजना मिली है, इसका विस्तृत निरूपण हम आगे के प्रकरणों में करेंगे।

१- कामायनी, कमला ।

--अध्याय १

व्यक्तित्व के संदर्भ मे प्रसाद की नारी संरचना

व्यक्तित्व के संदर्भ में प्रसाद की नारी - संरचना

" कला विशुद्ध रूप में आंतरिक एवं व्यक्तिगत और अपने - आप में संपूर्ण क्रिया है, जो कलाकार की मानसिक चेतना में मौलिक तत्वों के आविर्भाव का रहस्य है। किंतु यहीं पर सर्जन की प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। कला में हमारे मर्म को स्पर्श करने वाले प्रभावोत्पादक, नित-नये और मौलिक तत्वों के आविर्भाव का कारण कलाकार का अचेतन मन है जो समष्टि से सम्बन्धित है।"[१]

यदि इस दृष्टि से हम देखें तो कलाकार के वैयक्तिक जीवन का, उसके जीवन में घटने वाली घटनाओं और उसके मानस पर उसके प्रभावों का बहुत अधिक महत्व है। " साहित्य में मनुष्य अपना ही अंतरतम परिचय देता है अपने अगोचर में, जैसे परिचय देता है पुष्प अपनी सुगंध में, नक्षत्र अपने आलोक में।"[२]

कवि अथवा लेखक भी समाज के अन्य व्यक्तियों की भाँति ही अपने परिवेश और युग के साथ जीता है, किंतु उसे जब वह व्यक्त करने लगता है, तो उसकी अपनी अनुभूतियाँ और अपनी संवेदनशीलता उस अभिव्यक्ति में आकर अनजाने संपृक्त हो जाया करती है। यही कारण है कि कवि या लेखक जो कुछ लिखता है, उसमें युग की सामान्य परिस्थितियाँ प्रतिबिंबित होते हुये भी कुछ नूतन स्वरूप में होती हैं। उनमें कुछ निजीपन रहता है, जो सार्वजनिक होकर भी कवि या लेखक का अपना विशिष्ट होता है।

स्वयं प्रसाद ने व्यक्तित्व को उतना प्रमुख न मानकर कला की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख माना है। उनका कहना है कि -" कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि उसका व्यक्तित्व।"[३] फिर भी इस संबंध में यदि हम कहें कि -

---

१- Herbert Read: Art and Society, p. 95.

२- डा० उर्वशी ज० सूरती : आधुनिक हिन्दी-कविता में मनोविज्ञान ; पृ० ३८ -

३- वि० प्र०, पृ० २४ पर उक्त उद्धृत प्रसाद का लेख।

कलाकार की कृति में उसके व्यक्तित्व की सुंदरतम अभिव्यक्ति मिलती है। अत: कला का पारखी यदि कलाकार के व्यक्तित्व का निरीक्षण करे तो कोई असंगत बात नहीं।"[1] तो यह अतिचार न होगा।

"वस्तुत: हमें कलाकार के व्यक्तित्व का वही पक्ष अभीष्ट है जिसने उसकी कला को कलात्व दिया है - वही सत् स्वस्थ और सुंदर पक्ष जो उसके असत्, अस्वस्थ और असुन्दर को अभिभूत करके उसकी कृतियों में मुखरित हुआ है।"[2]

उपर्युक्त कसौटी पर परखने पर हम यह देखते हैं कि प्रसाद जी के व्यक्तित्व में व्याप्त करुणा उनके साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। नि:संदेह इस करुणा के मूल स्त्रोत के रूप में नारी का विभिन्न रूपों में स्नेह-स्निग्ध व्यक्तित्व ही रहा है। प्रसाद जी के साहित्य में, किसी एक स्थल पर नहीं, अपितु प्रत्येक स्थल पर नारी पात्र पुरुष पात्र की तुलना में अधिक सबल सशक्त, प्रेरक, प्रभावपूर्ण और उदात्त हैं। इसका अवश्य ही कुछ कारण होगा। इस कारण को प्रसाद जी के व्यक्तित्व निर्माण के विभिन्न संदर्भों में देखा जा सकता है।

प्रसाद जी का व्यक्तिगत जीवन स्वयं इस अर्थ में एक काव्य है, कि उसमें अनेक यथार्थ जटिलताएं और भावात्मक मधुरताएं एक साथ आकर मिल गई हैं। जीवन की उलझी हुई कठिन परिस्थितियों को झेलते हुए एक कर्तव्यनिष्ठ गृहस्थ और भावात्मक सौंदर्य की अनुभूतियों में भीतर ही भीतर डूबा हुआ एक भावाकुल व्यक्तित्व - दोनों प्रसाद जी का अपना व्यक्तित्व है। जीवन के उषाकाल में ही उन्हें अनेक पारिवारिक संकटों का सामना करना पड़ा, उन संकटों का वे साहस के साथ सामना करते रहे। इसी के साथ उनकी पूज्या भाभी

१- डा० धर्मवीरसिंह : कामायनी - सौंदर्य ; पृ० २१३।
२- ,, ,, ,, ; पृ० २१३।

का भावात्मक स्नेह उनके मनोबल को बढ़ाता रहा, और स्नेह संवलित कुछ ऐसी भावनाओं का उद्दीपन करता रहा, जिससे प्रसाद जी नारी के उस स्वरूप का दर्शन करने में समर्थ हुये जो एक विराट वात्सल्य की भूमिका में महान् है। ऐसा प्रतीत होता है कि मालविका जैसे पात्रों की रचना उसी की चित्र-छाया है। कुछ भावात्मक अभाव भी उनके व्यक्तित्व में आरंभ से अंत तक बने रहे। उनमें मुख्यत: प्रेमजनित थे। इन सब परिस्थितियों से प्रसाद जी का जो भावुक संवेदनशील व्यक्तित्व निर्मित हुआ, उसकी स्पष्ट छाया उनकी कृतियों में है। अत: हमें उन विभिन्न प्रभावों पर क्रमश: विचार कर लेना चाहिए, जिन्होंने प्रसाद जी के व्यक्तित्व और प्रकारांतर में उनके साहित्य के सृजन में योगदान किया।

(क) पारिवारिक जीवन के संदर्भ -

प्रसाद जी के व्यक्तित्व के निर्माण में कौटुम्बिक स्नेह, वात्सल्य और ममत्व का बहुत ही हाथ रहा। उनके शैशव काल में गहरा प्रभाव उनकी माँ का है। वे धार्मिक वृत्ति की थीं, और धार्मिक अनुष्ठान के फलस्वरूप ही उन्हें पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ था। इनका नामकरण एक विशिष्ट प्रकरण का द्योतक है। जिस बच्चे को प्राप्त करने की कामना से माँ निरंतर शिव की उपासना करती रही हो, और जिस कामना के में वह वैद्यनाथ धाम से लेकर उज्जयिनी तक का तीर्थाटन किया हो और ज्योतिर्लिङ्गों की उपासना की हो, उसका नाम जयशंकर प्रसाद रखा जाना बहुत ही स्वाभाविक है।[१] माँ की इस धार्मिक वृत्ति का पुत्र के मनोदेश प्रभाव पड़ा था, और जयशंकर प्रसाद आजीवन शिव के उपासक रहे। यद्यपि काव्यगत वातावरण प्राप्त करने में उन्हें पिता स्वर्गीय श्री देवी प्रसाद साहु (सुंघनीसाहु) की काव्यप्रियता से भी यथेष्ट प्रेरणा मिली थी, किंतु व्यक्तित्व में आस्तिक स्वभाव और ममत्व का संस्कार मुख्यत: उन्हें अपनी माँ से मिला।

१- डा० चतुर्वेदी : प्रसाद की दार्शनिक चेतना ; पृ० १०८ -

११ वर्ष की आयु में मातृविहीन किशोर मानस पर सबसे अधिक प्रभाव उनकी पूजनीया भाभी का रहा। जो माँ बचपन में ही बच्चे को वात्सल्य के अभावग्रस्त संसार में छोड़ गई थी, उसी का प्रकारांतर आगे चलकर अपनी भाभी के रूप में प्राप्त हुआ। वस्तुत: उनके कैशोर्य को कमनीय बनाने का श्रेय उनके भाई और भाभी दोनों को है - माता की मृत्यु के बाद प्रसाद जी की श्रद्धा भाभी के चरणों में समर्पित हो गई। चूँकि भाभी का पद वस्तुत: भाभी का ही पद था, माँ का नहीं, अत: स्वाभाविक था कि माँ के प्रति बाल्यकाल की कोमल श्रद्धा युवा काल में उस माँ के अभाव में, भाभी में परिणत हो गई। यही कारण था कि प्रसाद जी जीवन पर्यन्त अपनी उस पूज्या भाभी को माँ का स्थान देते रहे, और इस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तित्व के भीतर छिपे हुये एक कौतूहल प्रधान शिशु को ज्यों का त्यों बनाये रखा। उनकी भाभी भी जीवन - पर्यन्त उन्हें वात्सल्य भाव से सिंचित करती रहीं और उनके संबंध में पूछे जाने पर आँखों में आँसू भरकर कहती थीं - मेरे लिए तो वह केवल शंकर था। इस प्रकार माँ के वात्सल्य के अभाव की पूर्ति प्रसाद जी ने भाभी में पाई थी। उनके साहित्य के अवलोकन से प्रकट होता है, कि उनकी यह वात्सल्य पूर्ति साहित्य में आकर अपार वात्सल्य भाव से समन्वित एक महान् व्यक्तित्व से युक्त नारी की रचना करने में सहायक हुई है, और यह प्रसाद की अभिनव कल्पना को रंग और रेखा प्रदान करती है।

जहाँ तक दांपत्य का संबंध है, प्रसाद जी में प्रेम की अनन्यता के भाव थे, किंतु उनका दांपत्य जीवन विधि के विधान में स्थायी और सुखमय न हो सका। पहली पत्नी की मृत्यु के उपरांत दूसरा विवाह और दूसरे विवाह के उपरांत दूसरी पत्नी का भी देहावसान अयंकर प्रसाद जैसे कोमल हृदय वाले व्यक्ति के लिए एक बहुत ही बड़ा आघात बन गया। प्रसाद जी की समग्र आसक्तिजनक वृत्तियाँ उन आघातों से, निरंतर विरक्ति के सघन गह्वर में डूबती गईं। अवसाद से भरा भावुक हृदय जीवन की अगली सीढ़ी ढूँढने में असमर्थ हो गया। इस अंधकार

का सर्वाधिक प्रभाव प्रसाद जी की पूज्या भाभी पर पड़ा। उनकी निरंतर शोकमग्नता और तदनंतर वात्सल्यजनित उत्प्रेरणा को देखते हुए प्रसाद जी तीसरे विवाह के लिए सहमत हो गये थे। किंतु, एक के बाद एक निरंतर परिवार में घटित होने वाली दुर्घटनाओं यथा - पिता के बाद माँ, माँ के बाद बड़े भाई, फिर पहली पत्नी और फिर दूसरी पत्नी के निधन के कारण टूटा हुआ और विदीर्ण कवि हृदय फिर बहुत उत्साह लेकर गार्हस्थ्य धर्म की ओर संलग्न न हो सका। अत: इन दुर्घटनाओं ने प्रसाद जी के हृदय में पीड़ा और अभाव का एक ऐसा गहन आच्छादन उत्पन्न कर दिया, जो उनके शरीर को भीतर ही भीतर पेड़ में लगे घुन की तरह उन्हें खाता रहा। इन अभावों और पीड़ाओं की खुलकर अभिव्यक्ति भी प्रसाद जी नहीं कर पाये।[१] अभावों और पीड़ाओं को खुलकर व्यक्त करने की असमर्थता के बीच एक रहस्यात्मक गोपनशीलता उनमें आती गई। यही कारण है कि मित्र-मंडली में जिस प्रसाद को अट्टहास करते हुये देखा जा सकता था, उसी प्रसाद को कहीं एकांत, चिंतनशील अवस्था में गहरे अवसाद में डूबा हुआ भी देखना कठिन न था। जीवन में यत्र-तत्र जो प्रबल वात्सल्य, स्नेह और प्रेम उन्हें क्रमश: माँ, भाभी, पत्नी आदि से मिलता रहा, वही साहित्य के क्षेत्र में छनकर (डिस्टिल्ड वाटर की तरह) भावुक अभिव्यक्ति पाने लगा। संभवत: यही कारण है वह अधिक व्यापक और उदात्त नारी गुणों के रूप में प्रकटित हुआ।

प्रसाद जी भावुक हृदय के कवि थे। जीवन के भिन्न- भिन्न क्षणों में भिन्न - भिन्न रूप में नारी उनके लिए प्रेरणा की स्रोत रही। उस प्रेरणा को उन्होंने शक्ति के रूप में स्वीकार किया। उसके अप्रतिम रूप में प्रसाद जी ने केवल शारीरिक आकर्षण और सौंदर्य को ही नहीं देखा, अपितु उसे उन्होंने एक विधात्री के रूप में प्रतिष्ठित किया। वात्सल्यजनित नारी स्नेह उन्हें जो कुछ मिला, वह

१- प्रसाद : आंसू (सन् १९२५) (आंसू में अवसाद की अवतारणा)

तो प्रकट था , किंतु अप्रकट रूप में उनके हृदय में एक ऐसी प्रेम की तरल तरंग प्रवाहित होती रही , जिसे उन्होंने कभी प्रकट नहीं करना चाहा । उनकी परिभाषा में प्रेम हृदय का वह रहस्य मर्म है जिसके गोपन में ही उसका मूल्य निहित है । बहुत आग्रह करने के उपरांत उन्होंने अपने एक मित्र से केवल इतना कहा था - " प्रेम को प्रकट कर देने से उसका मूल्य समाप्त हो जाता है । हाँ मेरे जीवन में एक मधुर स्वप्न और मनोहर कल्पना रही है जिसे मैंने आजीवन संजोने का प्रयत्न किया है , उस प्रीति की पवित्रता को मैंने जीवन का सर्वस्व समर्पित कर भी जीवित रखा है ।"[१]

यह प्रसाद जी के जीवन का एक ऐसा प्रकरण है जिसका मर्म कोई नहीं जान सका और आज भी निश्चयात्मक रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कौन प्रेमपात्र था , जिसकी स्मृतियाँ प्रसाद जी के हृदय को अंत तक कुरेदती रहीं । इस संबंध में आँसू की कुछ पंक्तियों से कुछ निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की गई है । प्रसाद जी भौतिक संयोग की तुलना में आध्यात्मिक वियोग को अधिक महत्व देते हैं , और जब सचमुच " प्रियतम " अपने सामने आ खड़ा होता है तो उस समय उनमें संयोगजनित वासनात्मक उद्वेग नहीं उत्पन्न होता , अपितु वे रो- रोकर और सिसक सिसक कर अपनी करुणा से भरी हुई वह कहानी कहने लगते हैं , जिसमें उनकी अनुभूतियों की गहनतम पीड़ा छिपी हुई है ।[२]

१- डा० प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य ; पृ० [illegible] ।

२- यहाँ वे उर्दू काव्य शैली के माशूक रूप का भी एक परिष्कृत रूप सामने लाकर खड़ा कर देते हैं , जहाँ माशूक के प्रति संबोधन प्राय: पुल्लिंग रूप में ही किया जाता है ।

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिञ्चन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।[1]

रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुणा-कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।[2]

इस संबंध में संक्षेपतः इतना ही कहा जा सकता है कि " -----प्रसाद जी ने जीवन भर जिस स्मृति को संजोने का प्रयास किया, उसे कोई भी नहीं जान सका। यही उनके चरित्र की सबसे भारी विशेषता थी। वे साक्षात् शंकर थे, जो समस्त पीड़ा को विष की भाँति पी लेना जानते थे।[3]

कवि उसी की स्मृतियों में मस्तक की समग्र पीड़ा को आँसू के रूप में विगलित कर देता है।[4]

कुछ अन्य फुटकर कविताओं में भी प्रसाद जी की यह व्यक्तिगत

१- प्रसाद : आँसू ; पृ० १७ -
२- वही ,, ; पृ० १५ -
३- प्रेम शंकर : प्रसाद का काव्य ; पृ० ५१
४- जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।
प्रसाद : आँसू ; पृ० ५ -

दूसरी नर्तकी का भी नाम आता है जिसके लिए कहा जाता है कि वह प्रसाद जी के व्यक्तित्व पर इतना अधिक रीझ गई थी, कि उनकी पारिवारिक आर्थिक विपन्नता के समय कई हजार के आभूषण लेकर उनके पास उपस्थित हुई थी।[1] नारियल बाजार की किशोरीबाई के संबंध में भी ऐसा ही कुछ कहा जाता है। प्रसाद द्वारा काशी की प्रसिद्ध सिद्धेश्वरी बाई के संगीत के श्रवण की भी चर्चा मिलती है।

प्रश्न यह है कि प्रसाद जी के जीवन में भिन्न-भिन्न रूपों में आने वाली इन नर्तकियों ने उनके व्यक्तित्व पर क्या छाप छोड़ी? वस्तुतः जहाँ तक इन नर्तकियों और गायिकाओं का प्रश्न है, सामन्तीय समाज में उनका एक विशेष स्थान रहा है तथा अपने अर्थगत मूल्यों के बावजूद कलात्मक अभिरुचि के संग्रह एवं संपादन में इस वर्ग की नारियों का एक महत्वपूर्ण और विशेष हाथ मध्ययुग में रहा, जो कि बहुत दूर तक भी चलता रहा। प्रसाद जी जैसे महान् व्यक्तित्व को ऐसे प्रसंगों से संबद्ध पाकर मस्तिष्क एक बार सोचने लगता है, कि प्रेम की जिस पवित्रता की गोपनशीलता की चर्चा प्रसाद जी ने की है क्या उसका प्रेरणा-स्त्रोत ऐसे ही किसी स्थल पर रहा होगा? उत्तर स्पष्ट है।

प्रसाद जी मधुर भावना के कलाप्रिय एवं सौंदर्यप्रिय कवि थे। सौंदर्य में किसी कुत्सित कल्पना का प्रश्न उठाना उनके मस्तिष्क से बाहर की बात थी। बाह्य सौंदर्य के भीतर जो अतीन्द्रिय सौंदर्य छिपा रहता है, प्रसाद जी उसी के पुजारी थे। कला स्वयं मानमन की उदात्ततम पवित्र भावभूमि है। कलाकार का संबंध जहाँ तक उसकी कलात्मकता से है, वह किसी भी रूप में अपवित्र नहीं हो सकती। अपनी इसी मान्यता के आधार पर वह बिना किसी झिझक के इन नर्तकियों के संपर्क में आ सके, और ऐसा लगता है, अपनी रचनाओं में प्रसाद जी जीवन में आये हुये उपर्युक्त व्यक्तित्वों के प्रभावों को और उनके भीतर छिपी हुई

१- डा० रामरतन भटनागर : प्रसाद का जीवन और साहित्य ; पृ० २० -

मानवीय आत्मा को कहीं अधिक व्यापक, उदार और सशक्त रूप में चित्रित कर सके हैं।

कला का व्यवसाय करने वाली कुछ नारियाँ प्रसाद जी के साहित्य में बड़े ही सजीव रूप में चित्रित हुई हैं। उन नारी पात्रों की प्रमुख विशेषता, उनकी सौंदर्यप्रियता, कलात्मक निपुणता, उत्कट-विदग्धता और प्रखर व्यक्तित्व है। सामान्य स्थिति में वे पुरुष पात्रों की तुलना में अधिक सुलभी हुई, जीवन पथ की ओर अग्रसर, और अधिकांश अंशों में समानान्तर पुरुष पात्रों के लिए प्रेरणा का कारण है। ऐसी नारी पात्रों में जो कलात्मक अभिरुचि और संगीत का प्रेम है, उसकी प्रेरणा हम प्रसाद जी के जीवनगत उन प्रभावों में भी खोज सकते हैं। प्राय: इनके सभी नारी-पात्रों में कलात्मक अभिरुचि (जैसे गायन, वादन) आदि पाई जाती है, जिनमें मुख्यत: श्रद्धा, देवसेना, मालविका का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने कुछ अन्य नारी-पात्रों की भी सर्जना की है जो नृत्यकला, संगीतकला आदि में निपुण हैं, किंतु जीवन के वात्याचक्र में उलझी हुई मागन्धी, कलना, सुरमा आदि नारियाँ भी प्रसाद-साहित्य में आई हैं जिनमें गायन, नृत्यकला का अधिकार तो है ही, साथ ही अपनी कलात्मकता के वातावरण में बाह्य सौंदर्य की ओर इतने उड़ती गये हैं कि अंत में उन्हें वासना के अतिरिक्त अन्य कोई गंतव्य नहीं मिल सका। अजातशत्रु की मागन्धी ठीक ऐसी ही नारी है, जिसकी उच्छृंखल पिपासा यहाँ तक बलवती है कि वह कहती है - "इस रूप का इतना अपमान! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ! मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया। ------उदयन राजा है, तो मैं भी अपने हृदय की रानी हूँ। दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।"[१]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मागंधी की इस दर्पोक्ति से प्रसाद जी की लेखनी से प्रसूत जीवन का कोई शाश्वत लक्ष्य नहीं बन सका है। अंतिम चरण में

१- प्रसाद : अजातशत्रु, पहला अंक, पाँचवा दृश्य ; पृ० ३२।

पहुंचकर लालसाएं ग्लानि और पश्चाताप की आग में पिघल जाती हैं, और तब उसी मागन्धी को गौतम की करुणा में डूबते उतराते देखा जा सकता है।[1]

तात्पर्य यह है कि प्रसाद जी की प्रतिमा में उस कला का मेल अवश्य है जिसे उन्होंने विभिन्न प्रकृति की नारियों के स्वभाव और गुण-धर्म के अनुशीलन से प्राप्त किया, किंतु उनकी व्यावसायिक वृत्ति पर वे सदैव आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखते रहे। वे स्वतः उपर्युक्त कोटि के किसी नारी-पात्र के प्रभाव में दब गये हों ऐसा कहीं भी परिलक्षित नहीं होता।

(ग) प्रसाद के व्यक्तित्व पर काशी की भावभूमि का प्रभाव

शैव दर्शन की ओर झुकाव -

प्रसाद की जन्मभूमि काशी प्राचीन काल से ही भारत की धर्म-प्राण नगरी है। यह नगरी भारतीयता की प्राचीन गौरव-गाथाओं की केन्द्रस्थली के रूप में विख्यात है। विशेष रूप से शैवागम की यह महानतम पावन नगरी है। इस नगरी के संबंध में कहा गया है - काशीवास, सत्संग, गंगागम और शिव पूजन यही चार तत्व हैं, जिनसे मोक्ष मिल सकती है।[2] यह नगरी भगवान् विश्वनाथ की नगरी कही जाती है। दूर-दूर से आये हुये, तीर्थयात्रियों का तांता, वेदोच्चार की ध्वनियां, शिवालयों के घंटों की घरघराहट और नगाड़ों की आवाज काशी को निरंतर अनुगुंजित किये रहती है। वहां के वातावरण

१- "प्रभु मैं नारी हूं, जीवन भर असफल होती आई हूं। मुझे उस विचार के सुख से न वंचित कीजिए। नाथ! जन्म-भर के पराजय में भी आज मेरी ही विजय हुई। पतितपावन!"

प्रसाद : अजातशत्रु, तीसरा अंक, सातवां दृश्य ; पृ० १३१-

२- "असारे खलु संसारे, सारमेतच्चतुष्टयम्
काश्यां वासः सतां संगो गंगाम्भः शिव पूजनं"
स्कंदपुराण, काशीखंड।

में कुछ ऐसा निरालापन है जिसमें एक अतीन्द्रिय सुख और शांति का आभास होता है। भगवान् शिव उस नगरी के अधिपति हैं और पुण्यतोया भगवती भागीरथी की लहरें जिस प्रकार शिवजी की जटाओं में लिपटी रहती हैं, ठीक उसी प्रकार वे काशी को भी अनादिकाल से अपने अंक में लपटाये हुये हैं।

काशी के इस अतीन्द्रिय और आध्यात्मिक प्रभाव से कोई भी प्राणी अभिभूत हो सकता है, फिर प्रसाद जी का जन्म ही उस महान प्रेरणामयी नगरी में हुआ था, और उनके जीवन का अधिकांश समय वहीं व्यतीत भी हुआ। अत: प्रसाद जी पर भगवान् विश्वनाथ का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

अपने अध्ययन और निरीक्षण द्वारा जो भी अनुभूतियां प्रसाद ने प्राप्त कीं, उन्होंने उन पर एक तत्व-द्रष्टा की भाँति मनन भी किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति के समस्त अग्रगण्य संप्रदायों की मूलभूत प्रेरणाओं का अध्ययन किया। मुख्यत: शैवागम उन्हें दो माध्यमों से प्राप्त हुआ - बाह्य वातावरण से और दूसरा अन्त: वृत्तियों से।

प्रसाद जी पर भगवान् शिव-संबंधी प्रभाव आरंभ से ही पड़ा था। उनके संबंध में उपर्युक्त ही कहा गया है कि " प्रसाद जी धार्मिक मनोवृत्ति के पुरुष थे। वह शिव के उपासक थे। आचार-व्यवहार में भी वह आस्तिक थे। ----- अपने अन्तिम समय तक जब पुजारी प्रतिदिन की तरह पूजा करके शिव का चरणामृत, बेलपत्र और फूल लाता तो वह उसे श्रद्धा से आँखों और मस्तक पर लगा लेते।"[१]

काशी के अनन्य प्रभाव का ही परिणाम था कि प्रसाद जी की अभिरुचि अधिक से अधिक शैवदर्शन की ओर उन्मुख होती गई। जीवन के अंतिम क्षणों में, जब कि उनके अंतस् को काटकर खोखला कर देने वाले घातक क्षय रोग ने उनकी आँखों के सामने मृत्यु की भयावह भूमिका उपस्थित कर दी थी, तब भी

१- विनोद शंकर व्यास : प्रसाद और उनका साहित्य ; पृ० ८८, ८९।

उन्होंने कहा था - " जीवन भर विश्वनाथ की छाया में रहा, अब कहाँ जाऊँ ?"[1]

शिव - भक्ति का अंकुरण प्रसाद जी में बचपन से ही पड़ा। उन्होंने अपनी आरंभिक रचनाओं में शिव के महात्म्य को दर्शित किया है। इसी समय से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी ने शैवदर्शन पर विश्लेषणात्मक विवेचन आरंभ कर दिया था। उन्होंने शिव की स्तुति की है, वहाँ स्वयं शिव को नहीं, शिव की माया को धन्य कहा है। यही माया है जिसके वश में होकर सुर और असुर सभी भूल-भूलकर भ्रमित हो रहे हैं।[2] शिव की यह माया वास्तव में कौन है ?

पुराणों में जहाँ शिव का प्रसंग आता है, वहाँ शक्ति की अवतारणा भी की जाती है। स्वयं शिव का रूप निर्विकार माना गया है। निर्विकार रूप, चाहे उसे हम ब्रह्म कहें, शिव कहें अथवा अन्य किसी नाम से संबोधित करें, शक्ति के बिना निश्चेष्ट और निष्प्रभाव है। शिव के समस्त शिवत्व को जाग्रत करने वाली एक प्रेरणा है और वह है शक्ति। शक्ति के बिना शिव ठीक उसी प्रकार से निश्चेष्ट और लयहीन है, जिस प्रकार प्रलय के थपेड़ों से अवशेष बचा हुआ एक युवक हिमगिरि की उत्तुंग शिखर पर किसी शिला पर बैठा हुआ अवसाद-मग्न था।[3] उसे जगाने का काम श्रद्धा रूपिणी शक्ति करती है और वह नारी के

१- डा० प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य ; पृ० ४५ -

२- हे शिव धन्य तुम्हारी माया,
जेहि बस भूलि भ्रमत हैं,
सब ही सुर असुर निकाया।
प्रसाद : चित्राधार, 'वभ्रुवाहन', पृ० २६ -

३- हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
प्रसाद : कामायनी ; पृ० ३।

ही सशक्त व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है।

अर्द्धनारीश्वर

शैवागम के अनुसार भगवान् शिव पुरुष रूप में स्वयं पूर्ण नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व में आधे अंश तक नारी का अद्भुत समन्वय है। यहां तक कि शारीरिक बनावट में भी उनके इस समन्वय का दर्शन होता है। इसीलिए उन्हें अर्द्धनारीश्वर कहा जाता है। शक्ति की चेतना से ही शिव में वह सामर्थ्य आती है कि वे आकाशमार्ग से होकर नीचे धरातल पर गिरने वाली भगवती भागीरथी की प्रबल तरंगों को अपनी जटाओं में रोक सकें और फिर जनकल्याण की भावना से उसे धरातल की ओर धीरे-धीरे छोड़ दें। शक्ति के ही संचार का परिणाम है, कि शिव प्रलयंकर का रूप धारण कर भैरवनाद करते हुए तांडव नर्तन करने लग जाते हैं, और अवसादमयी सृष्टि को समूल नष्ट कर नवीन सृष्टि के सृजन का वातावरण प्रशस्त करते हैं। शक्ति की ही उत्प्रेरणा से वे अपने आपके लिए गरल का संचयन कर समग्र विश्व के लिए 'औघड़' दान का कोष खोल देते हैं। यद्यपि प्रत्यक्षरूप में शिव का यह प्रबलतम शिवत्व ही प्रखर होकर सामने आता है, किंतु इसके मूल में जो प्रेरणा है, वह शक्ति की ही प्रेरणा कही जायेगी।

शैव दर्शन के अनुरूप ही प्रसाद जी इस बात पर विश्वास करते हैं, कि शक्ति (नारी) मूलत: प्रेरणा उत्पन्न कर शिव (पुरुष) को कर्तव्य-क्षेत्र में खींच लाती है। " ---- मनुष्य जीवन का सारा कर्म नारी में ही केंद्रित है, नारी ही नर की शक्ति है और उसी में उसके रस का अक्षय व्यावहारिक स्त्रोत है। सर्वप्रथम वह पुरुष के सामने एक आकर्षण, स्फुरण, उल्लास और उत्साह का विभाव होकर आती है ----"[१] जैसे कामायनी की श्रद्धा की प्रेरणा, उसके व्यक्तित्व का मनु के व्यक्तित्व में अभिनिवेश प्रसाद जी के उपर्युक्त दृष्टिकोण को ही

१- डा० फतेहसिंह : कामायनी सौंदर्य ; पृ० १६१ ।

अभिव्यक्ति प्रदान करता है। शक्ति की स्फुरणा से जो सृष्टि बनकर तैयार होती है, वह स्वयं शक्ति की सृष्टि नहीं वरन् पुरुष की सृष्टि कही जाती है। अपने इसी अगाध विश्वास के कारण प्रसाद जी ने अपनी रचनाओं में बहुधा ऐसे नारी-चरित्रों का सृजन किया है, जो पुरुष को कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त करते हैं, और उसके पुरुषार्थ को सार्थकता प्रदान करते हैं। कामायनी की समग्र सृष्टि श्रद्धा और इड़ा पर आधारित है किंतु अन्तत: वह सृष्टि मनु की ही कही जाती है। ध्रुवस्वामिनी की सम्पूर्ण प्रतिभा एक नया राजनीतिक संगठन तैयार कर देती है, किंतु अन्तत: वह संगठन चंद्रगुप्त का संगठन बन जाता है, और स्वयं ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न होकर जीवन के साहचर्य में बदल जाता है। इसी प्रकार प्रसाद के अन्य नाटकों, उपन्यासों और कहानियों में भी उनके इसी सिद्धान्त की व्यवहृति देखी जा सकती है।

प्रसाद के व्यक्तित्व में उपर्युक्त तत्वों का समावेश दिखाई पड़ता है। उनका विचार था कि पुरुष को सफल पुरुषार्थ की पृष्ठभूमि में नारी (शक्ति) की यही प्रभावकारी प्रेरणा ही कार्य करती है। नारी की यह प्रेरणा किसी भी रूप में प्रकट हो सकती है। कहीं उसका मातृत्व प्रखर होकर सामने आता है[1], कहीं उसका भगिनी-स्नेह अपनी पवित्रता से वातावरण को सचेत बना जाता है[2]। उसका यही रूप कहीं प्रिया रूप में केवल व्यक्तित्व को उभाड़कर अंतर्मुखी हो जाता है[3], कहीं सहचरी रूप में जीवन भर का समर्पण लेकर उपस्थित होता और एक नवीन सृष्टि का संचार करता है[4], कहीं वह ज्ञान और विवेक का वाहक लेकर उपस्थित होता है और कल्याण सृष्टि के लिए एक आंदोलन का रूप उपस्थित कर

१- मालवी, श्रद्धा, कमला, देवकी, तारिणी -

२- मालविका -

३- पद्मावती, चंपा -

४- श्रद्धा, ध्रुवस्वामिनी -

देता है।[१] इतना ही नहीं, वह अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति से भाव-विभोर कर जाता[२] और कहीं वासनात्मक उद्वेलन से अन्ततः जीवन के भौतिक सुखोपभोगों के प्रति विराग का भाव उत्पन्न कर जाता है।[३] ये सभी रूप नारी के ही हैं, और सभी प्रसाद जी के साहित्य में सशक्तता से व्यक्त हुए हैं। यहाँ तक कि प्रसाद जी पुत्री रूप में भी नारी को एक प्रेरणा का स्त्रोत मानते हैं।[४]

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी के हृदय में जो नारी संबंधी उच्च, उदात्त एवं महान् भावना समायी हुई थी, उसका संबंध उन्हें "नटराज"[५] के एक चित्र से मिला होगा, जिसमें नारी की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। उस चित्र को देखने से ऐसा लगता है जैसे नारी ही सृष्टि का विशिष्ट अंग है। उसके बिना नर शव रह जाता है, तथा निर्जीव होकर निष्क्रिय बन जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्द्धनारीश्वर की यह कल्पना प्रसाद जी के समस्त स्त्री और पुरुष पात्रों में साकार हो उठी है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि काशी के पुण्य वातावरण में व्याप्त शैव-दर्शन के फलस्वरूप ही प्रसाद जी का दृष्टिकोण आनंदवादी हो गया है। उन्होंने जीवन के दुखों, और सुखों दोनों को देखा है, किंतु केवल दुखों और सुखों की सीमा तक पहुँचकर गतिहीन हो जाना प्रसाद जी के लिए पुरुषार्थ की सीमा नहीं थी। वे जीवन भर पारिवारिक, आर्थिक, शारीरिक और मानसिक संतापों को झेलते रहे, किंतु उन्होंने कभी भी अवसादों के बीच जड़ हो जाना स्वीकार नहीं किया। उनके इस आशावादी दृष्टिकोण ने ही उनकी प्रत्येक रचना में आनंदवाद का पोषण किया है और उसकी प्रेरणा में किसी न किसी रूप में कोई न कोई नारी अवश्य रही है।

१- इड़ा, मल्लिका -
२- कहानियों - जैसे चूड़ीवाली, पद्मा, शाल्मली
३- अनंतदेवी
४- ममता, माधुरी
५- Joseph Campbell: The art of India; plate no.XIX
६- चि० पृ० क्र० पृ० ७ -

(घ) बौद्ध दर्शन की ओर झुकाव -

प्रसाद जी के व्यक्तित्व को प्रभावित करनेवाली काशी नगरी का एक पक्ष और भी है। काशी शिव की नगरी होते हुए भी भगवान् बुद्ध के स्मृति-शेषों को अपने अंचल में समेटे हुए हैं। सारनाथ भगवान् बुद्ध के प्रथम उपदेशों का ऐतिहासिक स्थल है। आज भी वहाँ उस ऐतिहासिक घटना के अवशेष वर्त्तमान हैं, जो कि अंतर्राष्ट्रीय बौद्ध-कीर्ति के रूप में स्वीकृत हैं।

प्रसाद ने बौद्ध युग के भारतीय इतिहास का गहन अध्ययन किया था, और उसमें छिपे रत्नों को वर्त्तमान की आधारशिला पर उतारने का यत्न किया था। बौद्ध दर्शन से उनका प्रभावित होना भी स्वाभाविक था। बौद्ध धर्म का प्राणतत्व है जीवमात्र के प्रति करुणा और अहिंसा। यह करुणा हृदय की वह तरल वृत्ति है, जिसमें समग्र मानवता अंतर्निहित है। उस करुणा का मर्म क्या है? करुणा हृदय की वह वृत्ति है जो मनुष्य को किसी भी प्रकार की बर्बरता से बाहर खींचकर उसमें कोमलता और आर्द्रता का संचार करती है। गौतम की करुणा में विश्व का प्राणिमात्र आकार शरण पा सका, किंतु इस करुणा का अपना रूप बहुत कुछ नारी प्रकृति से मिलता-जुलता है। हृदय की कोमलतम वृत्तियाँ पिघलकर करुणा का रूप लेती हैं, और करुणा हृदय के कोमलतम स्थल से निकलकर पिघल पड़ती तथा आँखों के माध्यम से आँसू बनकर गिर पड़ती है।

भगवान् बुद्ध ने जीवमात्र के लिए अहिंसा के सिद्धांत का प्रवर्त्तन करते हुये भी सर्वप्रथम बौद्ध संघ में नारी-जाति के सम्मिलित होने का निषेध कर दिया था। आगे चलकर उन्होंने आनंद के आग्रह पर बौद्ध संघ का द्वार स्त्रियों के लिये भी खोला था। इनमें उनकी पत्नी यशोधरा प्रमुख थी। ऐसा करने के उपरांत भी उन्होंने बौद्ध मठों और विहारों में आत्मसंयम और ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया। विशेषरूप से यह प्रतिबंध भिक्षुणियों पर लगाया गया था। इससे स्पष्ट है कि भगवान् गौतम बुद्ध स्त्रियों के प्रति या तो उदासीन रहे हैं, अथवा उन्हें इस बात की आशंका रही है कि मठों और विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश से भिक्षुओं का

संयम टूटेगा । दूसरे अर्थों में वे नारी के द्वारा होने वाले वासनात्मक उद्वेलन को स्वीकार करते हुये बौद्ध - संघ में उस जाति का प्रवेश प्रतिबंधित मानते थे । किंतु यह तो रहा भिक्षु - भिक्षुणियों का मठ के भीतर का जीवन । जहाँ तक सामाजिक क्षेत्र में नारी - जाति के प्रति गौतम बुद्ध की धारणा का प्रश्न है, उन्होंने ऐसी स्त्रियों का भी आतिथ्य ग्रहण किया था, जिन्हें समाज उपेक्षाकुल हेय दृष्टि से देखता था । गौतम बुद्ध के सामने सुजाता का उपहार सहित आगमन इसी बात को स्पष्ट करता है । गौतम ने अपनी पत्नी यशोधरा को भी शिष्या रूप में ग्रहण कर लिया । स्पष्ट है कि तथागत नारी के पावन रूप के प्रति श्रद्धावान थे, किंतु वे उसके वासनात्मक रूप को संघ के लिए उपयोगी नहीं मानते थे।[१]

प्रसाद जी की चिंतन धारा में जहाँ एक ओर से शैव-मत आकर मिलता है, वहाँ दूसरी ओर से बौद्ध मत भी उसे प्रभावित करता है। प्रसाद जी ने बौद्ध - करुणा की अवतारणा नारी में की है । वे भगवान् बुद्ध के नारी-संबंधी उदात्त व्यक्तित्व की उपासना करते हैं, और भौतिकवाद को नारी का पतन-मार्ग मानते हैं। यह प्रभाव बौद्ध धर्म से गृहीत है ।

अजातशत्रु की मागन्धी, जनमेजय के नागयज्ञ की दामिनी, सुरमा आदि इसी प्रकार के नारी-पात्र हैं, जिन्हें पूर्णतः भौतिकवादी और वासनामूलक कहा जा सकता है ।

यह एक इतिहास सिद्ध घटना है कि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के लोप का एक कारण, और प्रबलतम् कारण यह था कि आगे चलकर महायान शाखा के प्रभाव में बौद्ध-मठों और विहारों में भिक्षु और भिक्षुणियों का पारस्परिक संपर्क पवित्र नहीं रह गया था। प्रसाद जी नारी जाति की इस पतनोन्मुख स्थिति

१- आम्रपाली -

का चित्रण कहीं भी नहीं करते, और प्रत्येक स्थल पर वासनामूलक नारी को भी यह आभासित करा देते हैं, कि उसकी वासना निस्सार थी ।

प्रसाद के व्यक्तित्व का जिस पारिवारिक वातावरण में विकास हुआ था, उसमें बौद्ध की करुणा और संयम की कल्पना सहज में ही की जा सकती है। करुणा के प्रभावों को स्वीकार करते हुए भी प्रसाद ने जीवन में दुखवाद के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है।" बौद्ध धर्म की विश्वमानवता, करुणा और दुखवाद से वे जरूर प्रभावित हैं, किन्तु वे उसके शून्यवाद में उपनिषदों की नेति- नेति की झलक देखते हैं।"[1] उनका व्यक्तिगत जीवन यथार्थ की कठिनाइयों के संघर्ष से भरा पड़ा था। उस संघर्ष में यदि प्रसाद जी कहीं झुके तो उसका एकमात्र कारण उनके प्रति उनकी पूज्या भाभी का करुण भाव ही था।" बहुत संभव है कि सब प्रकार के अन्तरंग - बहिरंग संघर्षों में मानसिक संतुलन बनाये रखने के प्रयास में ही उन्हें उस आनंदवादी दर्शन की उपलब्धि हो गयी हो, जिसके भीतर करुणा की अन्तःसलिला प्रवाहित है।"[2] यहाँ तक कि दूसरी पत्नी के देहावसान से भग्न हृदय वाला हठीला युवक भाभी की करुणा से प्लावित होकर तीसरे विवाह के लिये भी सहमत हो गया।

जीवन की द्वंदात्मक परिस्थितियों में प्रसाद को करुणा के द्वारा एक नया संबल प्राप्त हुआ। इससे उनके हृदय की वृत्तियों में कोमलता का संचार हुआ, और भावों के धरातल पर उतरकर उन्होंने इस करुणा का पूरा चित्र उन्हीं पात्रों में उभाड़ देने का यत्न किया, जिनसे उन्हें यह करुणा मिल सकी थी। यह "तुभ्यमेव समर्पयेत" की भावना अर्थात् तुम्हीं से प्राप्त किया हुआ गुण तुम्हीं को समर्पित कर देने की भावना है। इतना ही नहीं भावनाओं के प्रतिदान-स्वरूप प्रसाद

१- बाबू गुलाबराय : प्रसाद की चिन्तनधारा ; पृ० २३-

२- महादेवी वर्मा : पथ के साथी ; पृ० ७३-

जी ने अपनी रचनाओं में आई हुई नारियों में करुणा के जिस रूप को चित्रित करने का प्रयास किया, वह वास्तव में बहुत ही महान् और व्यापक बन सकी है। यह कहना उचित ही है कि बचपन से तरुणाई तक दुख की निर्ममता के कठिन प्रहार जिसने सहे, उससे यही आशा की जा सकती है कि वह करुणा को जीवन का मूलमंत्र मानकर चित्रित करता।

"अजातशत्रु" नाटक में प्रसाद जी ने स्वयं गौतम को एक पात्र के रूप में ला खड़ा किया है। उनके वृत्त में घूमने वाली नारियों के विभिन्न रूपों को भी प्रसाद जी ने चित्रित किया है, और उनके द्वारा पुरुष और नारी के बीच के संबंधों की शाश्वतता को प्रमाणित करने की चेष्टा सफल ढंग से की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने बौद्ध-धर्म के कोमलतम तत्त्व करुणा को अपनाया और उसकी साकारता नारी में पाई। जिस करुणा से प्रभावित होकर उन्होंने विश्व में एक अपूर्व करुणा का संचार करना चाहा, उससे वह स्वयं प्रभावित न हुये हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अंतर केवल इतना है कि बौद्ध दर्शन की करुणा और प्रसाद की करुणा परस्पर भिन्न है। भगवान् बुद्ध ने अपनी करुणा का प्रसार स्पष्टरूप में संसार के लिए कर दिया, और स्वयं अपने अंतस् में, किसी करुणा के भाव को अपने आपके लिए संचित नहीं किया, किंतु प्रसाद जी कवि थे। और वह भी रहस्यवादी कवि। उन्होंने संसार भर को अपनी करुणा बिखेरते हुये भी उस करुणा की ओर को कुछ अपने लिए भी संचित कर लिया। बस उसी निधि को कवि भावनाओं के ऊहापोह में बहुत - कुछ व्यक्त करते हुए भी, बहुत कुछ गोप्य भी रह जाता है। उसकी अभिव्यक्ति यदि कभी होती भी है तो केवल आकुलता भरे क्षणों में संवेगात्मक के अभिव्यक्ति के रूप में।

"इस करुणा कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती ।।"[1]

१- प्रसाद : आँसू ; पृ० ७ -

अर्थात् जिसका हृदय ही करुणा से विभोर हो, और जिसमें निरंतर विकल रागिनी का ही स्वर गूंजता हो, उसके व्यक्तित्व को करुणा से अप्रभावित मानने की कल्पना ही नहीं उत्पन्न होती।

प्रसाद जी का व्यक्तिगत जीवन एक ओर माँ और भाभी की ममताभरी करुणा से पोषित हुआ, दूसरी ओर उनकी हृदय की युवार्जित सुकोमल वृत्तियाँ कभी संयोग जल से सिंचित होकर लहलहा उठीं और कभी वियोग के दहकते अंगारों में झुलसकर अपने आपमें विलीन हो गईं। जीवन में सुख जिसे कम ही मिला हो और जिसने जीवन भर दुखों का साहचर्य पाकर अपने-आपको विकसित किया हो, ~~उसकी~~ उसकी रचनाओं में उसकी अनुभूतियों का अभिव्यक्त हो जाना स्वाभाविक है। दांपत्य-जीवन भी उनका संयोग और वियोग की एक विचित्र कहानी के रूप में बदल गया। "दांपत्य जीवन की संयोग-वियोग की विविध झाँकियों ने उनके जीवन पर एक अमिट छाप छोड़ी। उनके चित्रण से साहित्य समृद्ध हुआ।"[1] स्पष्टतः इन घटनाओं से प्रसाद जी के जीवन में विरक्ति की एक रेखा खिंच गई। उस विरक्ति में पलायन, वैराग्य या निषेध का प्राबल्य कहीं भी नहीं है। वे पारिवारिक समस्याओं को भी सुलझाते रहे, साथ ही बचे हुये समय में अध्ययन और मनन का क्रम भी बनाये रहा।

इन झाँकियों का प्रसाद जी ने अपने व्यक्तिगत जीवन के संदर्भ में कभी उल्लेख नहीं किया, किंतु यत्र-तत्र अभावों और अतृप्तियों की लहरें फूट ही निकलीं। यथा - "शैशव जब से तेरा साथ छूटा तबसे असंतोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को खोखला बना डाला।"[2]

प्रसाद जी के व्यक्तित्व में पुरुषत्व की समग्र कठोरता और नारीत्व की समग्र कोमलता आकर एकीकृत हो गई है। रचनाकार के व्यक्तित्व का उसकी

१- डा० फतेहसिंह : कामायनी सौंदर्य ; पृ० २१८।

२- प्रसाद : विशाख ; पृ० १२।

रचना पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ प्रसाद जी का साहित्य मधुरता और संवेदनशीलता से पूर्ण है वहीं दूसरी ओर उसमें सशक्तता और कठोरता का भी अभाव नहीं है।

(ड) जीवन के प्रति आशावादी दृष्टि -

प्रसाद जी जीवन के प्रति घोर निराशाओं में भी सदैव आशावादी रहे। वेदों की मान्यता के अनुसार आत्मा 'सत् चित् आनंद' रूप है, प्रसाद जी भी आत्मा के इसी आनंद रूप को ही अपने जीवन की आधारशिला बनाना चाहते थे। उनके समस्त साहित्य में जीवन का यही आनंदमय रूप मुखरित होता हुआ दिखाई पड़ता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि बौद्ध धर्म के सारतत्व को ग्रहण करते हुए भी प्रसाद जी संसार को सारहीन या शून्य नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि इस संसार में ही सब कुछ है। दया - माया, मधुरिमा और अगाध विश्वास का कोष सर्वत्र खुला हुआ है, जिसका कि माध्यम नारी है। ये जो प्रकृति के तीन गुणों (सत् - रज - तम्) से सारा संसार निर्मित हुआ है, तो निश्चय ही संसार के समस्त पदार्थों से सुख या दुख की उपलब्धि समान रूप से होगी।

यह सत्य है कि " ---- उनकी (प्रसाद की) जीवन-दृष्टि निवृत्तिमुखी न होकर सदैव प्रवृत्तिमुखी ही रही। जीवन में हँसते - बोलते आनंदपूर्ण जीवन व्यतीत करना ही उन्हें इष्ट था। अतएव उनके साहित्य में एक जीवन की उत्फुल्लता वर्तमान है।"[१] जीवन की इस कर्मशीलता को उन्होंने अपनी किसी प्रेरणा से ग्रहण किया था। वह प्रेरणा कामायनी में श्रद्धा के रूप में इस प्रकार बोल पड़ी -

----

१- गणेश खरे : प्रसाद के प्रगीत ; पृ० ५४ ।

" कर्मयज्ञ - से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा,
इस विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा।[१]

उनके साहित्य के नारी-पात्रों में जीवन के प्रति एक महान् संदेश की भावना निहित है। विशेषतौर से कामायनी के प्रमुख नारी-पात्र श्रद्धा में तो जीवन-विकास की मूल प्रेरणा ही अंतर्निहित दिखाई पड़ती है। मनु का अंतर्मन अवसाद पूर्ण वातावरण से इतना निराश हो जाता है कि वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भी भूल जाते हैं। श्रद्धा ही उनके अवसादपूर्ण मन में चेतना का स्फुलिंग जागृत करती है। वह उन्हें निरंतर जीवन से संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देती है। श्रद्धा मनु को प्रताड़ित करती हुई कहती है कि यह जीवन ही सत्य है; इससे दूर भागना एक कायरता है -

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।[२]

इस प्रकार श्रद्धा के अंतस् में विश्व-कल्याण और लोकमंगल की भावना अंतर्निहित दिखाई पड़ती है। मानों वह सेवा, त्याग, ममता और विश्वमंगल की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। वैवस्वत मनु प्रसाद की लेखनी का बल पाकर पौराणिक अथवा कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं रह जाते, अपितु श्रद्धा की प्रेरणा पर वे जीवन के कर्तव्य मार्ग पर चलने वाले पुरुष बन जाते हैं। इड़ा की बुद्धिवादी प्रवृत्ति के कारण ही प्रारम्भ में मनु का अंतर्मन विभिन्न प्रकार की एषणाओं के प्रलोभन में पड़कर भौतिकवाद की ओर आकृष्ट होता जा रहा था। बुद्धि की उलझी हुई अलकों में विभ्रमित होकर, उनका कर्तव्याकर्तव्य का विवेक भी बिल्कुल

१- प्रसाद : कामायनी, 'कर्म सर्ग'; पृ० १२३-
२- प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा सर्ग'; पृ० ६५ -

लुप्त हो गया था। श्रद्धा की ही प्रेरणा से मनु (अर्थात् मन में) सात्विक वृत्तियों का उदय होता है। निरुद्देश्य भटकते हुए मनु के जीवन में, आशा का संचार होता है। कामायनी की संपूर्ण कहानी प्रसाद जी के केवल इसी विश्वास पर आधारित है। इसीलिए वह कहानी पौराणिक होते हुए भी सांकेतिक है, और सांकेतिक होते हुए भी जीवन के कोमलतम मर्मों से पूर्ण है। कामायनी के माध्यम से प्रसाद जी ने जीवन का एक ऐसा मर्म प्रस्तुत करना चाहा है, जो कि स्वयं उनके व्यक्तित्व का एक मर्म है। उनके व्यक्तित्व से यदि हम नारीजनित कोमल प्रभावों को पृथक कर दें तो उनका एक घुटनशील व्यक्तित्व अपने आप में ही डूबा हुआ तम्बाकू की दूकान पर बैठा दिखाई पड़ेगा। उन सूखी हड्डियों में रस ढूंढना एक प्रवंचना की बात होगी, और उनका सारा पुरुषार्थ भी मनु के अवसादपूर्ण निरुद्देश्य व्यक्तित्व का एक प्रतिबिंब मात्र बनकर रह जायेगा। उनके भीतर का पुरुष तत्व नारी के रागात्मक अनुभावों से तदाकार होकर इतना रससिक्त और कोमल हो गया है कि उस कोमलता को देखकर कभी यह कल्पना नहीं की जा सकती कि इस व्यक्ति को भी क्षय का महाकाल भीतर ही भीतर खोखला करता चला जा रहा होगा। एक प्रकार से यह कह सकते हैं कि शिव के लिए जिस प्रकार से बाह्य रूप में अर्द्धनारीश्वर कहा जाता है, उसी प्रकार आंतरिक रूप में प्रसाद जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नारी-प्रेरित व्यक्तित्व की संज्ञा दी जा सकती है

(च) <u>प्रसाद की अध्ययनशीलता और अध्ययन के प्रेरणास्रोत</u> -

शैशव में प्रसाद को पहले पहल गोवर्द्धन-सराय मुहल्ले में पढ़ने के लिए भेजा गया। वहाँ पर प्रसाद ने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया। वहीं पर सर्वप्रथम सम्भवतः उनको कविता लिखने की प्रेरणा भी मिली हो क्योंकि उक्त पाठशाला के संयोजक श्री मोहिनीलाल गुप्त स्वयं एक रससिद्ध कवि थे। इस छोटी सी पाठशाला को प्रसाद " आरम्भिक सरस्वती पीठ " कहा करते थे।[१] तदनन्तर क्वींस कालेज में भर्ती

१- प्रसाद की याद, हिमालय - दीपावली अंक, सं० २००१; पृ० ७ -

ही तक पढ़ाई हुई थी कि १९०१ में पिता की अकस्मात् मृत्यु ने परिवार का रूप ही बदल दिया। इनके बड़े भाई शम्भूरत्न जी ने इनसे कालेज छुड़वाकर, संस्कृत और अंग्रेजी की पढ़ाई का प्रबंध घर पर ही कर दिया। श्री दीनबंधु ब्रह्मचारी उन्हें संस्कृत और उपनिषद् पढ़ाते थे। ब्रह्मचारी जी सदाचारी पुरुष थे। वेद और उपनिषद् का उनका अच्छा अध्ययन था। अतएव प्रसाद के जीवन पर उनके शिक्षण का विशेष प्रभाव पड़ा।[१] उनकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र थी। "आठ-नौ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अमरकोश तथा लघुकौमुदी कंठस्थ कर ली थी।"[२]

प्रसाद जी को विद्यालयों की कोई सुचारु शिक्षा न मिल सकी, किंतु पारिवारिक उलझनों ने चिंतनशील प्रसाद के मस्तिष्क को कदापि भी इतना कुंठाग्रस्त नहीं किया, कि वे अपनी अध्ययनशीलता को रोक दें। आरंभ से ही प्रसाद जी जिज्ञासु प्रकृति के व्यक्ति थे। विशेषरूप में भारतीय संस्कृति, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रंथ और भारतीय इतिहास उनके अध्ययन का मुख्य विषय रहे। प्रसाद जी को अतीत-कालीन इतिवृत्त और प्राचीन गौरव में अगाध विश्वास था।

जिस देश के इतिहास ने इतने महान् पुरुषों और इतने महान् आदर्शों को जन्म दिया और जिस देश का अतीत इतना गौरवशाली था, उसके तत्वों को ढूंढ निकालना प्रसाद जी की अपनी विशेष प्रतिभा का परिणाम था। प्रसाद ने समाज की वर्तमान परिस्थितियों और अधोगतियोंका भी एक तत्वदर्शी के रूप में विश्लेषण किया। उन्होंने अनुभव किया कि कुछ आधारभूत मान्यताएं रही हैं, जिनके कारण हम प्राचीन काल में इतने महान् बन सके थे, और जिन्हें छोड़ देने के कारण आज हम अनेक प्रकार की अधोगतियों और विषमताओं के शिकार हो गये हैं। यदि हम उन आदर्शों और मान्यताओं को नये युग के अनुरूप पुनः स्वीकार कर

१- विनोदशंकर व्यास : प्रसाद और उनका साहित्य ; पृ० ३-
२- संगम, १८ फरवरी १९५१ ; पृ० ४१-

हें तो कोई कारण नहीं है कि हम संसार की किसी जाति से प्रगति के होड़ में पीछे रह जाँय। इसी कारण प्रसाद जी ने अपने अभिन्न सहयोगियों के विरोध करने के उपरांत भी अतीत के गह्वर में छिपे रत्नों को ढूंढकर एक नई आभा में पुन: चमकाकर रखने से कदापि मुड़े नहीं। उनकी इतिहासप्रियता का मजाक उड़ाते हुये उनके समकालीन मुंशी प्रेमचंद्र कहा करते थे कि गड़े हुये मुर्दों को उखाड़ने से क्या लाभ? यह भी कहा जाता था कि कब्र से निकले हुए घोड़े कभी घास नहीं खाया करते?

यद्यपि इन आलोचनाओं को निराधार नहीं कहा जा सकता, और इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बीता हुआ इतिहास कभी अपने मूल रूप में और अपनी तथैव परिस्थितियों में पुनरावर्तन नहीं करता, तथापि यह भी सत्य है कि प्रत्येक युग की अपनी विशेष समस्याएं होती हैं, और उन समस्याओं का समाधान भी प्रत्येक युग की परिस्थितियों के अनुकूल हुआ करता है। किसी भी समाज अथवा देश के लिए कुछ नींव-रूप में तत्व हुआ करते हैं, जो किसी भी संस्कृति के विशेष तत्व माने जाते हैं। उस संस्कृति का विकास उन्हीं तत्वों पर आधारित होता है। यदि हम पूर्वापर के संबंधों को बिलकुल ही छोड़ दें तो इससे सम्यक् विकास न होकर एक गतिरोध उत्पन्न होगा। प्रसाद जी इस सिद्धांत को पूर्णत: मानते थे। उन्होंने परंपरा की विराटता को मान्यता दी। इसी कारण उन्होंने भारतीय प्राचीन धर्म-ग्रंथों और इतिहास ग्रंथों का खूब मनन किया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने इस मनन के परिणामस्वरूप कुछ ऐसी मान्यताओं को भी प्रबल शब्दों में पुन:स्थापित किया, जहाँ तक आधुनिक भारतीय इतिहासकारों की पहुंच ही नहीं है। " ------ उन्होंने पूरी तौर से ऊहापोह के साथ इतिहास की गवेषणा की और बिखरे हुये विवरणों तथा संकेतों को अपनी कल्पना के द्वारा संयोजित कर उन्होंने अपने कथानकों की रचना की ----- यदि हम विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से इन नाटकों की भूमिकाओं और नाटकों का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि भारत के इतिहास का भी रूप देने वाली नई सामग्री उन्होंने हिंदी जगत को प्रदान की है।"[१] उदाहरण के लिए

१-डा० शांतिस्वरूप गुप्त, डा० रामसागर त्रिपाठी : वृहत् साहित्यिक निबंध; पृ० ९९.

क्रमश: कामायनी और ध्रुवस्वामिनी में आये हुये दो प्रसंगों को हैं।

कामायनी के मनु सामान्यत: एक पौराणिक मान्यता के अनुसार आदि - पुरुष माना जाता है। यह एक ऐसी पौराणिक कल्पना है, जिसका वृत्तांत इतिहास न तो दे सकता है और न उसमें आस्था ही रखता है। एक ऐतिहासिक केवल इतना कहकर मौन हो जाता है कि मनुष्य का विकास क्रमश: जल के जानवरों और स्थल के जानवरों के विकास का परिणाम है। यहाँ तक कि ऐतिहासिक यह कहते हैं कि आरंभ में मनुष्य भी बंदरों की तरह दुम वाला प्राणी था। धीरे - धीरे उसमें विकास होता गया और वह आज जानवरों से भिन्न एक विशेष प्रकार का विकसित प्राणी है। मानव जाति के इस विकास में किस व्यक्ति को मनु का नाम दिया जाय, जिसके बाद से मानव सृष्टि का श्रृंखलाबद्ध आरंभ हुआ, इसका उत्तर देना इतिहास के विद्यार्थी के लिए संभव नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर प्रसाद जी देते हैं। उन्होंने मनु को ऐतिहासिक आदि पुरुष माना है और मनु, श्रद्धा और इड़ा के सामंजस्य से एक नवीन मानवता की सृष्टि को एक ऐतिहासिक इतिवृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। इस संबंध में उन्होंने लिखा है - " यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"[१]

इसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी के ऐतिहासिक आख्यानक में प्रसाद जी ने हिंदू धर्मग्रंथों के माध्यम से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि वैवाहिक संबंध विच्छेद और पुनर्लग्न की समस्या आज की कोई नई समस्या नहीं है, और उसका समाधान भी किसी नये ढंग से नहीं होना है। भारतीय धर्मग्रंथों में इस बात की पूरी व्यवस्था है कि विवाहोपरांत यदि दंपत्ति का जीवन कलहमय

१- प्रसाद : कामायनी, आमुख ; पृ० ७, ८ ।

अनिवार्य परिस्थितियों में नारकीय हो चुका हो तो ऐसे वैवाहिक संबंधों को विघटित किया जा सकता है और हिंदू महिला भी अपनी स्वेच्छया पुनर्लग्न कर सकती है। इसी प्रकार अपने सभी नाटकों में प्रसाद जी ने प्राचीनता की आधारशिला पर कुछ न कुछ ऐसे आदर्श खोज निकाले हैं जो आज की महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।" इनके चरित्र जू अतीत के गौरव और प्राचीन संस्कृति के प्रतीक होते हुए भी अनिष्टकारिणी कुरीतियों एवं सामाजिक परंपरा के प्रति विद्रोह करते हैं।"[१]

प्रश्न यह है कि प्रसाद जी के व्यक्तित्व में नारी के कोमल तंतुओं ने जिस मृदुलता के साथ स्पर्श किया था उनका आभास उनकी अध्ययनशीलता और उनकी रचनाओं में कहां तक मिलता है ? प्रसाद जी अपनी गहनतम अनुभूतियों से इस निष्कर्ष तक पहुंच चुके थे कि किसी भी समाज या राष्ट्र को उद्बोधन की ओर ले जाने वाली वहां की नारियां हुआ करती हैं। जहाँ पुरुष-समाज प्रगति की होड़ में तेज गति से घोड़े की भाँति दौड़ता हुआ दिखाई पड़ता है, वहाँ भी उसकी अंतश्चेतना में नारी के प्रेरणाबिंदु कार्य करते रहते हैं। भारतीय धर्मग्रंथों और इतिहास में भी नारी के महान् कृत्यों की कमी नहीं है, किंतु समय की धूल पड़ते - पड़ते नारी का वह महानतम आदर्श आज धुंधला हो गया है। यदि उसे उस गर्त से निकालकर यदि फिर से उसका प्रक्षालन किया जाय तो वह फिर अपनी पूरी आभा के साथ चमक उठेगा। अपने इसी दृष्टिकोण के वशीभूत होकर प्रसाद जी ने पौराणिक युग की, बौद्ध युग की और गुप्त युग की महान् व्यक्तित्व वाली नारियों के संबंध में गहनतम अध्ययन किया और उन सभी संभावनाओं पर मनन किया जिनमें उन नारियों को अपने पूरे वैभव के साथ चित्रित किया जा सके। उन्होंने नारी के इस वैभव को व्यक्त करने के लिए ऐतिहासिक

१- डा० माधुरी दुबे : हिंदी गद्य का वैभवकाल ; पृ० २०६ -

ठोस प्रमाणों को भी ढूंढा और अपने नाटकों और कहानियों में प्राचीन-काल के नारी समाज को व्यक्त किया, वह किसी भी युग का एक जीता-जागता नारी समाज है।

(क) पर्यटन -

प्रसाद साहित्य को अधिक समृद्ध एवं सौष्ठवपूर्ण बनाने का श्रेय प्रसाद द्वारा की गई विभिन्न भ्रमण यात्राओं को भी है। प्रसाद जी की माता बहुत ही धार्मिक प्रकृति की थीं। धर्मपरायण माता ने ६ वर्ष की अवस्था में ही बालक प्रसाद को विभिन्न तीर्थों का पर्यटन करा दिया था। संवत् १९५७ में अर्थात् ११ वर्ष की अवस्था में ही प्रसाद जी ने अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज और अयोध्या आदि स्थानों की यात्राएँ कर ली थी। अमरकन्टक पर्वतमाला के बीच, नर्मदा की नौका यात्रा उन्हें जीवन भर न भूली थी। वहाँ के दृश्यों का भी उनके जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था।[1]

विभिन्न स्थानों के पर्यटन के फलस्वरूप तथा प्रकृति के रमणीय अंचल में स्थित इन सुंदर तीर्थों के प्रभाव से प्रसाद की जिज्ञासा को भारतीय जीवन के ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, और सांस्कृतिक पक्ष को समझने के क्षेत्र में उद्बुद्ध किया। चित्रकूट की पर्वतीय शोभा, नैमिषारण्य का निर्जन वन तथा मथुरा की वनस्थली एवं संदर्भ आदि मनोरम दृश्यों का प्रभाव तथा "काशी में उषाकालीन गंगा-तट के दृश्यों तथा उनके गुलाबाग की पुष्पवाटिकाओं ने प्रकृति-सौंदर्य के जिस गूढ़-रहस्य को उन पर प्रकट किया उसी को उन्होंने 'जीवन के मधुमय वसंत', में कोकिल की काकली में, कलियों की पंखुड़ियों में, "नृत्य-शिथिल-निश्वासों" में तथा संगीत की स्वर-लहरियों में पाया।[2]

इस प्रकार प्रसाद जी का कवि-हृदय नित्य प्रति सौंदर्य की ओर आकृष्ट

१- विनोदशंकर व्यास : प्रसाद और उनका साहित्य ; पृ० १९-

२- डा० फतेहसिंह : कामायनी सौंदर्य ; पृ० २१६।

होता गया। पुरी के रमणीक दृश्यों ने भी प्रसाद के कवि-हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। कहते हैं - " पुरी से लौटने के बाद ही कामायनी का कथा-भाग आगे बढ़ने लगा। पुरी के समुद्र तट का प्रभाव कामायनी में सरलतापूर्वक खोजा जा सकता है।"[1]

(ज) आधुनिक सामाजिक परिवेश

प्रसाद युग संक्रांति का युग था। राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक इन सभी क्षेत्रों में नूतन विचारधारा प्रस्फुटित हो रही थी। रूढ़िग्रस्त समाज में जागृति लाने के लिये नारी को भी अवरुद्ध परिपाटी के बाहर निकालकर उन्मुक्त बौद्धिक आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया।

सामाजिक सुधार - संस्थाओं[2] ने नारी जागृति की भावना पर विशेष बल दिया था। बहु-विवाह, विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि का निषेध किया गया। पर्दा प्रथा पर प्रतिबंध लगाये गये। स्त्री-शिक्षा के लिए आर्य कन्या पाठशालाओं की स्थापना का प्रबंध किया गया। अनाथ बालिकाओं एवं महिलाओं को आश्रय देकर उनकी शिक्षा का भी प्रबंध प्रार्थना समाज ने किया।

प्रसाद ने भारतीय समाज की इस परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों का गंभीर अध्ययन किया था। उन्होंने नारी की दयनीय वस्तुस्थिति को बहुत निकट से देखा था। समसामयिक समाज में नारी पर होते हुये अत्याचारों से विकृत प्रेम-संबंधों से तथा नारी की घुटन से भी वे पूर्णतया परिचित थे। उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप वे समस्याएं हैं जिन्हें उन्होंने अपनी लेखनी में उठा ली।

प्रसाद जी ने अतीत का अध्ययन और अभिव्यक्ति केवल अतीत को चित्रित करने के उद्देश्य से नहीं किया। उनका मुख्य उद्देश्य ऐतिहासिक आदर्शों के आधार पर समाज का नवीन निर्माण करना था। जो कुछ उन्हें इतिहास के गह्वर में मिल

१- विनोदशंकर व्यास : प्रसाद और उनका साहित्य ; पृ० १६ -

२- ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज ।

सका है, उसे वे सींचकर आधुनिकता के परिवेश में ले आने में नहीं चूके। उन्होंने समाज के वर्तमान रूप को भी भली प्रकार देखा और परखा। उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति में पाश्चात्य समाज और संस्कृति के संक्रमण को भी भली प्रकार देखा। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि समाज की कुंठाये, रूढ़ियाँ और अंधी-मान्यताएँ, हमें कूपमंडूक बनाती जा रही हैं। यह कूपमंडूकता घातक है। हमें अपने सामाजिक दृष्टिकोण को व्यापक बनाना होगा। भारतीय संस्कृति आरंभ से ही उदारचेता रही है। पाश्चात्य समाज की प्रगतिशीलता भारत के लिए कोई नवीन बात नहीं है। उसके सभी तत्व भारतीय संस्कृति में भी विद्यमान हैं। सच तो यह है कि यदि हम पूर्णत: भारतीय आदर्शों को ही अपना लें तो पाश्चात्य संस्कृति के पास कोई ऐसी नवीन देन नहीं है जो हमें वहाँ से ग्रहण करना पड़े। इसी आधार पर प्रसाद ने अपने उपन्यासों में विशेष रूप से वर्तमान समाज और उसकी परिस्थितियों का चित्रण किया है। उन उपन्यासों में भी उनके मस्तिष्क में नारी जनित चेतना विद्यमान रही है। उपन्यासों में भी प्रसाद जी की यह धारणा पीछे नहीं हटी है कि समाज के निर्माण में नारी-जाति का विशेष हाथ है। नवीनता यदि है तो केवल यही कि प्रसाद जी ने भारतीय नारी आदर्शों को इतना महान् माना है कि पाश्चात्य नारी-पात्रों को भी उन्होंने भारतीयता के साँचे में पूर्णत: ढाल दिया है। भौतिक ऐश्वर्यों का भूठापन, और नारी के स्वच्छंद मानसिक एवं भौतिक विकास की सत्यता को प्रसाद जी इतने स्पष्ट रूप में चित्रित कर सके हैं कि उनके पाश्चात्य नारी-पात्र भी कहने लगते हैं - " ---तुम्हारे भारतीय हृदय में, जो कौटुम्बिक कोमलता में पला है, परस्पर सहानुभूति की --- सहायता की बड़ी आशाएं परंपरागत संस्कृति के कारण, बलवती रहती हैं। किंतु मेरा जीवन कैसा रहा है, उसे तुमसे अधिक कौन जान सकता है।"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी की अंतश्चेतना, उनकी

१- प्रसाद : तितली ; पृ० ८० ।

अध्ययनशीलता , उनकी प्रतिभा , उनकी विद्वता और उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे संस्कार समाविष्ट हो गये हैं , जो विभिन्न नारी व्यक्तित्व की रचना में प्रतिफलित होते हैं। इस प्रेरणा प्रसून को उन्होंने अपने प्राणों से भी प्रिय माना है और अपनी रचनाओं में उन्हें पूर्ण अभिव्यक्ति देने में किंचित नहीं झिझके।

—अध्याय २

प्रसाद-साहित्य की सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि

प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि

'संस्कृति की ' मौलिक उद्भावना -

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अन्य प्राणियों से ऊँचा इसलिए माना जाता है कि उसमें बुद्धि की एक महानतम् शक्ति है। जिस समय से सृष्टि का आरंभ हुआ है, उस समय से आज तक मनुष्य अपने अनुभवों के आधार पर निरंतर अपने आपको संशोधित और परिस्थितियों के अनुकूल बनाता रहा है। क्रमशः विकास की श्रृंखला उसे आज प्राचीन असभ्य मानव से सर्वथा भिन्न रूप में प्रकट करने में समर्थ हो सकी है। जो संस्कार एक युग में ग्राह्य थे, दूसरे युग में अग्राह्य हो गये और उनके स्थान पर नये संस्कारों ने स्थान ग्रहण कर लिया। संस्कारों के परिष्कार की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप, मानव में जो मूलभूत-वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं, उन्हीं से किसी भी समाज की संस्कृति का रूप गठित होता है।

" संस्कृत शब्द में सम् उपसर्ग आता है। जिसका अर्थ साम्य, समानता अथवा पूर्णता है। सम् का यह अर्थ भारतीय संस्कृति और संस्कृति की भारतीय धारणा के विशेष उपलक्षण हैं।"[१] संस्कृति मनुष्य के ही संस्कारों के परिष्कृत रूप को व्यक्त करती है। साधारणतया इसका शाब्दिक अर्थ परिष्कार, संशोधन, आचरणगत परंपरा या सभ्यता से माना जाता है, किंतु जब शास्त्रीय शब्दावली में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उसका तात्पर्य मनुष्य के उन परिष्कृत संस्कारों से होता है जिसे वह युग - युग के विकास के बाद प्राप्त कर सका है और जिस पर उसका वैचारिक एवं सामाजिक स्वरूप स्थिर होता है।

संस्कृति के वास्तविक स्वरूप के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग सभ्यता के वर्तमान रूप को ही संस्कृति का स्वरूप कहते हैं। कुछ लोग प्राचीनकाल से अब तक के दार्शनिक तत्वों के समन्वित रूप को संस्कृति कहते हैं। दिनकरजी के शब्दों में - " संस्कृति एक ऐसी चीज है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं,

---

१- डा० रामानन्द तिवारी : सत्यं शिवं सुन्दरम्, अध्याय ५, पृ० १२४-

किंतु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते । कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है ---- जो हममें व्याप्त है । मोटर , महल , सड़क , हवाईजहाज , पोशाक और अच्छा भोजन ये तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएं संस्कृति नहीं सभ्यता के सामान हैं । मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है , वह संस्कृति की चीज है । ---- हर सुसभ्य आदमी सुसंस्कृत ही होता है , ऐसा नहीं कहा जा सकता ---- ।"[१]

`टायलर` - ने सभ्यता और संस्कृति दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची माना है।[२]
`लिंटन` - संस्कृति को `सामाजिक विरासत` कहा है ।[३]
`लावी` - संस्कृति को `समस्त सामाजिक परंपरा` कहा है ।[४]
`हर्सकोविट्स`-संस्कृति को मनुष्य का समस्त `सीखा हुआ व्यवहार ` माना है ।[५]
`इलियट` -ने संस्कृति को व्यक्ति और समूह में विभाजित करते हुये लिखा है कि " व्यक्ति की संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति पर , तथा वर्ग की संस्कृति उस संपूर्ण समाज की संस्कृति पर , जिसका वह वर्ग अंग है , निर्भर करती है ।"[६]

सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के समानार्थी नहीं हैं । मानवीय संस्कारों का जो प्रकट रूप हमारे सामने है वह हमारी सभ्यता के मूल में जो सारतत्व के रूप में विद्यमान परिष्कृत है , और जो हमारी सभ्यता का प्राण है , वह हमारी वास्तविक संस्कृति है । दिनकर जी के शब्दों में -

" संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज होती है । यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है , जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध" ।[७]

" असल में , संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है , जिसमें हम जन्म लेते हैं ।"[८]

१- दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय ; ६५१-

२, ३, ४, ५ - डा० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन ; पृ० १४३
६ - वही ,, ,, ; पृ० १४७
७- दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय ; पृ० ६५२ -
८- वही ,, ,, ; पृ० ६५३ -

प्रत्येक समाज की अपनी एक संस्कृति होती है। किसी भी संस्कृति के कुछ मूलभूत आधार होते हैं, और उन्हीं आधारों पर उस समाज की सभ्यता विकसित होती है। युग के परिवर्तन के साथ ही संस्कृति में भी परिवर्तन होते हैं। यद्यपि मौलिक रूप में किसी संस्कृति की धारा अक्षुण्ण रूप में प्रवाहित होती रहती है, किंतु देश, काल और परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर एक ही संस्कृति में तात्कालिक परिवर्तन आते रहते हैं। ज्यों-ज्यों भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियों से संबंध बढ़ते जाते हैं, संस्कृतियों का पारस्परिक आदान-प्रदान भी बढ़ता जाता है। अतः संस्कृति का प्रारूप भी बदलता रहता है।

वस्तुतः किसी भी समाज के परंपरागत आचार, व्यवहार, नियम, रुचि, मान्यता, विश्वास तथा संस्कारों के स्थायी और शाश्वत रूप को वहां की संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है।

स्वयं प्रसादजी ने संस्कृति का अर्थ सामूहिक चेतना, मानसिक शील और शिष्टाचार एवं मनोभावों से मौलिक रूप में संबद्ध माना है। जयशंकर प्रसाद ने स्वयं संस्कृति को " ---- सौंदर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा के रूप में माना है।"[१]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि किसी भी समाज को विकसित होने के लिये उसके आचार व्यवहार, विचार, नैतिक आदर्शों आदि की एक सामूहिक परंपरा का होना नितांत आवश्यक है और उस परंपरा में एक निश्चित इतिहास की शृंखला का भी होना आवश्यक है। आचार व्यवहार की यह परंपरा जब स्थिर होकर एक निश्चित और दृढ़ रूप धारण कर लेती है तब उसको उस समाज की संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है।

डा० देवराज के अनुसार - " संस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरुपयोगी किंतु अर्थवती इकाइयों से, फिर वे इकाइयां चाहे प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित, सम्बन्धित करता है।[२]

१- प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध ; पृ० २८ ।
२- डा० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन ; पृ० १६६-

दिनकरजी ने सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना ही संस्कृति माना है उनके शब्दों में -" किसी व्यक्ति की संस्कृति वह मूल्य चेतना है जिसका निर्माण उसके संपूर्ण बोध के आलोक में होता है। सांस्कृतिक चेतना जितनी मूल्य चेतना है उतनी ही तथ्य चेतना भी है। वह चेतना यथार्थ तथा संभाव्य को अर्थवत् के रूप में ग्रहण करती है। मनुष्य लगातार जीवन की नई संभावनाओं का चित्र बनाता रहता है। यह संभाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं जिनके लिये वह जीवित रहता है। जिन आदर्शों एवं मूल्यों को लेकर मनुष्य जीवित रहता है उनकी गरिमा और सौंदर्य उस मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते हैं।"[1]

भारतीय संस्कृति का स्वरूप -

भारत परंपरा से एक महान् संस्कृति का देश है। प्राचीन काल से आज तक भारतीय समाज अपनी सांस्कृतिक चेतना के लिए विख्यात रहा है। समन्वय भारतीय संस्कृति का एक खास गुण है जिसमें उसकी धारा आज तक अक्षुण्ण रही है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डाडवेल ने लिखा है -" भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियां आ - आकर विलीन होती रही हैं।"[2] अनेक नदियों का यह समज्जन इस महासमुद्र के जल की प्रकृति को नहीं बदल सका है। अनेकता में एकता, मरणशीलता में अमरत्व, परिवर्तनशीलता में शाश्वतता, लौकिकता में अलौकिकता आदि भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्व हैं। भारतीय संस्कृति में सत्यं, शिवं, और सुन्दरम् को जीवनादर्श माना गया है और हमारी समग्र चेतना का केन्द्र तत्व यही है।

दिनकरजी ने संस्कृति के चार अध्याय में श्री सी० ई० एम० जोड़ का उद्धरण देते हुये लिखा है कि-"मानव जाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज

१- दिनकर: संस्कृति के चार अध्याय ; पृ० ६७५ -

२- दिनकर: संस्कृति के चार अध्याय ; पृ० ८ -

वरदान के रूप में दी है वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय स्थापित करने को तैयार रहे हैं। और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाब रही है।"[1]

" अभेद में भेद और भेद में अभेद यही भारतीय संस्कृति का स्वरूप है। ' एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति ' अर्थात् सत्य वस्तु एक ही है लेकिन उसे नाना प्रकार से संबोधित किया जाता है। सैकड़ों देवता एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। जिस प्रकार एक ही पानी को जल, नीर, वारि आदि नामों से हम पुकारते हैं, उसी प्रकार इस विश्व की आधारशक्ति को भी हम कई नामों से पुकारते हैं।[2]

भारतीय संस्कृति आध्यात्म प्रधान संस्कृति है। उसमें भौतिक समृद्धि के स्थान पर आत्मा के उत्थान की ओर विशेष बल दिया गया है। इसे हम आत्मोत्थान प्रधान संस्कृति भी कह सकते हैं। वेद भारतीय संस्कृति के आधार स्तंभ हैं। वेद शब्द का अर्थ ही ज्ञान है। ज्ञान भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। भारतीय संस्कृति में ज्ञान एक पवित्रतम शब्द है और इसे यदि प्राप्त कर लिया जाय तो फिर कुछ शेष पाना नहीं रह जाता। यह ज्ञान अपनी चरमकाष्ठा पर द्वैत या अद्वैत के विभ्रम को मिटा देती है। ज्ञान हमें एक ऐसे अद्वैत तक ले जाता है जहाँ हम और तुम, जीव या ब्रह्म का भेद मिट जाता है, और समस्त भेदों का समापन हो जाता है। अतः ज्ञान जहाँ भारतीय संस्कृति का मूल आधार है वहीं, सानेगुरुजी के शब्दों में अद्वैत भारतीय संस्कृति की आत्मा है। उनके अनुसार " जीवन में इस तत्व को उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करते जाना ही भारतीय संस्कृति का विकास करना है। जैसे - जैसे हमारी अन्तर्बाह्य कृति में से अद्वैत की सुगंधि आने लगेगी वैसे - वैसे यह कहा जायेगा कि हम भारतीय संस्कृति की आत्मा

१- दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय ; पृ० ८-

२- साने गुरुजी : भारतीय संस्कृति पृ० २३ -

समझने लगे हैं। तब तक उस संस्कृति का नाम लेना उस महान् ऋषि या महान् संत का मजाक उड़ाना नहीं तो और क्या है ? "[1]

भारतीय संस्कृति की समग्रता को तीन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। " सत्यं शिवं सुन्दरम् " जो सत्य है वही हमें ग्राह्य है। किंतु वह सत्य ऐसा सत्य नहीं है जो अकल्याण का बोधक हो, उसमें शिवत्व की भावना है और वह शिवत्व सत्य के सौजन्य में सुंदरम् की सृष्टि करता है। कहा गया है, " सनातनो नित्यनूतन " अर्थात् जो नित्य नूतन स्वरूप धारण कर सकता है वही शाश्वत है। अत: भारतीय संस्कृति में नवीन विचारों के लिए कोई निषेध नहीं है। साने गुरुजी के अनुसार - " संसार की कोई भी अनुभव की कसौटी पर कसी और ज्ञान की नींव पर खड़ी की गई संस्कृति को लीजिए भारतीय संस्कृति का उससे कोई विरोध नहीं।"[2]

डा० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है - " भारतीय संस्कृति की सतत् प्रवहणशील धारा की तुलना हम भगवती गंगा की धारा से करते हैं। जैसे गंगा की धारा मूल में किसी अज्ञात स्थान से निकलकर अनेकानेक दुरधिगम तथा दुर्गम ऊंचे नीचे पर्वतों और प्रदेशों में होती हुई, अनेक विभिन्न धाराओं के जलप्रवाहों को आत्मसात करती हुई, अंत में सुंदर रमणीक समतल प्रदेशों में प्रवेशकर नवीनतर गंभीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे की ओर ही बढ़ती है, ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृति की धारा प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारंभ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियों में से गुजरती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं को आत्मसात करती हुई, शनै: शनै: अपने विशालतर और गंभीरतर रूप में आगे बढ़ती हुई ही दिखाई देती है। विशिष्ट स्थानों के विशिष्ट माहात्म्य होने पर भी, जैसे गंगा की समस्त धारा में हमारी मान्यता है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उसकी पूरी धारा में, दूसरे शब्दों में भारत

१- साने गुरुजी : भारतीय संस्कृति ; पृ० २० ।
२- वही : ,, ; पृ० ८ ।

के समस्त इतिहास में हमारी ममत्व भावना होनी चाहिये। ऐसा किये बिना न तो 'भारतीय संस्कृति' शब्द की ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्व की भावना को ही हम जीवित रख सकेंगे।"[१]

भारतीय संस्कृति के कुछ विशिष्ट तत्व हैं जो सभी परिवर्तनों के बीच भी अटल रूप में विद्यमान रहे हैं, और आज भी वे तत्व भारतीय सभ्यता को पुन: जीवित करने में समर्थ हैं। अद्वैत बुद्धि, वर्णाश्रम व्यवस्था, कर्म, भक्ति, ज्ञान, संयम, कर्मफल त्याग, पुरुषार्थ, मानव प्रेम, मानवेतर सृष्टि, प्रेम, अहिंसा, वसुधैवकुटुम्बकम् आदि भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। धर्म और साहित्य भी संस्कृति को बल प्रदान करने वाले तत्व हैं। इन तत्वों के साथ ही भारतीय सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार वर्णाश्रम रहा है। वर्ण -विभाजन के आधार पर यहाँ विभिन्न कर्मों का विभाजन कर दिया गया है। जिससे अपनी - अपनी योग्यता के अनुसार लोग कर्मों को कर सकें। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण समाज की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करते हुए व्यक्ति को आत्मोत्थान का अवसर देते हैं। इसी प्रकार अवस्थाक्रम के अनुसार भी मानव जीवन को चार आश्रमों, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और सन्यास में विभक्त कर दिया गया है। यह विभाजन भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं। इन्हीं तत्वों के आधार पर भारतीय संस्कृति का अपना एक अविच्छिन्न रूप विद्यमान रहा है। और समन्वय की अपनी अभूतपूर्व क्षमता के कारण भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों को अपने आप में समाहार करती है। शक, हूण, मंगोल, अंग्रेज, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, आदि सभी संस्कृतियों ने भारतीय संस्कृति पर आघातकारी प्रभाव डाला। किंतु भारतीय संस्कृति अनेक उथल-पुथल के बीच भी समतल प्रवाह से बहती रही और आज भी उसका अक्षुण्ण रूप ज्यों का त्यों बना रहा है।

१- मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का इतिहास; पृ० ३ , ४० -

जयशंकर प्रसाद और भारतीय संस्कृति

सांस्कृतिक परिस्थितियां -

कोई भी कवि मनीषी या विचारक अवश्य ही अपने देश की सांस्कृतिक परंपराओं तथा अपने समसामयिक युग से प्रभावित हुआ करता है। जिस समय प्रसाद जी का जन्म हुआ भारतीय राजनैतिक आकाश अनेक उथल-पुथल से मेघाच्छन्न था। अंग्रेजों के आगमन के साथ ही भारतीय चिंतनधारा ने एक नया मोड़ लिया। अंग्रेजी शिक्षा के व्यापक प्रचार ने यह अवसर दिया कि भारतवासी अपनी कूपमंडूकता को छोड़ें और अन्य प्रगतिशील देशों की भाँति आगे बढ़ें। प्रगतिशीलता के मार्ग में अंधविश्वास, रूढ़ियां, परंपराएं और अनेक बाह्य आडंबर खड़े थे। उन्हें दूर करना आवश्यक था।

देश में एक नवीन राजनीतिक और राष्ट्रीय जागरण का आरंभ हो चुका था। सन् १८५७ के महान् विप्लव को प्रत्यक्षत: तो दबा दिया गया किंतु स्वतंत्रता की एक प्रबल धारा जो भारतीय जनमानस में आकर भर गयी, उसके प्रबल वेग को किसी भी प्रकार दबा सकना संभव न था। नदी की जो धारा प्रकट रूप में धरती के बाह्य वातावरण में दौड़ रही थी वह अंतर्मुखी हो गयी, और उसका प्रभाव बहुत ही तीव्र हुआ। स्वदेशाभिमान, आत्माभिमान, राष्ट्रीयता, मानवप्रेम, और स्वाधीनता की भावना भारतीय जनता के हृदयों को उद्वेलित करने लगी। राजाराममोहनराय द्वारा स्थापित 'ब्रह्म समाज' का भारतीय समाज पर बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ा था। आर्यसमाज छूत-अछूत, मूर्तिपूजा, शुद्धीकरण आदि के क्षेत्र में एक युगांतरकारी परिवर्तन लेकर आया। अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही गोपालकृष्ण गोखले और बालगंगाधर तिलक के नवीन आदर्श जनता के सामने आये। बालगंगाधर तिलक भारतीय आत्मा के एक ऐसे प्रतिनिधि के रूप में अवतरित हुए, जिन्होंने मानो भारत की मूक ध्वनि को नये हुंकार के साथ मुखरित किया और कहा - " स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, टैगोर, महामना पंडित मदनमोहन मालवीय और

महात्मा गांधी भारतीय समाज, संस्कृति और चेतना के उद्बोधन के प्रतीक बनकर आये। महात्मा गांधी ने परंपरागत चारित्रिक परिष्कार के लिए पाँच स्तंभों को चुना - सत्याग्रह, अहिंसा, प्रेम, स्वदेशी, असहयोग। यही स्वतंत्रता संग्राम के शस्त्र के रूप में माने गये। भारत की कोटि-कोटि जनता इन्हीं शस्त्रों से क्रांति की आग में कूद पड़ी।

इसी युग - ध्वनि को प्रसाद जी ने अपनी मर्मभरी रचनाओं में ध्वनित किया। जिस समय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, "भारत-भारती" के उद्घोष भरे पदों की संरचना द्वारा देशभक्ति का आवाहन करने में लगे हुये थे, उसी समय भारतीय संस्कृति का एक भावुक जिज्ञासु भारत की सांस्कृतिक गरिमा के पृष्ठ पलट रहा था, और बीते हुये अतीत में एक ऐसे भारत को देख रहा था, जहाँ ज्ञान, बल, बुद्धि, संपत्ति, विवेक, उदारता, महानता, उदात्त चरित्र आदि का आगार भरा था। इसीलिये उस मनीषी ने भारत के इतिहास के एक ऐसे गौरवमय युग को चुना जिसे इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है।

" अतीत के प्रकाश में वर्तमान के रहस्यों का उद्घाटन करने के साथ-साथ भविष्य की श्रेष्ठ संभावना का संकेत भी काव्य में निहित रहता है, इसीलिए शंकराचार्य ने उपनिषदों के कवि को क्रान्तदर्शी और सर्वेदक कहा है।"[१] प्रसाद के ऐतिहासिक चिन्तन का मूल्यांकन यदि इस दृष्टि से करें तो उसका सही महत्व सामने आ जाता है।

डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि -" प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिये उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (बुद्धकाल, गुप्त, मौर्य, हर्ष) जिसमें उनकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी।"[२] इस युग में भारत अपनी संस्कृति के उत्कर्ष पर था। " संस्कृति के जीवन्त रूप की ऐसी समृद्ध परंपरा भारत में

१- डा० रामानन्द तिवारी :"सत्यं शिवं सुन्दरम्" ; अध्याय १७, पृ० ३ -

२- डा० गणेशदत्त गौड़ : स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ; पृ० ६-

मिली है, वैसी अन्यत्र नहीं।[१] प्रसादजी की कल्पना थी कि यदि हम अपने पूर्वजों की महानतम् सिद्धियों को सत्य और कल्पना के संयोग द्वारा पुनर्जीवित कर सकें तो यह हमारे लिए बहुत बड़े गौरव की बात होगी।

प्रसाद जी पर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा।

प्रसाद जी आरंभ से ही समन्वयवादी थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति के उन विशिष्ट तत्वों को प्रकाशित किया, जो अंगारे की राख के नीचे दब से गये थे। वह विशिष्ट तत्व हैं - चारित्रिक उदात्तता, मानवता, अहिंसा, सेवा, त्याग, समत्व बुद्धि, करुणा, आदि। विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि भारतीय संस्कृति के इन तत्वों के उद्घाटन (प्रकाशन) का माध्यम उन्होंने अपने स्त्री पात्रों को बनाया, अर्थात् नारी में ही संस्कृति के श्रेष्ठतम् स्वरूप की अभिव्यक्ति पाई।

हमारे पूर्वजों ने जिस ज्ञान को प्राप्त कर लिया था, वह ज्ञान की एक पराकाष्ठा थी। जीवन की समग्र अनुभूतियों से प्राप्त ज्ञान इच्छा और कर्म का सहारा लेकर समरस बन जाता है। यही समरसता मानव जीवन में आनंद का कारण होती है। इसे प्राप्त करने के लिए भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता का सहारा लेती है और निवृत्तिमार्ग की प्रेरणा देती है। पाश्चात्य संस्कृति का मूलाधार ठीक इसके विपरीत है। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकता पर खड़ी है, और जीवन के समग्र लौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए प्रवृत्तिमार्ग के अनुसरण का पोषण करती है।

प्रसाद जी इस बात के समर्थक थे कि संस्कृति स्वयं कोई अच्छी या बुरी चीज नहीं हुआ करती। हर संस्कृति का आदर्श मानव जीवन की पूर्णता की प्राप्ति हुआ करता है। निवृत्ति या प्रवृत्तिमार्ग उस पूर्णता की प्राप्ति के लिए

१- डा० रामानन्द तिवारी : सत्यं शिवं सुन्दरम् ; पृ० १२५-

भिन्न-भिन्न रास्ते हैं। अंत में दोनों का लक्ष्य एक ही गंतव्य तक पहुंचना है।

मनुष्य स्वभाव से ही सौंदर्यशील है। जन्म के उपरांत ही वह अपने आपको एक सर्वथा नवीन वातावरण में पाता है, किंतु उसके हृदय में बसी हुई अनंत सौंदर्य पिपासा उसे संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ के प्रति अनुराग करने को प्रेरित करती है। प्रकृति सौंदर्यबोध के लिए और भी प्रबल माध्यम लेकर आती है। प्रकृति में स्वयं एक जीवन है, और है मानव जीवन से पूर्ण तादात्म्य। मनुष्य की यह चिर सहचरी प्रकृति उसके पग - पग पर उस जैसा ही अभिनय प्रस्तुत करती है। प्रसादजी के अनुसार - " मानव जीवन में कभी पतझड़ है, तो कभी वसंत। वह स्वयं कभी पत्तियाँ झाड़कर एकांत का सुख लेता है, कोलाहल से भागता है और कभी - कभी फल फूलों से लदकर नीचा ससोटा जाता है।"[१]

प्रकृति जिस प्रकार अपने झंझावातों में पड़कर भी निरंतर गतिशील रहती है, उसी प्रकार से मनुष्य का जीवन भी निरंतर प्रगतिशील होना चाहिए। जीवन में विश्राम के लिए कहीं कोई स्थल नहीं। घोर झंझावातों में भी अदम्य उत्साह और होठों में हास्य लिये मनुष्य आगे को बढ़ता रहे। अवश्य ही उसका आत्मविश्वास उसके लिए सफलता के पर्दे खोलेगा। प्रसाद जी के ही शब्दों में - " जैसे उजली धूप सबको हंसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पंखुड़ियों को गद्गद् कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरंतर परिस्थिति होनी चाहिए।[२]

प्रसादजी मनुष्य के आत्मबल में अगाध श्रद्धा रखते थे। उनका कहना था कि कोई चिंता नहीं, यदि हमें गंतव्य की प्राप्ति नहीं होती। हमारा सबसे बड़ा पुरुषार्थ निरंतर चलते रहना है। थककर यदि हम कहीं विश्राम-भवन में बैठ

१- प्रसाद : कामना ; । अंक २, दृश्य ७ ; पृ० ५६ -

२- प्रसाद : एक घूंट ; पृ० १६, १७ -

गये , तो जीवन की हार हो जायेगी । हमें उस क्षण तक चलते रहना है जहाँ पहुँचकर फिर उसके आगे चलने के लिये कोई राह ही शेष न रह जाय । उन्होंने स्वयं कहा है -

इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
  श्रांत-भवन में टिक रहना ।
किंतु पहुंचना उस सीमा पर,
  जिसके आगे राह नहीं ।।[1]

इस प्रकार वह सांस्कृतिक उन्नयन के मार्ग में पूर्णता की उपलब्धि के पोषक थे ।

प्रसादजी के व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति का जो संवरण था , वह तो अपने मौलिक रूप में है ही , किंतु उनका दृष्टिकोण संकुचित रूप में केवल रूढ़ियों तक ही सीमित न रहा , उन्होंने आधुनिक संस्कृति के भी कल्याणप्रद तत्वों को अपनाया । इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन के प्रति रूढ़िवादी दृष्टिकोण का उन्होंने परित्याग किया , और परिवर्तन को जीवन की एक आवश्यक गतिशीलता के रूप में स्वीकार किया । उन्होंने स्कंदगुप्त में लिखा है - " इस गतिशील जगत में परिवर्तन पर आश्चर्य ! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन - प्रलय-हुआ । परिवर्तन ही सृष्टि है , जीवन है । स्थिर होना मृत्यु है , निश्चेष्ट शांतिमरण है । प्रकृति क्रियाशील है । समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है ।"[2]

अपने साहित्य की चर्चा करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है -" भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़कर अपनी भावुकता , चिंता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण संचार किया ।"[3]

१- प्रसाद : प्रेमपथिक ; पृ० २२ -

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त, प्रथम अंक ; पृ० २४ -

३- जयशंकर प्रसाद : चिंतन और कला; पृ० १६७-

जयशंकर प्रसाद का व्यक्तित्व जितना ही बहुमुखी था , सांस्कृतिक चिंतन भी उनका उतना ही सशक्त और विस्तृत था । उन्होंने भारतीय संस्कृति के तत्वों और पाश्चात्य संस्कृति के कल्याण-प्रद तत्वों का एक काव्य समन्वय अपने काव्य और साहित्य में किया है , और इस समन्वित संस्कृति को उन्होंने सत्यम् , शिवम् और सुन्दरम् की कसौटी पर कसा है । उनके काव्य और साहित्य में जिस मानव धर्म की स्थापना हुई है वह इसी व्यापक चिंतन और समन्वय का परिणाम है । यहां संक्षेप में हम उन दर्शनों का वर्णन करेंगे जिनका सारतत्व प्रसादजी ने अपने इस समन्वयवादी दृष्टिकोण में ग्रहण किया है ।

प्रसाद जी की सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि और उनका साहित्य -

जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी नगरी में हुआ था । प्राचीनकाल से ही काशी भारतीय संस्कृति की केंद्रस्थली रही है । ऋषि-महर्षियों , ज्ञानी-विज्ञानियों , योगी , साधुओं की तपोभूमि , इस नगरी ने अनेक सांस्कृतिक उथल-पुथल के इतिहास देखे हैं , किंतु भागीरथी का पुण्य सलिल जिस प्रकार अनंत थपेड़ों को अपनी लहरों में संभाले काशी नगरी को चिरंतन काल से अपने अंक में लिपटाये हुये है उस प्रकार काशी अपने उस पुराने वैभव और सांस्कृतिक उत्कर्ष को अपने व्यक्तित्व में समेटे हुये है ।

गंगा की ही निर्मल लहरियों ने काशी का प्रक्षालन किया है और काशी की रग-रग में अपने डमरू के नाद को गुंजा देने वाले शिव ने विश्वनाथ का रूप धारण कर उसकी रक्षा का भार संभाला है । काशी मृत्युलोक की सांस्कृतिक चेतना स्थली तो है ही साथ ही , मृत्यु के उपरांत परम मोक्ष की अधिष्ठात्री नगरी भी है । प्रसाद जी की चेतना काशी के शैव-चिंतन में इसीलिए विशेष रूप से रमी हुई दिखाई पड़ती है ।

हिंदू संस्कृति में भगवान् शिव का अपना विशिष्ट महत्व है । वे ब्रह्म की तीन शक्तियों में से एक के प्रतिनिधि माने गये हैं । सृष्टि का लय करना और उसमें शिवत्व का संचार करना उनका प्रमुख कार्य है । जयशंकर प्रसाद सृष्टि के विनाश और शिवत्व के देवता भगवान् शंकर के प्रभावों से बहुत ही अभिभूत हुये ।

यहाँ तक कि इस शिवत्व की ओर अपने आपको इतना अधिक समर्पित कर दिया कि उन्होंने किसी प्रसंग में स्वयं कहा - " जीवन भर विश्वनाथ की छाया में रहा, अब कहाँ जाऊँ ?"[1] यद्यपि प्रसादजी ने शिव काव्य की रचना नहीं की तथापि उनकी प्राय: सभी रचनाओं में शिव के शिवत्व की महत्ता का आभास मिलता है।

भारतीय आत्मा को भगवान् शिव ने केवल जयशंकर के व्यक्तित्व में ही भाव विभोर किया हो, ऐसी बात नहीं है। संस्कृत साहित्य में शिव के देवत्व का अपना एक निश्चित स्थान है। कालिदास ने शिव और पार्वती को ही देवताओं में मुख्य माना है। यहाँ तक कि कुमारसंभव उनका एक ऐसा काव्य है जिसमें आदि से अंत तक शिव और पार्वती की ही लीलाओं का चित्रण है। गो० तुलसीदास जी ने शिवजी के इस अखंड रूप को स्वीकार करते हुए राम और शिव के समान होने की कल्पना की है। जयशंकर प्रसाद उस श्रृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी है। उन्होंने हिंदी काव्य में केवल भगवान् शिव के देवत्व रूप की ही उपासना नहीं की अपितु उस उपासना को समरसता की स्थिति तक लाकर पूर्ण आनंदमय बना सके। वास्तव में जयशंकर प्रसाद ने अपने काव्य में भारतीय संस्कृति के मूल सूत्रों - " सत्यम् शिवं सुन्दरम् " को अपने काव्य में साकार किया।

शैव दर्शन : आनन्दवाद और प्रसादजी

शैव दर्शन के प्रमुख तत्व -

प्रसादजी शैशव से ही शैव उपासना के वातावरण में पले थे। भगवान् शिव उनके परिवार के आराध्यदेव थे। प्रसादजी भी पूर्णरूपेण शिव भक्ति में आजन्म लीन रहे।[2] स्वयं भगवान् शिव की उपासना में घंटों शिवालय में बैठे रहा करते थे। अपने जीवन के अंतिम क्षणों में भी वे शिव की पूजा का प्रसाद पाने के लिए पुजारी की आतुरता के साथ प्रतीक्षा किया करते थे।

१- डा०प्रेम शंकर : प्रसाद का काव्य ; पृ० ४५-
२- डा० बहुगुणा : प्रसाद की दार्शनिक चेतना पृ० १७८ -

प्रसादजी में शैवदर्शन के सुंदर, मधुर और सामरस्य तत्वों की प्रधानता है। उस दर्शन के अनुसार यही तत्व जीवन में आनंद की सृष्टि करते हैं। यह संसार निरंतर शिवत्व की ओर आगे बढ़ता रहा है। उसके मार्ग में अनेक व्यवधान आकर खड़े होते हैं। इन व्यवधानों को दूर करने के लिए शिव का चेतन रूप अपना रूप बदलकर प्रलय का तांडव नर्तन करता है। तांडव नर्तन प्रत्यक्षत: तो विनाश का प्रतीक है, किंतु मूलत: उसका लक्ष्य एक ऐसी सृष्टि का सूत्रपात करना होता है, जो प्राचीन कल्मषों को मिटाकर सर्वथा नवीन और सजग तथा सचेतन सृष्टि कर सके। संहार में सृजन का नर्तन शिव की लीलाओं का प्रमुख अंग है। जीव का चैतन्य स्वरूप परम शिव का स्वरूप है। प्रकृति उस शिवत्व के प्रकाशन का माध्यम है। इसी प्रकाशन तत्व से शिव की शक्तियों का विस्तार होता है। शिव अपनी क्रमश: पांच शक्तियों के द्वारा समस्त विश्व में सृजन और शिवत्व का संचार करते हैं। वे शक्तियां चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में हैं। ऐहिक जगत में ये सभी तत्व भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं किंतु अंतिम लक्ष्य तक पहुंचकर परम शिव में एकाकार हो जाते हैं। शैव दर्शन के अनुसार इसे "चिन्मय" हो जाने की संज्ञा दी जाती है।[1]

प्रसादजी के साहित्य में शैव-तत्व -

प्रसाद जी ने अपने साहित्य में इसी चिन्मय आनंद और समरसतापूर्ण स्थिति की स्थापना की है। कामायनी इस तत्व की प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

कामायनी का कथाकार ऐतिहासिक जगत की कोई ऐसी कहानी लेकर नहीं चला है जिसके पात्रों और उनसे संबंधित घटनाओं का कोई निश्चित और सीमाबद्ध प्रतिबंध हो। कथानक का आरंभ वहां से होता है, जहां मनुष्य की

१- रमेशकुंतल मेघ : कामायनी : तीन नवीन दृष्टिकोण "नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६५," अंक २ -

संस्कृति का कोई पूर्व अपेक्षा नहीं था। देवों की सृष्टि, जिसमें अबाध विलास का नर्तन हुआ करता था, प्रलय के थपेड़ों में विलीन हो गई। मनु को नये सिरे से मानव जगत की रचना करनी पड़ी। वे मानव सृष्टि रूपी अभिनय के प्रथम सूत्रधार के रूप में सामने आते हैं। प्रसाद जी मनु की नवीन सृष्टि, अर्थात् मानव के जीवन के माध्यम से कामायनी में पूर्ण आनंद और सामरस्य स्थापित कर सके हैं। कामायनी के अंतिम सर्गों में शृंगीनाद की ध्वनि पर मनु का आनंद लोक में पहुंचना और पूर्ण सामरस्य की स्थिति में पहुंचकर मानव को चिन्मय बना देना प्रसाद जी की शैव दर्शन के प्रति अगाध आस्था का ही परिचायक है।

कवि जहां समरसता का अनुभव करने लगता है वहां जड़ और चेतन की अनुभूतियों में कोई अंतर नहीं रह जाता। सारी सृष्टि चैतन्य होकर एक अखंड आनंद का अनुभव करने लगती है यथा -

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।[१]

आनंदवाद की प्रस्थापना -

आनंद का यह घना आच्छादन प्रसाद जी ने शैवादित से ग्रहण किया है। शैव मत शिव के शक्ति रूप में संसार की सृष्टि कि कल्पना करता है। यह समूची सृष्टि परमशिव की इच्छा का ही परिणाम है। इस सृष्टि के मूल में 'चिति' अर्थात् चित की मन:स्थिति की शक्ति है और समूची सृष्टि लीलामय आनंद है। इस आनंद की प्राप्ति तभी होगी जब कि परमशिव की प्राप्ति हो जायेगी। इसके लिए बुद्धि का विवेक उतना सहायक नहीं होगा जितना कि हृदय की रागात्मक वृत्तियों का योग। इन्हीं रागात्मक वृत्तियों के योग को कामायनी

१- प्रसाद : कामायनी, 'आनंद सर्ग'; पृ० २६४ -

में श्रद्धा का नाम दिया गया है। मनु श्रद्धा के भावनामय संसार को छोड़ आये थे और आये थे बुद्धि और विवेक के संसार में ऐहिक सुखों का साम्राज्य विस्तीर्ण करने। जहाँ तक ऐहिक सुखों का संबंध है एषणाओं की पूर्ण तृप्ति कभी संभव नहीं है। एक आवश्यकता पूरी होकर तुरंत दूसरी आवश्यकता को जन्म देती है। जीवन की गुत्थियाँ एक-एक कर उलझती जाती हैं और जब तक बुद्धि का सहारा लेकर मनुष्य जीवन संग्राम में उलझा रहता है तब तक उसे वास्तविक आनंद की प्राप्ति नहीं हो पाती। मनु एक साम्राज्य के अधिष्ठाता बनकर फिर अपने को तौलते हैं और देखते हैं कि उन्होंने जो कुछ प्राप्त कर लिया उससे कहीं अधिक अभी पाना शेष रह गया है। इड़ा पर अभी उनका स्वत्व नहीं हो पाया था। अधिकार की यह लिप्सा उन पर बलवती होकर टूट पड़ती है और परिणाम एक घोर विप्लव के रूप में सामने आता है। रक्षक जब भक्षक बन जाता है तो जनता की प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही है। मनु जनता के आक्रोश के समक्ष टिक नहीं पाते और भाग खड़े होते हैं। जीवन से विचलित मनु को श्रद्धा पुनः मिल जाती है। इधर इड़ा को भी पश्चात्ताप की ठोकर लगती है और मनु (अर्थात् मन) इड़ा (अर्थात् बुद्धि) और श्रद्धा (अर्थात् हृदय) तीनों समरस होकर ऐसे आनंद की ओर बढ़ते हैं जहाँ अखंड आत्मानुभूति है और जहाँ द्वैतता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। मानव की सृष्टि के लिये इससे बढ़कर सामरस्य और क्या होगा।

सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! "यह मैं हूं"
यह विश्व नीड़ बन जाता।।[१]

कामायनी के अंतिम सर्गों में ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि वेदांत प्रतिपादित अद्वैत की कल्पना कर रहा है। किंतु हिमालय की उत्तुंग चोटियों से शृंगीनाद इस बात की चेतावनी दे देता है कि कवि जिस आनंद की सृष्टि कर रहा है वह शैवाद्वैत की ही परंपरा में रखा जा सकेगा; वेदान्त की परंपरा में नहीं।

१- प्रसाद : कामायनी, 'आनंद सर्ग'; पृ० ३०१ -

अद्वैतवाद की प्रस्थापना -

जहाँ तक वेदांत और ब्रह्म-वादियों का संबंध है, ब्रह्म कभी 'एकोऽहम् द्वितीयोनास्ति' के रूप में प्रकट होता है और कभी कभी 'एकोऽहम् बहुस्याम' के रूप में प्रकट होता है। ब्रह्मवादी सृष्टि को ब्रह्म की इच्छा का स्वरूप मानते हैं। शैवागम् में भी परम् शिव की 'सिसृक्षा'[1] को सृष्टि का मूल कारण माना गया है, किंतु जहाँ वेदांत इस सृष्टि को असत्य, माया और विकृत के रूप में मानते हैं वहाँ शैवागम् सृष्टि को सत्य और नित्य के रूप में स्वीकार करते हैं। इस नित्य और शाश्वत सृष्टि में शिव तत्व क्रमश: शिव और शक्ति का ही परिणाम है। इसी शक्ति का दूसरा नाम 'चिति' या 'महाचिति' के रूप में है। चैतन्य गुण का समाहार इसी महाचिति में होता है।

मंगलमय सृष्टि की उत्प्रेरणा -

कामायनी में श्रद्धा इस सृष्टि को सत्य और नित्य मानती हुई मनु को आगे की सृष्टि के लिये उकसाती है। मनु के मन पर पड़े हुये अवसाद को झकझोरती हुई वह कहती है -

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल।
ईश का रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल।।[2]

इसके मूल में वह उस लीलामय सृष्टि की ओर संकेत करती है जो शैवागम् में दार्शनिक सिद्धांत के रूप में मान्य है और जो आनंद का मूल है।[3]

१- शंभूनाथ पांडेय : प्रसाद की साहित्य साधना ; पृ० 22

२- प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा सर्ग', पृ० ६३ -

३- निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
शंकराचार्य : सौंदर्यलहरी ; पृ० ५५ -

. कर रही लीलामय आनंद,

महाचिति सजग हुई सी व्यक्त ।

विश्व का उन्मीलन अभिराम,[१]

इसी में सब होते अनुरक्त ।

शैव परंपरा के अनुसार प्रसाद जी ने कामायनी में आत्मा के लिए चिति, महाचिति, चेतनता का नाम दिया है । यह महाचिति सचेतन होकर इच्छा उत्पन्न करती है । यह इच्छा परमशिव की सिसृक्षा का दूसरा रूप है । कामायनी की श्रद्धा उसी इच्छा की ओर संकेत करती हुई विश्व को लीलाधाम कहती है -

काम मंगल से मंडित, श्रेय

सर्ग, इच्छा का है परिणाम ;

तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,[२]

बनाते हो असफल भवधाम ।

अंत में उस आनंद की प्राप्ति के बाद मनु ऐसे लोक में पहुंच जाते हैं जहां चिति का विराट रूप सामने आता है और जीवन चिरसत्य, चिरसुंदर, मंगलमय शरीर धारण कर लेता है -

चिति का विराट वपु मंगल ।

यह सत्य सतत चिर सुंदर ।।[३]

शिव और शक्ति का समन्वय -

शिव के इसी मंगलमय और चिरसुंदर आत्मतत्व में आनंद की पराकाष्ठा है । शैवदर्शन के अनुकूल ही प्रसाद जी ने कामायनी में शिव व शक्ति की कल्पना आनंदसागर और उसकी तरंगावली के रूप में की है -

---

१- प्रसाद : कामायनी, `श्रद्धा सर्ग` ; पृ० ६३-

२- वही ,, ,, ; पृ० ६३ -

३- प्रसाद : कामायनी ; पृ० ५३-

" आनंदसागर: शम्भु तच्छक्तिरेव उच्यते "

(बोधसार)

जिस प्रकार से बोधसार में आनंद सागर की कल्पना है उसी प्रकार प्रसादजी भी जीवन को एक महान् चेतनसागर के रूप में मानते हैं। सागर की भिन्न-भिन्न लहरें मनुष्य के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व की द्योतिका हैं। कामायनी के अंतिम सर्गों तक पहुंचते-पहुंचते कवि जीवन की अखंडता, अविच्छिन्नता और समरसता का आधार ले लेता है। समरसता की इस स्थिति में कोई भेद-भाव नहीं रह जाता। सम्पूर्ण सृष्टि आत्मतत्व के विस्तार के रूप में सामने दिखाई पड़ती है, अणु-अणु और कण-कण अपने ही तत्व के रूप में दिखाई पड़ने लगते हैं। द्वैतता के लिये कोई संभावना नहीं रह जाती -

सबकी सेवा न पराई
वह अपनी सुख-संसृति है;
अपना ही अणु-अणु कण-कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।[1]

निष्कर्ष -

प्रसाद जी का शिव शक्ति की ओर अगाध आकर्षण बहुत ही पहले आस्था के धरातल में बीज वपन कर चुका था। उनके बचपन की एक कविता में उनके शिव अनुराग की झांकी मिलती है। उस कविता में अर्जुन परमशिव की स्तुति करते हुए कहता है -

" हे शिव धन्य तुम्हारी माया
जेहि बस भूलि भ्रमत है सबही
सुर और असुर निकाया।[2]

१- प्रसाद : कामायनी, 'आनंद सर्ग' ; पृ० ३०१।
२- प्रसाद : चित्राधार, 'बभ्रुवाहन' ; पृ० २६ -

यह आरंभिक शिव भक्ति चिंतन और अनुभूतियों का सहारा लेकर आगे के शैव दर्शन और आनंदवाद की अभिव्यंजना में परिणत हो जाती है। यह सच है कि शैव दर्शन की जितनी स्पष्ट व्यंजना कामायनी में हो सकी है अन्य स्थलों पर उतना नहीं हो पाई है। किंतु उर्वशी, चंपू से लेकर कामायनी तक के उनके संपूर्ण साहित्य में स्थान स्थान पर शिव भक्ति के प्रमाण मिलते हैं और शैव दर्शन के प्रभाव स्वरूप वे अद्वैतमूलक आनंदवाद का प्रतिपादन करते हैं।

शैव दर्शन में परम शिव को महानतम तत्व स्वीकार करते हुये अन्य सभी तत्वों को उसमें विलीन होने की कल्पना है। शैव दर्शन ब्रह्मवादियों की भाँति शिव को उस समय तक निश्चेष्ट मानता है जब तक कि शिवतत्व को जगाने वाली शक्ति का संचार नहीं होता। मनु का चिंतातुर और अवसादग्रसित रूप आरंभ में उसी शक्तिविहीन शिव की कल्पना है। मनु के शिवत्व को जगाने वाली श्रद्धा है। मनु ने अतीत की स्मृतियों में डूबे हुए अपने आपको और समुद्र की लहरों में विलीन हो चुके देवों की सृष्टि को असत्य मान लिया था। वे सोचते थे -

देव न थे, और न हम हैं,
सब परिवर्तन के पुतले,
हाँ, कि गर्व रथ में तुरंग-सा
जितना जो चाहे जुत ले।[1]

श्रद्धा शक्ति रूप बनकर पहले तो मनु के इस अवसाद की भर्त्सना करती है और कहती है कि बीते हुये दिनों के स्वप्नों की परिकल्पना आज के जीवन पथ के लिए अनुकूल न हो पायेगी। प्रकृति का शृंगार करने के लिए नित्य नूतन फूल उत्पन्न होते हैं। धरती मुरझाये हुये फूलों पर आँसू बहाती बैठी नहीं रह जाती. -

प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल
मिलेंगे वे जाकर अतिशीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल[2]।

१- प्रसाद : कामायनी ; 'आशा सर्ग ':, पृ० ३५-
२- प्रसाद : कामायनी ; पृ० ५५-

श्रद्धा की यह प्रतारणा मनु को जीवन के उस समतल मार्ग पर ले आती है, जहाँ मनु के लिए आत्मविस्तार करने, सृष्टि का संचार करने और मानवता को विजयिनी बनाने का यथेष्ट क्षेत्र खुला पड़ा है। मनु जीवन पथ पर अग्रसर तो हो जाते हैं, किंतु शक्ति पाकर वे उसका उपयोग केवल आत्मविस्तार में नहीं करते, वाह्य सुखों के संचय में लग जाते हैं। परिणाम एक घोर विप्लव के रूप में होता है और उस विप्लव का समाहार अंत में जाकर उस समूचे आनंद की परिणति में होता है, जब मनु, श्रद्धा, इड़ा तीनों का सुंदर सामंजस्य हो जाता है।

यदि हम प्रसादजी की केवल कामायनी को दृष्टांत मानें तो एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि कामायनी के अंतिम सर्गों में प्रसादजी ने शैव सिद्धांत के विशिष्ट तत्त्वों को ही लाक्षणिक रूप में रख डाला है "संस्कृति का सही रूप भाव और रूप का साम्य है जो भारतीय संस्कृति की जीवन्त परंपरा में मिलता है। तंत्रों में शक्ति और शिव का साम्य संस्कृति की इसी रहस्यमय मर्म का सूत्र है। शक्ति कला है। वह सौंदर्य के रूपों की विधात्री है। शिव भाव है। दोनों साम्य में अभिन्न हैं, और एक दूसरे का संभावन करते हैं। सम् उपसर्ग इसी साम्य का द्योतक है।"[१]

१- डा० रामानन्द तिवारी : 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ; अध्याय ५, पृ० १२५,१२६

बौद्ध दर्शन : दु:खवाद और प्रसाद

जयशंकर प्रसाद के साहित्य में जहाँ एक ओर शैवदर्शन का आनंदवाद प्रस्थापित हुआ है, वहाँ बौद्धदर्शन की अजस्त्र करुणा भी प्लावित हुई है।

बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक आधार -

बौद्ध धर्म मौर्यकाल में संपूर्ण भारत का राज धर्म था। कनिष्क और हर्षवर्धन के समय तक यह धर्म फूलता-फलता रहा। अशोक के प्रयत्नों से यह धर्म भारत के सीमावर्ती अनेक बाहरी देशों में भी प्रचारित हुआ। भारत में इस धर्म का जिस गति से प्रसार हुआ उसका कुछ कारणोंवश गुप्त युग तक आते - आते उतनी ही तीव्र गति से अवसान भी हो गया। ब्राह्मण धर्म, जोकि भगवान् बुद्ध के व्यापक प्रभाव के आ जाने के कारण लगभग तीन शताब्दियों तक पीछे चला गया था, इस युग में पुन: उत्थान की ओर अग्रसर हुआ। यद्यपि बौद्ध भिक्षु, विहारों और मठों को छोड़कर दक्षिण की ओर गुफाओं में केन्द्रित होने लगे, किंतु भगवान् बुद्ध द्वारा समर्थित मानववादी सिद्धांतों को ब्राह्मण धर्म में भी अपना लिया गया और कालांतर में हिंदू संस्कृति का जो स्वरूप विकसित हुआ उसमें महात्मा बुद्ध भगवान् के एक अवतारों में से मान लिये गये। उनके सिद्धांतों का भी हिंदू धर्म में समावेश कर लिया गया। अत: शैवदर्शन की भाँति ही बौद्ध दर्शन भी समूची भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गया।

बौद्ध दर्शन के प्रमुख तत्व

(क) दु:खवाद

संसार दुखमय है - यह बुद्ध का मूलमंत्र था। मनुष्य दु:ख का बोझ लिये इस जीवनरूपी भार को ढो रहा है। मानव-जीवन में कहीं वृद्धावस्था है, कहीं रोग है, और कहीं मृत्यु है। मनुष्य के जीवन का यह एक महानतम् अभिशाप है कि वह जन्म लेकर बुढ़ापे और मृत्यु के मायाजाल में पड़ा हुआ है। इससे

मुक्त होने के लिये वह एक साधन अपनाता है और उसे तपस्या की संज्ञा देता है। उसका दावा है कि तपस्या उसे क्रमश: मोक्ष की ओर ले जायेगी, किंतु महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन में तपस्या करके यह निष्कर्ष पाया कि यह दावा मिथ्या है। उनका कहना था कि तपस्या द्वारा शरीर को नाना प्रकार की यातना देने मात्र से किसी सत्य को नहीं प्राप्त किया जा सकता। मनुष्य एक प्रवंचना में पड़ा हुआ है। वह दु:ख और मृत्यु के आवर्तन-प्रत्यावर्तन में फंसा हुआ है। मानव जीवन से जब तक दु:ख समाप्त नहीं होगा, मृत्यु की वेदना जब तक उसे आतंकित करती रहेगी तब तक वह जीवन का पूर्ण सत्य नहीं प्राप्त कर सकता। इस पूर्ण सत्य को प्राप्त कर लेना ही बोधिसत्व प्राप्त करने का दूसरा रूप है।

चार आर्य सत्य -

बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्य है -

१- दु:ख

२- दु:ख - समुदय या दु:ख का हेतु ;

३- दु:ख - निरोध, और

४- दु:ख - निरोधगामिनी प्रतिपदा अर्थात् दु:ख को दूर करने का मार्ग।

" दु:ख सत्य की व्याख्या करते हुये बुद्ध ने कहा है - जन्म भी दु:ख है, बुढ़ापा भी दु:ख है, मरण, शोक, रुदन और मन की खिन्नता, भी दु:ख है। जब तृष्णा छूट जाती है, तभी दु:ख का निरोध संभव है। इस दु:ख निरोध का उपाय अष्टांगिक आर्य मार्ग ही है।"[१]

(ख) जीव दया और अहिंसा -

भगवान् गौतम बुद्ध ने देखा कि संसार में कितनी करुणा है, कितना रुदन है, कितना दु:ख है और कितनी प्रवंचना है। दु:ख और मृत्यु की भयंकर

१- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : पृ० १५८-

विभीषिका को रोकना ही बौद्ध दर्शन का मूलभूत सिद्धांत है। मनुष्य ही क्यों, समस्त प्राणिमात्र दुखी है। सबका जीवन क्षणिक है। एक छिपकली अनेक प्राणियों को खा लेती है और उस छिपकली को खाने के लिए दूसरा उससे भी भयंकर जीव खड़ा है। यह मत्स्य - न्याय जब तक चलता रहेगा, तब तक जीवन सुखमय नहीं हो सकता। इसके लिये आवश्यक है कि हम प्राणिमात्र के प्रति दया और करुणा के भाव रखें और अहिंसा का आचरण करें।

(ग) <u>अष्टपदी - तत्व</u> -

मैत्री और करुणा के उपदेशों के साथ ही गौतम बुद्ध ने मानव के लिये आठ उपदेश दिये। उन उपदेशों का सार-तत्व वैयक्तिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में सम्यक् और अनुशासनपूर्ण जीवन बिताते हुए " जिओ और जीने दो " के सिद्धांत का प्रतिपादन करना था।

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म को मध्य - मार्ग कहा है। वे उपदेश करते थे - भिक्षुओं! इन दो चरम कोटियों (अतियों) का सेवन नहीं करना चाहिये - (क) भोग विलास में लिप्त रहना और (ख) शरीर को कष्ट देना। इन दो अतियों का त्याग कर मैंने मध्य- मार्ग निकाला है, जो कि आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला और शान्ति प्रदान करने वाला है।[१] इस मध्य मार्ग के आठ आर्य (श्रेष्ठ) अंग थे - सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव (जीविका), सम्यक् व्यायाम (उद्योग), सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इसे हम आचारमार्गी सूत्र में इस प्रकार कह सकते हैं :-

" सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्य उपासम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एवं बुद्धान सासनं ।।"

तथागत की शिक्षा में यह अष्टपदी अभीप्सित तत्व कर्म अच्छी नैतिकता के माध्यम से निर्वाण प्राप्त करने में साधन हैं, और इन्हीं से वर्गविहीन समाज

१- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, " बुद्ध की शिक्षायें ; पृ० [illegible]

की स्थापना संभव है। यदि इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय हो जाय तो फिर प्राणि-मात्र के जीवन में किसी अतिरिक्त ईश्वर-तत्व की आवश्यकता न रहेगी, और उसके बिना भी निर्वाण की प्राप्ति संभव हो सकेगी। समस्त पापमय कर्मों से विरत रहना, पुण्य का संचय करना तथा अपने चित्त को शुद्ध रखना गौतम बुद्ध का मुख्य अनुशासन है।

बौद्ध दर्शन में शून्यवाद का भी एक विशिष्ट स्थान है। यह वाद बौद्धतत्व का चरमोत्कर्ष माना गया है। जब हम संसार के अस्तित्व का निर्णय करने लगते हैं, तो बौद्ध दर्शन के अनुसार चार कोटियों का प्रयोग कर सकते हैं :-

(१) अस्ति (है);

(२) नास्ति (नहीं है);

(३) तदुभयं (अस्ति और नास्ति);

(४) नोभयं (न अस्ति, न च नास्ति)।

मध्यमा प्रतिपदा के उपासकों के अनुसार वस्तु न तो एकांतिक रूप में सत् है और न एकांतिक रूप में असत्, प्रत्युत उसका स्वरूप सत् और असत् दोनों के मध्यबिंदु पर ही निर्णीत हो सकता है जो शून्य रूप ही होगा। यथा :-

अस्तीति नास्तीति उभे पि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमे पि अन्ता
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डित:[१]

-॥ समाधिराज ॥

जहाँ तक बौद्ध दर्शन के शून्यवाद का प्रश्न है प्रसाद इस वाद के पचड़े में नहीं पड़े हैं। वे बौद्ध दर्शन के इस तत्व को अवश्य स्वीकार करते हैं, कि ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता है या नहीं, इसे कुछ नहीं कहा जा सकता। कामायनी

१- राजबली पांडेय : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १ खंड १, अध्याय ४ ; पृ० ४५४।

में उन्होंने स्वयं यह प्रश्न उठाया है कि यह अनन्त रमणीय सत्ता के रूप में चारों ओर कौन विस्तारित हो रहा है -

हे अनंत रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? उसका तो
भार -विचार न सह सकता ।[१]

किंतु , वे जीवन और संसार को शून्यमय नहीं मानते । उन्होंने आंसू और स्मित के बीच एक ऐसा सामंजस्य स्थापित कर दिया है कि जीवन अपनी समग्र मधुरता में सत्य बन गया है । इस सत्य के लिये दुखों से भागने की प्रवृत्ति छोड़नी होगी , और दुखों को अपनाकर उनका सुखमय रूपांतरण करना होगा । यहां तक कि कामायनी में प्रसाद जहां श्रद्धा के माध्यम से मनु के कर्म पुरुषार्थ को जगाते हैं , वहां नारी के भी नारीत्व का कर्ममय उपबंध कर देते हैं -

आंसू से भीगे अंचल पर
मन का सब-कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से
यह संधि-पत्र लिखना होगा ।।[२]

इस संधिपत्र के लिखने के लिये आत्मबल की आवश्यकता है और वह आत्मबल की आवश्यकता है और वह आत्मबल दुखों से भागने में नहीं , अपितु उनका सामना करने में प्रकट होगा । अजातशत्रु में मल्लिका वैधव्य के दुख से बोझिल होती हुई भी , जो शरण मांगती है वह `बुद्धं शरणं गच्छामि.` का घोतक भले ही हो किंतु एक आत्मबल का भी घोतक है । " हे प्रभु ! मुझे बल दो -- मुझे विश्वास दो कि तुम्हारी शरण में जाने पर कोई भय नहीं रहता ।

१- प्रसाद : कामायनी , `आशा सर्ग` ; पृ० ३६-
२- प्रसाद : कामायनी , `लज्जासर्ग` ; पृ० ११६ -

विपत्ति और दु:ख उस आनंद के दास बन जाते हैं।"[१]

प्रसाद बौद्ध दर्शन की वज्रयानी साधना के युगल-मिलन से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। यह युगल-मिलन अर्थात् "पार्वती-परमेश्वरौ" शिव शक्ति के मिलन के भी समरूप हैं। शून्यवादी जिसे शून्य तत्व कहते हैं, वज्रयानी उसे वज्र-तत्व कहते हैं। यह वज्र-तत्व दृढ़, सार, कभी क्षीण न होने वाला अछेद्य, अभेद्य, अदाही तथा अविनाशी होने के कारण ही शून्यता का प्रतीक है -

दृढ़ सारमसौशीर्यम् अच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते।।[२]

यह शून्य 'निरात्मा' है अर्थात् देवी रूप है जिसके गाढ़ आलिंगन में बोधिचित्त सदा बद्ध रहता है तथा यह युगल मिलन सब काल के लिये सुख तथा आनंद उत्पन्न करता है ---- सूर्य और चंद्र को यदि पुरुष तथा प्रकृति का प्रतीक मान लें, तो हम कह सकते हैं कि प्रकृति पुरुष के आलिंगन बिना मध्य मार्ग का उद्घाटन होता ही नहीं। इड़ा तथा पिंगला का समीकरण करने से कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है। जब षट्चक्र का भेदन कर आज्ञाचक्र के ऊपर साधक की स्थिति होती है तब कुंडलिनी शनै: शनै: ऊपर चढ़कर सहस्त्रारचक्र में स्थित परमशिव के साथ आलिंगन में बद्ध हो जाती है। इसी दशा का नाम 'युगल रूप' है। इसी आनंदमयी दिशा का नाम है 'सहजदशा' जिसमें निर्वाण, महासुख, सुखराज, महामुद्रा साक्षात्कार आदि अनेक अन्वर्थक अभिधान है।[३]

१- प्रसाद : अजातशत्रु, 'द्वितीय अंक' ; पृ० ७८-

२- वज्रशेखर : अद्वयवज्र संग्रह ; पृ० २३-

३- राजबली पाण्डेय : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, खंड ३ : अध्याय ३ ; पृ० ४५६-

प्रसाद साहित्य और बौद्ध-दर्शन

प्रसाद ने अपने उन नाटकों में भी स्थान - स्थान पर बौद्ध-दर्शन के प्रभावों को व्यक्त किया है जो कि ऐतिहासिक रूप से गुप्त युग का आख्यान प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कहीं - कहीं स्वत: अपने ऊपर तथागत के प्रभावों को व्यक्त किया है जैसे चंद्रगुप्त में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है - " मैं स्वयं बौद्ध मत का समर्थक हूं केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक - इतना कि संसार दु:खमय है।"[१]

अपने निबंधों में जयशंकर प्रसाद ने इतिहास के दार्शनिक पक्ष का अन्वेषण करते हुए लिखा है -" ईसा से हजारों वर्ष पूर्व मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की गई। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक के तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका, जिसमें संसार दु:खमय माना गया, और दु:ख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया। दु:ख-निवृत्ति दु:खवाद का ही परिणाम है।"[२]

दु:खवाद के प्रति नवीन दृष्टिकोण

जहां तक भगवान् गौतम बुद्ध के सिद्धांतों में मानव वादी दृष्टिकोण का संबंध है प्रसादजी उसे बहुत दूर तक अपनाते हुए दिखाई पड़ते हैं। दु:खवाद करुणा, जीव-दया, मैत्री, मानवमात्र के बीच अपनत्व की भावना, भलाई, आदि सभी गुणों को उन्होंने अपने साहित्य में स्थान दिया है।[३] जीव-दया का

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; ३। ४ -

२- प्रसाद : काव्य कला तथा अन्य निबंध ; पृ० ५१ -

३- सारनाथ का भव्य चित्र, प्लेट नं० ५२, ' उपदेश की मुद्रा में बुद्ध की मूर्ति अंकित है। उससे जो करुणा और विशाल हृदयता आभासित होती है, प्रसादजी ने उसे अपने पात्रों पुरुष और स्त्री दोनों में अंकित किया है।'

विस्तार प्रसादजी के साहित्य में हुआ है, और मनुष्य के सामान्य पारस्परिक जीवन में इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा होनी चाहिये, इसका प्रतिपादन उन्होंने स्थान-स्थान पर किया है। विशेषरूप में नारी जाति की ओर प्रसादजी का व्यापक दृष्टिकोण गौतम बुद्ध के सिद्धांतों से मिलता-जुलता है। आंसू काव्य में तो भगवान् बुद्ध की करुणा का एक निर्मल स्त्रोत ही प्रसादजी के हृदय से निकलकर बहता दिखाई पड़ता है। किन्तु प्रसादजी संसार को दु:ख का आगार नहीं मानते। उनके आंसू भी किसी सुखद अनुभूतियों की उत्तेजना के फलस्वरूप हैं। उनकी परिभाषा में " यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

प्रसाद ने संसार को दु:खमय अवश्य माना, किंतु दु:ख के प्रति उनका दृष्टिकोण बौद्ध-दर्शन के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न है। वे दु:ख से वितृष्णा करके उससे भागने या उसे भगाने के पक्षपाती नहीं, अपितु जीवन के समग्र दु:ख को एक अनुभूतिमूलक सुख मानकर चलने के पक्षपाती हैं। "एक घूंट" में उन्होंने इस बात की स्थल-स्थल पर मीमांसा की है। उन्होंने लिखा है कि दु:ख को सुख मान लेने में ही मनुष्य का कल्याण है अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति लघुतम दु:ख से कराहता हुआ संसार भर की संवेदनाओं की अपेक्षा में रोता ही रहेगा, और अकर्मण्य बनकर संसार को कष्ट देगा। अत: अपने दुख को सुख मानकर चलने में मनुष्य की संकीर्णतायें अपने आप तिरोहित हो जायेंगी, उसे सुख की रहस्यानुभूति हो सकेगी।[1] आनंद दुख की उपेक्षा करता हुआ कहता है कि "दु:ख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिये द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते हैं। तुम्हें हंसी के हल्के धक्के से उन्हें टाल देना चाहिये।"[2]

भगवान गौतम बुद्ध ने कहा था कि यह संसार दु:ख की ज्वाला से जल रहा है: यहाँ तक कि - चक्षु भी, रूप भी, रूप का विज्ञान भी और वेदनायें

१- जयशंकर प्रसाद : एक घूंट

२- वही ,, ; पृ० २१।

भी , संस्कार भी जल रहे हैं , भव या जीवन अनित्य है , दुखपूर्ण हैं , अनात्म है । यह सब जल रहे हैं । इसके जलते रहते कहाँ का हंसना और कहाँ का आनंद ।

प्रसाद दु:ख के इस व्यापक प्रभाव को नहीं स्वीकार करते । उनके अनुसार तो जीवन का लक्ष्य आनंद की प्राप्ति करना है । यदि हम जीवन भर दु:ख की प्रताड़नाओं में पड़े सिसकते रहे तो फिर प्रकृति ने हमें जो पुरुषार्थ दे रखा है , वह सब बेकार हो जायेगा । अत: आनंद कहता है -" यह जो दु:खवाद का पचड़ा सब धर्मों ने , दार्शनिकों ने गाया है उसका रहस्य क्या है ? डर उत्पन्न करना । विभीषिका फैलाना । जिससे स्निग्ध गंभीर जल में अनोधगति से तैरने वाली मछली-सी विश्व सागर की मानवता चारों ओर जल -ही- जल देखे , उसे जल दिखाई न पड़े -----"[१]

दु:खवाद और आनंदवाद का समन्वय :-

अपने सभी ग्रंथों में प्रसादजी ने कथानक का चरम उत्कर्ष किसी न किसी आनंद की दृष्टि से किया है । उन्होंने अपनी किसी भी रचना में दु:ख का इतना व्यापक प्रभाव नहीं व्यक्त किया है कि कथानक दुखांत में बदल जाय । यहाँ तक कि आंसू जैसे काव्य में , जहाँ आंसू को हृदय में भीतर छिपे हुये किसी दु:ख की ही निर्झरणी कहा है -

> जो घनीभूत पीड़ा थी
> मस्तक में स्मृति सी छाई
> दुर्दिन में आंसू बनकर
> वह आज बरसने आई ।[२]

यहाँ कवि केवल दुखों से निकले आंसू ही नहीं बहाता रह जाता, अपितु वह हृदय के अंतराल में जिसने आंसू का वारिधि भर दिया , उसे रूठ करके अपने

१- जयशंकर प्रसाद : एक घूंट ; पृ० ३४-

२- प्रसाद : आंसू ; पृ० १४ -

उपवन में बुला लेता है, उलझनें देता है और उस दुःख में भी सुख की एक ऐसी टीस उत्पन्न कर देता है, जो सब कुछ मिलाकर सुखानुभूति में ही बदल जाती है -

गौरव था, नीचे आये,
प्रियतम मिलने को मेरे।
मैं इठला उठा अकिंचन,
देखें ज्यों स्वप्न सबेरे ।।[1]

जीवन में सत्यता का आभास -

प्रसाद ने गौतम के इस सिद्धांत को अपनाया है कि मनुष्य की एकाकी तपस्या और शारीरिक क्लेशदायक साधना व्यर्थ है। अतः बुद्ध की भाँति ही वे मध्यम-मार्ग का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। ऐसे समय में भी जबकि दुःखों के भार से बोझिल मनु जीवन की सारी सार्थकता को भूलकर तपस्या में लीन बैठे हुये हैं, कवि श्रद्धा के माध्यम से कर्म की प्रेरणा देता है, और जिस भार से मनु का मन बोझिल हो चुका है, उससे उन्हें दूर खींचकर जीवन को प्रवृत्ति मार्ग की ओर ले जाने का यत्न किया है -

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।[2]

जीवन का अंतिम लक्ष्य और प्रसाद का दृष्टिकोण -

गौतम ने जीवन का अंतिम लक्ष्य निर्वाण माना। प्रसाद इस लक्ष्य से भिन्न, जीवन का अंतिम लक्ष्य आनंद की प्राप्ति मानते हैं। उनके अनुसार 'निर्वाण' उस अवस्था का नाम है, जिसमें ज्ञान द्वारा अविद्या रूपी अंधकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त की जा सकती है।[3]

१- प्रसाद : आंसू ; पृ० १७ -
२- प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा सर्ग' ; पृ० ५५-
३- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० १६६ -

आनंद उस समरसता की स्थिति का नाम है जहाँ आत्मा और अनात्मा दोनों मिलकर एक ही जाते हैं। अतः एक दृष्टि से कहा जाय तो गौतम का निर्वाण प्रसाद के आनंद में आकर समरस हो गया है।

प्रसाद और करुणा -

उनका कहना है कि " बिना करुणा के हम किसी के अंतस्तल में प्रवेश नहीं कर सकते। करुणा का एक धार्मिक स्वरूप है सबके लिए त्याग करना। उसका एक मनोविज्ञानिक स्वरूप है सबकी स्थिति का रहस्य समझाना।"

प्रसाद जी बुद्ध के मैत्री और करुणा के उपदेश से बहुत ही प्रभावित हैं, और भगवान् बुद्ध को उन्होंने अपने साहित्य में एक भावात्मक प्रतीक के रूप में माना है। उनकी रचनाओं में राज्यश्री में सबसे पहले उस करुणा के स्रोत फूटे जिसे तथागत ने मानव - हृदय की विभूति कहा था। अजातशत्रु में वह करुणा धाराप्रवाह रूप में बह चली है। इस करुणा की उत्तर-बौद्ध काल की कला में भी अभिव्यक्ति मिली है - जिसमें सुजाता भगवान् बुद्ध को खीर खिलाती दिखाई गई है।[१] ऐसा प्रतीत होता है प्रसाद ने इस करुणा को मल्लिका द्वारा अंकित किया है। उनके अनुसार करुणा को एक व्यापक जीवन दर्शन मानकर ही मनुष्य अपने जीवन को बहुत कुछ संतुलित और सुखी बना सकता है।

वस्तुतः प्रसादजी के व्यक्तित्व में ही करुणा का एक विशेष स्थान था। " दुःखद प्रसंगों में उनके (प्रसाद जी के) कोमल कवि-हृदय को जो प्रेरणा मिली, उसी से वे वेद तथा वर्धमान, बुद्ध और बौद्ध तथा वाल्मीकि और व्यास की करुणा को हृदयंगम कर अपने साहित्य में उसकी व्यापक और उदात्त अभिव्यक्ति कर सके।"[२]

तथागत ने जिस मध्यपथ के अनुसरण का उपदेश दिया था, प्रसाद जी भी

१- Joseph Cambell : The art of Indian Asia (Borbudur)Plate No.6
२- डा० फतेहसिंह : कामायनी-सौन्दर्य ; पृ० २१५ -

उस मध्यपथ को अंगीकार करते हैं :-

छोड़कर जीवन के अतिवाद

मध्य पथ से हो सुगति सुधार ।।

प्रसाद के काव्य में युगल-मिलन का आदर्श -

कामायनी के कथानक को सूक्ष्म रूप में देखने पर श्रद्धा और मनु के युगल मिलन से और इड़ा के सामंजस्य से जो समरसता उत्पन्न होती है वह बौद्ध दर्शन से प्रभावित समरसता ही है। निश्चय ही यह युगल-मिलन शिव-शक्ति के मिलन के भी अनुरूप होने के कारण बौद्ध और शैव दोनों दर्शन में समान रूप से ग्राह्य है और कामायनी के कथाकार ने इन दोनों का समन्वय बड़े ही सुंदर ढंग से किया है।[१]

बौद्ध-दर्शन से प्रभावित प्रमुख नारी-पात्र -

प्रसाद की प्रमुख रचनाओं में ऐसे नारी-पात्र जो बौद्ध-दर्शन से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं निम्नलिखित हैं :- `राज्यश्री` में राज्यश्री ; `विशाख` में चंद्रलेखा, और इरावती, `जनमेजय के नागयज्ञ` में सरमा ; `अजातशत्रु` में वासवी और मल्लिका, `स्कंदगुप्त` में देवकी `चंद्रगुप्त` में मालविका और `कामायनी` में श्रद्धा आदि। इन सभी पात्रों में गौतम बुद्ध की अगाध करुणा के दर्शन होते हैं।

प्रसादजी नारी पात्रों को एक विशेष व्यक्तित्व प्रदान करने और उनमें निहित सहज गुणों की कल्पना करने के पक्षपाती हैं। केवल पुरुषार्थ के कारण पुरुष अपनेको नारी से श्रेष्ठ नहीं कह सकता। नारी में एक करुणा-अंकित

१- समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।
प्रसाद : कामायनी :`आनंद सर्ग` ; पृ० २९४-

प्रेरणा शक्ति है, जो पुरुष के प्रबल पुरुषार्थ को सुप्तावस्था से खींचकर जागृतावस्था तक ले आती है। जहां नारी करुणा की प्रतिमूर्ति है वहां वह आत्मसमर्पण को अपनी सबसे बड़ी निधि मानती है। प्रसादजी की परिभाषा में उसने जीवन के सोने से सपने को पहले ही अंजुजल के संकल्प से पुरुषार्थ के नाम आत्मसमर्पित कर दिया है -

इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है ;
मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं
इतना ही सरल झलकता है।"

क्या कहती हो नारी।
संकल्प अश्रु -जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही
जीवन के सोने - से सपने।[१]

प्रसाद जी की रचनाओं में राज्यश्री का विशेष उल्लेख किया जा सकता है, जहां उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति अपने एक नये दृष्टिकोण की व्यंजना की है। बौद्ध दर्शन में अहिंसा और क्षमा के लिए बहुत व्यापक क्षेत्र है। बौद्ध दर्शन जीवन में त्याग और सेवा का पाठ पढ़ाता है। राज्यश्री बुद्ध की दया, क्षमा, करुणा को हृदय से स्वीकार कर लेती है और इतना आत्मबल पैदा कर लेती है कि वह किसी भी स्थिति में किसी को भी क्षमा कर सके। सेवा के लिए वह अपना जीवन समर्पित करती है। पति और भाई के हत्यारे शाँतिदेव को क्षमादान करती है और यहाँ तक कि सुरमा की विलासिता को भी दया और सहानुभूति की दृष्टि से देखती है। वह जीवनमुक्त होकर काषाय वस्त्र धारण करती है और दान को अपने जीवन का निश्चित क्रम बनाती है। हर्ष और राजेश्वरी दोनों राजा होते हुए भी कंगाल

१- प्रसाद : कामायनी, 'लज्जा' ; पृ० ११५, ११६ -

बनने का प्रयत्न करते हैं और प्रयाग में महादान की आयोजना होती है। हर्षवर्धन राज्यश्री को भिक्षुणीरूप त्यागने को कहता है किंतु वह यह कहकर कि फिर अब किस सुख की आशा पर राजरानी का वेश इस क्षणिक संसार में धारण करूं। अपने अटल निश्चय का उद्घोष करती है। इस नाटक में जीवन के प्रति जिस निर्वेद भाव को अंतिम लक्ष्य माना गया है, वह बौद्ध दर्शन के सर्वथा अनुकूल होते हुए भी प्रसादजी के साहित्य में अपने ढंग का अकेला उदाहरण है। फिर भी इसे हम प्रसादजी की अंतश्चेतना का व्यापक और ग्राह्य रूप नहीं कह सकते।

मानववाद -

साधारणतया मानववाद के उद्भव की नवीन कल्पना योरोप के समाजवाद और साम्यवाद के उद्भव के साथ ही मानी जाती है। भारतीय संस्कृति में आरंभ से ही मानववादी तत्वों को मान्यता प्रदान की गई है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं किया गया है। " वसुधैव कुटुम्बकम् " का सिद्धान्त प्राचीनकाल से ही ग्राह्य रहा है। प्रसाद ने इस मानववाद की प्रतिष्ठा विशेषरूप से 'कामायनी ' में की है। प्रसाद मानव को मनु की संतान मानते हुये, पूर्णत: आत्मविश्वास और स्वाभिमानपूर्ण जीवन का समर्थन करते हैं। उनकी परिभाषा में यही एक धरोहर है जो हमारे पूर्वजों ने हमें सौंपा है। प्रसादजी का दृष्टिकोण व्यापक है। पुरुष-स्त्री में, और स्त्री - स्त्री में कोई तात्विक भेद नहीं माना है। यहाँ तक कि देवों की भी उच्चकुल की मिथ्या मर्यादा को प्रसाद ने स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने मनु के माध्यम से कहलाया है।

" देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले ;
हाँ, कि गर्व-रथ में तुरंग-सा,
जितना जो चाहे, जुतले।" [1]

१- प्रसाद : कामायनी, 'आशा सर्ग' ; पृ० ३४-

प्रसादजी ने पश्चिम के समाजवादी मानववाद को भी ग्रहण किया है, किंतु वह मानववाद भारतीय मानववाद पर अधिभावी होकर नहीं आता। नारी चित्रण में कहीं - कहीं ऐसा प्रतीत होने लगता है, (जैसे ध्रुवस्वामिनी या तितली में) कि प्रसाद जी के नारी पात्र पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित हो रहे हैं। वहाँ भी प्रसाद जी का दृष्टिकोण एक निष्पक्ष निर्णायक की भाँति दो संस्कृतियों की परस्पर श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराता है। प्रसाद जी भारतीयता के, सजग प्रहरी थे, किंतु उनका दृष्टिकोण ऐसा संकुचित न था कि उसमें अन्य संस्कृतियों का कोई मेल न हो सके, अतः उनके काव्य व साहित्य में मानव अपने आप में ही पूर्ण, विधाता की एक महान् सृष्टि है, और उदात्त गुणों को ग्रहण करने के लिये सदैव तत्पर है।

राष्ट्रीय चेतना -

प्रसाद का संपूर्ण साहित्य भारत, भारती और भारतीयता की भावनाओं से ओत-प्रोत है। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को पूर्ण आत्मविश्वास और संकल्प के साथ ग्रहण किया है। यद्यपि उनके काव्य ग्रंथों में राष्ट्रीय चेतना के उद्गार के लिये उतना व्यापक क्षेत्र न मिल सका, जितना कि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त को मिल सका है, और अपनी भावाकुलता में निमग्न हो प्रसाद जी काव्य-क्षेत्र में रहस्यवादी और छायावादी हो गये हैं। फिर भी, उनके नाटकों में, उपन्यासों में और कहानियों में राष्ट्रीय चेतना का एक पुष्ट धरातल दिखाई पड़ता है। उनके नाटकों में विशेष रूप से राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। यत्र-तत्र पात्रों के मुख से गाये जाने वाले गीतों में उत्कृष्ट ढंग की राष्ट्रीय चेतना दिखाई पड़ती है। उनके कुछ गीत तो आज भी राष्ट्रीय गीतों की शृंखला में अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते हैं -

हिमाद्रि : तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती -
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती -
" अमर्त्य वीरपुत्र हो , दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो ,
प्रशस्त पुण्य पंथ है - बढ़े चलो , बढ़े चलो ।।"[१]

यही नहीं भारत की महिमा में गाया गया प्रसाद जी का यह गीत समग्र भारत राष्ट्र के लिये बहुत ही प्रेरणाप्रद है -

अरुण यह मधुमय देश हमारा ,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ।
सरस तामरस गर्भ विभा पर - नाच रही तरुशिखा मनोहर ।[२]

स्कंदगुप्त में नाटककार ने नाटक के अंत में जो सहगान कराया है उसमें भारत-भारती और भारतीयता के प्रति लेखक की प्रगाढ़ देशभक्ति का परिचय मिलता है । यह वही देश है जिसके मस्तक पर हिमालय शुभ्र मुकुट सा फैला हुआ है । उसी के आँगन में हमने विश्व में सर्वप्रथम ज्ञान का आलोक प्राप्त किया । सभ्यता के क्षेत्र में हम सबसे आगे आये । हम सबसे पहले जगे और फिर हमारा ही ज्ञान लेकर संसार जगा । एक प्रकार से संसार में अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करने का श्रेय भारतवासी को ही है ।[३]

कवि को इस बात का अभिमान है कि ज्ञान , शक्ति , पुरुषार्थ और वैभव के क्षेत्र में हम आगे होते हुये भी हमने कभी किसी का साम्राज्य छीनने का

१- प्रसाद : चन्द्रगुप्त , 'चतुर्थ अंक ' ; पृ० १७७-
२- वही ,, , 'द्वितीय अंक '; पृ० ८६ -
३- हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।
उषा ने हंस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार ।।
प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १४४ ।

यत्न नहीं किया। हमारे वचनों में सदैव सत्य का अंकुश रहा। हमारे हृदयों में हमेशा तेज का पुंज प्रज्वलित रहा। हमारी प्रतिज्ञाओं में एक अटल दृढ़ता रही। हम वही भारतवासी हैं, हमारा रक्त वही है, हमारा देश वही है, हमारा ज्ञान वही है और हमारी शांति और शक्ति भी वही है। हमारा यह भारतवर्ष हमारे लिए प्यारा है। यह कहना कि हम कहीं बाहर से आये हैं, यथार्थ नहीं है। हम आर्यों की संतान हैं और यह देश सनातन से आर्यों की जन्मभूमि है। कवि के ही शब्दों में -

" किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये नहीं
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य सन्तान।[1]"

राष्ट्रीय चेतना के साथ ही प्रसाद ने नारी को भारतीयता का एक आदर्श माना। उनके प्रत्येक नारी पात्र में भारत-राष्ट्र और भारतीय-गौरव के प्रति प्रेम की भावना विद्यमान है। सभी नारी पात्र किसी न किसी रूप में अपने समाज-धर्म और राष्ट्र-धर्म का पालन करने के लिए उद्यत दिखाई पड़ती हैं। चंद्रगुप्त में अलका के जीवन की प्रथम साधना ही देशप्रेम है। उसका देशप्रेम आत्मत्याग और सेवा पर आधारित है। यहाँ तक कि देशोद्धार के प्रबल प्रयत्नों में ही वह बंदिनी तक बना ली जाती है, किंतु उसका देशप्रेम बंदीगृह के सीकचों में बंधा नहीं रह जाता। वह तक्षशिला[2] के नागरिकों में देशप्रेम की नवीन प्रेरणा भरने में समर्थ हो सकी है। इसी प्रकार स्कंदगुप्त में जयमाला नारी-शौर्य, पराक्रम, तेज, साहस और

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १४५-
२- प्रसाद : चंद्रगुप्त, ' चतुर्थ अंक ' ; पृ० १७६-

देशप्रेम की एक प्रतिमूर्ति है। वह विजया से कहती है :-

" श्रेष्ठि - कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी
खड्गलता से हम लोगों का चिर-स्नेह है।"[१]

इस प्रकार प्रसाद जी अपने समस्त पात्रों द्वारा सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना जागृति कराने में समर्थ हो सके हैं, और निश्चय ही उनके नारी पात्र इस क्षेत्र में पुरुष-पात्रों की तुलना में किसी भी प्रकार पीछे नहीं हैं।

देशज परंपराओं के प्रति नवीन दृष्टिकोण -

जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व पर सामाजिक परंपराओं, विचारधाराओं और अंतर्दशाओं का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसाद जी जहाँ इतिहास के स्वर्णिम कथानकों की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक प्राचीन उत्कर्ष की व्याख्या में लगे रहे हैं, वहाँ समाज की परिस्थितियों के विश्लेषण में भी उनकी रुचि थी। वर्णाश्रम सामाजिक व्यवस्था के प्रति उनमें अनुराग था, किंतु यह व्यवस्था जब रूढ़ियों का रूप लेकर समाज को अनेक कृत्रिम भेदों और वर्गों में विभाजित करने लगती है, तो वहाँ प्रसाद जी का उदार हृदय मानव-मानव के विभेद को स्वीकार नहीं करता। वास्तव में उनका दृष्टिकोण मानववादी है। उनकी मानसिक चेतना पर जहाँ भारतीय समाज का प्रभाव पड़ा वहाँ पाश्चात्य समाज की उन्नतिशील परंपराओं को भी ग्रहण करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। वस्तुत: प्रसाद की कल्पना शक्ति बड़ी ही तीव्र थी। किसी भी संस्कृति के उदात्त गुणों को ग्राह्य कर लेना उनकी सहज शक्ति थी, किंतु उनमें भारतीय संस्कृति के प्रति इतनी असीम आस्था थी कि किसी भारतीय व्यक्तित्व का पाश्चात्य संस्कृति में पूर्ण विलीनीकरण उन्हें स्वीकार्य नहीं था। यही कारण है कि जहाँ प्रसाद ने पाश्चात्य सामाजिक दर्शन से मानववाद, समानता, पुरुष की तुलना में नारी पात्रों की श्रेष्ठता आदि ग्रहण किया, वहाँ उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त, ' प्रथम अंक '; पृ० ४२ -

इन तत्वों को भारतीय परंपराओं में प्रामाणिक रूप से दिखा कर सके। उनका विश्वास था कि विदेशों में जिन उदात्त सांस्कृतिक भावनाओं का प्रसार हुआ है, उनका उद्गम भारतवर्ष ही रहा है। अत: यहां के प्राचीन साहित्य, धर्म और दर्शन में वे तत्वपूर्णतया विद्यमान हैं, जिन्हें आज हम पाश्चात्य कहकर प्रगतिशील मानते और अनुकरण करने के लिए लालायित होते हैं। प्रसादजी ने अपने कुछ विचारों को भले ही तात्कालिक रूप में बाहर से लिया हो, किंतु उसे उन्होंने पूर्णत: भारतीयकरण करने के उपरांत ही ग्रहण किया किया है। यहां तक कि कार्नेलिया और हेलेना जैसी नारियों को भी उन्होंने पूर्ण भारतीय परिवेश में उतार कर ला खड़ा किया है।

निष्कर्ष

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी अंतरात्मा और बाह्य शरीर दोनों से पूर्णत: भारतीय थे उनकी चेतना उदार और समन्वयवादी थी। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में उन्होंने नारी के स्वरूप की विशिष्ट प्रतिष्ठा की है

प्रसाद ने अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति के उन तत्वों को खोजकर प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया, जिन्हें अज्ञान और प्रमादवश हम भूल कर विदेशी चीजों की ओर जा रहे थे। यहां तक कि उन्होंने हिन्दू समाज की नारी-जाति की वर्तमान अधोगति को देखकर इस प्रश्न को भी हिन्दी साहित्य में प्रथम बार उठाया कि क्या वेदों और उपनिषदों में इस बात के लिये कोई आधार है कि हिन्दू स्त्री पति के क्लीव या अक्षम होने की स्थिति में दूसरा विवाह कर सकती है? इस प्रश्न का समाधान उन्होंने ढूंढ निकाला है। ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने स्वत: निम्नलिखित प्रमाण दिया है :-

नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्य: क्लीबोऽपि वा पति:।।[१]

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; 'सूचना' ; पृ० ८ -

प्रसाद जी के व्यक्तित्व में आत्मविश्वास एक प्रबल तत्व था। उन्हें इस बात का अभिमान था कि उनका यह आत्मविश्वास एक दिन की उपज नहीं है, अपितु वह वंशानुक्रम से प्राप्त भारतीय आत्मविश्वास का ही एक रूप है। उन्होंने इतिहास के महान् पात्रों को इसी तत्व से अभिभूत पाया। उन्होंने प्राचीन काल से ही नारी-जाति में ममता, स्नेह, प्रेरणा और उद्बोधन का आदर्श देखा। उन्होंने इसी आदर्श को अपने साहित्य के लिये अनुकरण-योग्य माना। उनके कथानकों में स्थान - स्थान पर उपनिषदों के ब्रह्म-तत्व, शैवदर्शन के शिवतत्व, बौद्ध-दर्शन के शांतितत्व, शंकर के अद्वैततत्व और पाश्चात्य दर्शन के सुखवादी तत्वों का समन्वय है। इसी आधार पर उनके नाटकों की सांस्कृतिक चेतना खड़ी है।

प्रसाद की दृष्टि समन्वयवादी थी। उन्होंने मानवता को आनंदमय स्थिति तक पहुंचाने के लिये इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया। इसके साथ ही उन्होंने हृदय (श्रद्धा) बुद्धि (इड़ा) और मन (मनु) का समन्वय किया। इसी प्रकार उनके साहित्य में अद्वैत, बौद्ध, और शैव दर्शनों का भी समन्वय देखने को मिलता है। इन्हीं तत्वों के समन्वय से प्रसाद की जीवनगत दृष्टि की सर्जना हुई है। इन तीनों प्रकार के समन्वय-क्रम में प्रसाद ने व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों प्रकार के उत्थान को लक्ष्य माना। उनकी परिभाषा में समग्र मानवता का उत्थान ही सांस्कृतिक चेतना का प्रतिफल होना चाहिये। इसीलिए उन्होंने जीवन के विविध मूल्यों का आकलन करते हुये साहित्य में उनकी प्रतिष्ठा की।

अध्याय ३

छायावाद की पृष्ठभूमि और प्रसाद की नारी

अध्याय - ३

छायावाद की पृष्ठभूमि और प्रसाद की नारी

हिन्दी काव्य में छायावाद एक नई दृष्टि और नया वातावरण लेकर उपस्थित हुआ। इसके अंतर्गत प्राचीन एवं रूढ़िगत मान्यताओं का तिरस्कार किया गया तथा नवीन मान्यताओं, नये मूल्यों, नये सौंदर्य बोध तथा नवीन दृष्टियों की प्रतिष्ठा हुई। नारी भी इस वातावरण के प्रभाव से अछूती न रह सकी। प्रसाद द्वारा सृजित नारी का एक अपना विशिष्ट छायावादी स्वरूप भी है, जिसे स्पष्ट रूप में चित्रित करने के लिए आवश्यक है कि सामान्य रूप में छायावाद की पृष्ठभूमि में नारी की जो परिकल्पना की गई है, उसका विश्लेषण कर लिया जाय।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिन्दी - काव्य एक नई दिशा की ओर उन्मुख हुआ था एक ओर जहाँ काव्य में स्वदेश - प्रेम, जातिप्रेम और जनहित की भावनायें लहरें ले रही थीं, वहीं दूसरी ओर रीतिकाल की सीमित धाराओं में बंधे हुए कवि की चेतना भावाकुल होकर कोई ऐसा शरणस्थल ढूंढने के लिए आकुल थी, जहाँ रीतिकालीन उद्दीप्त और वासनाकुल यौनदृष्टि को एक नई और स्वच्छंद परिष्कृति मिल सके, तथा कवि अपनी भावाकुलता में संसार के वैषम्य से दूर होकर कल्पना-लोक के माध्यम से एक नये और कुसुम भावुक संसार का सृजन कर सके। युगों तक रीतिकालीन कुत्सित जगत में रहते - रहते उसकी आत्मा व्याकुल हो उठी थी। वह अपने व्यक्तित्व का ऐसा निखार चाहती थी, जहाँ प्रेम की पुण्य सलिला भावनालोक में प्रवाहित हो रही हो, किंतु जहाँ बाह्य सौंदर्य का उद्दीपन केवल इन्द्रिय अस्तित्व में सीमित न हो। इस प्रकार की भावात्मक व्यंजना को एक विशिष्ट नाम से पुकारा गया, जिसे छायावाद कहते हैं।

छायावाद की परिभाषा एवं प्रवृत्तियाँ

छायावाद एक विशिष्ट जीवन-दर्शन, सौन्दर्य-बोध, भावना स्तर, नैतिक-धारणा और काव्य-शैली लेकर आया। इस समय कठोर जीवन के नैराश्य ने कवि की चेतना को कल्पनालोक में विचरण करने, और काल्पनिक -सुखों की अनुभूति में निमग्न रहने के लिये प्रेरित कर दिया था। अत: छायावाद के नाम पर हिन्दी काव्य में जिस प्रकार की कविताओं का आरंभ हुआ, वे यथार्थ की दुनियां से कुछ दूर, कल्पना के हिंडोलों की स्निग्ध और कोमल कविता थी। उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का मूल्यांकन अनेक प्रकार से होता रहा है -

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार -

" छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहां उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है, अर्थात् जहां कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। ---- छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।"[१]

डा० नगेन्द्र के अनुसार -

" प्रत्येक सच्ची काव्यधारा के लिए अनुभूति की अन्त:प्रेरणा अनिवार्य है ---- छायावाद निश्चय ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्त:प्रेरणा असंदिग्ध है।"[२]

डा० नगेन्द्र ने छायावाद का आधार पहले स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह बताया फिर कदाचित विद्रोह की वास्तविक प्रेरणा का अभाव देखकर अपनी शब्दावली को बदल दिया और और फिर 'उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह' कहना अधिक उचित समझा है।[३]

१- रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ; पृ० ६२५ -
२- डा० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति ' ; पृ० ५७ -
३- डा० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति ; पृ० ५३ -

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छायावाद को एक सांस्कृतिक परंपरा का परिणाम माना है। इस परंपरा में मानवीय जीवन के नवीन मूल्यों की नवीन शैली में अभिव्यक्ति हुई है। इसमें आध्यात्मिक अनुभूति, मानवतावादी विचारधारा तथा वैयक्तिक चिंतन और अनुभूति का प्राधान्य है।[1]

डा० रामविलास शर्मा ने अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंतीय-साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह माना है। चूंकि यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वाधान में हुआ था इसलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है।[2] डा० शर्मा ने छायावाद में स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह एवं पलायनवाद एवं निराशावाद का प्राधान्य मानने वालों के लिये भी कुछ कहा है - " क्या जीवन से पराङ्मुख कोई भी व्यक्ति ऐसी सुंदर पंक्तियां लिख सकता है ? क्या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहने से उस ठोस जीवन-आकांक्षा की व्याख्या हो जाती है जो इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है -

> कंटकों की सेज आंसुओं का ताज,
> सुभग ! हंस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
> बीती रजनी प्यारे जाग।"[3]
>
> - महादेवी

महादेवी ने रहस्यवाद को आत्मा का गुण तथा काव्य का गुण माना है और छायावाद को कबीर द्वारा पोषित रहस्यवाद के उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार किया है।

प्राय: छायावाद को दु:खवाद का परिणाम माना जाता है। इस पर

१- डा०हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य ; पृ० ४६१- ६२ -
२- डा०जयकिशन खण्डेलवाल : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां ; पृ० ३६० -
३- वही ,, ,, ,, ; पृ० ३६० -

प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये उन्होंने लिखा है - " छायावाद को दु:खवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दु:ख का संबंध है उसके दो रूप हो सकते हैं - एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणा भाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।"[1]

" छायावादी कवि की सौंदर्यभावना में अतीन्द्रियता है और शिव तत्व का संयोग है ---- छायावादी काव्य में सौन्दर्य के प्रति उपभोग का भाव नहीं है, वरन् कौतूहल, विस्मय और अतीन्द्रिक गौरव का है।"[2]

प्रसाद ने छायावाद को "मोती के भीतर छाया जैसी तरलता" के समान माना है। उनका कहना है - " मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। ---- छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति व अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से पानी की तरह अन्त:स्पर्श करके भावसमर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया ---- कांतिमय होती है।"[3]

संक्षेप में छायावादी काव्य की प्रवृत्तियों का वर्गीकरण निम्नवत् किया जा सकता है :-

नवीनता के प्रति आग्रह -

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई उक्त परिभाषाओं में जो पारस्परिक भिन्नता देखी गई है, उसके होते हुये भी यह बात सर्वमान्य है कि छायावाद में नवीनता के प्रति एक विशेष आग्रह है। रूढ़ प्रवृत्तियों एवं परंपराओं को छोड़कर नूतन भावगत मार्गों का विधान छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति है। यह बात निर्विवाद रूप में सत्य है कि नवीनता के इस आग्रह से हिन्दी काव्य में स्थूल की तुलना में

१- महादेवी का विवेचनात्मक गद्य ; पृ० ६५ -

२- डा०शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना ; पृ० ६६ -

३- शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ ; पृ० ४६४ -

सूक्ष्म, बाह्य सौंदर्य की तुलना में अन्तःसौंदर्य, बहिर्मुख मूल्यों की तुलना में अंतर्मुख मूल्यों की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। यह एक विद्रोह था। इससे एक प्रकार का नवीन सांस्कृतिक जागरण हुआ है। छायावाद एक अभिनव जीवन-दर्शन, प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम, और साहचर्य के भाव तथा मानव के साथ अटूट सौहार्द के भावों को लेकर हिन्दी काव्य में अवतरित हुआ। इन बातों का आनुपातिक रूप में नारी की परिकल्पना पर भी प्रभाव पड़ना अपरिहार्य था। मध्ययुगीन परिकल्पनाओं के काव्य का विघटन छायावादी काव्य की विशेषता है।

छायावादी काव्य में जो नवीनता का आग्रह देखा गया उसके परिणामस्वरूप नारी की परिकल्पनाओं तथा तद्‌जनित मान्यताओं में एक युगान्तकारी परिवर्तन सामने आया।

नये परिवेश की कविता में सबसे बड़ा परिवर्तन यह दिखाई पड़ता है कि रीतिकाल में जो नारी नायिका के विशिष्ट नामों और व्यापारों की सीमाओं में बंध गयी थी,[१] उसका वह नाम हिन्दी काव्य के पटल से सदैव के लिये लुप्त हो गया। नारी अब अपने गुण, धर्म के अनुसार सखी, बाला, देवि, सहचरि, प्राण आदि संज्ञाओं से पुकारी जाने लगी और रीतिकालीन यौन-लिप्सा का पूर्ण रूप से समापन हो गया।

छायावादी काव्य में नारी को निश्चित ही एक गंभीर और भाव-प्रवण व्यक्तित्व मिला। यद्यपि छायावादी कवियों ने नारी के आदर्शों के लिये प्राचीन परंपरा के अनुसार सीता, सावित्री आदि दृष्टांतों को सामने नहीं रखा, और यदि कहीं प्रसंगवश इन प्राचीन नारियों में से किसी का नाम आया भी है, तो अपने नये परिवेश में यथा -

---

१- प्रौढ़ा, प्रगल्भा, प्रवत्स्यपतिका, अभिसारिका, वासक-सज्जा, परकीया आदि।

" कहो, कौन हो दमयन्ती-सी
विजन विपिन में सोयी ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अहि ! नल-सा निष्ठुर कोई ।"[१]

शेष अन्य प्रसंगों में कवियों ने नारी के कोमल, स्निग्ध और पवित्र व्यक्तित्व को ही चित्रित करने का यत्न किया है। उस व्यक्तित्व में एक ऐसी पूर्णता है, जिसका दर्शन हिन्दी साहित्य के भक्ति काव्य अथवा रीति-काव्य में कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता।

जहाँ तक नारी के रूप-सौन्दर्य का प्रश्न है, यहाँ भी छायावादी कवियों ने स्थान - स्थान पर नारी के विभिन्न अंगों का वर्णन प्रस्तुत किया है, किंतु वह वर्णन अपनी मादकता में भी हृदय में एक भव्य सौंदर्य का ही सृजन करता है, उसे हम रीतिकाल की नख-शिख वर्णन की परंपरा में कदापि नहीं रख सकते। जहाँ तक प्रसाद जी का प्रश्न है वे आधुनिक कविता में रूप, यौवन और विलास के अद्वितीय कलाकार कहे गये हैं। वे श्रद्धा का रूप-वर्णन करते हुये उसके अवगुंठित अंगों पर बिजली के फूल खिलाते हुये कितना सुंदर चित्र सामने प्रस्तुत कर सकते हैं -

" और देखा वह सुंदर दृश्य
नयन का इंद्रजाल अभिराम
कुसुम - वैभव में लता-समान
चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।

x x x

१- पंत : पल्लव, 'छाया' शीर्षक कविता से :, पृ० ६८-

वातावरण है, जो मन में कुछ कोमल भावों का सृजन कर जाता है। इन वर्णनों में रूप की वह उत्तेजनात्मक अभिव्यक्ति कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी, जिसने रीतिकाल की नारी को घेर रखा था। अतः इसे नख रूप-वर्णन की शैली का ही पूर्ण परिष्कार मानेंगे, जो कि छायावादी ध्वनि से हिन्दी काव्य में व्यक्त हुआ।

छायावाद और स्वच्छंदतावाद

फ्रायड ने स्वच्छंदतावाद की परिभाषा करते हुए उसे " दमित अन्तःप्रेरणाओं की पूर्ति का साधन " स्वीकार किया है। हिन्दी काव्य का स्वच्छंदतावाद अंग्रेजी के " रोमांटिसिज्म " का रूपांतर है।

" जहां छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहां रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जाग्रत देशों में एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहां के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनियां अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे। उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अंतर्मुखी एवं वायवी था।"[१]

स्वच्छंदतावाद का अर्थ है - परंपरागत मान्यताओं, विचारों, भावों प्रतीकों और आदर्शों के प्रति एक नया और सजग प्रतिरोध। साहित्य के क्षेत्र में यह प्रतिरोध एक नवीन उद्भावना लेकर आया जिसमें सौन्दर्य के प्रति एक नई जिज्ञासा का समावेश हुआ। अंग्रेजी में वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि की परंपरा में यह स्वच्छंदतावाद पनपा। हिन्दी में भी प्रकारांतर से इस वाद का विकास हुआ। रवीन्द्र की कविताओं का भी हिन्दी साहित्य पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ा।

१- डा० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति ; पृ० ५६ -

छायावाद एक नवीन संवेदनशीलता लेकर अंतर्मुखी प्रवृत्ति के साथ साहित्य में प्रविष्ट हुआ। स्वच्छंदतावाद छायावाद की अतीन्द्रियता, सूक्ष्मता और आंतरिकता को ग्रहण करते हुए भी अधिक निश्चित, स्पष्ट और प्रकट प्रतीकों को लेकर सामने आया। इसकी मूलभूत प्रेरणाएँ इस प्रकार है - व्यक्तिवाद, जिज्ञासा, सौन्दर्य प्रेम, कल्पना, रहस्य, आदर्श और आंतरिकता। छायावाद जहाँ सौन्दर्य प्रेम, कल्पना और रहस्य के संबंध में केवल लाक्षणिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है, वहाँ स्वच्छंदतावाद उन तत्वों के प्रति अधिक मुखर और स्पष्ट है। उसका परंपरागत किसी भी वाद से कोई अटूट संबंध नहीं है।

स्वच्छंदतावाद की व्यक्तिवादी चेतना का आधार स्तंभ छायावादी प्रकृति है। इसीलिए रोमांटिक काव्य में दो तत्व प्रमुख रूप में ग्रहण किये गये। उनमें से पहला है जिज्ञासा और दूसरा है सौन्दर्य प्रेम। इन दोनों की सबल अभिव्यंजनाएँ या तो प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा हुई है, या तो नारी सौन्दर्य के द्वारा। " सभी स्वच्छंदतावादी कवियों ने सौन्दर्य के साथ प्रेम का गंभीर संबंध अनुभव किया है।"

स्वच्छंदतावादी कवि का प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति असीम आकर्षण पंतजी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ है -

> छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड़ प्रकृति से भी माया।
> बाले! तेरे बाल-जाल में,
> कैसे उलझा दूँ लोचन?
>   भूल अभी से इस जग को।[१]

स्वच्छंदतावादी कवि ने प्रकृति को भी नारी रूप में देखा है। वह उसके सामने वैसा ही श्रृंगार और हाव-भाव लेकर आती है, जैसा कि नारी के प्रति

१- पंत : आधुनिक कवि ; पृ० १ -

कल्पना की जाती है।

सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी-सी ;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किए सी ऐंठी - सी ।[१]

प्रकृति रूपी नारी के सौन्दर्य का चित्रण करने में उसके प्रति स्वच्छंदतावादी कवि ने अपनी आंतरिक भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। इस भाव-प्रदर्शन में कवि प्रेम के तत्व का समावेश करता है। स्वच्छंदतावादी कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य में अपनी भावनाओं का आरोपण करने के लिये उसमें नारी-सौंदर्य की प्राण प्रतिष्ठा की है, और उसके सूक्ष्म हाव - भाव पर रीझे और सीझे हैं। कामायनी की इड़ा प्रकृति के मोहक वातावरण में सुंदर चित्र-सा बनाती हुई सामने आती है -

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भरा पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक-रश्मि से बुने उषा अंचल में आंदोलन अमंद
करता, प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरंद।[२]

स्वच्छंदतावादी कवि सौन्दर्य दृष्टि के साथ ही कल्पना-शक्ति के प्रति भी आस्थावान है। सौन्दर्य की सूक्ष्मता की गहराई में पहुंचकर स्वच्छंदतावादी कवि अपने चारों ओर एक ऐसे भावात्मक संसार को घिरा पाता है, जहाँ सौंदर्य अपने अविकल और अतीन्द्रिय रूप में विद्यमान है, वह वहाँ भावविभोर हो जाता है, और उस काल्पनिक लोक में इतना रम जाता है कि वहाँ से लौटकर आना

१- प्रसाद : कामायनी, `आशा सर्ग`; पृ० २४ -
२- प्रसाद : कामायनी, `इड़ा सर्ग`,: पृ० १६८ -

नहीं चाहता। स्वप्न- लोक से कभी यदि वह जागरण लोक में आता है, तब भी उसे एक ही रट लगी रहती है -

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे - धीरे!
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी -
निश्छल प्रेम- कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।[१]

यदि भुलावा देकर नाव को आगे बढ़ाने वाला नाविक पास में नहीं है तो कवि की आत्मिक चेतना ही उस लोक तक पहुंचने के लिये जागृत हो उठती है -

हमें जाना है जग के पार।
- निराला

कवि अपनी प्रेयसी को धरती के धूमिल मार्गों पर ढूंढना नहीं चाहता। उसे वह व्योम से चुपचाप स्वर्णरज्जु के सहारे उतरता हुआ देखना चाहता है और स्वर्णिम रश्मियों के दूरस्थ परिछाय में उसका केश कलाप देखना चाहता है -

कहो, तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रही चुपचाप
सुनहला फैला केश-कलाप,
मधुर मंथर, मृदु मौन।[२]

वह रूपसि अनिल पुलकित लोल स्वर्णांचल से युक्त है। उसके नूपुरों से मधुर - मधुर ध्वनि आ रही है, और वह —

" सीप से अलकों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन।"

१- प्रसाद : लहर ; पृ० १४ -

२- पंत : पल्लव (छाया) ; पृ० ७० , ७२

वह अकेली ही जा रही है - गति उसकी बहुत ही धीमी है, और वह मौन है, कवि उसे पहचानता है, किन्तु उसकी यह पहचान केवल कौतूहलमूलक है, उस कौतूहल में कवि पूछता है -

अँचल पुलकित स्वर्णांचल लोल, मधुर नूपुर-ध्वनि खग कुल रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल, उड़ रही नभ में मौन।
लाज से अरुण अरुण सुकपोल, मदिर अधरों की सुरा अमोल,
बने पावस-घन स्वर्ण-हिंडोल,
कहो एकाकिनि, कौन?[१]
मधुर-मधर तुम मौन।

हिन्दी काव्य में स्वच्छंदतावाद का आरम्भ परंपरागत रूढ़ियों के प्रतिकार के रूप में हुआ। द्विवेदी युग में जिस इतिवृत्तात्मक शैली का आरंभ हुआ उसमें कवियों की विकल अंतश्चेतना को तृप्ति का माध्यम न मिल सका। आर्थिक अभावों और परंपरागत कुंठाओं ने एक भावात्मक आंदोलन को जन्म दे दिया। इससे सौंदर्य के प्रति अंतश्चेतना का जो झुकाव हुआ, उसके साथ ही मानववाद और व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियों ने स्वच्छंदतावाद को पनपने के लिए और भी अनुकूल वातावरण प्रदान कर दिया। कहा जा सकता है कि स्वच्छंदतावाद स्थूलता की प्रत्येक परंपरा के विरोध में खड़ा हुआ। रूढ़ियों से मुक्ति, व्यक्तिगत जीवनानुभूति, स्वच्छंद और रमणीय कल्पना, प्रकृति के प्रति गंभीर प्रेम तथा उसमें चेतन-सत्ता का आरोप, अतीत और भविष्य के प्रति लालसा-ललक, वर्तमान के प्रति नैराश्य भाव और बौद्धिकता के स्थान पर कोमल भावनाओं का प्राधान्य स्वच्छंदतावाद के मुख्य तत्व हैं।

इस वाद के अंतर्गत नारी का जो रूप प्रस्फुटित हुआ, वह अतीन्द्रिय सौन्दर्य से युक्त और भाव-विलास की मादकता से परिपूर्ण था। स्वभावत: भावाकुल होने के नाते स्वच्छंदतावादी कवि रहस्यात्मक भी रहे। उनकी इस

१- पंत : युगपथ, 'सन्ध्या', पृ० ५४- ५५।

रहस्यात्मकता ने उनमें एक कौतूहल वृत्ति भी उत्पन्न कर दी , जिसका परिणाम यह हुआ कि स्वच्छंदतावादी कवि समूची प्रकृति के उन्मादक वैभव में अपनी किसी भावबोधक प्रेयसी को ढूंढने लगा ।

स्वच्छंदतावाद बौद्धिक चेतना के स्थान पर भावात्मक सौंदर्य-बोध पर अधिक बल देता है , और इस भावात्मक सौंदर्य में नारी का जो रूप निखरकर सामने आया है , वह बहुत ही झिलमिल, आकर्षक और उन्मादक है । कवि की प्रेममयी अनुभूतियाँ उसे पाने का आग्रह नहीं करतीं, अपितु कल्पना के मृदुल करों से उसकी छाया को छू - छूकर वापस लौट आती हैं । हिन्दी के सभी छायावादी कवियों में जहाँ छायावाद के अतीन्द्रिय विकास का वैभव देखा जा सकता है ,वहीं स्वच्छंदतावाद की स्वच्छंद उर्मियों के प्रभाव का भी अनुभव किया जा सकता है । ऐसी अभिव्यक्तियों में प्रसाद की रचनाओं का अपना विशेष महत्व है , जिनका कि विवेचन आगे किया जायेगा ।

छायावादी सौन्दर्यदृष्टि -

छायावादी कवि हिन्दी काव्य जगत पर एक नूतन सौंदर्यबोध लेकर अवतरित हुआ । इस सौंदर्यबोध की विशेषता थी , अतीन्द्रिय भावानुभूति और स्थूल तत्वों की सूक्ष्म चेतना । इस सौंदर्यबोध कि अभिव्यक्ति का मुख्य आधार हुई प्रकृति एवं नारी ।

छायावादी कवि जिस नारी को अपने प्रेम का आराध्य मानता है वह भावप्रधान है । छायावादी कवि अपने सौंदर्यबोध से जो भावाभिव्यक्तियाँ करता है , वह ऐंद्रियजनित कम है , और सात्विक भावों का उद्बोधक अधिक है । कहा जा सकता है,कि नारी का रीतिकालीन कामिनी रूप छायावादी कवियों के लिये अकलुष और अतीन्द्रिय सौंदर्यबोध का कारण बना ।

छायावादी कवि की सौंदर्यदृष्टि रीतिकाल की कामिनी , केलिगृह की सीमाओं में बद्ध विलासिनी रूप को स्वीकार करने में असमर्थ थी । यही कारण है

कि छायावादी कवि के संबोधन भी बदल गये हैं।[१]

छायावादी काव्य में नारी के मांसल सौंदर्य के स्थान पर उसके अपरूप भावात्मक सौंदर्य की प्रतिष्ठा की गई। अब वह किसी दरबार की संमोहन शक्ति न रहकर भावात्मक संसार में उतरी। कवि उस पर रीझा अवश्य, लेकिन उस रीझने का कारण उसका भावाकुल और संवेदनशील व्यक्तित्व था, न केवल नारी का इंद्रियजनित आकर्षण मात्र। इसीलिए छायावाद की नारी मात्र मांसल सौंदर्य से युक्त नहीं है, उसमें आदि से अंत तक एक अतीन्द्रिय आकर्षण है। वह कवि के हृदय में एक कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न करती है, उस कौतूहल का समाधान और कोई नहीं, स्वयं वह नारी ही है। यद्यपि छायावादी कवियों ने भी सुकुमार कली के रूप में सोती हुई बाला के गालों को प्रिय द्वारा झलकर चले जाने वाले नायक पवन का वर्णन किया है -

> सोती थी, ----
> जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
> नायक ने चूमे कपोल,
> डोल उठी बल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोला.
> इस पर भी जागी नहीं,
>
> x x x x
>
> निर्दय उस नायक ने
> निपट निठुराई की,
> कि झोंकों की झड़ियों से
> सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
> मसल दिये गोरे कपोल गोल;
> चौंक पड़ी युवती,
> चकित चितवन निज चारों ओर फेर,

१- (क) रामकुमार वर्मा `रूपराशि` में `सुकुमारि`
(ख) महादेवी वर्मा - दीपशिखा में `बांहें`
(ग) पंत : बाला के रूप में
(घ) नरेन्द्र शर्मा : प्रवासी के गीत में `प्राण` -

मेरे प्यारे की सेज पास
नम्रमुखी हँसी खिली
खेल रंग, प्यारे संग ।[1]

किंतु गालों के इस मसलने में वासना का इंद्रियजनित आग्रह नहीं है, इसमें प्रिय का एक भोला और अल्हड़ मतवालापन है, जो सोती हुई प्रिया को जगा देने के लिये पर्याप्त है। जागरण की यह टीस सुषुप्तावस्था से चेतनावस्था तक आने की एक प्रक्रिया भी है।

छायावादी कवियों का प्रेम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण है। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इन कवियों ने नारी को पावन और पूज्य रूप प्रदान किया। पंत ने नारी को जिस भावलोक में देखा, वहाँ नारी जीवन के अवसादों के बीच एक पाथेय और मंत्रणा लेकर खड़ी थी।[2] यहाँ तक कि उसका स्पर्श कवि के लिए उतना ही पावन है जितना कि 'गंगा का पानी' और उसका साहचर्य उतना ही प्रेरणादायक है, जितना कि "त्रिवेणी की लहरों का गान"।[3] प्रसाद

१- निराला : अपरा, 'जुही की कली' ; पृ० ५५

२- तुम्हीं इच्छाओं की अवसान
तुम्हीं स्वर्गिक - आभास,
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान,
देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण !
पंत : पल्लव, 'नारी रूप' ; पृ० ८१ -

३- तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान ;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि ;
त्रिवेणी की लहरों का गान।
पंत : पल्लव, 'आँसू' ; पृ० २७ -

ने नारी के इसी प्रेरणात्मक रूप को अपने काव्य का प्रमुख विषय बनाया, उनका समूचा काव्य आत्मनिष्ठ प्रेमानुभूति की व्याकुलता तथा आह्लाद से ओतप्रोत है।

पंत ने नारी के जिस स्वरूप की कल्पना की है वह इस प्रकार है -

" मुक्त करो नारी को मानव चिर बंदिनी नारी को।"[1]

यहाँ नारी को रूढ़ियों से विमुक्त करने की प्रेरणा है।

पंत साधारणतः वियोग के शाश्वत रूप को अपनाते हैं, किंतु संयोग के क्षणों में भी उनमें कलुषता नहीं आती। दो प्राणों का मिलन उनके लिए एक शाश्वत संगीत का सृजन करता है -

' आज चंचल चंचल मन प्राण, आज रे शिथिल शिथिल तन-भार।
आज दो प्राणों का दिन-मान, आज संसार नहीं संसार ।।'

निराला के तुलसीदास में भी एक ऐसी ही नारी की कल्पना है जिसके रूप की सरिता में स्नात होकर तुलसीदास को अपनी सारी वासनाजनित कलुषता को धो देना पड़ा। रत्नावली ने 'धिक्! धाये तुम यों अनाहूत'[2] कहकर तुलसीदास के मन में नारी के तेजस्वी व्यक्तित्व का एक ऐसा आतंक डाल दिया कि तुलसी की सारी कामुक दृष्टि नष्ट हो गई।[3]

१- सुमित्रानंदन पंत : युगवाणी, 'नारी' ; पृ० ५८-

२- निराला : 'तुलसीदास' ; पृ० ४५-

३- जागा, जागा संस्कार प्रबल,
रे गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा, वामा वह न थी, अनल-प्रतिमा वह ;
- - - - - - - - - - -
देखा, शारदा नील-वसना
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि- रशना,
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री,
श्री सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला' : तुलसीदास ; पृ० ४६ -

छायावादी काव्य में विश्व-नारी की भी कल्पना की गई है। नारी को स्वर्गिक वस्तु के स्थान पर इसी संसार का बनाकर प्रतिष्ठित किया। इससे नारी में एक अपूर्व सौंदर्य आ गया। यहाँ नारी के एक स्वतंत्र व्यक्तित्व को प्रश्रय मिला है तथा उसे एक सुकुमार लता के सदृश माना गया है जो सांस लेकर विश्व कानन में फूलती है, और जिसे एक वृक्ष का सहारा चाहिये।[1]

छायावादी प्रसाद नारी की छवि को संसार के सौंदर्य और सुख का[2] मूल कारण मानते हैं।[3] सौंदर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानते हुये कवि स्थूल सौंदर्य के स्थान पर भाव-सौंदर्य की ओर अधिक झुक जाता है -

> करुणांचल मन मंदिर की वह
>
> मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा
>
> लगी सिखाने स्नेहमयी - सी
>
> सुन्दरता की मृदु महिमा।
>
> उस दिन तो हम जान सके थे,
>
> सुंदर किसको हैं कहते।
>
> तब पहिचान सके किसके हित
>
> प्राणी यह दुख-सुख सहते।[4]

१- निराला : परिमल 'पंच मार्क्विस' ; पृ० १६० -

२- तुमने इस सूखे पतझड़ में
भर दी हरियाली कितनी
मैंने समझा मादकता है
तृप्ति बन गई वह इतनी
जयशंकर प्रसाद : कामायनी, 'दर्शन', पृ० १७० -

३- उज्ज्वल वरदान चेतना का,
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं,
कामायनी, 'लज्जा', पृ० ११२ -

४- जयशंकर प्रसाद : कामायनी, 'निर्वेद', पृ० १६६ -

छायावादी कवि ने नारी के विराट मातृत्व और विराट प्रेयसी रूप की भी कल्पना की है। नारी के मातृत्व रूप के सम्मुख तो विधि, जो उसका सृष्टा है; भी नत हो जाता है -

" तेरे उर का अमृत पान कर
अपनी प्यास बुझाता है।
तू अनन्त बन जाती है, माँ
वह बालक बन जाता है।"[१]

रीतिकालीन कवि ने नारी के इस रूप की नितांत उपेक्षा की है। नारी का केवल कामिनी रूप ही छायावादी काव्य का विषय नहीं रहा, अपितु उसका मातृत्व से बोझिल और प्रसविनी, जननी का रूप भी बड़ी ही स्निग्धता और कोमलता से चित्रित हुआ है। स्वयं प्रसाद ने मातृत्व के भार से युक्त श्रद्धा का एक बहुत ही सौम्य, सरल और अकृत्रिम सौंदर्य चित्रित किया है, जिसमें कहीं कोई बनावट न होकर भी सब कुछ स्पष्ट और गंभीर है; यथा -

यों सोच रही मन में अपने
हाथों में तकली रही घूम;
श्रद्धा कुछ - कुछ अनमनी चली
अलकें लेती थीं गुल्फ चूम।
- - - - - - - - -
मातृत्व - बोझ से झुके हुये
बंध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।[२]

१- हरिकृष्ण प्रेमी : आदुमरनी; पृ० ६१, १
२- प्रसाद : कामायनी, " ईर्ष्या सर्ग"; पृ० १५४ -

इस प्रकार छायावादी कवि ने प्रकृति और मानव में दूर तक फैला हुआ एक अपूर्व सौंदर्य देखा है। उसने उस सौंदर्य के आकर्षण में अपने आपको और अपने जीवन की अनेक यथार्थ-जनित विषमताओं को भूलने का यत्न किया है। वह सौंदर्य आध्यात्मिक रूप से सत्-चित् और आनंद तीनों का समन्वित रूप है। वही सौंदर्य लौकिक जगत् में ऐंद्रिक आकर्षण और उत्तेजनाओं का कारण भी है। उसने जिस सौंदर्य को देखा है वह लौकिक होकर भी अलौकिक और स्थूल होकर भी सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय है। वह उस अलौकिक सौंदर्य के माध्यम से एक अलौकिक सत्ता के सौन्दर्य का आभास देता है।

प्रेम और नारी

छायावादी प्रेम-भावना की व्यंजना में नारी के लिये नये प्रतीकों का प्रयोग किया गया। ये नये प्रतीक ही उस भावना की स्निग्धता के स्पष्ट प्रमाण हैं।

जिस समय छायावाद का उद्भव हुआ एक ओर रीतिकालीन ऐंद्रिक प्रेम का विरोध था और दूसरी ओर द्विवेदी-कालीन सहज मानवीय भाव की स्वीकृति थी। उसका विरोध करते हुये छायावाद ने पवित्र प्रेम की प्रतिष्ठा कर प्रेम को मानवीय रूप में सहज स्वीकृति दी, यह छायावादी कवि की विशेष देन है। स्वच्छंदतावादी कलाकार होने के कारण प्राय: सभी छायावादी कवियों में प्रेम के प्रति यही मुक्त दृष्टि विद्यमान है।

(क) छायावादी कवि प्रेम की सूक्ष्मता पर बल देता है। ' प्रेम के प्रति ' शीर्षक कविता में निराला जी ने प्रेम को वासना की पंकिल भूमि से बाहर निकालकर उसे एक सात्विक धरातल में लाकर खड़ा किया है। यथा -

> प्रेम सदा ही तुम असूत्र हो
> उर-उर के हीरों के हार
> गूँथे हुये प्राणियों को भी
> गूँथे न कभी सदा ही सार।[१]

१- निराला : अनामिका ; पृ० ३२-

(ख) प्राय: छायावादी काव्य में जर्जरित जीवन के अवसाद के कारण उत्पन्न दुखों की अभिव्यंजना अधिक दिखाई पड़ती है। दु:ख की इस व्यंजना में वह विरह नहीं है जो कि अपने ताप से गुलाब जल की शीशियों की शीतलता को अतिक्रमित कर दे ; अपितु उसमें स्वयं कवि की अपनी एक वेदना है और है तद्जनित गहरी अनुभूति।

श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य में एक ऐसी वेदना व्याप्त हो गई है जो अपने आप में ही शाश्वत है। उस वेदना की गहरी अनुभूति में कवयित्री का हृदय चिरंतन आत्मतुष्टि प्राप्त कर लेता है। "मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूं।" यह विरह ऐसे प्रिय का विरह है, जिसने जीवन की प्रथम अनुभूतियों में ही आंखों क्रीड़ा भर दी।[१] कवयित्री आज भी उस सुखानुभूति की स्मृतियों में अपने को दीपक की लौ बनाये जला रही है। यहां भी प्रेम के एक ऐसे शाश्वत रूप का उद्रेक हुआ है, जिसमें संयोग के लिए कोई स्थान नहीं है, और इसीलिए वहां विकार या वासना का नाम नहीं है। कवयित्री भी स्वयं एक अखंड ज्योति की भांति बिना किसी मिलन की आकांक्षा से जलती जा रही है।

(ग) छायावादी कवियों ने सौंदर्य के मंगलमय प्रभाव पर ही विशेष बल दिया है। " रीतिकालीन कवि की भांति आधुनिक कवि नारी के अंगों के बाह्य रूप-मात्र की प्रशंसा करके नहीं रुक जाता, वरन् अवयव के सौंदर्य को भाव-सौंदर्य के साथ रखकर देखता है। उसका विश्वास है कि बाह्य सौंदर्य

१- इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था क्रीड़ा का
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का ।।
महादेवी : यामा ; पृ० ११ -

आंतरिक सौंदर्य की उचित पूर्ति है ---- फलत: नारी का रूप आधुनिक कवि के लिये वासना और पतन का संदेश लेकर नहीं आता। इसके विपरीत यह जीवन की प्रेरणा है, कर्म पथ पर अग्रसर होने का संदेश है।[१]

विद्वानों ने छायावादी काव्य में प्रेम के स्फुटन के तीन स्त्रोत माने हैं -

१- प्रेम की शाश्वत अनुभूति द्वारा -

२- प्रकृति के मानवीकरण द्वारा -

३- आध्यात्मिकता के रंग द्वारा।

छायावादी कवियों के लिए प्रेमानुभूति आत्मिक शक्ति की सहज अनुभूति है। प्रेम जीवन की अनेक सात्विक अनुभूतियों से पूर्ण आत्मा की वह वृत्ति है, जिसका प्रभाव चैतन्य भावालोक पर पड़ता है और इस भावालोक से हृदय की वीणा का एक - एक तार झंकृत हो उठता है। छायावादी सभी कवियों ने प्रेम की इसी अनुभूति को अपनाया है और उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से जिस नारी की कल्पना की है, उसमें प्रेम के चिन्मयअंश की प्रधानता है।

छायावादी कवियों में प्रेम की अनुभूति का धरातल अत्यंत ही गहन एवं सूक्ष्म है। यही कारण है कि छायावादी कवियों ने आंतरिक सौंदर्य से संपन्न रूप और यौवन के अत्यंत ही उदात्त चित्र प्रस्तुत किये हैं। इन कवियों ने नारी और उसके सौंदर्य को कभी उपभोग का विषय नहीं माना है। वह सौंदर्य अपनी अलौकिकता में कवि के हृदय में एक विस्मय, कौतूहल - गुदगुदाहट, आनंद और अन्तप्रेरणा देने वाला है। उस अतीन्द्रिय सौंदर्य से अभिभूत होकर कवि स्वयं प्रश्न करने लगता है - तुम कौन हो? तुम्हारा यह आकर्षण मेरे भीतर की सुकोमल वृत्तियों को क्यों जगा रहा है? छायावादी कवि प्रेम की विह्वलता में आत्मोत्सर्ग करता है, तप करता है, त्याग करता है, और अपने को एक

१- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी - कविता में नारी-भावना ; पृ० ८१ -

साधक के रूप में लाकर खड़ा करता है।

निराला के तुलसीदास में रत्नावली के प्रति व्यंजित प्रेम, प्रसाद के आंसू काव्य में अभिव्यक्त प्रेम और महादेवी के समूचे काव्य में परिलक्षित प्रेम का यही रूप है। पंत की ग्रंथि आदि काव्य में भी छायावादी प्रेम का आरंभ विरह-जनित वेदना से ही होता है, और आत्मानुभूति की तीव्रता में वे यहाँ तक कह जाते हैं कि -

" वियोगी होगा पहला - कवि,
आह से उपजा होगा गान;
निकल कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।"[1]

यहाँ प्रेम का अपना एक आध्यात्मिक पक्ष सामने आता है। छायावादी कवि मिलन की आकांक्षा से दूर और विरह की शाश्वतता में लीन रहता है। इसी कारण उसमें कुछ पलायनवृत्ति भी आ गयी है।

डा० नगेन्द्र ने लिखा है -

" अनेक दार्शनिक आध्यात्मिक प्रभावों के फलस्वरूप प्रेम को इस युग में एक रोमानी रहस्यात्मक अंतश्चेतना के रूप में ग्रहण किया गया, जो स्थूल शारीरिक और बाह्य भौतिकता से परे था। उसमें एक स्निग्ध पवित्र भाव का सहज मिश्रण हो गया। परंतु यह प्रेम बहुत कुछ अव्यक्त सा था। इस प्रेम में शारीरिक रतिजनित तड़पन नहीं थी, आत्मा की व्यापकता थी। जहाँ कहीं इस प्रेम में भौतिक प्रेम की व्यंजना हुई है, वहाँ भौतिक प्रेम ही मुख्य नहीं रहा है अपितु उसके माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना करना कवि का मुख्य विषय रहा है। उस प्रेम में सत्य को परखने, अपनाने और उसके सुंदरतम् रूप से शिवत्व तक पहुंचने का लक्ष्य रहा है।"[2]

१- पंत : आधुनिक कवि, " आंसू से " ; पृ० १५ -

२- डा० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास -

छायावाद और प्रकृति-स्वरूपा नारी

छायावादी कवि की सौंदर्यदृष्टि का दूसरा प्रमुख आधार प्रकृति का उन्मुक्त सौंदर्य है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को आलंबन रूप में ग्रहण किया है। रीतिकाल में संयोग के क्षणों में प्रकृति के अवयव संभोग - श्रृंगार की उत्तेजना लेकर उपस्थित हुआ करते थे और वियोग के क्षणों में प्रकृति के वही अवयव प्रतिकूल प्रभावी हो जाया करते थे और विप्रलंभजनित वेदनाओं का उद्दीपन किया करते थे। रीतिकालीन परंपरा में प्रकृति का स्वयं कोई व्यक्तित्व न था। सेनापति, बिहारी देव, सीताराम, पद्माकर आदि कवियों के काव्य में यत्र - तत्र प्रकृति का आलंबन रूप भी दिखायी पड़ा था, किंतु वह आलंबन रूप सांयोगिक था, और उससे स्वत: प्रकृति को कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं मिल सका। छायावादी कवियों ने प्रकृति से बड़ी ही भावाकुलता के साथ साहचर्य स्थापित किया। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण किया और मानव मन की समस्त अन्तर्दशाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को आधार बनाया। यहाँ तक कि उनकी कल्पना में प्रसूत जिस प्रेयसी का सूक्ष्म रूप सामने चित्रित होकर आया, वह प्रकृति के रूपों में इतना घुलामिला था, कि कहीं - कहीं यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि छायावादी कवि वस्तुत: प्रकृति को ही प्रेयसी मान रहा है अथवा उसकी प्रेयसी का कोई स्थूल और लौकिक स्वरूप भी है।

लहर में नदी और सागर के मिलन द्वारा एक ओर संयोग-श्रृंगार का परिष्कृत और सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किया गया है, दूसरी ओर अनंत प्रेम की व्यंजना दिखाई पड़ती है। सागर को प्रिय-रूप में चित्रित करने में कवि की प्रकृति

१- हे सागर संगम अरुण नील!
अतलान्त महा गंभीर जलधि -
आगमन अनन्त मिलन बनकर -
बिखराता फेनिल लहर लील।
हे सागर संगम अरुण नील।
प्रसाद : लहर ; पृ० १४ -

पर्यवेक्षण - शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है।

छायावादी कवियों के लिये प्रकृति ही उनके भावों को प्रतिफलित करने का माध्यम बनी। प्रातःकाल होने पर उषा की अरुणिम आभा प्राची दिशा में फैल जाती है। मलय बहने लगती है। सागर की सुप्त लहरों में भी एक मधुर कम्पन, हलचल सी व्याप्त हो जाती है। इस मधुर प्राकृतिक व्यापार को प्रसाद जी ने केवल इसी रूप में नहीं लिया वरन् उसमें अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिला कर श्रृंगार का एक परिष्कृत शालीनता युक्त चित्र भी प्रस्तुत किया है -

> चलता दिगन्त से मलय पवन,
>
> प्राची की लाज भरी चितवन -
>
> है रात घूम आई मधुवन,
>
> यह आलस की अंगराई है।
>
> लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,
>
> सागर का उद्वेलित अंचल।
>
> है पोंछ रहा आँखें छलछल,
>
> किसने यह चोट लगाई है?[१]

यहाँ प्रसाद जी ने प्राची को एक अभिसारिका नायिका के रूप में चित्रित किया है।

"सत्य तो यह है कि आधुनिक कवि की नारी कल्पना ही नैसर्गिक है। कवि की प्रेयसी स्थूल पार्थिव रूप की राशि नहीं है वरन् प्रकृति के संचित कोष से निर्मित नैसर्गिक सौंदर्य की प्रतिमा है।"[२] कविवर पंत तो समूची प्रकृति को नारी के ही प्रतिबिंब से चित्रित करते हैं। कवि प्रकृति की इस सुषमा में खो जाता है

१- प्रसाद : लहर ; पृ० २० -

२- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना ; पृ० १८१ ।

और तन्मय होकर समूचे प्रकृति का मानवीकरण करने लग जाता है। यह मानवीकरण छायावादी कवियों की सामान्य विशेषता है। प्रसाद के काव्य में प्रकृति का यह मानवीकरण बहुत ही उदात्त रूपों में व्यंजित हुआ है। वे तो प्रकृति से इतने अधिक तादात्म्य का अनुभव करने लगते हैं कि उसे पुकार - पुकार कर चेतावनी देने में भी नहीं चूकते -

> फटा हुआ था नील वसन क्या
> ओ यौवन की मतवाली !
> देख अंकिचन जगत लूटता
> तेरी छवि भोली - भाली ![1]

महादेवी वर्मा 'नीर भरी दुख की बदली ' कहकर स्वयं प्रकृतिमय बन जाती हैं। निराला ने ' जुही की कली ' में एक मुग्धा नारी के ही सौंदर्य का आभास पाया है। छायावादी प्राय: सभी कवियों में सौंदर्य की ओर एक तीव्र आकर्षण है। वह सौंदर्य एक नारी का सौंदर्य होते हुए भी बहुत व्यापक और भावमय है। उस सौंदर्य की परिधि में नारी का स्वयं कल्पनाजनित स्वर्ण के तारों से खिंचा हुआ भिलमिलाते रूप का यौवन तो है ही, साथ ही प्रकृति का सारा सौंदर्य भी उसी भिलमिलाते रूप का एक अंग बनकर रह गया है।

छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि -

हिन्दी साहित्य में छायावाद का विकास ऐसे समय में हुआ जब कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद के उपदेशों का व्यापक रूप में प्रचार हो रहा था। इस युग में दर्शन, आध्यात्म, नैतिकता, धर्म आदि सभी की एक नूतन व्याख्या की गई, और इस व्याख्या में मानवतावादी दृष्टिकोण

१- कामायनी ; पृ० ७ ।

को प्रमुख रखा गया। छायावादी कवियों पर इन महापुरुषों के विचारों का प्रभाव पड़ा। पंत पर तो विवेकानंद के विचारों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि वे एक बालिका के माध्यम से स्वयं बहुत ही भोला-सा प्रश्न उठाते हैं :- ' माँ अल्मोड़े में आये थे राजर्षि विवेकानंद '।[1]

निराला जी के व्यक्तित्व पर भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है।

यही कारण है कि छायावादी काव्य की ध्वनि उपनिषदों से अधिकांश रूप में प्रस्फुटित हुई, और उसमें व्यंजित नारी का रूप भी दार्शनिक और रहस्यात्मक हो गया।

छायावादी कवियों में आध्यात्मिक प्रेम- भावना अज्ञात प्रिय के प्रति है। इनमें रहस्योन्मुख प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। अपने अज्ञात प्रिय का आभास सर्वत्र मिलता है -

> भरा नयनों ने मन में रूप, किसी छलिया का अमल अनूप।
> जल- थल मारुत - व्योम में, जो छाया है सब ओर।।[2]

महादेवी में इस प्रेम-भावना का बहुत अधिक विस्तार हुआ है -

> मैं पलकों में पाल रही हूं, यह सपना सुकुमार किसी का
> मैं कण-कण में ढाल रही, अलि आंसू के मिस प्यार किसी का।[3]

छायावादी कवि जिस नारी को अपने प्रेम का आलंबन बनाता है, वह लौकिक होकर भी अमूर्त है, और उसे केवल हाड़- मांस की पुतली नहीं कहा

१- पंत : आधुनिक कवि, ' बाल प्रश्न ' ; पृ० २ -

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ४३

३- महादेवी वर्मा : दीपशिखा ; पृ० ३४ -

जा सकता । उसके प्रकट रूप को कभी किसी ने देखा नहीं है । कवि भी संभवतः यह बता सकने में समर्थ नहीं है कि वह जिस प्रेयसी के सूक्ष्म - सौंदर्य पर आत्मसमर्पण करता है, वह कौन है, और किस रूप की है ? उसका स्थूल रूप क्या है ? वह तो भावात्मक जगत में कभी - कभी अपनी अन्तरात्मा को ही नारी का रूप मान लेता है । इसीलिए छायावादी कवि कहीं कहीं अपनी अभिव्यंजना में रहस्यात्मक भी हो जाता है । महादेवी वर्मा का कहना है - " छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है । बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौंदर्य - सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख - दुखों को मिला कर एक ऐसी काव्यसृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, आध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद, आदि अनेक नामों का भार संभाल सकी ।"[१]

इस प्रकार छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुये हम देखते हैं कि उनका घनिष्ट संबंध नारी की परिकल्पना से भी है । कवि के भावजगत का आलंबन रहती हुई भी वह शताब्दियों से चली आती हुई नाना रूढ़ियों से मुक्त है । छायावाद के प्रेम और सौंदर्य की भावनाओं ने उसे एक नूतन पीठ पर प्रतिष्ठित किया है ।

१- " महादेवी का विवेचनात्मक गद्य " पृष्ठ ६० - ६१ ।

छायावादी तत्व और प्रसाद के नारी-पात्र

छायावादी तत्वों के संदर्भ में प्रसाद के नारी पात्रों की विवेचना के लिए निम्नलिखित तथ्यों का अवलोकन कर लेना आवश्यक होगा ।

स्थूल के प्रति सूक्ष्म का आग्रह -

प्रसाद जी कोमल भावनाओं के कवि हैं । उनके साहित्य में सर्वत्र एक ऐसी भावुकता व्याप्त है, जिसमें पाठक एक रसमग्नता का अनुभव करता है । इस रसमग्नता में यत्र-तत्र रोमांटिकता भी परिलक्षित हुई है । स्वभाव से वे दार्शनिक और आभ्यंतर से प्रणय के पावन रूप के उपासक हैं । उनके काव्य में प्रेम और सौन्दर्य अपने उज्ज्वलतम रूप में प्रकट हुआ है ।

प्रसाद ने अधिकांश रूप में नारी के सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण किया है । जहाँ स्थूल वर्णन का प्रकरण आया है, वहाँ उन्होंने उस स्थूल सौन्दर्य में भी एक सूक्ष्म भाव सौंदर्य का समावेश कर उसे अत्यधिक कोमल और स्निग्ध बना दिया है ।

नारी की रीतिकालीन वासना की प्रवृत्ति का जयशंकर प्रसाद ने परिष्कार किया है । जहाँ कहीं उन्होंने यह देखा है, कि नारी पुरुष की वासनाओं का शिकार हो रही है, वहाँ वह विद्रोह करने से नहीं चूके हैं । कामायनी में यहाँ तक कि आदिपुरुष मनु की अबाध लालसा को भी प्रसाद ने लोक कल्याण की दृष्टि से अवाम माना है, और इड़ा के माध्यम से उन्होंने इस कामवासना के विरुद्ध समूची जनता को विद्रोही बनाकर सामने लाकर खड़ा कर दिया है । यद्यपि श्रद्धा और मनु के साथ भी एक ऐसा संयोग आया था, किंतु वहाँ, चूँकि वह संयोग मनु और श्रद्धा के बीच परस्पर भावाकुल आत्मसमर्पण का संयोग था, अतः कवि वहाँ विद्रोही न हो पाया । उनके गद्य साहित्य में भी ऐसे प्रसंग आये हैं, जब कि नारी की भावात्मक मर्यादा के प्रति यदि कहीं कोई स्खलन - उपस्थित हुआ है तो वहाँ उसके विरुद्ध प्रसाद जैसे साहित्यकार का रोष जाग पड़ा है । ` ममता ` नामक कहानी में विधवा तरुणी ममता का चरित्र

इसी तथ्य की प्रतिस्थापना करता है। ममता अपने भविष्य की चिंता में लीन वृद्ध पिता के उस प्रलोभन को नहीं सह पाती, जिसे उसने शेरशाह द्वारा दिये गये उत्कोच के रूप में स्वीकार किया था। वह सिंहनी सी कहती है -

" तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिता जी ! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये। पिता जी ! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?"[1]

प्रेम का आदर्श और उसके तत्व -

" प्रेमपथिक " में प्रसाद ने प्रेम के उद्देश्यों तथा उसके तत्वों का स्पष्टीकरण किया है। प्रसाद के अनुसार प्रेम का एक सात्विक तत्व है और उसमें स्वार्थ के स्थान पर त्याग की भावना निहित होती है। उनके अनुसार - " प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना का हवन करना होगा। प्रेम पवित्र पदार्थ है, इसमें कपट की छाया नहीं होनी चाहिये। प्रेम का रूप परिमित नहीं, जो व्यक्तिमात्र तक बना रहे, क्योंकि प्रेम ही प्रभु का स्वरूप है, जहाँ सबको समता प्राप्त है, मनुष्य को केवल क्षणभंगुर सौंदर्य पर नहीं रीझना चाहिए, क्योंकि उस सुंदरतम की सुंदरता ही सकल विश्व में छाई है।"[2] इस आदर्श पर प्रसाद जी ने पुरुष और नारी के प्रेम संबंध की जो कल्पना की है, उसमें सौंदर्य के माध्यम से एक ऐसे कोमल प्रेम तंतु की संरचना हुई है, जिसमें प्रेम पात्र को पाने की लालसा नहीं है, अपितु जिसके प्रति तप, त्याग, साधना आदि के सात्विक भाव हैं। इन सात्विक भावों को प्रसाद जी ने प्रेम-यज्ञ की संज्ञा दी है। इस यज्ञ में हवन कामनाओं का होगा, अर्थात् जब प्रेम पात्र को पार्थिव रूप में पाने की कामनायें समाप्त हो जांय और प्रेम व्यक्ति की सीमाँ से उठकर अनंत रूप धारण कर ले तभी सच्चा प्रेम कहा जायेगा। प्रसाद के साहित्य

१- आकाशदीप, " ममता " ; पृ० २६ -
२- प्रसाद : प्रेम-पथिक ; पृ० २२- २३ -

में प्रेम का ऐसा ही परिपाक दिखाई पड़ता है।

प्रसाद साहित्य में अपनाये गये प्रेम के तत्व का परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया जा सकता है :-

" इन रचनाओं में उन भावनाओं का आकलन हुआ है जिन भावनाओं को प्रेम की संज्ञा दी जाती है। मांसल सौंदर्य से जब भी प्रेम वृत्ति का योग होता है, नाना प्रकार के मनोभाव क्षण-क्षण बदलते हुये मानस में जीवन पाते हैं। प्रेम में केवल योग नहीं होता। क्षण- क्षण पर उपेक्षा मिलती है। वेदना गले पड़ती है, प्यास लगती है, निवेदन करना पड़ता है। समझाना - बुझाना और गिड़गिड़ाना पड़ता है। विषाद और करुणा से आर्द्र पथ पर प्रतीक्षा करनी पड़ती है, द्वार खुलवाना पड़ता है, यहां तक कि अव्यवस्थित हो जाना पड़ता है और अर्चना करने पर भी असंतोष ही मिलता है।"[१]

यहां तक कि " आत्मसमर्पण करने पर भी प्रियतम न तो आदेश देता है और न प्रेमी को सकारता है, यह सब कुछ के सेल आशा, जिज्ञासा, वेदना, करुणा, आनंद का प्रतिष्ठापक होता है, और इसी समय व्यक्ति का हृदय कसौटी पर कसा जाता है। यदि वह खरा उतरता है, तो विमल वसंत आता हुआ दीख पड़ता है और मनुष्य जीवन का मर्म समझ उसे उद्घाटित कर आगम का विधायक और भविष्य का सृष्टा बनता है।"[२]

झरना में कवि अपने उस प्रियतम के दरवाजे के पास पहुंच गया है। वह एक कमली ओढ़े हुये है, जो कि शिशिर कणों से लदी हुई है और उसके तार-तार भीगे हुये हैं। पश्चिम का पवन शीतलता का भार लेकर बह रहा है, और रात्रि का घना अंधकार है, ऐसे घने अंधकार में वह अपने प्रियतम को पुकारता है - .

१- सुधाकर पांडे : प्रसाद की कवितायें - पृ. १०६, ११०

२- ,, ,, ; पृ० ११०

अरुणा किरण सम कर से छू लो ।
खोलो प्रियतम् । खोलो द्वार ।"[१]

आत्मनिवेदन -

प्रियतम के कानों तक संभवत: शब्द नहीं पहुंचे , अथवा कौन जाने वह प्रियतम जान - बूझ कर उपेक्षा कर रहा है । कवि आत्मनिवेदन करता हुआ अपनी सफाई देता है , और कहता है :-

" धूल लगी है , पद कांटों से बिंधा हुआ है दु:ख अपार ।
किसी तरह से भूला - भटका आ पहुंचा हूं तेरे द्वार ।
डरो न इतना , धूलिधूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर , इन आंखों से आंसू ढार ।"[२]

अंतर्वेदना की इस अभिव्यक्ति के उपरांत भी प्रियतम की निष्ठुरता विगलित नहीं होती । अंत में कवि अनुनय भाव से कहता है कि यद्यपि मेरे पैरों में धूल लगी हुई है , किंतु तुम्हें मेरे पैरों की धूल से इतनी घृणा न करनी चाहिए । वह अपने प्रियतम को उसके महान् पद की याद दिलाता है और अपनी सत्ता एक धूल के कण के समान बताता है :-

" मेरे ऐसे धूल कणों से कब तेरे पद को अवकाश ?"[३]

यहां प्रेम का वह आदर्श चित्रित हुआ है , जहां प्रेमी अपनी सत्ता को सर्वथा मिटाकर स्वयं अपने आपको एक रज कण के समान मानने लगता है । प्रियतम बहुत महान् है , और उसकी महानता के समक्ष एक धूल-कण का अस्तित्व ही कितना हो सकता है । पुन: उसके मन में शंका होती है कि संभवत: प्रियतम ऐसा समझ रहा हो कि प्रेम - पथिक उससे कुछ याचना करने आया है , इससे वह उससे

१- प्रसाद : झरना , " खोलो द्वार " ; पृ० ७ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ७ -
३- वही ,, ,, ; पृ० ७ -

कुछ भूल मोड़ रहा है। इसका भी स्पष्टीकरण करते हुये वह कह देता है कि मुझे और कुछ न चाहिए केवल तुम्हारे पैरों में ही लिपटा - लिपटा अपने वास्तविक पद का निर्धारण कर लूंगा। प्रियतम निष्ठुर है उसके ऊपर अब भी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, अत: अब उसका स्वाभिमान जाग उठता है और आत्मसमर्पण तथा स्वाभिमान का अद्भुत समन्वय हो जाता है, कवि स्पष्टत: बता देना चाहता है -

" अब तो छोड़ नहीं सकता हूं, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार "[1]।

कवि की कामना यदि कुछ है तो केवल इतनी कि जीवन रूपी रात्रि का समूचा दुख -

" मिट जावे जो तुमको देखूं खोलो, प्रियतम! खोलो द्वार ।। "[2]

यहां कवि अपने उस प्रियतम को अपनी स्थूल आंखों से बहुत ही निष्ठुर देख रहा है, किंतु उसका आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण एक निश्चित विश्वास पर टिका हुआ है। वह जानता है कि उस प्रियतम की यह निष्ठुरता केवल बाह्य निष्ठुरता है, और उस निष्ठुरता के मूल्य में करुणा की एक अजस्त्र निर्झरिणी बह रही है। वह निर्झरिणी अवश्य ममता की लहरें उसकी ओर प्रवाहित करेगी।

प्रसाद ने अपने इसी विश्वास के आधार पर नारी हृदय की परिभाषा भी दी है। उन्होंने नारी हृदय को फल्गू की धार के रूप में माना है।[3] फल्गू नदी की अपनी विशेषता है कि ऊपर से देखने में इस नदी में सूखी बालू ही दिखायी पड़ती है, और उसे देखकर उसके भीतर किसी सरसता का आभास नहीं किया जा सकता, किंतु बालू की ऊपरी सतह को हटाकर देखा जाय तो उसके भीतर निर्मल जल का स्त्रोत प्रवाहित रहता है -

---

१- प्रसाद : झरना, ' खोलोद्वार ' ; पृ० ७ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ७ -
३- प्रसाद : कानन-कुसुम , ' रमणी हृदय ' ; पृ० ७० -

फल्गु की है धार हृदय वामा का जैसे
रूखा ऊपर, भीतर स्नेह-सरोवर जैसे
ढकी बर्फ से शीतल ऊंची चोटी जिनकी
भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी
ज्वालामुखी - समान कभी जब खुल जाते हैं
भस्म किया उनको, जिनको वे पा जाते हैं
स्वच्छ स्नेह अन्तर्निहित, फल्गु - सदृश किसी समय
कभी सिन्धु ज्वालामुखी, धन्य - धन्य रमणी-हृदय [1]

यहाँ कवि ने स्पष्ट इस बात का उद्बोध किया है कि नारी हृदय ऊपर से तो कठोर होता है, किंतु भीतर स्नेह का अगाध सरोवर भरा होता है। इस पर कवि आश्चर्य व्यक्त करता है कि उस बाह्य निष्ठुरता के भीतर इतनी सरलता होगी, इसे कौन जानता है। बालू के भीतर भी स्नेह अर्थात् तरलता का होना नारी हृदय की ही विशेषता है।

नारी हृदय की अभिव्यक्ति के लिये कवि शीतल ऊंची चोटी की कल्पना करता है, जिस पर चारों ओर बर्फ ढकी हुई है। देखने में वह बर्फ बहुत ही कड़ी, और रूखी प्रतीत होती है, किंतु उसके भीतर, पानी की कितनी तरल लहरियाँ छिपी हैं, पहले इसका आभास नहीं होता। इसी प्रकार नारी हृदय उस ज्वालामुखी के समान है जो देखने में बहुत ही प्रशांत, किंतु भीतर ही भीतर अग्नि की भीषण ज्वालाओं से पूर्ण है। उस ज्वाला के भीतर से प्रकट होने वाला प्रेम अवश्य ही तपे हुये स्वर्ण के समान निष्कलुष और कांतिपूर्ण होगा। यही कारण है कि प्रसाद की प्रेम- भावना नारी के प्रति इन्हीं आधारों को लेकर चली है।

१- प्रसाद : कानन - कुसुम, 'रमणी - हृदय ; पृ० ७० - ७१ ।

आत्मसमर्पण

लहर में नारी के प्रति जिस कोमल भाव का सृजन हुआ है, उसमें कोमल और सरल आकांक्षा का चढ़ाव-उतार है, फिर भी कवि जीवन के अंतिम लक्ष्य, अर्थात् आत्मसमर्पण तक पहुंच ही जाता है। कवि निराशा के पथ को छोड़कर आशा और आकांक्षा के पथ का अनुसरण करने लगता है। अभी तक वह उस प्रियतम से अलग रहा इसीलिए वह पीड़ा का अपरिमित संसार फैलता रहा, किंतु अब वह छायावादी धरातल से प्रेमी और प्रेमिका का भावात्मक एकाकार कर देना चाहता है, जिससे ' मैं ' और ' तुम ' का प्रश्न समाप्त हो जाय। उसे वह तादात्म्य की संज्ञा देता है। इस तादात्म्य में वह आत्मसमर्पण की प्रतिक्रिया को केवल मन तक नहीं, अपितु आत्मा के भीतरी प्रकोष्ठ तक पहुंचा देता है, जिससे वह व्यक्त जगत के कण-कण में अपने उस प्रियतम का आभास पा सके। अब वह उस प्रियतम को बाह्य जगत से खींचकर अपनी पुतली के माध्यम से प्राणों में समा लेना चाहता है। वह उसकी अनुभूति अपने भीतर ही भीतर पाकर कण-कण को स्पंदित कर देना चाहता है और मन में मलयानिल के संघात से आने वाली चंदन की सुगंधि को भर लेना चाहता है। वह नारी को जीवन की प्रेरणा शक्ति यहां भी मानता है, किंतु यहां वह उपालंभ नहीं देता। यहां तो वह एक ऐसी आत्मीयता का अनुभव करता है कि उसी से जीवन का गीत सुना देने को कहता है यथा :-

" मेरी आंखों की पुतली में
तू बन कर प्रान समा जा रे।
जिसके कन कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो -
वह जीवन गीत सुना जा रे।"[१]

१- प्रसाद : लहर ; पृ० २८ -

<u>प्रेम यज्ञ की साधना -</u>

" प्रेमपथिक [१] में कवि स्पष्टतः पुरुष और नारी के बीच के प्रेम-सूत्र का चित्रण करता है। पुतली के कन्यादान की चर्चा के पश्चात् युवक निराशा के घने तिमिर में खो जाता है। सुधाकर पांडे ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है -
" प्रेम का चंद्रमा मेघ के भीतर छिप गया। मग्न हृदय युवक घर छोड़ चल पड़ा --- सारा संसार, सारा समाज परदेश प्रतीत होने लगा। हृदय के फफोले आँसू बन बह गये। एक दिन चंद्रमा को निहारते चंद्रमा में शत - शत रूपों में चमेली दीख पड़ी। चंद्रमा के प्रतिबिंब से देवदूत सा उतरकर कोमल कंठों से कोई कहने लगा"-

> " पथिक! प्रेम की राह अनोखी
> भूल - भूलकर चलना है
> घनी छाँह है जो ऊपर, तो
> नीचे काँटे बिछे हुये
> प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना
> हवन करना होगा!
> तब तुम प्रियतम स्वर्ग - विहारी
> होने का फल पाओगे।" [२]

कवि प्रेम का आश्रय नारी को ही मानता है, किंतु यहाँ भी उसकी नारी छायावादी प्रभाव से युक्त होकर स्वर्ग - विहारिणी है। यह ऊपर और नीचे का सामंजस्य घनी - छाँह और काँटों का सामंजस्य है। नारी घनी छाँह की शीतलता है, तो पुरुष संसार के काँटों का सम्मिलित रूप। नारी अपनी कोमलता में स्वर्गिक गुणों की प्रतिनिधि भी है और पुरुष अपनी यथार्थवादी

१- प्रसाद ; प्रेमपथिक ; पृ० १८ -
२- वही ,, ; पृ० २२ -

परिस्थितियों में उलझा हुआ कठोरता का एक प्रतीक। दोनों के बीच सांसारिक कामनायें और वासनाजनित स्वार्थ व्यवधान बनकर खड़े हैं। इन व्यवधानों का यदि हवन कर दिया जाय तो फिर सच्चे प्रेम - यज्ञ का अनुष्ठान होगा और तभी धरती और आकाश का मिलन एक पवित्रता का मिलन होगा ; तभी दोनों पूर्ण तादात्म्य का अनुभव कर सकेंगे। प्रेमपथिक में कवि आरंभ से अंत तक यही सिद्ध करता है कि प्रेम प्रतिक्रियावादी नहीं, प्रलोभनवादी नहीं, अपितु आत्मसमर्पणवादी है। वहां कामवासना की यदि बात आई तो कवि का हृदय प्रायश्चित की ज्वाला से जलने लगता है। विधवा के प्रति समाज ने जो कुछ भी व्यवहार किया है उसका चित्रण कवि उसी के मुख से करा देता है -

" लज्जा सब ही लज्जा, मुझको कहने देती नहीं उसे
जिसे नर पिशाचों ने करने का उद्योग किया मुझसे -

< < < < <

काम वासना प्रकट की गई, अहो! मित्र की जाया से
और दुख सागर में उभ चूभ हो, न डूबने पाती है।"[1]

प्यास की अतृप्ति -

"झरना" में कवि की एक अतृप्त प्यास है, जो हृदय की दारुण ज्वाला का एक मधुराभास कराती है। कवि के हृदय की प्रतिक्षण बढ़ने वाली व्याकुलता अपने आलंबन का स्पष्ट चित्र खींचती है -

" देखती प्यासी आंखें थीं,
रस भरी आंखों को भरपूर।
प्यास बढ़ती ही जाती थी,
बुझाने की इच्छा थी दूर।[2]

१- प्रसाद : प्रेमपथिक ; पृ० २६।२८।
२- प्रसाद : झरना "प्यास" ; पृ० ३३।

झरना में जिस नारी की कल्पना है वह लौकिक जगत की ही नारी है, किन्तु कवि ने उसे एक ऐसे परिधान में देखा है जो बहुत झीना होता हुआ भी अलौकिक है, इसीलिए उसके प्रति जिस प्रेम की व्यंजना की गई है वह लौकिक पिपासाओं से समाविष्ट होकर भी उनसे बहुत दूर है और पवित्र है। कवि उसे अपनाता भी है, अपलक नयनों से देखता भी है, प्यास बढ़ती भी है, कामनायें भी उठती हैं, किंतु यह सब आत्मसमर्पण में बदलकर एक पवित्र रूप ले लेता है और नारी यहाँ भी पुरुष के उद्बोधन का कारण बन जाती है।

प्रेमी की निराशा -

कवि बहुत - कुछ रो लेने के बाद प्रिय की निष्ठुरता के कारण निराश हो जाता है। निराशा की इस घनीभूत बेला में कवि की दोनों आँखें बरसात के बादलों की भाँति बरसने लगती हैं। "ऐसी बिजली गिरती है कि उस अपरूप छटा में कवि का विद्रोही हृदय प्रेम के अधिकृत हो अपनी हार स्वीकार कर लेता है। ---- (कभी वह कहता है) कि इस सुहावने में तुम मत झुको, हम स्वागत के लिये माला लेकर खड़े हैं।"[१] इतने से ही काम नहीं चलता। कवि को प्रेम की याचना में निराश हो जाना पड़ता है, तब वह कह उठता है कि तुम अत्यंत सुंदर और सरल थे, मैंने ऐसा सुना था, किंतु वास्तव में मैंने तुम्हें ऐसा देखा तुम अमृत में मिले हुये गरल के एक रूप हो। यह भी अनसुनी कर देने पर वह पुन: कहता है - - "विरह अग्नि में जला कर तुमने मेरा हृदय स्वर्ण की भाँति शुद्ध कर दिया है। इस पर शंका मत करो।" कभी आवेश के उन्माद में वह कहने लग जाता है -

> तुम्हारा शीतल सुख - परिरम्भ
> मिलेगा और न मुझे कहीं।
> विश्व भर का भी हो व्यवधान,
> आज वह बात बराबर नहीं।।[२]

१- सुधाकर पांडे : प्रसाद की कवितायें -पृ.११२

२- प्रसाद : झरना, 'सुधासिंचन'; पृ० ७८ -

प्रसाद और उनका भावसौंदर्य

यद्यपि प्रसाद जी में सौंदर्य के प्रति तीव्र आसक्ति है, और यह आसक्ति इतनी तीव्र है कि हृदय आत्मविभोर हो उठता है और भावनाओं में बही हुई नारी का जो चित्र सामने आता है, वह बहुत ही मौलिक है। कामायनी में मनु जब हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर शिला पर बैठे हुये घोर चिंताओं में निमग्न हैं, कर्तव्याकर्तव्य की कोई भी निश्चित रेखा समझ में नहीं आ रही है, उस समय श्रद्धा का उनके समक्ष आना एक अपूर्व सौंदर्य की अनुभूति का कारण बनता है। उस अनुभूति में मनु स्वयं चमत्कृत हो जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो हिम के अच्छादन के हटने के साथ ही साथ वनस्पतियाँ एक अतीन्द्रिय सौंदर्य के साथ अलसाई हुई जग गई हैं और शीतल जल से अपना मुंह धो रही हैं। इस सौंदर्य में समूची प्रकृति ही एक विचित्र-सी अंगड़ाई लेकर मनु की अंतश्चेतना को जगाती है।

" नेत्र निमीलन करती मानो
    प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने
जलधि लहरियों की अंगड़ाई
    बार - बार आती सोने।"[1]

प्रकृति अपने उस मोहक रूप में एक वधू बनकर सामने आती है :-

" सिंधु सेज पर धरा वधू अब
    तनिक संकुचित बैठी सी
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
    मान किये सी ऐंठी सी।।"[2]

सौंदर्य के इस संमोहन में मनु का मन कौतूहल से भर जाता है और "कौन ?" का प्रश्न उनके मस्तिष्क को घेर लेता है। नारी के अद्भुत सौंदर्य के प्रति कौतूहल की यह वृत्ति छायावादी कवियों की पहली विशेषता है।

१- प्रसाद : कामायनी, 'आशा सर्ग', पृ० ३१ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ३२ -

मनु अपनी चिंता की उदिग्नता में इस कौतूहल से अभिभूत हो जाते हैं और उन्हें कुछ ऐसा आभास होने लगता है, जैसे वे भी कुछ हैं। उनकी यह अनुभूति कुछ नई सी है, और उनमें एक जिज्ञासा हो उठती है कि क्यों न मैं शाश्वत बनकर जीवित रहूं। इस जिज्ञासा के वातावरण में मनु का सूनापन टूट जाता है और उनके समक्ष लावण्यमयी श्रद्धा का सहसा आगमन एक प्रश्न बन जाता है। इस प्रश्न को उत्पन्न करने का प्रथम-स्त्रोत श्रद्धा का बाह्य सौन्दर्य ही है, मनु देखते हैं कि उनके समक्ष एक सुंदर दृश्य है। ऐसा मालूम पड़ता है मानों नेत्रों का अभिराम इंद्रजाल फैल गया है :-

" कुसुम वैभव में लता समान
    चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।
हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
    एक लंबी काया, उन्मुक्त
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशुसाल
    सुशोभित हो सौरभ संयुक्त

<   <   <   <

नील परिधान बीच सुकुमार
    खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
    मेघ वन बीच गुलाबी रंग।।"[1]

छायावादी कवि ने काव्य की कल्पना में जिस नारी को आराध्य माना है वह प्रथमत: जीवन के धरातल की ही नारी है और सबसे पहले कवि उसके बाह्य सौंदर्य पर ही रीझा है। बाह्य सौन्दर्य पर रीझता हुआ भी कवि उसके सौन्दर्य से कामजनित पिपासाओं का उद्दीपन नहीं करना चाहता, वह तो उस सौन्दर्य में एक ऐसी आभा का आभास पाता है, जिसे वह अपने हृदय में बैठा लेना चाहता है।

१- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ४६ -

श्रद्धा का मुख इतना सुन्दर है, मानो लताओं के आच्छादन के बीच कुसुम का प्रस्फुटित वैभव झांक रहा हो, या चंद्रमा और बादल का अपूर्व - संयोग अपनी पूरी शोभा के साथ उपस्थित हो रहा हो। शरीर के बाह्य सौंदर्य का यह आकर्षण श्रद्धा के नख - शिख वर्णन तक नहीं उतरता। कवि उस बाह्य सौंदर्य की म्लानता का कारण कुछ और ही बतलाता है। 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' कहकर कवि 'एक लंबी काया उन्मुक्त' का संदेश देता है और उसके अंगों का संचालन ठीक वैसा ही प्रतीत होता है मानो छोटा - सा साल का वृक्ष मधुर - मधुर पवन के झोंकों से, सौरभ से युक्त होकर अपनी मस्ती में झूम रहा हो। श्रद्धा जो वस्त्र धारण किये हुये है, उससे उसके आधे अंग अपनी सुकुमारता में ज्यों की त्यों खुले दिखलाई पड़ते हैं। नीले परिधान के बीच उसका यह नैसर्गिक लावण्य ऐसा मालूम होता है, मानो मेघ के घने आच्छादन के बीच गुलाबी रंग का बिजली का फूल खिल गया हो। प्रसाद के भावात्मक सौंदर्यबोध का यह उत्कृष्टतम उदाहरण है। इस किशोरावस्था में कहीं कृत्रिमता का नाम नहीं, कहीं अलंकरण की आवश्यकता नहीं, कहीं हाव - भाव प्रदर्शन का कोई प्रसंग नहीं। यहां तो नारी का प्राकृतिक स्वरूप ही उसकी तन्मयता के लिए काफी है।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रसाद के काव्य की नारी कोई प्राकृतिक सुषमा से युक्त निर्जीव शिला के रूप में है, जिसे देखकर पुरुष तो आत्मविभोर हो जाता है, किन्तु उसमें स्वयं कोई प्रतिक्रिया या विलास नहीं है। वह तो प्राकृतिक गुणों से युक्त ऐसी जीव प्रतिमा है, जो तीव्र आसक्ति का कारण बनती है। उसमें सौन्दर्य और यौवन के साथ - साथ मादकता की उच्छ्वास गंध भी भरी हुई है, इसीलिए वह पुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर पाती है। श्रद्धा के ही व्यक्तित्व में जहां एक ओर उसके प्राकृतिक सौन्दर्य में बिजली के फूल खिलते हैं, वहीं वह अपनी अंगड़ाई से मनु के हृदय की कामनाओं से युक्त भी कर देती है। मनु उस सुखानुभूति को ठीक - ठीक समझ नहीं पाते और एक आह - सी लेकर सोचते रहते हैं कि यह किसी का मानस मुख है अथवा संध्याकालीन बादलों के बीच सूर्य अपनी

अरुणिमा फेंककर उनकी ओर देख रहा है। उनके हृदय में एक छोटा - सा श्वेत ज्वालामुखी फूट उठता है और वे सोचते हैं कि नव मुस्कान से युक्त, उषा की कांत पतली रेखा की भांति यह कौन है जो मधु का आधार लेकर उनके समक्ष परमाणु पराग शरीर लेकर खड़ा है। यहां एक ओर यौवन का खुला रूप है और दूसरी ओर कामनाओं की तरल तरंगें हैं। इसी बीच मनु को निर्धारित करना है, कि अब उनके जीवन की कौन - सी दिशा होगी ? वह श्रद्धा से पूछते हैं :-

" कौन हो तुम वसंत के दूत
    विरस पतझड़ में अति सुकुमार।
घन तिमिर में चपला की रेख
    तपन में शीतल मंद बयार।

नखत की आशा किरण समान,
    हृदय के कोमल कवि की कांत
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
    कर रही मानस हलचल शांत "।[१]

इन पंक्तियों में प्रसाद ने नारी का एक ऐसा चित्र खींचा है जो उसके समग्र भावात्मक स्वरूपों का विश्लेषण है। नारी का पुरुष के जीवन में आगमन पतझड़ के नीरस झंझावातों में सुकुमार वसंत के दूत की तरह होता है। उसका आगमन घने अंधकार में सहसा एक बिजली की रेखा चमक जाने के समान है। उसका यह आगमन तपती हुई ग्रीष्म ऋतु में शीतल मंद बयार की अनुभूति कराता है। यही नहीं, हृदय की समूची कोमल कांत भावनाओं के बिंब के रूप में उसका आगमन होता है, वह सत्य होकर भी कल्पना की एक बहुत ही सुंदर और छोटी सी लहरी है, जो जीवन के यथार्थ के विषम थपेड़ों से उत्पन्न होने वाली हलचल को शांत कर रही

१- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ५ ।

है। यह भावुक चित्रण उस नारी का है, जिसे पौराणिक कथाओं में हम आदि नारी कहा करते हैं। यहाँ यह कहना न होगा कि आदिकाल से ही नारी के प्रति आदिपुरुष के मन में जो भावनायें उठीं, उन्हीं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रत्यागमन होता रहा। प्रसाद जी की नारी के प्रति यह विशिष्ट भावना उनके समूचे काव्य में विद्यमान है।

स्थल - स्थल पर प्रसाद की उन वृत्तियों का परिचय मिलता है, जो प्रकृति के रम्य स्थलों पर जाकर लीन हो गई हैं। प्रकृति भी उनके लिये एक भावप्रवण नारी के रूप में है। कभी वह घूंघट काढ़ कर सामने आती है, कभी झीना आवरण डालकर उपस्थित होती है, कभी सुकुमारबाला के रूप में प्रकट होती है, कभी 'परिरंभ कुंभकी मदिरा' छलकाये एक मदमाती यौवना का संभार प्रस्तुत करती है। कभी कवि उसे ऐसी अभिसारिका के रूप में देखता है, जो प्रभातकाल की स्वर्ण-रश्मियों की आभा में भी अभिसार की तंद्रा में पड़ी है। कवि उसे जगाता है :-

तू अब तक सोई है आली
आँखों में भरे विहाग री।[१]

प्रकृति-रूपी नारी में भी कवि उसी अतीन्द्रियता और भाव-विदग्धता का दर्शन करता है, जो वास्तविक नारी में किया करता है। वस्तुत: नारी का यथार्थ और प्रकृति-रूपा नारी का कल्पना-जनित रूप - विधान मिलकर प्रसाद की नारी को सामान्य धरातल की नारी से बहुत ऊँचे उठा देता है। उसे उषा को पनिहारिन के रूप में चित्रित करते हुए, उसे एक अपूर्व सौंदर्यमयी चेतनशीला के रूप में प्रस्तुत किया है, जो आकाश रूपी पनघट से तारा रूपी घड़ों में जल लेने जाती है।[२]

१- प्रसाद : लहर ; पृ० १६ -

२- 'बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी।'
प्रसाद : लहर ; पृ० १६ -

संयोगपक्ष में नारी - सौंदर्य

प्रसाद जी ने नारी में जिस भाव - सौंदर्य की प्रतिष्ठा की है, वह संयोग पक्ष और वियोगपक्ष दोनों में समान रूप से व्यक्त हुआ है। अनेक ऐसे स्थलों की उद्भावना प्रसाद के साहित्य में हुई है, जब कि पुरुष और नारी का प्रेमजनित साहचर्य हुआ है, किन्तु उस साहचर्य में दोनों की बातचीत, हाव - भाव आदि से एक अतीन्द्रिय भावाभिव्यक्ति का ही वातावरण प्रशस्त हुआ है। यहां तक कि श्रद्धा और मनु का वह महामिलन भी एक अपूर्व भाव-सौष्ठव लेकर उपस्थित हुआ है :-

> चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
> वह चेतन पुरुष पुरातन ;
> निज शक्ति तरंगायित था
> आनंद - अंबु - निधि शोभन।[1]

कवि ने जहां स्वयं संयोगपक्ष की अपनी अनुभूतियों का चित्रण किया है, वहां भी उसकी यह भाव - विदग्धता हृदय पर एक मधुर आभास छोड़ जाती है। उदाहरण के लिए 'आंसू' काव्य में कवि अपने एक मिलन का चित्र उपस्थित करता है -

> गौरव था, नीचे आये
> प्रियतम मिलने को मेरे
> मैं इठला उठा अंकिचन,
> देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।
>
> मधु राका मुसक्याती थी
> पहले देखा जब तुमको
> परिचित से जाने कब के
> तुम लगे उसी क्षण हमको।[2]

१- प्रसाद : कामायनी, 'आनंद सर्ग' ; पृ० २८८ -
२- प्रसाद : आंसू ; पृ० १७ -

कवि को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसका प्रियतम (लाक्षणिक रूप में कवि ने जिसे प्रियतम शब्द की संज्ञा दी है) उससे मिलने के लिये आया हुआ है। कवि मिलन की इस क्षणिक और भावाकुल वेला में अपनी सारी व्यथा अपने उस प्रियतम को सुना देना चाहता है; जीभरकर उपालंभों की बौछार कर देना चाहता है। मिलन का यह क्षणिक सुख उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह भोर में सुखद स्वप्न देख रहा हो। लेकिन इस मिलन की घड़ी में भी प्रियतम इठलाता रहा और वेदना से भरी हुई सारी कहानी सुनकर भी अनसुनी करता रहा। कवि उपालंभ का सहारा लेता है और व्यथा भरे शब्दों में कहता है :-

रो - रोकर सिसक-सिसककर
कहता मैं करुणा कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।[1]

आँसू काव्य में भी कवि अपने प्रियतम के शारीरिक सौंदर्य पर नहीं रीझता, उसके आकर्षण के वृत में शारीरिक सौन्दर्य उतना प्रभावकारी नहीं है जितना कि उसका चिर सत्य और चिर सुंदर रूप -

तुम सत्य रहे चिर सुंदर
मेरे इस मिथ्या जग के।[2]

यही सौंदर्य उसके अंतरतम् में समा गया है। यहाँ तक कि उसके प्रेम की सूक्ष्म अनुभूति अंतरात्मा में व्याप्त हो गई है। वह कहता है -

" है अंक हृदय में बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौंदर्य सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अंगारे।"[3]

१- प्रसाद : आँसू ; पृ० १५-
२- वही ,, ; पृ० १६ -
३- वही ,, ; पृ० ४३ -

कवि वास्तविक संसार की ज्वाला को पहचानता है । वह अपने उस प्रियतम को विश्व की यथार्थमय विषमताओं की ज्वाला में जलते हुए नहीं देखना चाहता । फिर भी वह देखता है कि उसकी यह आराधिका इस ज्वालामयी लहरियों में निरंतर प्रकाशमान दिखाई पड़ती है । कवि का हृदय उसके प्रति सहानुभूति से भर जाता है और वह कहता है :-

वह ज्वालामुखी जगत की
वह विश्व-वेदना - बाला
तब भी तुम सतत अकेली
जलती हो मेरी ज्वाला ।[१]

सौंदर्यबोध और अंतर्वेदना -

कामायनी में नारी के चित्रण में प्रसाद जी की कल्पना जितनी ही सशक्त होकर सामने आई है, उतनी ही गहरी आत्मवेदना का भी चित्रण हुआ है। आँसू में जिस नारी की कल्पना है, उसका स्पष्ट चित्र खींचने में कवि ने झिझक और संकोच का अनुभव किया है। आगे चलकर उसकी यही झिझक गहरी वेदना का रूप ले लेती है। कवि के हृदय में बैठी हुई गहरी वेदना मुखर हो उठी है। कहीं - कहीं पर प्रेम की संयोगजनित हल्की सी मसलन तथा बिछलन भी दिखाई पड़ जाती है, किंतु यह बिछलन बहुत ही भावुकता के क्षणों में उत्पन्न होकर फिर वियोग की गहरी अंतर्पीड़ा में विलीन हो जाती है। निराला जी ने नारी के जहाँ ऐसे भावात्मक चित्र प्रस्तुत किये हैं, वहाँ उनका स्वयं का पुरुषत्व मार्ग में आकर खड़ा हो गया है। पुरुष पूर्णतया नारी के हाथों में आत्मसमर्पण करता हुआ नहीं पाया जाता। पंत संयोग के क्षणों में भी एक ऐसी भावुकता को उत्पन्न कर लेते हैं, जो हृदय को सामान्यत: छूकर मौन हो जाती है, किन्तु पीड़ा की गहराई में पहुंचकर नारी से वियोग की स्थिति में भी तादात्म्य का अनुभव

१- प्रसाद : आँसू ; पृ० ६१ ।

करने की सफल कला प्रसाद जी की ही विभूति है। वियोग की विषम स्थिति में कवि एक प्रेमी की ही भाँति आशा और निराशा के फोंके खाता है, उपालंभ भी देता है, फिफक और संकोच का भी अनुभव करता है। व्याकुलता के क्षणों में प्यासी आँखों को देखता रह जाता है। आँसू काव्य की पीड़ा हिन्दी साहित्य की एक अनुपम निधि है। आँसू की परिभाषा में ही जिस पीड़ा की व्यंजना है, उससे स्वत: उसकी गहराई का अनुभव हो जाता है -

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई। [१]

कवि की अन्तर्वेदना जब भाषा का बल पाकर आँसुओं के माध्यम से व्यक्त होने लगती है, तो कवि का अन्त:करण एक करुण पुकार करने लगता है। उस पुकार में एक टीस है, आशा है, निराशा है, उपेक्षा है, उलझना है, और फिर समर्पण की एक गहरी नि:श्वास है। कवि के अन्त:करण की पुकार बहुत ही तीव्र और वेदनामयी है।

कवि का अंतर्मन अपने आराध्य - बिंदु को ममता की पुकारों से घेर लेता है, जिसे कि वह अपने "प्रियतम" या "मेरी ज्वाला" की संज्ञा देता है। भाव - विह्वल होकर कवि स्वयं अपने को प्रियतमा मान लेता है और कबीर की भाँति किसी ऐसे प्रियतम की कल्पना करने लगता है, जो प्रकट होकर भी सामने नहीं आता, किंतु जिसका शाश्वत रूप विश्व के कण - कण में व्याप्त है। इस प्रणयानुभूति में लौकिक संवेदना ही भावनाओं के माध्यम से काव्य का प्राणतत्व निरूपित कर सकी है।

प्रसाद का प्रतीकात्मक प्रियतम सामान्यतया एक मानव है। उसके प्रति

१- प्रसाद : आँसू ; पृ० १४ -

कवि की प्रणयानुभूति वेदना का संबल पाकर लौकिक और रोमांटिक प्रेम से ऊपर उठ गई है । अत: मानवीय भावभूमि के होते हुए भी आंसू काव्य में नारी का जो रूप चित्रित किया गया है , वह इतना उज्ज्वल और उदात्त है कि उसमें भावनाओं का सारा दर्शन और गांभीर्य आकर समाविष्ट हो गया है । यहाँ कवि जिस नारी की ओर इंगित करता है , कभी - कभी उसकी हँसी उसके हृदय में फूल के कण बिखेर देती है और कभी उसकी मुस्कान उसे बहुत ही कुटिल जान पड़ती है । कवि छायावादी धरातल से जिस तादात्म्य का अनुभव करता है , उस पर उसे स्वयं संदेह सा होने लगता है , और वह सोचता है कि वह जिस रूप की प्रणयानुभूति में इतना निमग्न है , वह केवल रूप ही है , यौवन का दैहिक आकर्षण ही है , अथवा उसमें कहीं कुछ हृदय की संवेदना और समानुभूति भी है । वह सोचता है कि यदि उस प्रेयसी में हृदय की समानुभूति भी होती तो अवश्य ही वह कवि के आत्मसमर्पण को ठुकरा न देती । उसे आज भी मिलन की उन शुष्क घड़ियों की याद आती है -

" वह रूप रूप था केवल
या हृदय रहा भी उसमें
जड़ता की सब माया थी,
चैतन्य समझ कर मुझमें ।"[1]

" बौद्ध दर्शन की करुणा जीवन के प्रति जिस वैराग्य को जन्म देती है , उसी वेदना ने आंसू के प्रेमी को जीवन के रहस्य का द्वार खोल दिया । ---- भावना प्रकाशन के रूप में "आंसू " प्रसाद के व्यक्तित्व का प्रौढ़ वरण है, जिसका पूर्ण विकास कामायनी में हुआ है । " आंसू " किसी न किसी रूप में प्रसाद के अंतरतम का छायाचित्र है और आरंभ के छंदों में उनका हृदय ही प्रधान है । ----

---

१- प्रसाद : आंसू ; पृ० २५-

`आंसू` में केवल साधारण प्रणय के ही दर्शन नहीं होते, किन्तु उसमें एक गहन अनुभूति भी है।`[1]

कौतूहल और सौंदर्यानुभूति -

कौतूहल छायावादी कवियों की एक अनिवार्य वृत्ति है। आंसू में नारी के प्रति कवि की जो कौतूहल वृत्ति देखी गई है वह `झरना` में उतनी ही प्रबल है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि वह अब उसके कुछ निकट चला गया है, और `झरना` काव्य में वह जो कुछ भी अपने आराध्य को समर्पण करता है, उसके प्रति उसका दावा है कि उसने उसे निकट से देखा है। यथा :-

> हृदय ही तुम्हें दान कर दिया, क्षुद्र था, उसने गर्व किया।
> तुम्हें पाया अगाध गंभीर। कहां जल विंदु, कहां निधि नीर।।
> हमारा कहो न अब क्या रहा? तुम्हारा सबका ही रहा।
> तुम्हें अर्पण, और वस्तु त्वदीय? हीन हो हीन ममत्व मदीय"।।[2]

नारी के व्यक्तित्व की गंभीरता और व्यापकता अब भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, किंतु अब उसे यह संदेह नहीं रह गया है, कि उसका आत्मसमर्पण भी स्वीकार किया जायेगा अथवा नहीं। अब उसे अपने समर्पण के प्रति पूरा विश्वास हो चुका है अतः वह अब केवल एक द्रष्टा-मात्र नहीं रह जाता। कवि को झरना में आशा और निराशा दोनों की अनुभूति होती है :-

> किसी हृदय का यह विषाद है,
> छेड़ो मत यह सुख का कण है।
> उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
> करुणा का विश्रान्त चरण है।।[3]

१- डा० प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य ; पृ० १८९ -
२- प्रसाद : झरना, `समर्पण`
३- प्रसाद : झरना ; पृ० १७ -

झरना का प्रेम अधिक स्वाभाविक सजीव व मांसल है ---- किंतु अब भी लक्ष्य का आभास नहीं मिलता। स्वयं कवि के हृदय में अनेक शंकायें उठ रही हैं जिनका समाधान नहीं हुआ।"[1] यही कारण है कि झरना में कवि आत्माभिव्यक्ति की ओर क्रमशः नहीं, अपितु एक साथ ही अग्रसर होता है।

प्रतीकात्मकता -

वियोगजनित हृदय की समग्र निराशा अंत में प्रतीकात्मकता का माध्यम लेकर अनेक चित्र बनाने लगती है। नारी के प्रति पहले से कवि उदात्त भावों से युक्त है। छायावादी प्रकृति के कारण कवि स्पष्टतः यह नहीं कह पाता कि उसका प्रियतम कोई नारी है, किंतु अनुभूतियों की गहराई में उतरकर वह जिन इच्छाओं और आकांक्षाओं का उल्लेख करता है, वह निश्चय ही लाक्षणिक नारी का प्रतीक है। यत्र-तत्र लहर में रूप और यौवन के चित्र मिलते हैं जैसे :-

"आह रे, वह अधीर यौवन"[2]

किन्तु ऐसे चित्रों में भी कामनाओं से सशक्त भावनामय यौवन ही चित्रित होता है, ऐन्द्रियजनित कामोद्दीपक यौवन नहीं।

प्रसाद : छायावादी नारी उद्भावना और निष्कर्ष -

प्रसाद ने अपने समग्र साहित्य में नारी का जो चित्रण किया है, वह बहुत सात्विक एवं अतीन्द्रिय है। कवि छायावादी होने के कारण बहुधा अपने काव्य की नारी को प्रियतम शब्द से संबोधित करता है। कहीं-कहीं अपने इस प्रियतम को वह प्रकृति के रूप में भी देखता है, और ऐसी स्थिति में उसका मानवीकरण करता है। उसके कल्पनालोक में बसी हुई नारी लौकिक जगत की ही है, किंतु उसमें गुण अलौकिक है। कवि उसे दैवी शक्तियों से परिपूर्ण मानता है

1-डा० प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य ; पृ० २२१ -

2- प्रसाद : लहर ; पृ० २२ -

वह उस अलौकिक रूप से पूर्ण तादात्म्य करना चाहता है। इस तादात्म्य के लिए उसके पास एक ही शक्ति है, और वह है आत्मसमर्पण की। आत्मसमर्पण की भावाकुलता के द्वारा वह जिस प्रियतम को पाना चाहता है, उसके प्रति उसके मन में अनेक आशायें और आकांक्षायें भरी हुई हैं। कहीं - कहीं तो वह निराश होकर उपालंभ का भी सहारा लेता है, किंतु वह संयोग की अपेक्षा वियोग को अधिक शाश्वत मानता है। संयोग के क्षणों में कवि कहीं - कहीं रोमांटिक भी हो गया है, किंतु रोमांटिक (रोमानी) धरातल पर उतरते - उतरते उसकी भावनाओं के रोंगटे खिल जाते हैं और वह फिर अपने शाश्वत संसार में लौट आता है। इसका कारण यह है कि वह नारी और पुरुष को सृष्टि के संचालन का दो तत्व अवश्य मानता है, किंतु दोनों के बीच के वासनामय संबंधों को वह कभी नहीं स्वीकार करता। इंद्रियजनित तात्पर्य जहाँ चित्रित भी हुआ है, वहाँ वासना की प्रधानता नहीं, भावनाओं के समर्पण की ही प्रधानता है। यहाँ तक कि देवों की सृष्टि में जो निरंतर वासना की अविरल धार बहती थी, कवि उसी समूची सृष्टि का ही प्रलयकालीन लहरों में विनाश कर देने की कल्पना करता है। उसका विश्वास है कि जिस समाज में पुरुष की दृष्टि नारी केवल वासना की पूर्ति का माध्यम होगी, वह समाज भले ही बहुत ही शक्ति संपन्न हो, किंतु उसका विनाश अवश्यंभावी है। देवों की नवनिर्मित सृष्टि का वर्णन करते हुए कवि कहता है :-

> देव न थे हम और न ये हैं,
>   सब परिवर्तन के पुतले ;
> हाँ कि गर्व - रथ में तुरंग सा
>   जितना जो चाहे जुत ले।[१]

जिस समाज का पूरा गठन वासना के नश्वर आधारों पर हो, वह समाज कभी विकसित नहीं हो सकता, यही कारण है कि देव, जिनके समाज में कोई वृद्ध ही

१- प्रसाद : कामायनी, 'आशा' ; पृ० २५।

नहीं होता था, और जहाँ केवल तरुण - तरुणियों का नृशंस हास-विलास होता रहा, उसकी गति क्या हुई?

"देव कामिनी के नयनों से
जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
होती थी, अब वहाँ हो रही,
प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।"[1]

कवि एक ऐसे समाज का सृजन करता है जिसमें नारी और पुरुष का संबंध परस्पर भावात्मक संबंध हो और जहाँ नारी प्रेरणा की स्त्रोत बनकर पुरुष को जीवन-पथ पर अग्रसित होने के लिये ललकारे; पुरुष उसके आवाहन पर आगे की ओर बढ़ पड़े।

कवि लौकिक नारी को एक ओर तो पुरुषों के सौंदर्य और यौवन से युक्त देखकर उस पर रीभता है, किंतु दूसरी ओर वह उसके सौंदर्य को छायावादी प्रतीकों में इतना अतीन्द्रिय और अलौकिक पाता है, कि वह सौंदर्य ही पूर्णतया आध्यात्मिक हो जाता है। कवि उसका चिर सत्य और चिर सुंदर रूप अपने मिथ्या जग के मंदिर में प्रतिष्ठापित कर लेता है, और आत्मसमर्पण कर देता है। ऐसे ही आत्मसमर्पण के क्षणों में, अपने उस प्रियतम से वह कहता है - "हे प्रिय, इस कोलाहल की धरती से कहीं दूर मुझे उस शांतिपूर्ण वातावरण में ले चल, केवल मैं और तुम बस यही दो हों और चंचल लहरों का आघात दुकूलों से मधुर - मधुर बातें करता हुआ, मुझे सुख के संसार में निमज्जित कर दे।"[2]

१- प्रसाद : कामायनी, "चिंता"; पृ० १२ -

२- ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे - धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी -
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।
प्रसाद : लहर; पृ० १४ -

उसे विश्वास है कि ऐसे निर्जन और कोलाहल - विहीन स्थल में वह अपने आप को पूर्णरूपेण उस आराध्य के हाथों में समर्पित कर सकेगा। उसका यह अगाध विश्वास नारी को भावलोक के शीर्ष पर स्थापित कर देता है।

प्रसाद ने नारी को एक प्रेरणामयी शक्ति के रूप में देखा है। उनकी दृष्टि में उसका कल्याणी रूप अधिक सार्थक और सप्रयोजन है। कामायनी में नारी की यह प्रेरणामयी अभिव्यक्ति बहुत ही भावुक और सारगर्भित है। अन्य रचनाओं में भी नारी की उदात्त भावनाओं को प्रसाद ने शक्ति के रूप में माना है, और वही शक्ति इस सृष्टि के मूल में विद्यमान है।

समाजशास्त्र की परिभाषा में जिसे हम पुरुष कहते हैं, सांख्य की भाषा में उसे ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म समस्त सक्रियता का पुंज है, किंतु उसकी यह सक्रियता और पुरुषार्थ तभी गतिमान होते हैं, जब वे शक्ति के द्वारा उद्वेलित किये जाते हैं। शक्ति का दूसरा नाम नारी है, जो सृष्टि के संचार का नूतन संदेश देती है।

प्रसाद ने पुरुष को मूलत: अवसादमग्न देखा है। कवि ऐसे वातावरण की कल्पना करता है, जब कि चारों ओर सूनेपन का साम्राज्य है, और हृदय में कोई वियोग आकर अंधकार के घनेपन को और भी आच्छादित कर देता है। उसकी स्मृति में समूचा पुरुषार्थ मानों विकल हो उठा है -

" उस विकल वेदना को,

ले सुख को किसने ललकारा।"

उस व्याकुलता की घड़ी में कोई शक्ति ही है, जो उसके सुषुप्त भावों को जगाती, और उसे जीवन के समतल मार्ग पर ले आती है। निश्चय ही प्रसाद की परिभाषा में वह शक्ति स्वयं नारी है।

प्रसाद के नाटकों में यद्यपि नारी-पात्र मुख्यत: ऐतिहासिक धरातल से चुने गये हैं, किन्तु उनमें प्रसाद जी इस तथ्य को प्रतिष्ठापित करना नहीं भूले हैं कि नारी का व्यक्तित्व पुरुष के व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक भावप्रवण, सजग, प्रखर और संवेदनशील है। अपनी कहानियों और उपन्यासों में भी उन्होंने

इस तथ्य को अपनाया है कि पुरुष के व्यक्तित्व को छाया की भाँति घेर लेने वाला नारी का ही व्यक्तित्व हुआ करता है। कहानियों उपन्यासों, नाटकों और काव्यों में हर कहीं उनका यह दृष्टिकोण अपने अविकल रूप में व्याप्त दिखाई पड़ता है। किन्तु उनके नाटकों, कहानियों और उपन्यासों की नारियाँ यथार्थ जीवन के अधिक निकट होने के कारण उतनी भावाकुलता प्रधान नहीं हैं, जितनी कि उनके काव्य की नारियाँ हैं। जहाँ तक छायावादी दृष्टिकोण से प्रसाद की नारियों के चित्रांकन का प्रश्न है, हमें उनके काव्यग्रंथों का अधिक आश्रय लेना पड़ेगा।

प्रसाद की नारियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। (१) जीवन के यथार्थ धरातल की नारियाँ और (२) कल्पना प्रसूत भावजगत की नारियाँ। यथार्थ धरातल की नारियों का चयन मुख्यतया उनके गद्य साहित्य में अधिक हुआ है। भावात्मक धरातल की नारियों का सृजन वे अपने काव्य में बहुलता से कर सके हैं।

प्रसाद ने नारी व्यक्तित्व के चित्रण में व्यवहारिक गुण-सौंदर्य और काल्पनिक भाव-सौंदर्य दोनों का सामंजस्य करके एक नई प्रतिमा तैयार की है। वह प्रतिमा बहुत ही भाव प्रवण और उद्बोधक है।[१] वह जीवन का मधुर राग एक ऐसे समय में छेड़ती है, जब चेतना के समस्त द्वार परिस्थितियों के दबाव के कारण बंद हो गये रहते हैं। उसके द्वारा दिया गया उद्बोधन एक तो अंतर्मन की सुषुप्त शक्तियों को जगाता है, दूसरे हृदय के समस्त अनुरागों को उद्दीप्त करता है। इसीलिए नारी की यह प्रेरणामयी उद्भावना अपने अतीन्द्रिय और अनुपम सौंदर्य के साथ व्यक्त हुई है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रसाद नारी प्रतिमा की संरचना में छायावादी धरातल से बढ़कर सौंदर्यवादी शिवतत्व तक पहुंच गये हैं और इन दोनों में उन्होंने एक ही सत्य को प्रतिष्ठापित किया है कि नारी एक शक्ति है, प्रेरणा है, और है शाश्वत उद्बोधन का कारण।

१- कृपया 'कामायनी' की श्रद्धा को देखें।

--अध्याय ४

ऐतिहासिक परिवेश मे प्रसाद के नारी-पात्र

ऐतिहासिक परिवेश में प्रसाद के नारी - पात्र -

प्रसाद - साहित्य में नारी - पात्रों की अतिशयता असंदिग्ध है। इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रसाद ने उन नारी-पात्रों की सृष्टि अपनी विशिष्ट परिकल्पना के साथ एक निश्चित आदर्श के आरोपण के लिए की है। अपने दृष्टिकोण को मूर्त करने के हेतु उन्होंने जिस सांस्कृतिक भूमि को अपना आधार बनाया है, उसी के लिए कभी भारतीय इतिहास से और कभी पुराणों से अपने पात्रों का चयन किया है। अन्यत्र उन्होंने काल्पनिक पात्रों का भी सृजन किया है, जो उनके मनोजगत की समस्याओं के वाहक बनकर प्रस्तुत हुए हैं।

इस दृष्टि से हम उनके पात्रों को तीन परिप्रेक्ष्यों में रखकर देखेंगे। प्रथमत: वे ऐतिहासिक नारी पात्र आते हैं, जो अपनी ऐतिहासिक भूमिका में भी प्रसाद की दृष्टि का प्रकाश लेकर मुखर हो उठे हैं। इन पात्रों का विवेचन करते हुए हम देखेंगे कि ऐतिहासिक सत्य मेंऔर प्रसाद की प्रस्तुति में क्या अंतर है और नवीनता कहाँ है, तथा उस मौलिक दृष्टि का उद्देश्य क्या है।

दूसरे वर्ग में पौराणिक परिवेश में बंधे पात्र आते हैं, इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है, तथापि पौराणिक रूढ़ियों का अतिक्रमण करके भी प्रसाद ने किस प्रकार नई व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, यह विवेचन का विषय है। उनकी मौलिक व्याख्याओं में उनकी सूझ तथा नारी के प्रति उनके आदर्श भलीभांति सामने आते हैं।

तीसरे वर्ग को हम सामाजिक वर्ग के नारी - पात्र के अन्तर्गत कह सकते हैं। उनके समस्त साहित्य के अधिकांश पात्र इसी विभाग में आते हैं, तथा प्राचीन पात्र भी जो सामाजिक समस्याओं का प्रकाशन करते हैं, एक प्रकार से समसामयिक भी होजाते हैं। प्रसाद ने इनके चित्रण में अनेक प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रश्नों और व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन भी किया है और उसके साथ ही उन्होंने इनके ही माध्यम से निजी सांस्कृतिक आदर्शों की स्थापना भी की है।

इतिहास और पुराण के द्वारा वैदिक ज्ञान के उपबृंहण का विधान शास्त्रों में मिलता है -

" इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् "[1]

इतिहास तथा पुराण दोनों में अतीत का वृत्तांत है किंतु जहाँ वैज्ञानिक इतिहास प्राचीन तथ्यों का वर्णन मात्र होता है वहाँ " अतीत के प्रकाश में वर्तमान के रहस्यों का उद्घाटन करने के साथ - साथ भविष्य की श्रेष्ठ संभावनाओं का संकेत भी काव्य में निहित रहता है। "[2] काव्य के विधान में शब्द की शक्ति द्वारा इन्द्रियों के रूपों के अतिरिक्त स्मृति और धारणा के अर्थ में संस्कार भी सन्निहित है। "[3] कवि इतिहास के उसी अर्थ को ग्रहण करता है, जहाँ उसकी सांस्कृतिक चेतना तुष्टि पाती है। प्रसाद जैसे कवि के सामने भी ऐतिहासिक वृत्तों में घटनाओं के बाह्य रूप की अपेक्षा उनका सांस्कृतिक अर्थ अधिक महत्वपूर्ण था। " सांस्कृतिक इतिहास बाह्य रूपों में आंतरिक अर्थ का सूत्र खोजता है।"[4] और प्रसाद ने बड़ी कुशलता से उन आंतरिक अर्थों की व्याख्या अपनी ऐतिहासिक रचनाओं में की है।

हम कह सकते हैं कि " ---- उन्होंने (प्रसाद ने) भारतीय इतिहास का अनुशीलन केवल साहित्यकार की अपनी दृष्टि से नहीं अपितु इतिहासविद् की वैज्ञानिक तत्वान्वेषिणी दृष्टि से किया था। वह अधिक से अधिक प्रामाणिक सत्य घटनाओं को ही आधार बनाकर उनकी पृष्ठभूमि पर सरस साहित्य का निर्माण करना चाहते थे ----"[5]।

१- रामानन्द तिवारी : सत्यं शिवं सुन्दरम् ; पृ० ४०६ -
२- रामानन्द तिवारी : सत्यं शिवं सुन्दरम् ; अध्याय १७ ; पृ० ३३ -
३- वही ,, ,, ; अध्याय १७ ; पृ० ३२ -
४- वही ,, ,, ; अध्याय १८ ; पृ० ४१३ -
५- प्रो० राम प्रकाश अग्रवाल : भारतीय इतिहास के मर्मान्वेषी प्रसाद; पृ० ५४

जिन नारी पात्रों को प्रसाद ने इतिहास के कथानकों से ग्रहण किया है उनमें उन्होंने वैसी ही प्राण-प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है जैसी कि उन नारी-पात्रों के संबंध में ऐतिहासिक विविध सामग्रियों में उल्लिखित मिलता है। ऐसे नारी - पात्रों के चरित्र के रेखांकन में प्रसाद ने जहां अपनी कल्पना से काम लिया है, वहां इस बात का ध्यान भी रखा है कि उन पात्रों के व्यक्तित्व से उस युग का प्रतिबिंब प्रत्यक्ष हो सके जिनका प्रतिनिधित्व वे नारियां उन नाटकों में कर रही हैं।

इतिहास के संबंध में प्रसाद जी का विश्वास था कि - " इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संघटित करने के लिए अत्यंत आवश्यक होता है . . . क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी सभ्यता है उससे बढ़कर और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें पूर्ण संदेह है।"[१]

किसी भी युग के ऐतिहासिक नारी-पात्रों के चयन में साहित्यकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि प्रसाद ने अपने नारी - पात्रों के चयन में ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ ही उस युग के साहित्यिक ग्रंथों, धार्मिक ग्रंथों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, कलाकृतियों, विशेषरूप से (मूर्तिकला और चित्रकला) का भी सहारा लिया है।

युग-विभाजन -

प्रसाद के नाटक इतिहास की एक निश्चित श्रृंखला से होकर चले हैं। नाटकों के कथानक के लिए प्रसाद ने जो स्थल चुने हैं उनमें उनकी एक निश्चित योजना प्रकट होती है। " ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों से मानव-सभ्यता के चिरंतन और शाश्वत सत्यों को ढूंढ निकालना प्रसाद को अभिप्रेत था। यही कारण है कि

१- ' विशाख प्र० सं० की भूमिका '।

प्रसाद भारतीय इतिहास के उन युगों की ओर बढ़े हैं जिनमें मानव-सभ्यताएं एक दूसरे से टकराई हैं और उस संघर्ष के परिणामस्वरूप उनके शाश्वत सत्य अपनी ध्वजाओं को चिरंतन काल के लिए फहरा गये हैं।[१] ऐसा करने में उनका उद्देश्य भारत के अतीतकालीन गौरव को प्रदर्शित करते हुए वर्तमान युग को एक रचनात्मक प्रेरणा देना था। इसीलिए उन्होंने प्राचीन भारत के मुख्य - मुख्य युगों से जिनमें भारत की उन्नति का गौरव चरम उत्कर्ष पर था, से कुछ घटनाओं, और उनसे संबंधित पात्रों का चयन किया।

बौद्ध काल से लेकर हर्षवर्द्धन तक का युग भारत की समृद्धि और कीर्ति का स्वर्णिम काल है। इसी युग में भारत के ज्ञान - विज्ञान का सुदूर देशों में प्रसार हुआ। चंद्रगुप्त मौर्य के युग में भारत और यूनान की सभ्यताओं का संघर्ष हुआ और दोनों के सम्मिलन से जो निर्मल स्त्रोतस्विनी प्रवाहित हुई, वह आज भी भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला में अपनी अमिट छाप छोड़ गई है। गुप्तकाल पुनरुत्थान का काल तो था ही कला, साहित्य और संगीत के क्षेत्र में एक नवीन अभ्युदय का सूचक भी था। इसी प्रकार सम्राट् हर्ष का काल भी विकासशील शक्तियों का काल था। उसके शासनकाल में राज्यश्री ने स्वयं शासन के कार्यों में हाथ बंटाया और प्राचीन भारत की नारियों के आदर्शों का एक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किया। प्रसाद ने अपने नाटकों के पात्रों को भारत के इसी इतिहास से चुना है और प्रयत्न किया है कि उन पात्रों की ऐतिहासिकता पर नाटक के कल्पित प्रसंगों द्वारा कोई आघात उपस्थित न हो। ऐतिहासिक नारियों के संबंध में भी ठीक यही बात कही जा सकती है।

१- डा० जगदीशचंद्र जोशी : हिन्दी गद्य- साहित्य एक सर्वेक्षण ; पृ० ११।

बौद्ध-काल - " अजातशत्रु "

कालक्रमानुसार स्थूल इतिहास की घटनाओं पर आधारित उनका प्रथम ऐतिहासिक नाटक " अजातशत्रु " है। इसकी घटना बौद्ध युग की घटना है। भगवान् गौतम बुद्ध, बिंबसार, अजातशत्रु आदि इस नाटक के ऐतिहासिक पुरुष पात्र हैं। इतिहास की घटनाओं के अनुसार कहा जाता है कि बिंबसार और अजातशत्रु भगवान् बुद्ध के समकालीन थे और इन मगध सम्राटों के हृदय में बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा थी।[1]

जहाँ तक नारी पात्रों का संबंध है, अजातशत्रु में सात ऐतिहासिक नारी पात्र कहे जा सकते हैं। उनके चित्रण के लिये प्रसाद ने इतिहास के वृत्तांतों, कथा-सरित्सागर, बौद्धों के जातक, चित्रकला आदि के प्रमाणों का अवलंब लिया है। प्रसाद जी ने जिसे वासवी की संज्ञा दी है, उसका ऐतिहासिक नाम रानी कौशल्या कहा गया है। कथा प्रसंग में प्रसाद ने कहा है : - " अजातशत्रु वैशाली (वृजि) की राजकुमारी से उत्पन्न, उन्हीं का पुत्र था। इसका वर्णन भी बौद्धों की प्राचीन कथाओं में बहुत मिलता है। बिंबसार की बड़ी रानी कौशल्या (वासवी) कौशल नरेश प्रसेनजित् की बहन थी ---- "।[2]

कौशल्या के संबंध में ऐतिहासिक प्रमाण यह है कि, " कौशल के राजा महाकोशल ने मगधराज बिंबसार के साथ अपनी कन्या कोशल देवी का विवाह करते हुये काशी का एक ग्राम, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, नहानचुन्न के रूप में प्रदान किया था।"[3]

बौद्ध- साहित्य के अनुसार बिंबसार की दो रानियाँ थीं। एक रानी कोशला थी और दूसरी दोमा। कोशला का मूलनाम वासवी था और वह कोसल

१- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० १५६-
२- प्रसाद : अजातशत्रु, कथाप्रसंग ; पृ० ६ -
३- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० २०७ -

नरेश प्रसेनजित् की बहिन थी ।[१] क्षेमा (खेमा) मद्र (मद्र ?) देश के राजा की कन्या थी ।[२] बौद्ध साहित्य में अजातशत्रु को कोशला का पुत्र कहा गया है ।[३]

प्रसाद ने जैन - इतिहास के आधार पर लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री चेल्लना (छलना) को अजातशत्रु की माता स्वीकार किया है ।[४] नाटक की भूमिका में प्रसाद जी लिखते हैं - अजातशत्रु की माता छलना, वैशाली के राजवंश की थी, वैशाली की वृज जाति (लिच्छवि) अपने गोत्र के महावीर स्वामी का धर्म विशेष रूप से मानती थी । छलना का झुकाव अपने कुल-धर्म की ओर विशेष था ।[५] ---- इसमें संदेह नहीं कि माता की ओर से वैदेही पुत्र अजातशत्रु में लिच्छवि रक्त तथा बुद्ध विरोधी भावना थी ।[६]

जगदीशचंद्र जोशी के अनुसार छलना और वासवी का संघर्ष कौटुम्बिक कलह की घटना न होकर दो जातियों एवं धर्मों के बीच का संघर्ष है । किंतु यहाँ प्रसाद ने एक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया है । प्रथम दृश्य में ही छलना का पद्मावती के प्रति विरोध इन शब्दों में प्रकट होता है - " पद्मा ! क्या तू इसकी मंगल कामना करती है । इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्दी सीख है ? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता । राजा का परमधर्म न्याय है, वह दंड के आधार पर है । क्या तुझे नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है " ।[७] भूमिका में बिंबसार के गृह-

----

१- लाइफ्स आफ दि बुद्धा (रॉकहिल) पृ० ६३-६४ ।

२- थेरीगाथा अट्ठकथा १३९- १४३ ।

३- धम्म जातक ४ । ३४३ -

४- जैन सभाव - जैकोबी (निरयावली सूत्र) सेबीई, वॉ०२२ पृ०१३ इन्ट्रोडक्शन तथा पृ० १ ।

५- अजात० (भूमिका) पृ० १८, १६ -

६- नागरी प्रचारिणी पत्रिका । वर्ष ५५ ।२००७, " वैदेही पुत्र अजातशत्रु और उसकी कूटनीति " - रत्नशंकर प्रसाद का लेख ।

७- अजातशत्रु १ ।२५ -

कलह के मूल ऐतिहासिक आधार को स्वीकार करने पर भी नाटक में छलना को इस गृह-कलह का मूल कारण माना गया है । ऐतिहासिक दृष्टि से छलना के चरित्र में अभूतपूर्व परिवर्तन देखने को मिलता है । उसके कारण वासवी का व्यक्तित्व भी और स्पष्ट हो जाता है, जो शांतिपूर्ण है । वस्तुतः इस गृह-कलह का कारण चेल्लना का जैन - धर्म के प्रति झुकाव ही था, किन्तु रक्त की बर्बरता नहीं[1] ।

जैन होने के कारण चेल्लना में अहिंसा के प्रति अधिक गहरी आस्था होनी चाहिये थी । पर उपर्युक्त प्रकरण में प्रसाद ने उससे बुद्ध की अहिंसा का विरोध कराया है । इस संबंध में आलोचकों ने यहाँ तक कहा है कि प्रसाद या तो भूमिका में दी हुई अपनी निज की मान्यता को कथा के प्रवाह में विस्मृत कर गये हैं, अथवा अकारण ही उन्होंने यह इतिहास विरोधी एक परिवर्तन कर दिया है[2]।

बौद्ध जातक ग्रंथों में कौशल-सेनापति बंधुल और उसकी स्त्री मल्लिका का विशद वर्णन है ।[3] बौद्ध काल में विवाह के संबंध-निर्धारण में जाति का बंधन बहुत दृढ़ नहीं हो पाया था । इसका प्रमाण देते हुये विद्यालंकार ने लिखा है - " कौशल राजा के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (अग्निदत्त प्रसेनजित्) ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ विवाह किया था ।"[4]

" मल्लिका के प्रति विरुद्धक के प्रेम की कल्पना प्रसाद की अपनी है । उक्त घटना का साक्षी इतिहास नहीं है । ---- अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि इससे एक तो मल्लिका के पातिव्रत्य पर प्रकाश पड़ता है और दूसरे

१- अजातशत्रु २। ८८ -

२- डा० जगदीश चंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० ८४ -

३- प्रसाद : अजातशत्रु, 'कथा प्रसंग' ; पृ० १९ -

४- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० २०६ -

विरुद्धक की नीच प्रवृत्तियाँ अधिक खुलकर खेल पाती हैं। अन्यथा इस प्रसंग की अवतारणा अनावश्यक कही जायेगी।"[1] इस प्रसंग से मल्लिका के पातिव्रत्य पर प्रकाश पड़ता है इसीलिये लेखक ने उसके प्रकरण की यहाँ विशेष अवतारणा की है।

वासवदत्ता उदयन की बड़ी रानी और अवंती के महाचंद्रसेन की कन्या कही गयी है।[2] इस प्रसंग में यह भी ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि " अवंती के राजा चंडप्रद्योत की कन्या (वासवदत्ता) का उदयन के साथ विवाह भी गांधर्व-विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है।[3]

पद्मावती को नाटक में उदयन की दूसरी रानी के रूप में माना गया है। बौद्ध - ग्रंथों में भी उदयन की दूसरी रानी की चर्चा है और उसमें उसका वास्तविक नाम श्यामवती लिखा है।[4] प्रसाद ने उसे बिंबसार की बड़ी रानी कोशला (वासवी) के गर्भ से उत्पन्न मगध राजकुमारी माना है। पद्मावती अजातशत्रु की बड़ी बहन थी।[5]

अमरावती के एक चित्र[6] में इस तरह का अंकन किया गया है कि नारी की समग्र शोभा किस प्रकार बुद्ध भगवान् के चरणों में मस्तक झुकाये हुये उपासना में लीन है। प्रसाद के साहित्य में भी ऐसी नारियों का भव्य चित्र है जो " बुद्धं शरणं गच्छामि " की प्रेरणा से बुद्ध भगवान् को समर्पित होकर व्यक्तित्व की परम उदात्तता की उपलब्धि करती है। पद्मावती के चित्रण में प्रसाद को इन आकृतियों से अवश्य प्रेरणा मिली होगी।

१- डा०जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० ६२-

२- प्रसाद : अजातशत्रु : कथा प्रसंग ; पृ० १३

३- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० २०६

४- प्रसाद : अजातशत्रु , कथाप्रसंग ; पृ० १४ -

५- प्रसाद : अजातशत्रु , कथाप्रसंग ; पृ० १६-

६- Joseph Campbell: The Art of Indian Asia, Plate no.73

मागन्धी का ऐतिहासिक नाम श्यामा है।[१] प्रसाद ने इस प्रसंग में लिखा है " मागन्धी जिसके उकसाने से पद्मावती पर उदयन बहुत असंतुष्ट हुये थे, ब्राह्मण कन्या थी, जिसको उसके पिता गौतम से ब्याहना चाहते थे, और गौतम ने उसका तिरस्कार किया था। इसी मागन्धी को, और बौद्धों के साहित्य में वर्णित आम्रपाली (अम्बपाली) को हमने कल्पना द्वारा एक में मिलाने का साहस किया है। अम्बपाली पतिता और वेश्या होने पर भी गौतम के द्वारा अंतिमकाल में पवित्र की गई।"[२]

बौद्ध ग्रंथों में (अम्बपाली) वैशाली की गणिका है। उसका यह नाम इसलिए पड़ा कि उसके लिए वैशाली के तरुण राजकुमारों में आये दिन संघर्ष होने लगे।[३] इसके परिणामस्वरूप उसे जनपदकल्याणी (गणिका) बना दिया गया।

किंतु आम्रपाली का जो चित्रण नाटक में हुआ है वह सर्वथा बौद्ध ग्रंथों की आम्रपाली के विपरीत है। प्रसाद की आम्रपाली " आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है।" बौद्ध ग्रंथों की आम्रपाली रूप, गुण, धन, वैभव सभी से सम्पन्न है और कभी भी किसी भी काल में दरिद्रता की इस सीमा तक नहीं पहुँची है।[४]

प्रसाद जी भूमिका में स्वयं लिखते हैं -

" बौद्धों की श्यामवती वेश्या, आम्रपाली, मागन्धी और इस नाटक की श्यामा वेश्या का एक संगठन कुछ विचित्र तो होगा, किंतु चरित्र का विकार और कौतुक

१- प्रसाद : अजातशत्रु : कथाप्रसंग ; पृ० ६ -

२- प्रसाद : अजातशत्रु : कथाप्रसंग ; पृ० ६८ -

३- सुमंगलविलासिनी ।

४- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १०० -

बढ़ाना ही इसका उद्देश्य है।[१]

प्रसाद जी ने नारियों के रूप, गुण, आकृति, क्रुद्ध और व्यापार आदि के चित्रण में जहां ऐतिहासिक प्रमाणों और सामाजिक साक्षियों का सहारा लिया है, वहीं प्राचीन कला-मूर्तियों और प्रतिमाओं अनुकृतियों आदि से भी बिंब ग्रहण किया है, जैसे अजंता के एक चित्र[२] में कामदेव का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी बुद्ध की निश्चलता को ललकारती है, किंतु भगवान् बुद्ध द्वारा उसके रूप और यौवन का तिरस्कार होता है। इसके बदले में उसे बुद्ध भगवान् सात्विक धर्म की शिक्षा से अभिभूत करते हैं। कुछ इसी प्रकार का रूप प्रसाद की मागंधी में दृष्टिगोचर होता है।

अजातशत्रु नाटक में प्रसाद ने जिसे वाजिरा कहा है उसका ऐतिहासिक नाम वाजिराकुमारी है ---- प्रसेनजित् ने मैत्री चिरस्थायी करने के लिए, और अपनी बात रखने के लिए, अजातशत्रु से अपनी दुहिता वाजिराकुमारी का ब्याह कर दिया।[३]

उपर्युक्त घटना का आधार बौद्धग्रंथ भी हैं। दीघनिकाय[४] मज्झिम निकाय[५] और जातकों[६] से वाजिरा एवं अजात से उसके विवाह की घटना की पुष्टि होती है।

ऐसा भी उल्लेख आया है कि कोशलदेवी के विवाह में काशी का एक ग्राम जो नहानचुन्न मूल्य के रूप में प्रदान किया गया था, वही ग्राम फिर कुमारी वाजिरा के विवाह के अवसर पर अजातशत्रु को प्रदान कर दिया गया।[७]

१- प्रसाद : अजातशत्रु, कथा प्रसंग, पृ० १६,२० -

२- Joseph Campbell: The art of Indian Asia, Plate No.73

३- प्रसाद : अजातशत्रु, कथा प्रसंग ;, पृ० १७-

४- धम्मपद १। ३५६

५- मज्झिम १।२३१

६- अभाहूद जातक

७- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० २०७ -

" कौशल नरेश प्रसेनजित् के शाक्य दासी कुमारी के गर्भ से उत्पन्न - कुमार का नाम विरुद्धक था। विरुद्धक की माता का नाम जातकों में वासवर्खत्तिया[1] मिलता है। (उसी का कल्पित नाम शक्तिमती है)

" भद्दसाल " जातक में इस बात का उल्लेख है कि वासभखत्तिया एवं विरुद्धक को पसेनदी ने एक बार बुद्ध के कहने से क्षमा कर दिया था और उन्हें पूर्ववत् सम्मान का भागी बना दिया था।[2]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अजातशत्रु के नारी पात्रों में वासवी, छलना, मल्लिका, वासवदत्ता, पद्मावती, मागन्धी, पूर्ण ऐतिहासिक नारी - पात्र तथा शक्तिमती अर्द्धऐतिहासिक नारी-पात्र हैं। इनमें भी मागन्धी के व्यक्तित्व को नाटककार ने बौद्ध-जातक ग्रंथों में पायी जाने वाली (अम्बपाली) के व्यक्तित्व से मिला जुला कर चित्रित करने का प्रयत्न किया है। यहाँ ठोस इतिहास के अध्ययन- कर्त्ता को कुछ असुविधा हो सकती है और यह संयोग कुछ विचित्र सा लग सकता है, किंतु प्रसाद ने स्वत: उसका स्पष्टीकरण कर दिया है, और कहा है कि " कौतुक उत्पन्न करना मात्र ही इस संयोग का उद्देश्य है।"[3]

मौर्य-काल - " चंद्रगुप्त "

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि -

इतिहास-विदों का कहना है कि " सिकन्दर के लौटते ही भारत के राजनैतिक आकाश में एक नये नक्षत्र का उदय हुआ जिसने अपने तेज से अन्य सारे नक्षत्र को क्षीण कर दिया। यह चंद्रगुप्त था जिसके वंश और प्रारंभिक

१- प्रसाद : अजातशत्रु, कथा प्रसंग ; पृ० १८ -

२- डा० जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० ६४-

३- प्रसाद : अजातशत्रु, कथाप्रसंग ; पृ० २० -

चरित्र संबंधी अनुश्रुतियों में पारस्परिक विरोध है।"[1]

नंदों के चारित्रिक पतन के उपरांत चंद्रगुप्त का उदय होना एक विशिष्ट घटना थी। मौर्य-काल में चंद्रगुप्त का राज्यकाल बड़ा विशिष्ट था। इतिहासकारों का कथन है कि चंद्रगुप्त और सिल्यूकस की युद्ध की समाप्ति के पश्चात् शांति की संधि के साथ विवाह-संबंध भी हुआ था किंतु यह विवाह - संबंध क्या वास्तव में सिल्यूकस की कन्या के साथ ही हुआ था? इस संबंध में कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है और विभिन्न इतिहासकारों के विभिन्न मत निम्नवत् उल्लेखनीय है -

(क) सिल्यूकस ने चंद्रगुप्त के साथ अपनी ही कन्या की शादी की, इस अनुमान के लिए कोई आधार नहीं है इसका संकेत किसी भी राजकुमारी के संग हो सकता है।[2]

(ख) " ------ मैत्री को पूर्णतः चरितार्थ करने के लिए एक विवाह-संबंध भी स्थापित हुआ।"[3]

(ग) " ------ अंत में संधि द्वारा सेल्यूकस ने चार प्रांत काबुल, कंधार, हेरात तथा बिलोचिस्तान चंद्रगुप्त को दिये तथा अपनी लड़की हेलेना से उसकी शादी भी कर दी।"[4]

इस प्रसंग में जयशंकर प्रसाद ने इस ऐतिहासिक सत्य को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है कि ------" ---- नीतिचतुर सिल्यूकस ने एक और बुद्धिमानी का कार्य यह किया कि चंद्रगुप्त से अपनी कन्या का पाणिग्रहण कर दिया, जिसे चंद्रगुप्त ने स्वीकार कर लिया और दोनों राज्य एक संबंध-सूत्र में

१- रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० ११२

२- स्मिथ Asoka पृ० १५ (टिप्पणी)।

३- डा० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० ११५-

४- वी० एस० रस्तोगी : प्राचीन भारत ; पृ० ८० ।

बंध गये ----" ।[१]

किंतु, सित्यूकस की पुत्री का नाम क्या था, इस पर स्वयं प्रसाद मौन हैं। उन्होंने उसका नाम चंद्रगुप्त नाटक में कार्नेलिया रखा है। प्रसाद जी के पूर्व स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने नाटक "चंद्रगुप्त" में सित्यूकस की पुत्री का नाम हेलन दिया है। जयशंकर प्रसाद की मृत्यु के पश्चात् स्वर्गीय सियारामशरण गुप्त द्वारा लिखे गये खंडकाव्य "मौर्य-विजय" में सित्यूकस की पुत्री का नाम (ऐथन) दिया है और दोनों के विवाह संबंध को स्पष्ट किया है। डा० जोशी ने इस प्रसंग में निष्कर्ष देते हुए लिखा है -

"सित्यूकस की पुत्री कार्नेलिया (हेलेन अथवा ऐथना जो भी हो) सिकंदर के आक्रमण के समय ग्रीक सेना में साथ थी, इसका कोई प्रमाण नहीं। साथ ही उसका भारत-प्रेम भी एक विचित्र सी घटना है।"[२]

राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है -

"----सित्यूकस ने संधि की वार्ता में निषाध पर्वतमाला तक के प्रदेश को चंद्रगुप्त के राज्य की सीमा मान लिया था। और साथ ही दोनों सम्राटों के बीच एक वैवाहिक संबंध भी हुआ।"[३]

डा० गुलाब राय ने राय की हेलना और प्रसाद की कार्नेलिया के अस्तित्व में ज्यों का त्यों विश्वास करते हुए लिखा है - "हम हेलना अथवा कार्नेलिया और चंद्रगुप्त के विवाह के संबंध में यह अवश्य कहेंगे कि राय जी की हेलना विश्व प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकांक्षा से चंद्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिये इतनी लालायित नहीं जितनी कि वह दो महान् देशों में

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त : कथा प्रसंग ; पृ० ३३।

२- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० ११३-

३- "चंद्रगुप्त एंड दि मौर्य इम्पायर" (राधाकुमुद मुकर्जी) पृ० ४० ।

सन्धि स्थापन के लिये। प्रसाद जी की कार्नेलिया चंद्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम होती है। और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।"

चंद्रगुप्त से वैवाहिक संबंध में सिल्यूकस से उसका युद्ध प्रामाणिक है। और युद्ध की शर्तों के अनुसार विवाह संबंध का स्थापित होना भी एक प्रामाणिक तथ्य ठहरता है। यदि इस तथ्य को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाय तो सिल्यूकस द्वारा संधिरूप में दी गई कन्या, भले ही वह उसकी अपनी पुत्री रही हो, अथवा कोई अन्य राजकुमारी, और भले ही उसका नाम हेलना, ऐथना अथवा कार्नेलिया जो भी रहा हो, उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक व्यक्तित्व मानना होगा।

प्रसाद ने द्विजातीय वैवाहिक संबंधों तथा वैदेशिक वैवाहिक संबंधों की भी कल्पना की है। मौर्य-वंश के राज्यकाल में तीन सवर्णों में वैवाहिक संबंध तो किये जा सकते थे, किंतु शूद्र से वैवाहिक संबंध वर्जित माना जाता था। मौर्य-काल के केवल इस ऐतिहासिक तथ्य के अतिरिक्त अन्य किसी नारी का ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता कि सिल्यूकस और चंद्रगुप्त के बीच वैवाहिक संधि हुई। अतः उस युग के नारी पात्रों के चित्रण के लिये अवश्य ही प्रसाद जी को अपनी कल्पना के बल पर चंद्रगुप्त नामक नाटक में नारी पात्रों का सृजन करना पड़ा है। उन पात्रों में उस युग के नारी समाज की भिन्न- भिन्न मान्यताओं का प्रतिनिधित्व हुआ है।

ऐतिहासिक तथ्य तथा कल्पना का समावेश -

मौर्य-काल भारतीय इतिहास का एक पुष्ट और प्रामाणिक काल है। उस काल के संबंध में अनेक ऐसे आधिकारिक प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उस युग की विशेषताओं, समाज की स्थिति, प्रगति और विशेषताओं का अनुमान किया जा सकता है। चाणक्य का अर्थशास्त्र, बौद्धों का जातक ग्रंथ, मेगस्थनीज के यात्रा विवरण, अशोक के स्तंभों पर उत्कीर्ण लेख, विदेशों की

गये हुये हुये-धार्मिक प्रचारकों के वृत्तांत, ग्रीक आक्रमणकारियों के लेख आदि सभी कुछ ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में हमारे सामने आते हैं, जिनके माध्यम से हम तत्कालीन समाज, विशेषकर नारी समाज की वस्तुस्थिति का परिज्ञान कर सकते हैं।

मौर्य-काल में समाज सुव्यवस्थित था, स्त्री - जाति सामान्यतः आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। स्त्रियां शिक्षित भी होती थीं, और ललित कलाओं में उन्हें अच्छी निपुणता प्राप्त हुआ करती थी। नगर की सबसे उत्कृष्ट कला- मर्मज्ञ स्त्री नगरवधू के सम्मानित पद से विभूषित की जाती थी। आम्रपाली (अम्बपाली) या सालवती का नाम उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है।

शिक्षित नारी समाज के अतिरिक्त ऐसी भी नारियों की संख्या कम नहीं थी, जो समाज में बहुत उच्च स्थान नहीं प्राप्त कर पाती थीं, और केवल भोग्या के रूप में मानी जाती थीं। इसीलिए मौर्य-काल में बहु-विवाह की प्रथा भी प्रचलित होने के प्रमाण हैं। मेगस्थनीज लिखता है - " वे (भारतीय) बहुत-सी स्त्रियों से विवाह करते हैं। विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को आमोद-प्रमोद के लिये भी घर में रखा जाता है।"[१]

कौटिल्य जिनका नाम चाणक्य और विष्णुगुप्त भी है, मौर्य-युग के युग-विधायकों में से रहे हैं। उन्होंने अपने पौरुष और बुद्धिबल के माध्यम से संपूर्ण भारत का राजनैतिक इतिहास ही पलट दिया। नंदवंश को समाप्त करके मौर्य-वंश की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाणक्य का ही एक विलक्षण किमोचन था। उनके सिद्धांतों का उस युग की राजनीति पर जो प्रभाव पड़ा उसके साथ ही तत्कालीन समाज भी उस प्रभाव से वंचित न रह सका। उन्होंने अर्थशास्त्र में लिखा है - " पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है,

---

१- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और इतिहास ; पृ० २७२ -

स्त्रियाँ संतान उत्पन्न करने के लिये ही हैं। "[1]

तत्कालीन नारी- समाज बहुधा उपेक्षा की दृष्टि से भी देखा जाता था। इसके भी प्रमाण मिले हैं। मौर्य युग की स्थापना ठीक उस समय हुई थी जिस समय भारत में बौद्ध धर्म बड़ी तीव्रता के साथ फैल रहा था। अनेक भिक्षुओं के आग्रह करने पर भी तथागत ने पहले नारियों को संघ में सम्मिलित करने से अस्वीकार कर दिया था। " गौतम बुद्ध ने तो स्पष्ट ही कहा कि स्त्रियों के संघ में प्रविष्ट-मात्र से उनके धर्म को अल्पायु योग लग गया"[2] किंतु कालांतर में उनकी धारणा बदल गई और उन्होंने भिक्षुओं के साथ भिक्षुणियों को भी संघ में सम्मिलित कर लिया, और अनेक भिक्षुणियाँ भारत के बाहर भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भेजी गईं। अशोक की पुत्री भी अपने भाई के साथ धर्म प्रचार के लिये पूर्वी द्वीप समूह में भेजी गई थी।

भिक्षुणियों के अतिरिक्त नारी का समाज में अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व भी था। पुरुषों की भाँति उन्हें भी तलाक करने का अधिकार था। कौटिल्य के अनुसार मोक्ष का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनों को है। कौटिल्य वैवाहिक संबंध -विच्छेद को "मोक्ष"[3] की संज्ञा देता है। इसके साथ ही अर्थशास्त्र में विवाह विच्छेद के संबंध में कुछ नियम भी उपबंधित किये गये हैं, जैसे -" यदि कोई पति बुरे आचरण का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्रोही है, या यदि कोई पति खूनी है, पतित है या नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।[4]

१- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास - ; पृ० २७२- -
२- रामजी उपाध्याय : प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति - ; पृ० ८०-
३- कौटिल्य अर्थशास्त्र -
४- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० २७३-

"ब्राह्म, प्राजापत्य आदि पहले प्रकार चार धर्मानुकूल विवाहों में तलाक नहीं हो सकता था, तलाक केवल असुर, गंधर्व आदि पिछले चार विवाहों में ही विहित था।"[1]

मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों के वर्णनों से प्रकट होता है कि मौर्य-काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी न थी। मेगस्थनीज ने तो स्त्रियों के खरीदे जाने की बात भी लिखी है। दहेज की प्रथा भी विद्यमान थी।[2]

अंतर्जातीय और विदेशीय[3] विवाहों की परंपरा मौर्य काल में प्रचलित दिखाई पड़ती है। स्वयं चंद्रगुप्त मुरा नामक शूद्रा और नंदवंश के अंतिम राजा नंदराज से उत्पन्न कहा जाता है। "(चंद्रगुप्त नंदस्यैव पत्न्यन्तरस्य मुरासंज्ञस्य पुत्रं मौर्याणां प्रथमम्)" उसे अंतिम नंदराज का मुरा नाम की शूद्रा रखैली से उत्पन्न पुत्र मानती है। यदि यह जनश्रुति सही है कि चंद्रगुप्त किसी शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, तब तो यह बात और भी प्रमाणित हो जाती है कि मौर्य - युग में अंतर्जातीय वैवाहिक संबंधों के कारण उनसे उत्पन्न होने वाली संतानें वैध दृष्टि से हीन नहीं मानी जाती थीं। चाणक्य पक्का ब्राह्मण था और वह इस बात को भली प्रकार जानता था कि नीच कुल से उत्पन्न संतानें राजा बनने के योग्य नहीं हो सकतीं। अतः इस सिद्धांत के अनुसार वह चंद्रगुप्त को सम्राट् पद के लिये न चुनता और यदि वह चुन भी लेता तो आगे चलकर उसका कुल मौर्य - वंश के प्रतिष्ठित कुलों में सम्मानित न किया जाता।

" स्त्रियों के प्रति किसी भी प्रकार का अनौचित्य कठोर से कठोर दंड

१- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ; पृ० २७३ -

२- श्रावस्ती के धनकुबेर सेठ्ठी मिगार ने ५४ कोटि धनराशि अपनी कन्या (वाजिराकुमारी) के विवाह के अवसर पर महानघुन्न मूल्य के रूप में दी थी ; पृ० २७७ -

३- प्रो० एस०बी० गुप्ता : प्राचीन भारत ; पृ० १३८ -

का विषय था। समाज में कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ विद्यमान थीं जो उच्च दार्शनिक चिंतन एवम् मनन में अपना समय लगाया करती थीं। कात्यायन ने अपनी वार्तिक में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख किया है।[१]

मेगस्थनीज ने चंद्रगुप्त की महिला-अंगरक्षिकाओं का भी उल्लेख किया है। उसका कथन है कि कुछ स्त्रियां रथों पर, कुछ अश्वों पर एवं कुछ हाथियों पर आरूढ़ होती हैं, और वे प्रत्येक प्रकार के शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रहती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे किसी आक्रमण के लिए जा रही हों।[२]

नारी समाज की उदात्त विशेषताओं के साथ ही उस युग में वेश्या-वृत्ति के प्रचलन का भी प्रमाण मिलता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी इस व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश डाला है। इतिहासकारों का कथन है कि "समाज में वारांगनाओं का अपना एक पृथक स्थान होता था और उन्हें उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। वे समाज में ललित कलाओं का प्रचार किया करती थीं और इस कार्य के लिये उन्हें समाज की ओर से सम्मान प्राप्त होता था। ----- अपने सौंदर्य, यौवन और गुणों के कारण जो वारांगना सबसे अधिक विख्यात होती थी, वह एक सहस्त्र पड़ों की मासिक आय पर राज्य की ओर से समस्त वारांगनाओं की निरीक्षका नियुक्त कर दी जाती थी -----"।[३]

स्त्रियाँ शस्त्रधारिणी भी हुआ करती थीं। कौटिल्य ने लिखा है सम्राट की रक्षक सेना साधारणतः नारियों की थी।[४]

इतना सब कुछ होते हुये भी चंद्रगुप्त मौर्य के युग की किसी विशेष

१- बी० एन० रस्तोगी : प्राचीन भारत ; पृ० २१७ -

२- मेगस्थनीज (यात्रा के वृत्तान्तों से)।

३- प्रो० बी० एन० रस्तोगी : प्राचीन भारत ; पृ० २१८ -

४- वही ,, ,, ; पृ० २१८ -

नारी का प्रखर व्यक्तित्व इतिहास में विशिष्ट रूप में हमारे सामने नहीं आता।

जिसे चंद्रगुप्त नाटक में जयशंकर प्रसाद ने कार्नेलिया संबोधित किया है और अन्य संदर्भों में जिसका कि नाम हेलन अथवा ऐथना के शब्दों में आया है, केवल उसका नाम ही ऐतिहासिक कहा जाने लगा। उसके रूप, गुण, स्वभाव, चरित्र आदि के बारे में बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त नहीं है। चंद्रगुप्त नाटक में कुल आठ स्त्रियों का नाम आया है और नाटककार ने प्रत्येक में किसी न किसी प्रकार के व्यक्तित्व और चरित्र की प्रतिष्ठा की है, किंतु ऐतिहासिक नारी पात्र के रूप में यदि कहा जाय तो केवल कार्नेलिया ही आती है। फिर भी उसकी एक कल्पना ही प्रामाणिक कही जायेगी, उसके चरित्र आदि के संबंध के प्रसंग पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं कहे जा सकते। यहाँ तक कि इसी कारण कुछ विद्वानों ने सिल्यूकस की बेटी के अस्तित्व को ही संदिग्ध माना है। इस आशंका का कारण यह है कि कार्नेलिया के चरित्र का अंकन करने में प्रसाद को बहुत कुछ अपनी मौलिक कल्पना का सहारा लेना पड़ा है। यद्यपि यह सच है कि उसके चरित्र - चित्रण में, और उसके ही क्यों चंद्रगुप्त नाटक के अन्य सभी नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में नाटककार ने उस युग के नारी-समाज की सामाजिक, बौद्धिक, कलात्मक, नैतिक आदि सभी परिस्थितियों का ध्यान रखा है और प्रयत्न किया है कि नाटक में आई हुई कल्पित नारियों के माध्यम से भी मौर्य - युग के नारी - समाज की विविध उपलब्धियों का एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जा सके। अतः इस नाटक में नाटककार को अजातशत्रु या आगे के नाटकों जैसे ध्रुवस्वामिनी या राज्यश्री की भाँति ऐतिहासिक प्रमाणों के घेरे में बंधकर नहीं चलना पड़ा है। कल्पना और यथार्थ के मिश्रण से प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त नाटक में जिस नारी समाज को प्रस्तुत किया है, वह इतिहास भले ही न

हो, किन्तु मौर्य युग की प्रगतिशील परिस्थितियों का परिचायक अवश्य है। कार्नेलिया उसकी अपवाद नहीं कही जा सकती।

<u>गुप्त-काल-मध्य</u> - " ध्रुवस्वामिनी "

ध्रुवस्वामिनी नाटक " गुप्त -युग " के एक ऐसे कथाप्रसंग को पाठकों या दर्शकों के समक्ष ले आता है जिसके संबंध में यद्यपि ऐतिहासिक प्रमाण अनेक मिलते हैं, किंतु इतिहास उस कथाप्रसंग के बारे में बहुत कुछ सामग्री नहीं प्रस्तुत करता। प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों में ध्रुवस्वामिनी इस अर्थ में सर्वाधिक महत्व की है कि उसमें गुप्त युग की प्रामाणिक घटना के आधार पर भारतीय नारी-समाज के एक ऐसे विकट प्रश्न को सुलझाने और शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है जो केवल गुप्त युग की नारी समस्या नहीं है, अपितु प्रत्येक युग में वह समस्या विद्यमान थी, और आज भी पूर्णतः विद्यमान है। वह समस्या है स्त्री द्वारा पति का त्याग और दूसरे पति का वरण। इसे प्रचलित भाषा में तलाक व पुनर्विवाह की संज्ञा दी जाती है। इस प्रश्न का उत्तर (नाटक में ध्रुवस्वामिनी) नामक ऐतिहासिक पात्र को माध्यम बनाया है। अतः ध्रुवस्वामिनी के ऐतिहासिक व्यक्तित्व और उसकी प्रामाणिकता के संबंध में अध्ययन के साथ ही यह भी आवश्यक है कि उन शास्त्रीय व्यवस्थाओं, ऐतिहासिक प्रमाणों, मान्यताओं आदि का भी विवेचन किया जाय जिनमें परंपरा से ही भारतीय

नारी को तलाक या पुनर्विवाह के अधिकार शास्त्र-सम्मत ढंग से दिये गये हैं।

ध्रुवस्वामिनी के संबंध में ऐतिहासिक प्रमाण -

परंपरा से इतिहासकार गुप्तवंश के वर्णन में समुद्रगुप्त के दिग्विजय के भव्य वर्णन के उपरांत चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का वर्णन करते हैं। नवीन ऐतिहासिक खोजों के आधार पर समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के बीच में रामगुप्त का भी नाम आता है। इतिहासकारों ने रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के संबंध में लिखा है कि " रामगुप्त बड़ा कायर था। किसी शकराज से संत्रस्त होकर उसने संधि के अनुसार अपनी रानी ध्रुवदेवी उसको अर्पण करना स्वीकार कर लिया, परंतु देवी के देवर चंद्रगुप्त द्वारा रानी के मान की रक्षा हुई। चंद्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में जाकर शकराज को मार डाला। तदनंतर चंद्रगुप्त ने रामगुप्त की भी हत्या कर ध्रुवदेवी के साथ-साथ पाटलिपुत्र के सिंहासन पर भी अधिकार कर लिया। प्रजा ने उसके इस कार्य पर हर्ष मनाया।"[१]

इतिहास की उपर्युक्त घटना के लिए विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक आधार अपनाये जाते हैं। बाण के हर्षचरित् और शंकराचार्य द्वारा की गई उसकी टीका, भोज के शृंगारप्रकाश, अमोघवर्ष संजनपत्र लेख[२] तथा " मुजमालुत - तवारीख "[३] में इस कथा के प्रसंग आये हैं।

१- रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० १८६ -

२- Ep. Ind. १८, पृ० २४८-२५५, श्लोक ४८ -

३- इलियट और डाउसन की History of India, १, पृ० ११०- १२

रामगुप्त के काच के सिक्कों के पाये जाने का अनुमान भी किया गया है।[१] कुछ विद्वानों ने इस अनुमान को नितांत अग्राह्य माना है और लिखा है कि " परंतु इन प्रमाणोंके बावजूद भी रामगुप्त की ऐतिहासिकता विद्वानों में बड़े विग्रह का विषय है। ---- इसमें संदेह नहीं कि रामगुप्त के सिक्कों का अभाव तथा गुप्त अभिलेखों में उसके नाम का उल्लेख इस संदेह को स्पष्ट करता है।"[२]

आगे चलकर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के लिये ' तत्परिगृहीत '[३] शब्द का उल्लेख मिलता है। इससे उसे अपने कायर भ्राता रामगुप्त अथवा उदात्त पिता समुद्रगुप्त दोनों का उत्तराधिकारी माना जा सकता है।

<u>बाण के हर्षचरित का प्रमाण -</u>

हर्षचरित, कौवल और टॉमस के संस्करण में प्रसंग आया है -

" अरिपुरे च परकलत्र कामुकं
कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपति शमातयत् "[४]।

इसके अनुसार शकराज का चंद्रगुप्त द्वितीय द्वारा मारा जाना एक षड्यंत्र कहा गया है, युद्ध नहीं। उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि 'शत्रु के नगर में दूसरे की पत्नी के प्रति कामुक शकराज नारीवेष में गुप्त चंद्रगुप्त द्वारा मारा गया।' इस घटना का सर्वप्रथम उल्लेख डा० भाउ दाजी ने किया था।[५]

प्रसिद्ध टीकाकार शंकर ने हर्षचरित के इस प्रसंग की टीका करते हुए लिखा है -

----

१- डा० भंडारकर : Malaviyaji Commemoration Volume, ख २, पृ० २०४-२०६ -

२- डा० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० ८८-

३- C.I.I., नं० १२, पृ० ५०, पंक्ति ६।

४- हर्षचरित, कावेल और टामस का संस्करण, पृ० १९४-

५- The Literary Remains of Dr. Bhau Daji, PP, ९३-९४ -

" शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चंद्रगुप्त-भ्रातृजायां
ध्रुवदेवी प्रार्थयमानश्चन्द्र गुप्तेन ध्रुवदेवी- वेश।
धारिणा स्त्रीवेश जन परिवृतेन रहसि व्यापादितः इति।"

स्पष्ट है कि शकाधिपति ने चंद्रगुप्त की भ्रातृजाया की प्रार्थना की, और चंद्रगुप्त ने स्वयं भ्रातृजाया ध्रुवदेवी का वेश धारण करके शकाधिपति की हत्या की।

इस प्रकार उक्त उदाहरण के अनुसार ध्रुवदेवी चंद्रगुप्त की भ्रातृजाया है प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ शंकर की इस टीका को निराधार मानते हैं।[१]

अमोघवर्ष का ताम्रपत्र -

अमोघवर्ष का ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण ६वीं शता० की प्रशस्ति प्राप्त हुई है, जिसमें चंद्रगुप्त द्वारा अपने भाई की हत्या तथा भ्रातृजाया के साथ विवाह का उल्लेख किया गया है। ताम्रपत्र में लिखा है -

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
लक्षाकोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।[२]

रंगस्वामी सरस्वती ने भी हर्षचरित के इस प्रसंग पर अपना मत प्रकट किया है।[३] इन्होंने धारनरेश भोजदेव के 'श्रृंगार-प्रकाश' में संस्कृत के एक लुप्त नाटक - 'देवी चंद्रगुप्त' के कुछ उदाहरण प्रकाशित किये हैं।[४]

१- V. Smith ; Early History of India; P. 292.

२- एक ताम्रपत्र - ८ वीं० शताब्दी का।

३- Devi Chandragupta or Chandragupta Vikramaditya's destruction of Saka Satrap, A.R Saraswati.

४- १९२३ की Indian Antiquary पत्रिका - रंगस्वामी सरस्वती

१- स्त्रीवेश - निष्नुतश्चन्द्रगुप्त : शत्रो स्कन्धावार
अलिपुरं शकपतिवधायगमत् ।

उपर्युक्त उदाहरण के संबंध में तलवार जी का मत है, कि यह " हर्षचरित् की आलोच्य पंक्ति का अक्षरशः रूपांतर है। यहां भी स्त्रीवेश में चंद्रगुप्त द्वारा शकपतिवध की ऐतिहासिक कथा की ओर संकेत है।

२- देवी चंद्रगुप्ते वसन्तसेनामुद्दिश्य माधवस्योक्ति ;
आनन्दाश्रु सितेतरोत्पलरूची - राबध्नता नेत्रयो ;
प्रत्यंगेषु वरानने। पुलकिषु स्वेदं समातन्वता।
कुर्वाणेन नितम्बयो - रुपचयं सम्पूर्णयो-रप्यसौ -
केनाप्यस्पृश्तोऽप्ययो निवसनग्रन्थि - स्तवोच्छ्वासितः। [1]

डा० लेवी के प्रमाण

संस्कृत के नाट्य शास्त्र संबंधी दो अज्ञात ग्रंथों के प्रमाण मिलते हैं। [2]

(क) नाट्य दर्पण। [3]

(ख) नाटक लक्षण-रत्नकोष। [4]

१९२९ में गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज के अंतर्गत " नाट्य-दर्पण " का प्रकाशन हुआ। विभिन्न स्थलों पर " देवी - चंद्रगुप्त " नाटक के कुछ अंश उसमें उपलब्ध हैं।

१- शकपति के वध के पूर्व महाराज रामगुप्त से कुमार चंद्रगुप्त विदा लेने आते हैं। महाराज कुमार से कहते हैं - " मैं ध्रुवदेवी तक को छोड़ सकता हूं

१- अक्टूबर - दिसंबर, १९२३ के Journal Asiatique में -
२- डा० लेवी : 'Deux Nonveaux Traites Dramturgie'
३- रामचंद्र - गुणचंद्र द्वारा रचित
४- सागरनन्दी द्वारा रचित

पर तुम्हें नहीं छोड़ सकता। [1] ध्रुवदेवी और सूत्रधारिणी चंद्रगुप्त के प्रति-महाराज की उक्ति को नेपथ्य से सुनती है। स्त्रीवेशधारी चंद्रगुप्त को ध्रुवदेवी पहचान नहीं पाती। अतः अन्य स्त्री के प्रति पति के वचनों को सुनकर अत्यंत कातर हो सूत्रधारिणी से स्वागतोक्ति करती है - " तुम्हारे मुझे छोड़ने के पूर्व ही मैं अपना जीवन विसर्जित कर तुम्हें छोड़ जाऊंगी। [2] "

२- एक स्थल पर प्रसंग आता है कि मातृजाया का मलिन मुखमंडल देखकर चंद्रगुप्त दुःख प्रकट करते हैं -

चंद्रगुप्त - (ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वागतमाह) इयमपि देवी तिष्ठति। यथाः

नाट्यदर्पणाकार ने लिखा है -

" अत्र ध्रुव देव्यभिप्रायस्यं चंद्रगुप्तेन निश्चयः "

चंद्रगुप्त ने इस श्लोक में ध्रुवदेवी के हृदयगत अभिप्राय का निश्चित अनुमान किया है। अनुमान किया जाता है कि उक्त श्लोक " देवी चंद्रगुप्त " के प्रथम अंक में संकलित है।

३- " ---- शकपति का वध कर चुकने के बाद चंद्रगुप्त ने आसन्न संकट की आशंका से उन्माद का अभिनय किया। [3]

ध्रुवदेवी का परिचय इस प्रकार भी दिया गया है - " ध्रुवदेवी नेपाल नरेश की कन्या है, वह अद्वितीय सुंदरी है। उसके स्वयंवर में रामगुप्त गये थे, साथ ही अनुज चंद्रगुप्त भी उपस्थित थे। ध्रुवा ने मधूक जयमाला सम्राट के गले

१- नाट्यदर्पण पृ० ७१-

२- नाट्यदर्पण के पृ० १४१ पर इसी अंश को लेकर लेखक ने "त्रिगत" नामक नाट्यांग के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया है साथ ही यह भी उल्लेख वहां किया है कि उद्धरण "देवी चंद्रगुप्त" नाटक के दूसरे अंक का है।

३- नाट्य-दर्पण ; पृ० १८७-

में नहीं वरन् चंद्रगुप्त के गले में डाली । सम्राट् इसे सहन नहीं कर सके । नेपाल-नरेश उनके आधीन थे। अधिकार प्रयोग के द्वारा महाराज ने ध्रुवा के साथ विवाह कर लिया । चंद्रगुप्त तब इस और से उदासीन थे, किंतु ध्रुवा निरंतर चंद्रगुप्त से ही प्रेम करती रही ।"[१]

राखलदास बंदोपाध्याय ने भी ध्रुवा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । स्वयं उन्होंने कहा था -

" एई उपन्यासेर वातावरण संपूर्ण ऐतिहासिक " ।

ध्रुवा उपन्यास के आधार पर ध्रुवदेवी पाटलिपुत्र के धरवंश के संभ्रान्त महानायक इन्द्रधर की कन्या है, वह युवराज चंद्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी के रूप में ज्ञात है । अनेक स्थलों पर लेखक ने सिद्ध किया है कि ध्रुवा का कभी रामगुप्त के साथ विवाह नहीं हुआ । वह चंद्रगुप्त की ही वाग्दत्ता थी और चंद्रगुप्त की ही पत्नी बनी ।[२]

प्रसाद द्वारा ग्रहण किया गया ऐतिहासिक आधार -

प्रसाद के ऐतिहासिक नारीपात्रों में ध्रुवस्वामिनी का अपना एक विशिष्ट महत्व है ।

भारतीय शास्त्रों की सम्मति में विवाह एक जीवन-मरण का धार्मिक बंधन है, और यह बंधन किसी भी प्रकार तोड़ा नहीं जा सकता । किंतु शास्त्रों की मर्यादा क्या है, और समाज की विषम परिस्थितियाँ क्या हैं इनके संतुलन की ओर भी ऋषि-महर्षियों का ध्यान रहा है । यही कारण है कि उन्होंने स्मृतियों और प्राचीन ग्रंथों में ऐसी भी व्यवस्था दी है कि जिस प्रकार विभिन्न

१- गुरु भक्तसिंह भक्त : विक्रमादित्य (प्रबन्ध-काव्य), पात्र-परिचय ।
२- राखलदास बंदोपाध्याय - ' ध्रुवा ' -

परिस्थितियों में पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है, उसी प्रकार स्त्री भी कतिपय परिस्थितियों में पुनर्विवाह कर सके। प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी नाटक में इसी समस्या का निराकरण प्रस्तुत किया है।

ध्रुवस्वामिनी की सूचना में प्रसाद जी स्वयं लिखते हैं - " शास्त्रीय मनोवृत्तियालों को, चंद्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न असंभव, विलक्षण और रुचिपूर्ण मालूम हुआ ---- ८वीं शताब्दी के संजान ताम्रपत्र के पाठ में संदेह किया जाने लगा, किंतु बाणभट्ट के हर्षचरित की आलोच्य पंक्तियाँ, एवम् राजशेखर के काव्यमीमांसा ग्रंथ की निम्न पंक्तियाँ केवल जनश्रुति कहकर नहीं उड़ायी जा सकती।[१]

राखलदास बनर्जी, प्रोफेसर अल्टेकर श्री जायसवाल आदि ने भी अन्य प्रामाणिक आधार मिलने के कारण ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य माना है। प्रसाद जी को इन अन्य प्रमाणों के अतिरिक्त भी स्वयं चंद्रगुप्त की ओर से एक प्रमाण मिला है - " चंद्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर " रूपकृति " शब्द का उल्लेख मिलता है ---- रूपकृति विरुद का उल्लेख करके चंद्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य की स्वीकृति देता है, जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदलकर किया है, और जिसका पिछले काल के लेखकों

१- अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेश-

श्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशातयत्।

बाणभट्ट - ७वीं शताब्दी में -

दत्वा रुद्धगति : खसाधिपतये देवी ध्रुवस्वामिनीं।

यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीरामगुप्तो नृप:।

राजशेखर - १०वीं शताब्दी में।

प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी, `सूचना` ; पृ० ५-

ने भी समय - समय पर समर्थन किया है।"[1]

यह भी सत्य है कि - " प्रसाद के सामने ऐतिहासिक घटना विशेषार्थी होकर आती है, पुनर्लग्न का प्रसंग ऐतिहासिक है, इसे वे विशेष प्रयोजन से भी स्वीकार करना चाहते हैं।"[2]

इस नाटक में प्रसाद ने प्रमाण दिये हैं, कि शास्त्रों में ऐसी भी व्यवस्था है कि कतिपय परिस्थितियों में हिन्दू स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है। इस नाटक में क्लीव पति कुमारगुप्त को छोड़कर ध्रुवस्वामिनी कुमार चंद्रगुप्त से वैवाहिक संबंध स्वीकार करती है। इस तथ्य के संबंध में नाटककार ने विशाखदत्त द्वारा रचित देवीचंद्रगुप्त, नवीं शती के संजात ताम्रपत्र, बाणभट्ट, राजशेखर, नारद और पाराशर के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इन प्रमाणों में स्पष्ट व्यवस्था की गई है कि यदि पति नष्ट हो जाये, या मर जाये या क्लीव हो जाये या चरित्र-भ्रष्ट से पतित हो जाये तो स्त्री ऐसी स्थिति में एक पति को छोड़कर दूसरे का वरण कर सकती है। पाराशर मुनि का कथन है -

" नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।"[3]

नारद स्मृति में भी लिखा है " स्त्रियों की रचना संतानोत्पत्ति के लिये हुई है। स्त्री क्षेत्र है और पुरुष उस क्षेत्र में बीज डालने वाला है। अत: बीजयुक्त (पौरुष संपन्न) पुरुष को ही स्त्री देनी चाहिये। बीजहीन को क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है" - नारद के अनुसार -

---

१- प्रसाद : सूचना ; पृ० ४-

२- प्रोफेसर निर्मल तलवार : प्रसाद

३- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी, सूचना, " पाराशर ", पृ० ७-

अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्रीक्षेत्रं बीजिनो नराः ।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ।।[१]

भण्डारकर और जायसवाल जी ने विधवा के साथ पुनर्लग्न की व्यवस्था मानकर रामगुप्त की मृत्यु के बाद ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न स्वीकार किया है, किन्तु स्मृति की उक्त व्यवस्था में अन्य पति ग्रहण करने के लिये पाँच आपत्तियों का उल्लेख किया है, उनमें केवल मृत्यु होने पर ही तो विधवा का पुनर्लग्न होगा। अन्य चार आपत्तियाँ तो पति के जीवनकाल में ही उपस्थित होती हैं।[२]

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मोक्ष का प्रसंग है जिसमें स्त्रियों के अधिकार की घोषणा इस प्रकार की गई है -

नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्बिषी ।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपि वा पतिः ।।[३]

" चंद्रगुप्त तो भरत की तरह बड़े भाई के लिये गद्दी छोड़ चुका था।"[४] प्रसाद जी ने जायसवाल जी के मत की रक्षा करते हुये चंद्रगुप्त से नहीं वरन् चंद्रगुप्त को संकट में पाकर उसके साथियों द्वारा रामगुप्त की हत्या करवायी है।[५]

" मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की दीर्घकाल-व्यापिनी परंपरा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन भी हुए हैं"[६]। ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी, सूचना, " नारद "; पृ० ७ -
२- प्रसाद : सूचना ; पृ० ६ -
३- प्रसाद : सूचना ; पृ० ८ -
४- प्रसाद : सूचना ; पृ० १ -
५- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ६२-
६- प्रसाद : सूचना ; पृ० ७ -

भी ऐसा ही इतिहास संगत प्रसंग है।

ध्रुवस्वामिनी नामकरण के संबंध में प्रसाद जी ने भूमिका में लिखा है -
" विशाखदत्त ने ध्रुवदेवी नाम लिखा है, किन्तु मुझे ध्रुवस्वामिनी नाम जो राजशेखर के मुक्तक में आया है, स्त्रीजनोचित, सुंदर, आदरसूचक और सार्थक प्रतीत हुआ। इसीलिए मैंने उसी का व्यवहार किया है। "[१]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रसाद जी द्वारा ग्रहण किया गया सामाजिक प्रश्न -

" ध्रुवस्वामिनी " प्रामाणिक रूप में एक ऐतिहासिक पात्र है। क्लीव रामगुप्त से उसका संबंध विच्छेद तथा पुनः चंद्रगुप्त से पुनर्लग्न भी अब एक ऐतिहासिक प्रमाण की घटना हो चुकी है। प्रश्न यह है कि भारतीय परंपरा में विवाह-विच्छेद अथवा पति के जीवित रहते हुए अथवा मृत्यु के उपरांत स्त्री का पुनर्लग्न किसी समय प्रचलित था। यदि नहीं तो फिर एक ऐतिहासिक अपवाद को प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से इतना महत्व क्यों देना चाहा है।

प्राचीन काल से ही भारत में स्त्री की एक विशिष्ट प्रतिष्ठा की गई है। अग्नि को साक्षी करके विवाह के सात फेरे इस बात के प्रमाण हैं कि स्त्री का उस पुरुष के साथ जन्म-जन्मांतर का अटूट संबंध हो गया। सामाजिक मान्यता इसी बात की प्रतिष्ठा करती है कि वह स्त्री उसी पति के नाम पर अपनी जिंदगी बिताये। यदि वह विधवा है तो ऐसा माना जाता है, कि उसके ही पूर्वजन्म के कुछ दुष्कर्म ऐसे थे, जिनके परिणामस्वरूप उसे वैधव्य का दुख सहना पड़ा है। यदि पति जीवित होते हुये भी दुश्चरित्र है, क्लीव, क्रूर है, या रुग्ण है आदि तो भी सामाजिक मान्यता के अनुसार उस स्त्री के लिए वांछित कहा गया है कि वह जीवन पर्यन्त उसकी सेवा में लगी रहे।

पुराणों का भारतीय सामाजिक जीवन पर जो कुछ प्रभाव पड़ा, उसी

१- प्रसाद : सूचना ; पृ० ८ -

भी कहीं अधिक व्यापक प्रभाव हिन्दू समाज पर गोस्वामी तुलसीदास के सिद्धांतों का पड़ा। उनकी मान्यता के अनुसार समाज में `अंध बधिर क्रोधी अति दीना` जैसे पति का भी अपमान करने वाली स्त्री के लिये, `यमपुर दुख नाना` प्राप्त करने की कल्पना की गई है। ऐसी नारी के लिये यह आशा करना कि पति के मरने पर वह पुनर्लग्न कर लेगी, अथवा पति के जीवित रहने पर विशिष्ट परिस्थितियों में वह दूसरा विवाह कर लेगी, यह एक असंभव ही कल्पना मान ली गई।

समाज की रूढ़ियों में बंधी नारी जाति अपने आप में एक समस्या बन गयी। ऐसी भी विधवाएं सामने आने लगीं जो बचपन में ही वैधव्य के श्राप अदेयक से ग्रसित हो गईं, पहाड़-सा जीवन बोझ बनकर आ टूटा, कोई भी उदात्त गुण, कोई भी महान् आदर्श, कोई भी सत्कर्म उसके लिए वर्जित मान लिया गया, और वह अभिशापिता समाज की आंखों में घृणा और अपशकुन की पात्री बन गयी। ऐसे भी अनेक प्रकरण सामने आये, जब कि समाज ने उस विधवा को अपनी नृशंस वासनाओं का खिलवाड़ बनाया, किन्तु उसके प्रतिफल स्वरूप उसे और भी घृणा, भर्त्सना, उपेक्षा, उपहास का पारितोषिक दिया गया।

इसके ठीक विपरीत पश्चिम में नारी-समाज जागृत हो चला था। उसने अपनी प्रतिक्रिया के बल पर अपने आपको पुरुष समाज के समकक्ष स्वतंत्र और अधिकारयुक्त घोषित कर दिया था। पति को यदि संबंध-विच्छेद करने अथवा पत्नी के मरने पर पुनर्विवाह करने का अधिकार है, तो स्त्री को भी समाज इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकता - यह एक मान्यता पाश्चात्य समाज में दृढ़ हो चली थी।

प्रसाद जी की `ध्रुवस्वामिनी` सामाजिक उद्बोधन की एक चुनौती लेकर सामने आती है। प्रसाद ने इस नाटक में इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख मात्र ही नहीं किया है कि ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त का पुनर्लग्न हुआ था, अपितु वे ढूंढ-ढूंढ कर उन शास्त्रीय आधारों को भी प्रस्तुत करते हैं जिनके बल पर समाज में पुनर्लग्न की प्रतिष्ठा की जा सकती है। अत: ध्रुवस्वामिनी जहां एक ओर

ऐतिहासिक प्रमाणों से युक्त एक विशिष्ट काल की नारी है, वहाँ वह प्रत्येक युग के समाज में उपस्थित रहने वाली एक क्रांतिकारिणी नारी है, जिसने अपने जीवन के आदर्श से अन्य नारियों के लिये एक प्रेरणा प्रस्तुत किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' के व्यक्तित्व में ऐतिहासिकता और सामाजिकता दोनों का सुंदर समन्वय है, और उसके ये दोनों व्यक्तित्व अत्यन्त ही सशक्त तथा प्रभावकारी हैं।

गुप्तकाल - उत्तरार्द्ध - 'स्कंदगुप्त'

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि -

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णिम काल है। उसमें भी "--- स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का शासनकाल निर्वाणोन्मुख दीप की अंतिम ज्वाला की तरह प्रतापी गुप्त साम्राज्य की सीमाओं के टूट - टूट कर गिर पड़ने का काल था।"[1]

ऐतिहासिक प्रमाण के अनुसार स्कंदगुप्त कुमारगुप्त का प्रथम पुत्र और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का पौत्र था। वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सन् ४५५ ईस्वी में राजसिंहासन पर बैठा। सिंहासन पर आसीन होने के उपरांत उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।[2]

स्कंदगुप्त के सिंहासनारोहण के पूर्व उसे जटिल राजनीतिक संघर्षों का सामना करना पड़ा। "पुष्यमित्रों से छुट्टी पाते ही उसे कहीं बड़ी विपत्ति के साम्राज्य का सामना करना पड़ा, खानाबदोश और क्रूरकर्मा हूण उत्तर-पश्चिमी दर्रों से भारत-भूमि पर उतर पड़े थे और उनकी प्रबल धारों को रोकना आसान

१- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक; पृ० १३

२- रस्तोगी : प्राचीन भारत ; पृ० २६७ -

न था ।[1] सर्वप्रथम स्कंदगुप्त ने हूणों की बढ़ती हुई सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया । बहुत ही रक्तरंजित युद्ध हुआ ।[2] किंतु हूणों की बर्बरता बार बार सभ्य कहे जाने वाले राज्यों पर आंतक ढहाती रही ।

स्कंदगुप्त नाटक में आई हुई अनंतदेवी एक ऐतिहासिक नारी पात्र है । भिटारी के स्तंभ लेख के आधार पर देवकी भी ऐतिहासिक नारी-पात्र कही जा सकती है । पुरगुप्त के लेखों में कुमारगुप्त और अनंतदेवी के पुत्र पुरगुप्त का नाम उल्लेख हुआ है । इतिहासकारों ने भी इन दोनों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि " कुमार गुप्त की पट्ट महादेवी अनंतदेवी थी जिनका पुत्र पुरगुप्त था । उसकी अन्य रानी का पुत्र स्कंदगुप्त था । (उस रानी का नाम संभवत: देवकी था)[3] ।

स्कंदगुप्त में जयशंकर प्रसाद ने अनंतदेवी को कुमारगुप्त की छोटी रानी और पुरगुप्त की माता माना है । इस प्रकार अनंतदेवी एक ऐतिहासिक नारी पात्र कही जायेगी ।

स्कंदगुप्त अपने शत्रुओं को पराजित कर जब लौटा था तो उसने अपने विजय की सूचना अपनी माता देवकी को दी थी । भिटारी के स्तंभ में उत्कीर्ण पंक्ति में इसका बहुत ही सुंदर वर्णन किया गया है ।[4]

१- डा०रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० १६८-

२- Ind. Hist. Quart ; १५, नं०१, मार्च, १६३६, पृ० ६ ।

३- प्रो० क०सी० गुप्ता : प्राचीन भारत ; पृ० २१४ -

४- पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंश-लक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिर्य: प्रतिष्ठाप्य भूय :
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत :
- भिटारी का लेख -

मजूमदार ने भी देवकी के विलाप और बंदिनी बनाये जाने की घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है। भीतरी स्तंभ लेख की १३वीं और १४वीं पंक्ति से - " यह भी विदित होता है कि जब वह (स्कंदगुप्त) युद्ध भूमि से राजभवन को वापस लौटा तो उसने अपनी माता को विलाप करते हुए और अत्यंत दुखी पाया। संभव है कि वह उत्तराधिकार के इस युद्ध में (भाइयों के आपस के संघर्ष से) वह बंदी बना ली गई हो। " अत: प्रसाद जी की देवकी को बंदिनी के रूप में देखने की कल्पना एक ऐतिहासिक कही जा सकती है।[1]

यहाँ उल्लेखनीय है कि - " स्कंद के लेखों में उसकी माता का नाम नहीं मिलता। केवल स्कंद के भिटारी के स्तंभलेख की एक पंक्ति के आधार पर प्रसाद ने स्कंद की माता का नाम देवकी माना है। संभव है इतिहास ऐसा ही हो, क्योंकि राखलदास बनर्जी ने भी इसी सूत्र के आधार पर ` करुणा ` की अनंता और देवकी का चित्रण किया है।[2]

जहाँ तक अन्य पात्रों और घटनाओं की ऐतिहासिकता का संबंध है " अवंती के शक और हूणों के आक्रमण की घटना ऐतिहासिक है। इसीलिए जयमाला, देवसेना, बंधुवर्मा और विजया वाली संपूर्ण घटना का आधार प्रसाद की कल्पना ही है। विजया और स्कंद का आकर्षण और चक्रपालित व स्कंद की बातचीत का भी ज्ञात इतिहास से कोई संबंध नहीं।

जहाँ तक इस नाटक की नारियों के व्यापक व्यक्तित्व और इतिहास की घटनाओं का संबंध है, इस कल्पना में वे युग-विशेष की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही आगे बढ़े हैं। ध्रुवस्वामिनी के कथानक के चित्रण में प्रसाद ने गुप्तकालीन नारी समाज की स्थिति का आभास पहले ही दे रखा है। स्कंदगुप्त नाटक में आई हुई नारियां भी उसी श्रृंखला की कड़ियाँ बनकर सामने आई हैं।

१- डा० मजूमदार।

२- डा० जगदीशचन्द्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १५४ -

स्कंदगुप्त नाटक के सभी नारी पात्र, भले ही इतिहास की यथार्थता की कसौटी पर खरे न उतरते हों, किंतु युग का प्रतिनिधित्व करने का दायित्व वे पूर्णत: निभा सके हैं।

हर्ष-युग "राज्यश्री"

राज्यश्री के संबंध में ऐतिहासिक आधार -

प्रसाद के साहित्य में आने वाले समस्त नारी पात्रों में सर्वाधिक प्रमाणिक ऐतिहासिक नारीपात्र "राज्यश्री"[1] है। इसके प्रमाण महाकवि बाण के हर्षचरित, ह्वेनसांग के लेख, यात्रा विवरण आदि के द्वारा मिलता है।

राज्यश्री का विधवा होना - "६०५ ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद थानेश्वर का राजमुकुट राज्यवर्धन को मिला जो अपने पिता की आज्ञा से हूणों के विरुद्ध लड़ रहा था। पिता की मृत्यु का संवाद सुन राज्यवर्धन शीघ्र राजधानी को लौटा परंतु पिता की मृत्यु की चोट से उपहृत होने के पूर्व ही उसे और अनुज हर्ष को फिर वज्राहत होना पड़ा। उन्हें सूचना मिली कि मालवा के राजा देवगुप्त (जो मधुबन और बांसखेड़ा के ताम्रपत्रों का देवगुप्त ही है) ने उनके भगिनीपति ग्रहवर्मन का वध कर दिया है और उनकी भगिनी राज्यश्री को कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दिया है"---- इस प्रकार देवगुप्त की पराजय का प्रतिशोध ले शशांक ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया था और भण्डि द्वारा संचालित वर्धन सेना को अन्यमनस्क करने के लिये उसने विधवा मौखरि रानी राज्यश्री को कन्नौज के कारागार से मुक्त कर दिया।"[2]

हर्ष द्वारा राज्यश्री की रक्षा -

हर्ष ने राज्यश्री की रक्षा की थी। इस संबंध में डा० त्रिपाठी का

१- हर्षचरित - अध्याय ६, पृ०२०४।

२- डा० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास पृ० २२१-२२२ ।

करना है - " उसका पहला कर्तव्य अपनी दुखी भगिनी की रक्षा तथा शशांक से कन्नौज को मुक्त कर उसे अपने जघन्य कृत्य का दंड देना था। ---- शीघ्र फिर हर्ष भण्डि से जा मिला जिससे उसको राज्यश्री की मुक्ति तथा विंध्य की ओर प्रस्थान की सूचना मिली।"[1]

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने भी लिखा है - " ---- अपनी बहिन को ढूंढने के लिये उसने रात-दिन एक कर दिया और अंत में उसके समीप ठीक समय पर पहुंचकर उसने राज्यश्री की प्राण रक्षा की।" "-------- उसने अपनी भगिनी की खोज आरंभ की और बड़ी कठिनाई के बाद वह उसे प्राप्त कर सका जब अपने जीवन से परेशान होकर वह अग्निप्रवेश करने जा रही थी। तदनंतर हर्ष अपनी भगिनी को लेकर अपने शिविर को लौटा पर अभाग्यवश इस संबंध में हमारे ज्ञान का आलोक सहसा बंद हो जाता है।"[2] हर्षचरित इसके पश्चात् की घटनाओं का वर्णन नहीं करता।

राज्यश्री द्वारा राज्य ग्रहण करने से अस्वीकार करना -

------ प्रश्न यह था कि क्या राज्यश्री को शासन की बागडोर हाथ में लेने की प्रार्थना की जाय? परंतु अपने दारुण विपत्तियों तथा बौद्ध उपदेशों के परिणामस्वरूप शासन का भार ग्रहण करने को वह प्रस्तुत न थी। मौखरि उत्तराधिकारी के अभाव में पोनी के नेतृत्व में कन्नौज के मंत्रियों और राजनीतिज्ञों ने हर्ष से उस राजकुल का मुकुट स्वीकार करने की प्राथना की।[3]

१- डा० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० २२२-
२- डा० रमा शंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० २२२-
३- बील, १, पृ० २१० - २११ ; वाटर्स, पृ० ३४३।

प्रयाग मेले में राज्यश्री का योगदान -

प्रयाग के पंचवर्षीय वितरण का उल्लेख इतिहास में है । इसका विशद् वर्णन हुवेनसांग ने अपनी पुस्तक में किया है - " सर्वप्रथम हर्ष ने तीन दिन तक क्रमश: बुद्ध सूर्य तथा शिव की पूजा की तथा चौथे दिन से दान का कार्य आरंभ हुवा । ---- इस प्रकार दान करने में हर्ष का पाँच वर्ष का संगृहीत धन समाप्त हो गया तथा हर्ष ने अपने बहुमूल्य वस्त्र एवं अलंकार भी दान कर दिये । तत्पश्चात् अपनी बहिन राज्यश्री से गेरुवा वस्त्र माँगकर हर्ष ने भगवान् बुद्ध की उपासना की ।[1]

" ---- इस प्रकार कितने ही याचकों को दान दिया गया और महीना भर दरिद्रों और अनाथों को दान मिलता रहा । अब तक धन का विस्तृत कोष समाप्त हो चुका था और हर्ष ने अपने व्यक्तिगत " रत्न तथा वस्तुएं " भी दान दे डाली । इस प्रकार उसने व्यक्तिगत उदारता का वह आदर्श रखा जो इतिहास में अपूर्व था ।[2] "

प्रसाद जी द्वारा राज्यश्री नाटक में लिए गए ऐतिहासिक तथ्य -

यद्यपि हर्षवर्धन के राज्यकाल की घटनाओं के परिज्ञान के लिए इतिहास के और भी पुष्ट प्रमाण हैं, किंतु प्रसाद जी ने मुख्यत: राज्यश्री के चित्रण में हर्षवर्द्धन के राजकवि बाणभट्ट के " हर्षचरित् " और चीनी यात्री हुवेनसांग जिसे प्रसाद जी ने सुएनच्वांग कहा है, के वर्णन का आश्रय लिया है ।[3] महाकवि बाण-भट्ट द्वारा लिखित हर्षचरित् नाटक हर्षवर्द्धन के जीवन-काल का एक सजीव प्रमाण

१- प्रो० डा० डी० गुप्त ; प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० २४६ -
२- प्रो० रमा शंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास ; पृ० २३२ -
३- प्रसाद : राज्यश्री , प्राक्कथन , पृ० ५ ।

है। इसी प्रकार चीनी यात्री ह्वेनसांग द्वारा लिखित भारत यात्रा-वर्णन में भारत की तत्कालीन परिस्थिति का अच्छा उल्लेख मिलता है। यद्यपि इतिहासकारों का कथन है कि बाणभट्ट द्वारा लिखित हर्षचरित् नाटक में हर्ष के जीवन काल की घटनाओं को अलंकारिक रूप प्रदान किया गया है। अत: उसे काव्य सौष्ठव से युक्त अवश्य मान लिया जाय किंतु यथार्थ इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दूसरी कठिनाई यह है कि प्रसाद ने स्वयं स्वीकार किया है कि हर्षचरित् का वर्णन अपूर्ण है। अनुमान किया गया है कि ग्रंथ की पूरी प्रति उपलब्ध नहीं है या संभवत: कवि की यह रचना भी कादम्बरी की भाँति अधूरी रह गई हो।

प्रसाद ने लिखा है - वर्धन - वंश के प्रभाकर के मरते ही नरेंद्र के उकसाने से मालव के देवगुप्त ने प्रभाकर के जामाता गृहवर्मा से कान्यकुब्ज को छीन लिया और प्रभाकर की दुहिता राज्यश्री को बंदी बनाकर सफलता प्राप्त की। राज्यवर्धन ने जब कान्यकुब्ज का उद्धार किया तो नरेन्द्र ने छल से उसकी हत्या की। हर्ष अभी एक नवयुवक शासक था, बहुत संभव था कि थानेश्वर भी उलट दिया जाता; परंतु उसने अतुल पराक्रम से उस विपत्ति का सामना किया और मालव तथा गौड़ के षड्यंत्र को ध्वस्त कर दिया ---- दिवाकर मित्र नामक एक साधु ने राज्यश्री के प्राणों की रक्षा की। कहा जाता है, हर्षवर्द्धन ने राज्यश्री के साथ कान्यकुब्ज का संयुक्त शासन किया और इसीलिए बहुत दिन तक वह केवल राजपुत्र उपाधि धारण किये था - हर्षवर्धन का बौद्ध-धर्म की ओर अधिक झुकाव होने का कारण उनकी भगिनी राजेश्वरी का एक बौद्ध दिवाकर मित्र द्वारा बताया जाना भी हो सकता है।[१]

प्रसाद ने राज्यश्री के संबंध में लिखा है -" राज्यश्री एक आदर्श राजकुमारी थी, उसने अपना वैधव्य सात्त्विकता से बिताया। अनेक अवसरों पर

१- राज्यश्री : प्राक्कथन ; पृ० ५ से ७ तक -

वह हर्ष के लौह हृदय को कोमल बनाने में कृतकार्य हुई।" -----" स्वयं हर्षवर्द्धन के प्राण लेने तक की चेष्टा भी की गई थी, परंतु राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा से, कठोरता से बचता ही रहा। कान्यकुब्ज का और प्रयाग का दान महोत्सव वर्णन करते हुये हुएनसांग अघाता नहीं। यह सब प्रेरणा राज्यश्री की थी।"[1]

नाटक में राज्यश्री को गृहवर्मा की मृत्यु से पूर्व भी भिक्षुओं को दान देते हुये दिखाया गया है, किन्तु डा० जगदीशचंद्र जोशी का निष्कर्ष है कि -" इतिहास से यह ज्ञात नहीं होता कि गृहवर्मा की मृत्यु से पूर्व भी महारानी राज्यश्री स्वयं भिक्षुओं को दान देती थी। वस्तुत: हर्षवर्द्धन से पूर्व न तो वर्द्धनों का इतिहास ही[2] मौखरियों का ही बौद्ध धर्म के प्रति विशेष अभिरुचि का प्रदर्शन करता है। ये तीनों हिन्दू राजा थे और उसी परंपरा में कालांतर में हर्ष ने भी अपने धर्म में समन्वयवादी प्रवृत्ति को ही प्रधानता दी थी। अत: महारानी राज्यश्री का भिक्षुओं को दान देना और उनसे शील की चर्चा करना समीचीन प्रतीत होता है।[3]

ऐतिहासिक घटना में कल्पना का योग -

प्रसाद ने राज्यश्री का चरित्र-चित्रण करने में जहां ऐतिहासिक आधार ग्रहण किया है, वहां कल्पना का भी यथेष्ट आश्रय लिया है।" "मालव - राज देवगुप्त ने गृहवर्मा का वध कर राज्यश्री को कारागृह में बंदिनी बना रखा था।"[4] यह घटना हर्षचरित् के अनुकूल है। किंतु हर्षचरित् अथवा अन्य प्रमाणों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि देवगुप्त ने उक्त विजय किस प्रकार

१- राज्यश्री : प्राक्कथन ; पृ० ८ -

२- हर्षचरित् (कॉवेल एंड थामस) अध्याय ३

३- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १५८

४- हर्ष चरित् : अध्याय ६ ; पृ० २०४ -

पाई , अत: प्रसाद ने इस घटना पर निज की काव्य-कार्य-योजना का सुंदर निर्माण किया है ।

" पुनश्च , गृहवर्मा की आशंका , मृगया के लिए प्रस्थान , छद्मवेशी देवगुप्त और उसके सैनिकों द्वारा कान्यकुब्ज गढ़ पर विजय और इस विजय मूल में राज्यश्री का अप्रतिम रूप , वस्तुत: प्रसाद की कल्पनाप्रसूत घटनाएँ हैं । ---- विजय के निमित्त राज्यश्री द्वारा मंदिर में पूजन और प्रतिमा के अट्टहास से अपशकुन की आशंका - ये दोनों घटनायें पूर्णतया काल्पनिक घटनायें हैं[1]।

इसी प्रकार शांतिभिक्षु का दस्यु विकटघोष बनकर राज्यवर्द्धन की सेना में सम्मिलित होना और राज्यश्री को भगाने की योजना भी कल्पना-प्रसूत घटनायें हैं ।

यहाँ हर्षचरित् का एक संदर्भ उल्लेखनीय है -

उक्तमांश्च बंधनात् प्रभृति विस्तरत: स्वसु

कान्यकुब्ज गौड़ संभ्रमे गुप्ततो गुप्तानाम्ना कुलपुत्रेण निष्कासनं ।[2]

अर्थात् राज्यश्री का निष्कासन एक कुलपुत्र के द्वारा हुआ है , जिसका नाम ' गुप्त ' है । आलोचकों ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि " तब यह बात समझ में नहीं आती कि नाटक में प्रसाद ने राज्यश्री की कारागार से मुक्ति दस्यु द्वारा क्यों करवाई है ।"[3]

हर्षचरित् से यह आभासित होता है कि राज्यश्री कान्यकुब्ज के दुर्ग से निकलकर अपने अनुचरों सहित विंध्याचल की ओर चली गयी ।

" स्वगेहि सानुचरो मुं मान स्व छद्मना व्यापादित । "[4]

१- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १५८ -

२- हर्षचरित् , पृ० ३३१ -

३- डा० जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १६० -

४- हर्षचरित् (शांकर टीका) ३ । पृ० २५१ -

राज्यवर्द्धन की मृत्यु का समाचार सुनकर उसके अनाहार रहने, दुख से कातर होकर भटकने और अंत में अग्नि-प्रवेश करने के निश्चय का भी उल्लेख मिलता है। हर्ष विंध्य पहाड़ी की ओर राज्यश्री को खोजने गया था। दिवाकर मित्र के आश्रम में उसे एक भिक्षु ने बतलाया था कि एक स्त्री निराश होकर जल मरने को उद्यत है। मुनियों - सहित हर्ष वहाँ पहुंचता है और समझा बुझाकर राज्यश्री को वापस ले आता है। राज्यश्री काषाय वस्त्र धारण करना चाहती है, किंतु हर्ष यह नहीं चाहता कि वह एक भिक्षुणी का जीवन बितावे। हर्ष राज्यश्री को आश्वासन देता है कि वह दुश्मनों से बदला लेगा।

यहाँ उल्लेखनीय है कि " हर्षचरित् के उपर्युक्त वृत्तांत से राज्यश्री की घटनाओं का सामंजस्य बैठता है। इसमें संदेह नहीं कि दिवाकर मित्र एक प्रकार से राज्यश्री की रक्षा के कारण बने। किंतु प्रसाद के नाटक की घटना के समान उन्होंने न तो दस्युओं के हाथ से इसका उद्धार किया और न पति की मृत्यु के दुख के कारण राज्यश्री ने उनके आश्रम में ही सती होने का प्रयास किया। वस्तुत: दस्युराज के चरित्र के द्वारा ही नाटक की समस्त घटनाओं के कारण कार्य-परंपरा मिलाने के कारण प्रसाद को ऐतिहासिक घटनाओं में इस प्रकार मोड़ देना पड़ा है, जो महत्वहीन और निरर्थक है।"[१]

राज्यश्री और हर्ष के मिलन के ऐतिहासिक प्रमाण और प्रसाद द्वारा वर्णित वृत्तान्त में पर्याप्त अंतर है। क्योंकि " हर्षचरित् के अनुसार हर्ष के दिग्विजय के प्रस्थान की घटना अंतिम है और राज्यश्री एवं हर्ष के मिलन की घटना इससे बहुत पूर्व की है। समझ में नहीं आता कि इतनी बड़ी गलती के विरोध में प्रसाद ने क्यों घटनाओं के क्रम में उलट-फेर किया। नाटक में हर्ष स्वयं

१- डा० जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १६२ -

स्वीकार करता है कि " कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवातट तक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया।"[1] इसका यह अर्थ हुआ कि राज्यश्री को ढूंढने से पूर्व हर्ष ने संपूर्ण उत्तरी भारत को विजय कर लिया था और पुलकेशिन चालुक्य से युद्ध के उपरांत ही उसे राज्यश्री मिली। यह स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाद है, जिसे किसी भी दशा में स्वीकार नहीं किया जा सकता ----।"[2]

वस्तुत: ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर हर्ष को इतना साम्राज्य जीतने में लगभग पांच वर्ष लगे होंगे और यह एकांत समय ६३० से ६३४ ई० के लगभग रहा होगा।[3]

इस नाटक में खोई हुई राज्यश्री को ढूंढने के लिए हर्ष बेचैन दिखाया गया है और यहां तक कि ऐसा वर्णन आया है कि वह अपनी इस बेचैनी में युद्ध समाप्त कर संधि कर लेता है, किंतु, यह भी कहा गया है कि " खोहा के दानपत्र के शब्द " हर्षविच्छेद हेतु: " तथा " मय विवर्जित हर्षों येन चकारि हर्षो "[4]

दान के अवसर का वर्णन करते हुए इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रयाग में हर्ष दान करने में इतना भूल गया था कि उसे अपने लिए वस्त्र अपनी बहन राज्यश्री से मांगना पड़ा। अंत में हर्ष ने अपना सर्वस्व दान कर दिया और एक पुराना वस्त्र मांगकर धारण किया। ---- नाटक में इस घटना के अंत में राज्यश्री के दान का उल्लेख है।

१- राज्यश्री ३ पृ८ -

२- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १६२-

३- वर्टेकर का ऐज इंडियन कल्चर ३ ४० वॉ० ६ ; पृ० ४५० -

४- डा० जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० १६३-

तत्कालीन नारी समाज की मान्यताएं -

प्रसाद ने राज्यश्री नाटक में नारी- समाज के चित्रण में यथार्थ और कल्पना दोनों का समन्वय किया है, किंतु जहां कहीं उन्होंने कल्पना का आश्रय लिया है, वे तत्कालीन परिस्थिति के घेरे से बाहर नहीं गये हैं। वैधव्यकी अवस्था में राज्यश्री के सती होने का प्रयास करना भी तत्कालीन समाज में प्रचलित सतीप्रथा के अपनाने का प्रमाण है। ह्वेनसांग का कथन है -- " स्वयं हर्ष की बहिन राज्यश्री भी सती होने जा रही थी कि ठीक अवसर पर पहुंचकर हर्ष ने उसे बचा लिया।"[१]

डा० रामजी उपाध्याय ने उपर्युक्त मत को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि -" ---- हर्ष की माता विधवा होने पर सती हो गयी थी, और उसकी बहन राज्यश्री भी चितारोहण की तैयारी में थी। जब उसके भाई ने कर्तव्यज्ञान कराके उसे सती होने से रोक लिया।"[२]

राज्यश्री के व्यक्तित्व से तत्कालीन नारी समाज की अन्य उपलब्धियों का भी पता चलता है उसके उदाहरण से इस बात का पता चलता है कि मध्ययुग में कुछ स्त्रियां बहुत ही योग्य और सुशिक्षित थीं। " हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री सुशिक्षित महिला थी, और उसने दिवाकरमित्र नामक बौद्ध पंडित से धर्म की शिक्षा ली थी।"[३]

द्विजातियों के अनुलोम विवाह का प्रचलन भी था -" वैश्य सम्राट हर्षवर्द्धन की बहिन राज्यश्री का विवाह क्षत्रिय राजा गृहवर्मा से हुआ था।"[४] प्रसाद जी ने भी नाटक में इसे एक तथ्यपूर्ण वृत्तान्त माना है।

१- वी० एस० रस्तोगी : प्राचीन भारत ; पृ० ३२७ -
२- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति व उसका इतिहास ; पृ० ४२४ -
३- वही ,, ,, ; पृ० ४२५
४- रामजी उपाध्याय : प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति ; पृ० ३१ -

उपर्युक्त प्रसंग में हमने विस्तार से ऐतिहासिक नाटकों में आये हुये, नारी चरित्रों का अध्ययन किया। यद्यपि इतिहास में उन नारियों की रेखाएँ मात्र ही मिलती हैं, किंतु उन रेखाओं में रंग भरने का काम प्रसाद जी ने किया। उन ऐतिहासिक नारी पात्रों में प्रसाद जी ने अपने आदर्श का समाहार किया है। विशेषतौर से हम प्रसाद जी के जीवन - दर्शन को ही इन नारी व्यक्तित्वों में लागू होते हुए देखते हैं। वासवी के गंभीर व्यक्तित्व में व्याप्त सौम्यता, उदारता और गुरु नारीत्व ; छलना का आत्म गौरव तथा भगवान गौतम के सिद्धांत का खुला विरोध ; मल्लिका के नारी - हृदय में भी वीरत्व और स्वाभिमान का उत्कट उदाहरण, वासवदत्ता के व्यक्तित्व में सामाजिक परंपराओं के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया, पद्मावती के हृदय की कोमलता और हिंसा का विरोध करती हुई उसका बुद्ध की शरण में आत्मसमर्पण, नगरवधू मागन्धी में कला का उत्कर्ष तथा एक सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व की प्रेरणा ; ध्रुवस्वामिनी का नारी - जागरण तथा राज्यश्री के गंभीर नारीत्व में बुद्धि-चातुर्य और भावनाओं की संवेदनशीलता आदि गुणों की उद्भावना कर प्रसाद जी ने अपनी नूतन मौलिक दृष्टि और नूतन सृजन-शक्ति का परिचय दिया है। इस प्रकार ऐतिहासिक यथार्थ और काल्पनिक रंगों के इन्द्रधनुषी वितान में प्रसाद ने एक अद्भुत कलात्मक सौंदर्य उपस्थित करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।

अर्द्धऐतिहासिक नारी-पात्र -

प्रसाद के साहित्य में विशेषतया नाटकों में जहां एक ओर ऐतिहासिक पात्र मिलते हैं, वहां दूसरी ओर ऐसे भी नारी पात्र मिलते हैं, जिनका उल्लेख भर इतिहास में मिलता है, व्यक्तित्व परिचय नहीं। ऐसे पात्रों को हम एक - अलग श्रेणी में रखकर उन्हें अर्द्धऐतिहासिक पात्रों की संज्ञा दे सकते हैं। ऐसे पात्रों के केवल नाम भर इतिहास-सम्मत हैं, किन्तु अपनी नूतन रचनात्मक कल्पना द्वारा प्रसाद ने उन्हें अभिनव व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है।

" यदि नाटककार मूल कथानक प्रामाणिक इतिहास से ले, प्राय: सभी

प्रधान पात्र भी इतिहास विश्रुत हों और उन सभी पात्रों के नामों को ही नहीं चरित्रों को भी ज्यों का त्यों स्वीकार करें तो इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक को शुद्ध ऐतिहासिक की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस दृष्टि से अजातशत्रु, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, स्कंदगुप्त और राज्यश्री सभी शुद्ध ऐतिहासिक हैं। इन सबके कथानक प्रामाणिक इतिहास से लिये गये हैं।"[१]

प्रसाद के ऐतिहासिक नारी पात्रों के संबंध में उक्त कथन सामान्यतया मान्य है, किन्तु जहां उनकी स्वच्छंद कल्पना स्वतः अपने चरित्रों का निर्माण एवं विकास करने में लग गई है, वहां पर उन पात्रों का एक अलग वर्ग बन जाता है। प्रसाद ने इस बात का भी सदैव ध्यान रखा है कि उनके पात्र विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में विषमता न उत्पन्न करें। ऐसे नारी पात्रों को अर्द्ध अर्द्धऐतिहासिक पात्रों की संज्ञा दे सकते हैं।

यहां हम उनके सर्वप्रथम नाटक अजातशत्रु के अर्द्धऐतिहासिक नारी पात्रों का विवेचन करेंगे। अजातशत्रु नाटक की नारियों में मुख्यतः वाजिरा, शक्तिमती (मूल नाम वासवखत्तिया) तथा पद्मावती को हम अर्द्धऐतिहासिक नारी-पात्र कह सकते हैं। वाजिरा जिसका कि ऐतिहासिक नाम वाजिरा कुमारी कहा गया है, प्रसेनजित् की पुत्री थी, किन्तु नाटक में प्रसाद ने उसके चरित्र में अनेक काल्पनिक तत्वों का समावेश किया है। "वाजिरा का प्रेम और बंदीगृह की घटना पूर्णतया काल्पनिक है।"[२] अतएव वाजिरा को अर्द्धऐतिहासिक पात्रों के अंतर्गत ही रखेंगे।

शक्तिमती जिसका कि ऐतिहासिक नाम (जातकों) में वासवखत्तिया मिलता है, के संबंध में प्रसाद जी ने स्वयं नाटक में लिखा है कि -" ----विरुद्धक की माता का नाम जातकों में वासवखत्तिया मिलता है (उसी का कल्पित नाम

१- डा०जगदीशचंद्र जोशी : हिन्दी गद्य साहित्य : एक सर्वेक्षण ; पृ० १२
२- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० ८८

शक्तिमती है)[१] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वासवदत्ता की जीवन संबंधी घटना उसका महानाम की दासीपुत्री होना, और प्रसेनजित से उसका विवाह आदि ऐतिहासिक प्रसंग तो है ; पर इतिहास में उनका उल्लेख या तो भिन्न नामों से हुआ है अथवा नाम रहित। इस प्रकार ऐसे नारी पात्रों को हम अर्द्धऐतिहासिक नारी-पात्र की संज्ञा देते हैं।

अपने कथा-प्रसंग में प्रसाद ने पद्मावती को अजातशत्रु की बड़ी बहन माना है। नाटक में वह उदयन की दूसरी रानी के रूप में आयी है। बौद्ध ग्रंथों में भी उदयन की दूसरी रानी की चर्चा है, और उसमें वास्तविक नाम श्यामवती लिखा है।[२] इस प्रकार पद्मावती भी अर्द्धऐतिहासिक पात्र है।

चंद्रगुप्त में वर्णित सिल्यूकस कन्या कार्नेलिया का नाम भी इतिहास में नहीं मिलता, हाँ उसका उल्लेख (हेलना-ऐथना) भिन्न नामों से मिलता है। कार्नेलिया का चंद्रगुप्त से प्रेम प्रसंग भी प्रसाद जी का कल्पनाप्रसूत है, क्योंकि इतिहास से भी इसके पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि सिल्यूकस की कन्या का विवाह चंद्रगुप्त से ही हुआ था।

ठीक इसी प्रकार चंद्रगुप्त नाटक की कल्याणी का नाम भी पूर्ण ऐतिहासिक नहीं है। इतना अवश्य उल्लेख मिलता है कि " नंद की पुत्री (कल्याणी) चंद्रगुप्त के प्रति आसक्त थी और संभवतः चंद्रगुप्त ने नंद की उक्त कन्या से विवाह भी किया था।"[३] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। प्रसाद ने इस प्रेम का क्रमशः विकास कर घटना में नाटकीय संभाव्यता ला दी है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक चरित्रों के अतिरिक्त प्रसाद साहित्य में ऐसे नारी चरित्र भी देखने को मिलते हैं, जो इतिहास से तो लिए गये हैं, परंतु जिनके चरित्रगत विकास में प्रसाद ने नूतन कल्पनाओं द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन कर

१- प्रसाद : अजातशत्रु ' कथा प्रसंग ' ; पृ० १४ -

२- प्रसाद : अजातशत्रु ' कथा प्रसंग ' ; पृ० १४ -

३- हिस्ट्री आफ इंडिया (शाह) पृ० ८८ रैफ्रेंस आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, वैलयूम २ ; पृ० १३।

दिया है। बौद्ध - साहित्य में उल्लिखित आम्रपाली के चरित्र में प्रसाद ने इसी प्रकार का परिवर्तन किया है। आम्रपाली वैशाली के लिच्छवि-गणतंत्र की नगरशोभिनी थी , अत्यंत वैभवशालिनी और गुणवती भी थी। स्वयं भगवान् बुद्ध ने उसका भात स्वीकार किया था , और उसने एक आम्रकानन भी बुद्ध और संघ को भेंट किया था। पर डा० जोशी के अनुसार उस आम्रपाली ने कभी भी आम नहीं बेचे कभी भी लड़कों के साथ से पत्थर नहीं खाये , और वह न तो कभी उदयन की रानी थी , और न बुद्ध पर आसक्त। हम यह मानते हैं कि प्रसाद ने ऐतिहासिक मागन्धी , श्यामा , तथा आम्रपाली को जानबूझकर मिलाया है।[1]

" ---- कोई इतिहास यह नहीं बताता कि अजातशत्रु ने वाजिरा से , चंद्रगुप्त ने कार्नेलिया से ---- स्कंद ने विजया से और देवसेना ने स्कंद से प्रेम किया था। किन्तु ये मानव-जीवन की वे शाश्वत घटनायें हैं, जिनको कोई ऐतिहासिक नाटककार छोड़ नहीं सकता और कोई इतिहासकार संभाव्यता की सीमारेखा से बहिष्कृत नहीं कर सकता। ---- इतिहास के पात्र , उनकी घटनाएँ सब पूर्ववत् रहीं , पर इन कल्पनाओं ने " कैटैलिटिक एजेन्ट " की तरह इतिहास में एक नूतन रस उत्पन्न कर दिया , और इतिहास नाटक बन गया।[2]

इन अर्द्धऐतिहासिक नारी पात्रों में कुछ नितांत काल्पनिक भी हैं। अलका, सुवासिनी , मालविका , सुरमा, जयमाला आदि नारी-पात्र काल्पनिक कोटि के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। प्रसाद जी ने इन नारी-पात्रों का चरित्र भी इतना महान् बनाया है , कि वह सदैव ऐतिहासिक पात्रों के अनुरूप रहते हैं और प्रमुख पात्रों के समानांतर आदि से अंत तक अपने अस्तित्व को मुखर किये रहते हैं।

अलका का चरित्र नाटक में किसी विशेष कथा को अग्रसर करने में

१- डा० जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० ६६-

२- डा० जगदीशचंद्र जोशी : हिन्दी गद्य-साहित्य एक सर्वेक्षण ; पृष्ठ १५-

सहायक नहीं होता। वैसे वह देश-प्रेम की बलिवेदी पर न्यौछावर होने वाली वीर दात्राणी के रूप में हमारे संमुख आती है। प्रसाद ने अलका के व्यक्तित्व में अपनी कल्पना का अद्भुत पुट देकर पराधीन देश के संमुख एक नवीन नारी-आदर्श प्रस्तुत किया है।

चाणक्य के व्यक्तित्व की समूची शुष्कता में मानवीय तत्व की स्थापना करने के उद्देश्य से प्रसाद ने सुवासिनी की रचना की है।

मालविका (चंद्रगुप्त) की तथा जयमाला (स्कंदगुप्त) क्रमश: दोनों नाटकों के लिए अधिक आवश्यक नहीं कही जा सकती। मालविका प्रसाद के कवि की एक दाणिक पर करुण कल्पना है, जो नाटक में आंसू की एक बूंद छोड़ जाती है। इसी प्रकार जयमाला जीवन के दुर्धर्ष द्वंद्वों के बीच शान्ति और सहिष्णुता की एक शीतल जलधार के रूप में प्रकट होती है।

सुरमा का चरित्र भी प्रसाद की कल्पना से प्रसूत है। वह विशेषतौर से राज्यश्री नाटक की ऐतिहासिक घटनाओं के विकास में योगदान करती है। नाटक की घटना के विकास में कहीं - कहीं राज्यश्री पीछे रह जाती है, और सुरमा ही सामने आकर उसका मार्ग प्रदर्शन करने लगती है। उपर्युक्त पात्रों को काल्पनिक नारी चरित्रों के अंतर्गत रखा जा सकता है।

देवसेना के संबंध में अनुमान है कि अज और इन्दुमती के संबंध में कही गई एक उक्ति से प्रसाद ने स्कंद के साथ देवसेना नाम की योजना की है।[१] इस संबंध में वे आगे लिखते हैं - " शिव के कुमार स्वामी कार्तिकेय " स्कंद ", "सेनानी" और , "महासेन " भी कहलाते हैं। ये शिव सेना के सेनानी थे, और इनकी

१- अथोपयंत्रा सदृशेनयुक्ता स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्।
स्वासारमावाय विदर्भनाथ: पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव।।

- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य

महासेना क्या थी , यह जिज्ञासा भी तुरंत शांत हो जाती है कि यह ' देवों ' के सेनापति थे, और उनकी महासेना ' देवसेना ' थी । पर क्या ये देवसेना के वैसे ही पति थे, जैसे कोई ' सेनापति ' किसी 'सेना' का 'पति ' होता है ? नहीं । देवसेना इनकी प्रेयसी का नाम था , व्यक्तिवाचक नाम । [१]

इस प्रकार मिश्र ने मल्लिनाथ , वायुपुराण , देवी भागवत् , आदि के आधार द्वारा देवसेना और स्कंद के पति-पत्नी संबंध को सिद्ध करने का प्रयास किया है । किन्तु प्रसाद ने अपने नाटक में दोनों के बीच प्रेम होते हुए भी अंततः विवाह नहीं कराया है । स्कंद चिर-कुमार रहने की प्रतिज्ञा करता है, और देवसेना मालव लौट जाती है । इस संबंध में मिश्रजी ने स्कंद के एक अन्य नाम कुमार को लेकर उनके ब्रह्मचारी होने के अन्य प्रमाण संगृहित किये हैं । इस प्रकार स्पष्टत: स्कंद के पौराणिक चरित्र की पीठिका पर देवसेना की योजना की गई है ।

विजया का चरित्र भी सार्वकालिक प्रकृति के ही अंतर्गत रखा जा सकता है । प्रसाद ने विजया को नाटक में चंचल प्रकृति की श्रेष्ठिपुत्री के रूप में चित्रित किया है । सर्वप्रथम वह स्कंदगुप्त के राज्य-ऐश्वर्य की ओर आकर्षित होती है । स्कंद की राज्य के प्रति उदासीनता देखकर वह क्षण भर में ही भटार्क की प्रशंसा करने लग जाती है । अपनी चंचल प्रकृति के परिणामस्वरूप ही वह देवसेना की ईर्ष्या से पुन: भटार्क से संबंध स्थापित कर लेती है । अन्त में जब स्कंद भी उससे मुंह मोड़ लेता है , तो विजया स्वयं भटार्क और यहां तक कि पुरगुप्त तक से नाता तोड़कर पुन: स्कंद की ओर झुकती है , और प्रणय भिक्षा मांगती है । स्कंद से ठुकराये जाने पर भी वह सदैव स्कंद की विजय की प्रार्थिनी बनी रहती है ।

१- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य ; पृ० ७५- ७६ ।

स्कंदगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख[1] की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं -

क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष हेतून्
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्र - पुत्रां -
लक्ष्मी : स्वयं यं वरयांचकार ।।[2]

यहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब राजपुत्रों को छोड़कर लक्ष्मी ने (स्कंद) जिसका स्वयं वरण किया। इस शिलालेख का आरंभ ही विष्णु की जय से किया गया है।[3] --- अब यदि इस पृष्ठभूमि पर विजया और लक्ष्मी को एक मान लें तो कई बातों में समानता प्रतीत होगी। लक्ष्मी की चंचलता प्रसिद्ध है, वह कभी भी एक व्यक्ति की होकर नहीं रह सकती। ठीक यही दशा विजया की है। महत्वाकांक्षा का लक्ष्मी से गहरा संबंध है, विजया भी उसी की ओर आकर्षित होती है। यही महत्वाकांक्षा का स्वरूप है। अन्य सभी राजपुत्रों को छोड़कर लक्ष्मी ने स्वयं स्कंद का वरण किया था। विजया ने भटार्क को छोड़ा, पुरगुप्त को छोड़ा और अंत में स्कंदगुप्त के समक्ष स्वयं प्रार्थिनी हुई। ---- लक्ष्मी उसके पीछे-पीछे भागती है जो उसे ठुकराता रहता है, और उससे वह दूर भागती है जो स्वयं उसके पीछे भागता है। यहां स्कंद जब विजया के प्रति आकर्षित हुआ तो उसका परिणाम यही हुआ कि विजया ने भटार्क का वरण किया, पर जब स्कंद उससे उदासीन हो देवसेना की ओर झुका तो वह येन केन प्रकारेण स्कंद को पा लेने के लिए उसके पीछे दौड़ती रही[11]। यह भी अत्यंत सार्थक है कि अंत में विजया

१- इसी को श्री मिश्र भिटारी का लेख लिखते हैं जो - देखिये हिंदी का सामयिक साहित्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

२- सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस - सरकार ; पृ० २६६ नं० २५-

३- " कमलनिलयनाया : शाश्वतं धाम लक्ष्म्या:
स जयति विजितार्तिर्विष्णु रत्यन्त विष्णु " वही

के ही रत्नगृह की सहायता से स्कंद ने हूण-सेना पर विजय प्राप्त की ।[1]

देवकी का चरित्र भी सांकेतिक माना गया है, क्योंकि भिटारी के शिलालेख में एक स्थान पर देवकी का उल्लेख हुआ है -

" जितिर्मिति परितोष्यान्मातरं सास्त्रुं - नेत्रां[2]
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युवेत: "

डा० जगदीश मिश्र का कहना है कि उपर्युक्त आधार पर ही प्रसाद जी ने स्कंद की माता का नाम देवकी मानकर स्कंद द्वारा उसके बंदीगृह से छुड़ाये जाने का उल्लेख किया है। केवल इस आधार पर देवकी को ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता, अधिक से अधिक उसे सांकेतिक काल्पनिक की कोटि में रखा जा सकता है।

इन अर्द्धऐतिहासिक नारीपात्रों का प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में अपना विशिष्ट महत्व है। वे (किसी भी प्रकार एक) व्यक्तित्व लेकर सामने निष्क्रिय होकर नहीं आते। प्रसाद की कल्पना द्वारा उनमें एक नवीन जीवनी शक्ति का संचार हुआ है।

प्रसाद के नाटकों के समान ही, उनकी कहानियों का आधार भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अंकित है। विविध कहानियों में उन्होंने विविध ऐतिहासिक कालों की परिस्थितियों का चित्रण किया है। उनमें कुछ कहानियों के वातावरण ऐतिहासिक धरातल से ग्रहण किये गये हैं, किन्तु कुछ कहानियों के पात्रों के नाम अवश्य ऐतिहासिक हैं, किंतु उनके चरित्र के विकास में कहानीकार ने अपनी स्वच्छंद कल्पना शक्ति का प्रयोग किया है।

मौर्यकालीन पृष्ठभूमि पर अंकित " अशोक " कहानी प्रसाद जी की एक प्रसिद्ध कहानी है। जहाँ तक इस कहानी के पात्रों की ऐतिहासिकता का संबंध

१- जगदीशचंद्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक ; पृ० 182

२- भिटारी का लेख - सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस - सरकार ; पृ० ३१३ -

है अशोक, कुणाल और तिष्यरक्षिता तीनों ही ऐतिहासिक हैं। उदाहरण के लिये अशोक की रानियों की ऐतिहासिकता के संबंध में निम्नलिखित कथन महत्वपूर्ण हैं। " स्वयं अशोक की भी अनेकों रानियाँ थीं। जहाँ गाथायें इनके अस्तित्व पर प्रकाश डालती हैं वहाँ अशोक स्वयं अपने लेखों में अपने अनेक अंत:पुरों का उल्लेख कर इस सत्य की पुष्टि कर देता है। निश्चय ही यह समस्त रानियाँ संतान के अभाव की पूर्ति के लिए न थी, बल्कि कामवासना की तृप्ति भी इनके अस्तित्व का कारण था।[1]"

उपर्युक्त वातावरण का प्रभाव मौर्यकाल की स्त्रियों पर भी पड़ना स्वाभाविक था। स्वयं तिष्यरक्षिता का चरित्र इस बात का प्रमाण है, जो वासनापूर्ति की आकांक्षा से स्वयं अपने पुत्र कुणाल की ओर आकर्षित होती है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि तिष्यरक्षिता अशोक की तृतीय रानी थी। यदुनन्दन कपूर ने इतिहास के प्रमाण को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि - " दिव्यावदान के अनुसार तिष्यरक्षिता भी अशोक की रानी थी। विभिन्न गाथायें पद्मावती को भी सम्राट अशोक की रानी बताती हैं। इन गाथाओं के अनुसार कुणाल पद्मावती का पुत्र था तथा इसका पहला नाम धर्मविवर्धन था। कुणाल इसका उपनाम था ---- "[2]।

इतिहास प्रसिद्ध इस कुणाल को ही आधार, बनाकर प्रसाद जी ने अपनी कहानी `अशोक` की रचना की है।

तिष्यरक्षिता और कुणाल की कथाप्रसंग का जहाँ तक प्रश्न है, प्रसाद ने पूर्णत: ऐतिहासिक आधारों को ग्रहण किया है, क्योंकि अनुश्रुति में भी

१- यदुनन्दन कपूर : ` अशोक ` ; पृ० २०७ -

२- यदुनन्दन कपूर :`अशोक ` ; पृ० १३ -

कुणाल के संबंध में अशोक के शासन काल की एक घटना प्रचलित है " कुणाल अत्यंत ही सुंदर युवक था। उसकी बड़ी - बड़ी आंखें हिमालयस्थ के समान सुंदर थीं। वह अशोक का सबसे प्रिय पुत्र था। उसके तक्षशिला जाने से पहले पाटलिपुत्र में उसकी विमाता तिष्यरक्षिता उसकी आंखों तथा सुंदर देह पर मुग्ध हो गई। अशोक ने तिष्यरक्षिता से वृद्धावस्था में विवाह किया था। तिष्यरक्षिता ने कुणाल से प्रणय याचना की, जिसे कुणाल ने अस्वीकृत कर दिया। इस अपमान पर रानी कुणाल से द्वेष करने लगी।"[1]

कुणाल के प्रति इस आकर्षण की भावना का उल्लेख प्रसाद ने अपनी कहानी में भी किया है, किंतु कहानी द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता कि तिष्यरक्षिता को राजमुद्रा क्यों और कैसे प्राप्त हुई। प्रसाद ने राजमुद्रा छिपाने की घटना का नाम नहीं लिया, केवल संकेत से ही इतिहास के तथ्यों को पूर्ण किया है - " क्या उस दिन तुमने उसी कुकर्म के लिए राजमुद्रा छिपा ली थी ?"[2]

किन्तु उस समय राजमुद्रा छिपाना सरल न था, क्योंकि राजा-आज्ञा पर महाराज के दांतों की छाप वाली मोहर लगाई जाती थी। महाराज की सुषुप्तावस्था में संभवत: उसने दांतों की छाप लाल मोम पर ले ली थी अन्यथा वह अपने कार्य में सफल न हो पाती।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि " कुणाल के तक्षशिला जाने के उपरांत तिष्यरक्षिता ने अशोक की रुग्णावस्था के समय उसकी सेवा तथा उपचार कर पुरस्कार में राजकीय मुहर प्राप्त कर ली। अब उसे अपने द्वेष नियोजन का अवसर मिला। उसने एक कपट-लेख तैयार कर तक्षशिला भेजा, जिसमें सम्राट् की आज्ञा से कुणाल की आंखे निकाल लिए जाने का निर्देश था ---- आज्ञा पत्र प्राप्त

१- यदुनन्दन कपूर : ' अशोक '

२- प्रसाद : 'अशोक' ; पृ० ८८-

कर कुणाल ने राजा की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझ अपनी आँखें निकलवा डालीं ----'।[१]

प्रसाद की 'अशोक' कहानी के कुणाल नेत्रविहीन नहीं किये जाते। अपनी पत्नी सहित वह राजसभा में उपस्थित होते हैं। पत्रवाहक द्वारा पत्र प्राप्त कर अशोक द्वारा महादेवी तिष्यरक्षिता को भी राजसभा में उपस्थित किया जाता है। उसके कुकर्मों को जानकर राजाज्ञा द्वारा उसे शीघ्र ही जीवित समाधि देने वाले के पास ले जाया जाता है। इस प्रकार प्रसाद ने अपनी कहानी में उपर्युक्त ऐतिहासिक घटनाओं में अपनी कल्पना का समावेश करके उसे नूतन परिवेश दिया है।

सोहनलाल द्विवेदी ने भी कुणाल काव्य में उपर्युक्त घटना का उल्लेख किया है। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी कुणाल नामक कहानी में इसी कथानक को आधार बनाकर कहानी की संरचना की है। किंतु इन दोनों में कुणाल के अंधे बनाये जाने की घटना का उल्लेख ज्यों की त्यों किया गया है। कुणाल में इतिहास को आधार बनाकर कुमार नेत्रविहीन कर दिये जाते हैं, किन्तु अशोक प्रसाद ने कुमार को नेत्रविहीन नहीं कराया है। कुणाल में जब कुमार नेत्रविहीन कर दिये जाते हैं तो पत्नी उन्हें सहारा देती है। एक दिन भ्रमण करते-करते दोनों महाराज के दरबार में पहुंचते हैं, और वहां पहचान लिये जाते हैं। रानी को प्राणदंड मिलता है। यहां प्रसाद ने ऐतिहासिक पात्रों की मर्यादा को बचाते हुए तथा तिष्यरक्षिता के नारी-चरित्र को कलंक से बचा लेने के लिए उसमें ग्लानि और पश्चाताप के भाव दिखाये हैं। दरबार में आकर उसका उन्मादक वासनारूप तथा विमाता-रूप समाप्त हो जाता है, और उसमें उदात्त मातृवत्सलता के भाव

१- यदुनंदन कपूर : अशोक ; पृ० १३-

जागृत हो जाते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं में भी कल्पनात्मक पुट के द्वारा प्रसाद ने नवीन जीवनरस का संचार किया है।

प्रसाद के नारी वर्ग विभाजन में एक वर्ग सांकेतिक काल्पनिक चरित्रों का भी है, किन्तु यहां सांकेतिक नारी पात्रों के गुण धर्म को दृष्टि में रखते हुये काल्पनिक नारी पात्रों की ही कोटि में रखा गया है।

" विशाख "[१] में प्रसाद ने पुरुष पात्रों के संबंध में तो इतना अवश्य स्वीकार किया है कि प्रेमानंद और महापिंगल आदि एक-एक कल्पित पात्र हैं, जो मुख्य काल के विरुद्ध नहीं, किंतु नारी पात्रों के संबंध में नाटककार कोई भी टिप्पणी नहीं प्रस्तुत करता। नाटक में पांच मुख्य नारी पात्र हैं। चंद्रलेखा, इरावती, रमणी, तरला और रानी। नाटककार के अनुसार यदि महापिंगल कल्पित पात्र है तो उसकी स्त्री तरला को भी अवश्य ही कल्पित नारी पात्र होना चाहिये। इसी प्रकार काश्मीर के राजा नरदेव की स्त्री का नाम भी नाटककार ने रानी लिखा है। संभवत: यह रानी नाम उसके पद का द्योतक हो। चंद्रलेखा, इरावती और रमणी के नाम संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र मिलते हैं, संभव है नाटककार ने उसी परंपरा में इन नामोंको ग्रहण किया हो।

प्रश्न यह है कि प्रसाद ऐतिहासिक, अर्द्धऐतिहासिक अथवा काल्पनिक नारी-पात्रों के सृजन में केवल इतिहास की पूरी तथ्यता को लेकर क्यों नहीं चले हैं, और प्राय: प्रत्येक नारी पात्र में उन्हें अपनी कल्पना की पुट क्यों देनी पड़ी है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि एक तो इतिहास में उपलब्ध नारियों के नाम उल्लेख से ही इतिहास की कथा की पूर्णता नहीं मिलती। उन कथाओं में सजीवता प्रदान करने के लिए उन पात्रों के ठोस व्यक्तित्व के सृजन की भी आवश्यकता पड़ती है। व्यक्तित्व - सृजन में युग, स्थान और परिस्थिति के अनुरूप आदर्शों की कल्पना ऐतिहासिक नाटकों या आख्यानों की अपनी विशेषता है। बिना किसी आदर्श का आरोप किये किसी पात्र को कहानी, उपन्यास

१- प्रसाद : विशाख नाटक -

या नाटक में ले आना निरर्थक रहेगा। इसीलिए प्रसाद ने ऐतिहासिक अपूर्ण घटनाओं को पूर्णता प्रदान करने के लिये अपनी उर्वर कल्पना शक्ति का खुलकर प्रयोग किया है।

ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिकता के वातावरण का सृजन एक आवश्यक शर्त है। इस ऐतिहासिक वातावरण के सृजन के लिए भी उन्हें नारी पात्रों में युग - धर्म और गुण- धर्म के अनुसार नवीन प्राण-प्रतिष्ठा करनी पड़ी है।

प्रसाद ने इतिहास के पृष्ठों में पाई जाने वाली नारियों में नवीन प्राण-प्रतिष्ठा इस उद्देश्य से भी की है कि उनके व्यक्तित्व के विविध पक्षों की सफल प्रस्तुति की जा सके। इन उद्देश्यों से उन्होंने ऐतिहासिक इतिवृत्त में जहां- कहीं अपनी कल्पना का आश्रय लिया है वहां नारी - पात्रों का व्यक्तित्व-चित्रण बहुत ही सफल बन पड़ा है। वस्तुत: प्रसाद नारी-जीवन में नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा अपने काल्पनिक पात्रों में ही अधिक कर पाये हैं। उन पात्रों के चित्रण में कल्पना के स्वच्छन्द-विहार के लिए विशेष अवसर उपलब्ध हो सके हैं।

—अध्याय ५

महाभारत एवं पुराणों के परिवेश मे प्रसाद के नारी-पात्र

महाभारत एवं पुराणों के परिवेश में प्रसाद के नारी - पात्र

महाभारत एवं पुराण भारतीय संस्कृति के मूल स्त्रोत हैं। ये धार्मिक ग्रंथ ही नहीं, तत्कालीन समाज और संस्कृति के प्रामाणिक आधार ग्रंथ भी हैं। महाभारत एवं पुराणों में जीवन की मर्यादाओं एवं आदर्शों का ऐसा आख्यानगत चित्रण मिलता है जो सहज ही परवर्ती साहित्य के लिए अनुकरणीय हो गया। संस्कृत एवं हिन्दी का अधिकांश साहित्य महाभारत एवं पुराणों में आये हुये आख्यानों का ऋणी है। प्रसाद ने "जनमेजय के नागयज्ञ" की रचना महाभारत में आये हुये जनमेजय के कथाप्रसंग को आधार बनाकर की। उन्होंने जनमेजय के नागयज्ञ की भूमिका में ही इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है। "इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल महाभारत और हरिवंश में न हो।"[१] उनका महाकाव्य "कामायनी" भी पौराणिक आधार लेकर चला है। इस प्रकार उनकी प्रारंभिक रचनाओं में से "जनमेजय का नागयज्ञ" है, जो महाभारत पर आधारित रहा है, और उनकी प्रौढ़तम कृति तथा छायावाद का एकमात्र महाकाव्य है-"कामायनी", जो पौराणिक आधारों पर सृजित हुआ है। इससे जहां यह सिद्ध होता है कि आधुनिक कवि के लिए भी महाभारत और पुराणों के आख्यान आकर्षण से पूर्ण दिखाई पड़ते हैं, वहां यह भी दर्शनीय है कि दृष्टि के किस नूतन आलोक को लेकर कवि ने प्राचीन उपजीव्य से विचारदोहन किया है। इन आधार-स्त्रोतों से प्रसाद ने छ: नारी पात्र ग्रहण किये हैं जिनमें से क्रमश: चार "जनमेजय के नागयज्ञ" में और दो "कामायनी" में हैं। इनका क्रमश: विश्लेषण आगे किया जा रहा है।

"जनमेजय के नागयज्ञ" की पौराणिकता का आधार -

जनमेजय के नागयज्ञ की कहानी त्रेतायुग की समाप्ति और द्वापर के प्रथम

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० ५ -

चरण से सम्बन्ध रखती है। पांडवों की महाभारत विजय का परिणाम इस अर्थ में बहुत अवसादपूर्ण रहा कि उनके कुल में केवल अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित ही राज्य संभालने के लिए शेष रहे। उनका भी जीवन अल्पकालिक रहा। उनके सन्यास ग्रहण के पश्चात्[1] उनका पुत्र जनमेजय सम्राट हुआ। जनमेजय से एक ब्रह्म हत्या भी गई।[2] इस ब्रह्म-हत्या के प्रायश्चित के लिए उन्होंने " जनमेजय अपने बड़े बेटे को जो चौदह वर्ष का था राजगद्दी पर बैठा दिया, और राज्य-काज का काम मंत्रियों को सौंपकर जनमेजय से कहा है बेटा गऊ व ब्राह्मण की रक्षा करके प्रजा को सुख देना, ऐसा कहकर राजा ने मन अपना विरक्त करके भूषण व वस्त्र राजसी अंग से उतार डाला व एक कोपीन पहनकर गंगा किनारे को गये।"[3] अश्वमेध यज्ञ किया।[4] उधर जनमेजय के विरुद्ध एक भारी षड्यंत्र चल रहा था।[5]

जनमेजय पर विपत्ति आने के समय उन्होंने नागकन्या से उत्पन्न सोमश्रवा को पुरोहित बनाया।[6] तक्षक द्वारा परीक्षित की हत्या किये जाने के उपरांत जनमेजय बाह्य और आभ्यंतर कुचक्रों के दमन के लिए प्रेरित हुआ। प्रसाद ने इसका संकेत अपने आमुख में किया है।

इस कथानक के बीच जो नारी पात्र आये हैं उनमें दो एक के संबंध में ही प्रसाद जी ने कल्पित होने की बात की है। उन्हीं के अनुसार - " इस नाटक के

१- जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; प्राक्कथन ; पृ० ३ -

२- महाभारत : शांतिपर्व ; अध्याय १५०

३- सुखसागर : पहिला स्कंध ; पृ० ६१ -

४- शतपथ ब्राह्मण १३-५-४-१ तथा महाभारत शांतिपर्व अध्याय १५० ।

५- ऐतरेय ब्राह्मण ८-२१ ।

६- पौष्य पर्व अध्याय ३ -

पात्रों में कल्पित केवल चार हैं। पुरुषों में माणवक और त्रिविक्रम तथा स्त्रियों में दामिनी और शीला। जहाँ तक हो सका है इसके आख्यान भाग में महाभारतकाल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है, और इन कल्पित चार पात्रों से मूल घटनाओं का सम्बन्ध सूत्र जोड़ने का ही काम लिया गया है। इनमें से वास्तव में दो एक का नाम ही केवल कल्पित है, जैसे वेद की पत्नी दामिनी। उसके चरित्र और व्यक्तित्व का भारत के इतिहास में कुछ अस्तित्व है ----
कुक्करी सरमा भी जनमेजय की प्रधान शत्रु थी, जिसके पुत्र को जनमेजय के भाइयों ने पीटा था। महाभारत और पुराणों को देखने से विदित होता है कि यादवों की कुक्कुर नाम की एक शाखा थी। संभवत: सरमा उन्हीं यादवियों में से थी जो दस्युओं द्वारा अर्जुन के सामने हरण की गई थी।[१]

प्रसाद जी की उपर्युक्त मान्यता के अनुसार निम्नलिखित नारियों को जनमेजय के नागयज्ञ में से पौराणिक नारी वर्ग में रखा जा सकता है।

(१) वपुष्टमा - जो कि नाटक में जनमेजय की रानी के रूप में प्रतिष्ठित है।

(२) मनसा - जरत्कारु की स्त्री व वासुकी की बहन है।

(३) सरमा - जो कि कुक्कुरवंश की यादवी है।

(४) मणिमाला - जो कि तक्षक की कन्या है।

इसके साथ ही गुण और धर्म की मर्यादाओं को देखते हुये वेद की पत्नी दामिनी को भी (यद्यपि उसके नाम का सृजन नाटककार की कल्पना से हुआ है, फिर भी उसे हम) पौराणिक नारी वर्ग में ही रखेंगे।

वपुष्टमा -

वपुष्टमा जनमेजय की रानी है। महाभारत के "आस्तीक पर्व" से वपुष्टमा का उल्लेख मिलता है। महाभारत में लिखा है - "राजमंत्रियों ने देखा, राजा जनमेजय शत्रुओं को दबाने में समर्थ हो गये हैं, तब उन्होंने काशिराज

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; प्राक्कथन ; पृ० ५ -

सुवर्णावर्मा के पास जाकर उनकी पुत्री वपुष्टमा के लिए याचना की ।*[1]

* काशिराज ने धर्म की दृष्टि से भलीभाँति जाँच पड़ताल करके अपनी कन्या वपुष्टमा का विवाह कुरुकुल के श्रेष्ठ वीर जनमेजय के साथ कर दिया । जनमेजय ने भी वपुष्टमा को पाकर बड़ी प्रसन्नता का अनुभव किया और दूसरी स्त्रियों की ओर कभी अपने मन को जाने नहीं दिया ।*[2]

* वपुष्टमा पतिव्रता थी । उसका रूप सौंदर्य सर्वत्र विख्यात था । वह राजा के अन्तःपुर में सबसे सुंदरी रमणी थी । राजा जनमेजय को पति रूप में प्राप्त करके वह विहार काल में बड़े अनुराग के साथ उन्हें आनंद प्रदान करती थी ।[3]

प्रसाद जी ने अपने नाटक में जिस वपुष्टमा को चित्रित किया है, वह

१- ततस्तु राजानमभिप्रलापनं
समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं
वपुष्टमार्थं वरयाम्प्रचक्रमुः ।

महाभारत : आस्तीक पर्व, ४४वाँ अध्याय, श्लोक नं० ८ -

२- ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां
कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः ।
स चापि तां प्राप्य मुदायुतोऽभव -
न्न चान्यनारीषु मनोदधे क्वचित् ।।

३- वपुष्टमा चापि वरं पतिव्रता
प्रतीत रूपा समवाप्य भूमिपम् ।
भावेन रामा रमयाम्बभूव सा
विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी ।।

महाभारत : आस्तीक पर्व, ४४वाँ अध्याय, श्लोक ९, ११ ।

महाभारत की यही राजमहिषी वपुष्टमा है, जिसके संबंध में उन्होंने स्वयं कहा है - " वपुष्टमा गंभीर, दृढ़, चिंतनशील, उदार, पति में अनुरक्त और अपने कर्तव्य का सदैव विचार रखती है।"[१]

पुराणों में नारी की सबसे बड़ी मर्यादा पतिभक्ति रखी गई है। वपुष्टमा का व्यक्तित्व भी इस आदर्श को अपने आपमें छिपाये हुये है। महाभारत में जनमेजय के सर्पयज्ञ में सर्पों के नष्ट होने का वृत्तांत दिया गया है। प्रसाद जी ने इस सर्पयज्ञ को एक नवीन और ऐतिहासिक रूप प्रदान किया है। उन्होंने इस यज्ञ को आर्य जाति और नागजाति के बीच का संघर्ष माना है। यद्यपि महाभारत में आगे के पर्वों में जनमेजय द्वारा सर्प यज्ञ किये जाने और पराक्रम प्रदर्शित करने का उल्लेख आया है, किन्तु वपुष्टमा का उस यज्ञ में कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं चित्रित हुआ है।

प्रसाद जी वपुष्टमा के संबंध में अपने नाटक में महाभारत की इस सीमा से बहुत आगे नहीं हैं। उन्होंने उसमें विवेकशीलता, शिष्टता, कलात्मकता आदि गुणों की कल्पना नारी सुलभ गुणों के अनुसार की है।

नाटक को गतिशीलता प्रदान करने के लिए प्रसाद जी ने वपुष्टमा को राजा जनमेजय के परिषद्‌गृह में बिना किसी संकोच के आते हुए और आर्य कश्यप से निर्भीकतापूर्वक बात करते हुये दिखाया है। जब आर्य गुरु द्वारा दक्षिणा न ग्रहण करने के प्रसंग में मंत्री से कारण पूछती है, और आर्य कश्यप से इस बात पर कह देती है कि उन्हें आर्यगुरु को अवश्य संतुष्ट करना था।[२]

वपुष्टमा के व्यक्तित्व में एक सबल, किन्तु दृढ़ नारी हृदय की कल्पना प्रसाद जी ने की है। सरमा अपने पुत्र के अकारण पीटे जाने के प्रसंग में न्याय की याचना करती है। कश्यप इस प्रश्न को टालना चाहते हैं, किन्तु वपुष्टमा के

१- प्रसाद : आमुख ; पृ० ३-

२- जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक, तीसरा दृश्य ; पृ० २५० -

व्यक्तित्व में बैठी नारी बोल पड़ती है - " आर्य पुत्र ! न्याय कीजिए । नारी का अनुकूल अपनी एक- एक बूंद में बाँध्या किये रहता है ।"[१]

प्रसाद जी वपुष्टमा को महाभारत कालीन नारी के रूप में चित्रित करते हुए भी यह नहीं भूलते कि उन नारी पात्रों से भी आज की समाजजनित समस्याओं का समाधान ढूंढना है । वपुष्टमा उदार दृष्टिकोण की होकर भी विजातीय विवाह का विरोध करती है और सरमा से कहती है - " छि: ! आर्यललना होकर नागजाति के पुरुष से विवाह किया तभी तो यह लांछना भोगनी पड़ती है ।"[२]

नाटक में वपुष्टमा के व्यक्तित्व को प्रसाद जी ने और अधिक उभाड़ने की कोशिश नहीं की है । उन्होंने उसके माध्यम से कोमल और मानवीय भावनाओं का उद्रेक अवश्य करवाना चाहा है । इसीलिए नागयज्ञ के बाद अश्वमेध यज्ञ की योजना सुनकर वह कह उठती है - " आर्यपुत्र अश्वमेध के व्रती हुये हैं । पृथ्वी का यह मनोहर उद्यान रक्त-रंजित होगा । भगवन् क्या तुम भी बलि से प्रसन्न होते हो ? यह तो बड़ा संकट है । मन हिचकता है, पर विवशता वही करने को कहती है । धर्म की आज्ञा और ब्राह्मणों का निर्णय है । बिना यज्ञ किये छुटकारा नहीं । कैसा आश्चर्य है । एक व्यक्ति की हत्या जो केवल अनजान में हो गई है, विधिविहित हत्याओं से छुड़ाई जायेगी अखंडनीय कर्म - लिपि ! तेरा क्या उद्देश्य है, कुछ समझ में नहीं आता ।"[३]

अत: कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने वपुष्टमा के चित्रण में बहुत अधिक अपनी कल्पना का संयोजन नहीं किया है । उसके महाभारतकालीन व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा का ही परिणाम है कि वपुष्टमा जनमेजय की

१- जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक, तीसरा दृश्य ; पृ० २८-

२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक, तीसरा दृश्य ; पृ० २८-

३- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : तीसरा अंक, दूसरा दृश्य , पृ० ७१ -

राजमहिषी होकर भी नाटक में केवल कुछ अंश तक और वह भी भावात्मक रूप में ही अपनी भूमिका अदा कर पाती है। उसके चरित्र की उदात्तता प्रसाद जी की अपनी कल्पना की देन है।

मनसा -

मनसा महाभारत की एक प्रामाणिक नारी पात्र है, जिसका नाम जरत्कारु आया है। उसके पति का नाम भी महाभारत में जरत्कारु है। इस नाम साम्य का कारण महाभारत के आदि पर्व के अंतर्गत " आस्तीक पर्व " में यह बताया गया है कि जरत्कारु मुनि ने यह प्रतिज्ञा की थी कि " जो कन्या मेरे ही जैसी नामवाली हो, भिक्षा की भाँति मुझे दी जा सकती हो, और जिसके भरण-पोषण का भार मुझ पर न हो, ऐसी कन्या मुझे कोई दे।"[1]

महाभारत की कथा के अनुसार नागराज वासुकि और पांडव राजा परीक्षित तथा उनके पुत्र जनमेजय के बीच शत्रुता चल रही थी। वासुकि को एक ऐसे मुनि पुत्र की आवश्यकता थी जिसकी संतान का माध्यम लेकर जनमेजय को परास्त किया जा सके। जिस समय जरत्कारु मुनि विवाह की प्रतीक्षा में खिन्न होकर वन में विवाह के लिए पुकार रहे थे, नागराज वासुकि ने इस अवसर से लाभ उठाकर अपनी बहन का विवाह उनसे करा देना चाहा, और वासुकि ने ही जरत्कारु को बताया कि इस कन्या का नाम भी जरत्कारु है। यथा:

" द्विजश्रेष्ठ! इस कन्या का वही नाम है जो आपका है, यही मेरी बहन है और आपकी ही भाँति तपस्विनी भी है। आप इसे ग्रहण करें। आपकी पत्नी का भरण-पोषण मैं करूंगा। तपोधन! अपनी सारी शक्ति लगाकर मैं इसकी

१- मम कन्या सनाम्नी या भैक्ष्यवच्चोदिता भवेत्।
भरेयं चैव यां नाहं तां मे कन्यां प्रयच्छत।।

श्री महाभारत : आदिपर्व के अंतर्गत, आस्तीक पर्व, ४५वाँ अध्याय, श्लोक १८, पृ० १३

मनसा - कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह तुम जानो। मुझे क्या? जरत्कारु गये, तो क्या हुआ, मेरा नाम भी तो तुम लोगों ने जरत्कारु ही रख दिया है। क्या अब कोई दूसरा नाम करोगे?[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि इसी दुविधा के कारण प्रसाद जी ने जरत्कारु मुनि की पत्नी का नाम जरत्कारु नहीं रखा है। इससे पाठकों में एक भ्रम भी उत्पन्न हो सकता था। अत: अनुमान है कि प्रसाद जी ने उपर्युक्त श्लोक १६ में आये हुये " मनस्विनी " विशेषण के आधार पर इसका नाम " मनसा " रखा है। " मनस्विनी " शब्द का अर्थ है जो मनोबल से युक्त किंतु अभिमान युक्त नारी हो। मनसा शब्द का अर्थ भी मन में उठनेवाली तरह तरंगी अर्थात् कामनाओं से है। अत: इस आधार पर नागकन्या का नाम मनसा उपर्युक्त प्रतीत होता है। यहां प्रसाद की विशिष्ट कल्पना का आरोप किया गया है।

नाम के संबंध में महाभारत और नाटक में जो अंतर दिखाई पड़ता है उसके साथ ही महाभारत में चित्रित जरत्कारु और नाटक में चित्रित मनसा के व्यक्तित्व और चरित्र के संबंध में भी कुछ मौलिक भिन्नताएं हैं, जिनका विवेचन कर लेना उचित प्रतीत होता है।

महाभारत में जरत्कारु ऋषि की पत्नी जरत्कारु (नागकन्या) का जो चित्रण हुआ है, उसमें वह बहुत ही धर्मभीरु स्वभाव की चित्रित की गई है। तभी तो वह जरत्कारु की संध्योपासना का समय व्यतीत होते देखकर उनके धर्म के लोप के भय से उन्हें जगाने का यत्न करती है -

---

१- प्रसाद :जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, पहला दृश्य ; पृ० १६ -

" इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम् ।
उवाचेदं वच: श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी ।
उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति ।। [१]

महातपस्वी जरत्कारु जाग उठते हैं, किंतु क्रोध के मारे उनके होंठ काँपने लगते हैं। तिस पर भी धैर्यशील तथा पातिव्रत्य धर्म का पालन करनेवाली नागकन्या बड़े ही साहसपूर्वक कहती है " विप्रवर मैंने अपमान करने के लिए आपको नहीं जगाया था। आपके धर्म का लोप न हो जाय, यही ध्यान में रखकर मैंने ऐसा किया है।"

नावमानात् कृतवती तवाहं विप्र बोधनम्
धर्मलोपो न ते विप्र स्यादित्येतन्मया कृतम् । [२]

इतना कहने पर भी क्रोध में भरे हुये महातपस्वी ऋषि जरत्कारु ने अपनी पत्नी नागकन्या को त्याग देने की इच्छा रखकर उससे कहा -" नागकन्ये मैंने कभी झूठी बात मुँह से नहीं निकाली है, अत: अवश्य जाउँगा।"

ऐसा कहने पर अनिन्द्या सुन्दरी जरत्कारु भाई के कार्य की चिंता और पति के वियोगजनित शोक में डूब गयी। उसका मुँह सूख गया। नेत्रों में आँसू छलक आये और हृदय काँपने लगा। फिर किसी प्रकार धैर्य धारण करके सुंदर जाँघों और मनोहर शरीरवाली वह नागकन्या हाथ जोड़ गद्गद् वाणी में जरत्कारु

१- " मन ही मन निश्चय करके मीठे वचन बोलने वाली नागकन्या जरत्कारु ने वहाँ सोते हुए अग्नि के समान तेजस्वी एवं तीव्र तपस्वी महर्षि से मधुर वाणी में यों कहा - महाभाग उठिये। सूर्यदेव अस्ताचल को जा रहे हैं।"
श्री महाभारत: आदिपर्व के अंतर्गत आस्तीक पर्व ४७वाँ अध्याय, श्लोक नं०२०-२१, पृ०१३८-

२-श्री महाभारत ,, ,, ,, ,, श्लोक नं० २८ ; पृ०१३८ -

मुनि से बोली -

धैर्यमालम्ब्य वामोरूर्दुःखेन प्रवेपती ।

न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ।।

धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम् ।

प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम ।।[1]

यहाँ तक कि जरत्कारु द्वारा परित्यक्त होने के उपरांत भी उसकी अनन्यता पति के प्रति बनी रहती है । वह पति के क्रोधातुर स्वभाव की किंचित भी निंदा नहीं करती , अपितु अपने भाई वासुकि से कहती है - " राजन् उन्होंने पहले कभी विनोद में भी झूठी बात कही हो , यह मुझे स्मरण नहीं है , फिर इस संकट के समय तो वे झूठ बोलेंगे ही क्यों ? महापुण्यात्मा ! मेरे पति तपस्या के धनी हैं । उन्होंने जाते समय मुझसे यह कहा - " नागकन्ये । तुम अपनी कार्यसिद्धि के संबंध में कोई चिंता मत करना । तुम्हारे गर्भ से अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा ।"[2]

१- " धर्मज्ञ आप सदा धर्म में स्थित रहने वाले हैं । मैं भी पत्नी धर्म में स्थित तथा प्रियतम के हित में लगी रहने वाली हूँ । आपको मुझ निरपराध अबला का त्याग नहीं करना चाहिये -----" ।

श्री महाभारत: आदिपर्व के अंतर्गत , आस्तीक पर्व, ४७वाँ अध्याय, श्लोक नं० ३५, ३

पृ० १३३ -

२- " न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे ।

उत्पत्स्यति च ते पुत्रो ज्वलनार्कसमप्रभः ।।

महाभारत : आदिपर्व के अंतर्गत आस्तीक पर्व : ४८वाँ अध्याय ; श्लोक १२ ,

पृ० १४१ -

मुनिश्रेष्ठ जरत्कारु से वासुकि द्वारा अपनी बहन का विवाह करना अवश्य ही राजनीतिक कारणों से था, क्योंकि वासुकि को बहुत अधिक चिंता होती है और वह अपनी बहन से कहता है - "भद्रे। सर्पों का जो महान् कार्य है और मुनि के साथ तुम्हारा विवाह होने में जो उद्देश्य रहा है, उसे तो तुम जानती ही हो, यदि उनके द्वारा तुम्हारे गर्भ से कोई पुत्र उत्पन्न हो जाता तो उससे सर्पों का बहुत बड़ा हित हो जाता।"[१] और निश्चय ही वह स्वार्थ इस प्रकार है - "वह शक्तिशाली मुनिकुमार ही हम लोगों को जनमेजय के सर्पयज्ञ में जलने से बचायेगा, यह बात पहले देवताओं के साथ भगवान् ब्रह्मा जी ने कही थी।"[२]

प्रसाद जी के नाटक में चित्रित मनसा -

महाभारत में जरत्कारु नामक नागकन्या को मनसा नाम से चित्रित करते हुये नाटककार ने अपनी कल्पना शक्ति से भी यथेष्ट काम लिया है। निश्चय ही नाम, वंश और जाति से एक होते हुए भी गुण, धर्म एवं व्यक्तित्व में नाटक की मनसा महाभारत की जरत्कारु से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण यह है कि महाभारत में वर्णित जनमेजय के सर्पयज्ञ को प्रसाद जी ने ऐतिहासिक आवरण देते हुए और भी अधिक प्रामाणिक बना दिया है। इसे उन्होंने आर्य जाति और नागजाति के सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में चित्रित किया है और उस संघर्ष को उद्दीपन देनेवाली इसी मनसा को बनाया है। इसीलिए महाभारत में जरत्कारु जितनी विनम्र स्वभाववाली, धर्मपरायणा, पतिपरायणा और

१- जानासि भद्रे यत् कार्यं प्रदाने कारणं च यत्।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात् ततो यदि ।।
महाभारत : आदिपर्व के अंतर्गत आस्तीक पर्व : ४७वाँ अध्याय; श्लोक नं० ३, पृ० १४७।

२- स सर्पसत्रात् किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान् ।
एवं पितामहः पूर्वमुक्तवांस्तु सुरैः सह ।।
महाभारत आदिपर्व के अंतर्गत आस्तीक पर्व श्लोक नं० ४, पृ० १४७ -

कर्तव्यपरायण चित्रित की गई है, नाटक की मनसा उससे भिन्न की गई है।

नाटक की मनसा में सबसे बड़ा और विशेष गुण है उसका जातिप्रेम का भाव। उसे नागजाति से अप्रतिम लगाव है। वह आर्यजाति के विस्तार को नागजाति के ऊपर एक अतिक्रमण मानती है। उसमें जातीय - गौरव कूट-कूटकर भरा है। वह सरमा से अपने इस जातीय प्रेम को व्यक्त करती हुई कहती है -
" क्या इस विश्व के रंगमंच पर नागों ने कोई स्पृहणीय अभिनय नहीं किया? क्या उनका अतीत भी उनके वर्तमान की भाँति अंधकारपूर्ण था। ----- आर्यों के सदृश उनका भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक संस्कृति थी।"[1]

सरमा आर्यजाति की प्रशंसा करती है, लेकिन मनसा में नागजाति के गौरव का भाव इतना अधिक भरा हुआ है कि वह आर्यजाति को ही नागजाति के समूचे अध:पतन का कारण बताती है। वह प्रबल नागजाति को वीर्य या शौर्य में आर्यों से कम कदापि नहीं मानती। इसी भाव से प्रेरित होकर वह वृद्ध विवाह करती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मनसा जरत्कारु ऋषि से अपना विवाह प्रेमजनित श्रद्धा और हृदयों के समर्पण के लिए नहीं मानती। वह स्पष्ट कहती है कि उसका यह विवाह केवल जातीय प्रेम से प्रेरित होकर और वह भी अपने ऊपर अत्याचार मानकर किया गया है। महाभारत की जरत्कारु अपने मन में इस प्रकार की संकल्पना कभी नहीं उत्पन्न कर सकती थी, क्योंकि वहाँ उसका जो व्यक्तित्व चित्रित हुआ है, उसमें उसका पतिपरायणा और भीरु रूप ही सामने आया है। अत: मनसा में यह जातीय प्रेम और आर्य जाति से प्रतिहिंसा की भावना तथा राजनीतिक परिवेश में विवाह का यह प्रपंचात्मक विधान प्रसाद जी की अपनी कल्पना की देन है। मनसा आर्यों को उनके अपकार का प्रतिफल देकर ही संतुष्ट होना चाहती है, उसे पूर्ण विश्वास है कि " नागजाति फिर एक बार चेष्टा करेगी, परिणाम चाहे जो हो।"[2]

१- जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, पहला दृश्य; पृ० ६ -

२- वही ,, ,, ,, ; पृ० १५ -

प्रसाद जी के नाटक में चित्रित मनसा में तेजस्विता है। जब कि महाभारत में चित्रित मनसा को इतना अधिक भीरु पाया गया है कि उसमें यहाँ तक कि अपने खोये हुए पति को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा भी उत्पन्न होती नहीं दिखाई पड़ती। नाटक की मनसा नागजाति के उत्थान की महत्वाकांक्षा से पूर्ण है और राजेश्वरी बनने की कल्पना उसके मस्तिष्क में खुमारी की तरह भरी हुई है। वह आर्यों की स्पष्ट भर्त्सना करती हुई कहती है - "हाँ सरमा तुममें भी ओजपूर्ण नागरक्त है। इस मस्तिष्क में अभी तक राजेश्वरी होने की कल्पना खुमारी की तरह भरी हुई है। वह अतीत का इतिहास याद करो, जब सरस्वती का जल पी कर स्वस्थ और पुष्ट नागजाति कुरुक्षेत्र की सुंदर भूमि का स्वामित्व करती थी। जब भारत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें हटने को विवश किया, तब वे खाण्डव वन में अपना उपनिवेश बनाकर रहने लगे थे, उस समय तुम्हारे कृष्ण ने साम्य और विश्वमैत्री का जो मंत्र पढ़ा था, क्या उसे तुम सुनोगी? और जो नृशंसता आर्यों ने की थी, उसे आँखों से देखोगी ---"[1]

मनसा के मस्तिष्क में केवल आर्य-जाति के विरोध में विप्लव की भावनायें भरी हों, ऐसी बात न थी। उसका क्रांतिकारी व्यक्तित्व अपने उस पति को भी फटकारने में नहीं चूकता, जो उसे छोड़कर चला जाता है। वह कहती है - "देखो यादवी! कैसी विलक्षणता है! यह बनावटी परोपकार, और ये विश्व के ठेकेदार! ---- देखो अपने आर्यों की यह समता! फिर यदि नागों ने आभीरों से मिलकर यादवियों का अपहरण किया तो क्या बुरा किया? यदि नागराज तक्षक ने शृंगीऋषि से मिलकर परीक्षित का संहार किया, तो क्या अनिष्ट किया? इस विश्व में बुराई भी अपना अस्तित्व रखती है। मैंने नागजाति के कल्याण के लिए अपना यौवन एक वृद्ध तपस्वी ऋषि को अर्पित कर दिया है। केवल जातीय प्रेम से प्रेरित होकर मैंने अपने ऊपर यह अत्याचार किया है।"[2]

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, पहला दृश्य, पृ० १० - ११

२- वही ,, ,, ,, ,, ; पृ० १४- १५ ।

महाभारत में मनसा का स्पष्टत: नाम जरत्कारू रखा गया है, किंतु यह एक आर्य जाति का नाम है, इसीलिए विवाह की शर्त के अनुसार मनसा को अपने आपके प्रति जरत्कारु का संबोधन भी अप्रिय है। वह अपने भाई वासुकि से कहती है - " ---- जरत्कारु गये तो क्या हुआ, मेरा नाम भी तो तुम लोगों ने जरत्कारु ही रख दिया है। क्या अब दूसरा नाम बदलोगे ? "[1]

प्रसाद जी ने मनसा को नागजाति के प्रतिनिधि के रूप में मानकर उसके व्यक्तित्व को बहुत ही प्रबल रूप में ऊपर उठाने की चेष्टा की है। उसमें तेजस्विता एवं जातिप्रेम है। इसके साथ ही उत्तेजना देने की शक्ति भी निहित है। अपने जातिगत प्रेम में उन्मत्त होकर वह सर्पिणी की भांति फुंकारने लगती है। अपने भाई वासुकि से वह कहती है - " ---- रमणियों के आंचल में मुंह छिपाकर आर्यों के समान वीर्यशाली जाति पर बाण बरसाना चाहते हो। अब मैं यह पाखंड नहीं देख सकती। खाण्डव की ज्वाला के समान जल उठो। चाहे उसमें आर्य भस्म हों और चाहे तुम, इस नीच अभिनय की आवश्यकता नहीं। "[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनसा का शारीरिक ढांचा अवश्य ही पौराणिक है, किंतु नाटककार ने उसके नाम के परिवर्तन में जितना अपनी कल्पना का सहारा ले सका, उसके चरित्र के निर्माण मेंभी उसने उतनी ही कल्पना का आश्रय लिया है। वास्तव में प्रसाद जी नारी जाति की स्वतंत्रता के पोषक थे। पुरुष उस पर निरंतर अनाचार करता जाय और नारी उफ तक किये बिना उन अनाचारों को चुपचाप सहती जाय, यह प्रसाद जी को कदापि सह्य न था। महाभारत में मुनि की पत्नी जरत्कारु में प्रसाद जी ने एक ऐसी नारी को देखा जो अनाचारों को सहना जानती है, प्रतिवाद करना नहीं जानती, प्रतिशोध लेना नहीं चाहती। प्रसाद जी समाज में ऐसे नारी पात्रों को पुन: सृजित करके

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक, पहला दृश्य ; पृ० १६ -

२- वही ,, ,, ,, ,, ,, ; पृ० १६ -

सामने नहीं लाना चाहते थे, जिनसे समाज अपनी कुंठाओं में जकड़ा हुआ गतिहीन बना रहे, इसीलिए प्रसाद जी ने जरत्कारु के उस कुंठाग्रस्त चरित्र को उभाड़कर मनसा के रूप में एक उन्नायक चरित्र को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इसीलिए मनसा पौराणिक होकर भी नवीन है, उसमें जातिगत विनाश की महत्वाकांक्षा है, और यहाँ तक कि जातिगत हित की रक्षा करने के लिए उसने अपने जीवन की सभी लालसाओं और अभिलाषाओं को एक वृद्ध तपस्वी के हाथों सौंप दिया है। समूहगत हितों के संरक्षण के लिए व्यक्तिगत सुख-स्वप्नों का यह समर्पण बहुत ही विलक्षण है और प्रसाद जी की अपनी कल्पना की देन है।

सरमा -

महाभारत के पौष्यपर्व में सरमा का उल्लेख आया है। यहाँ उसे कुतिया[1] शब्द से संबोधित किया गया है। महाभारत में सरमा को देवताओं की कुतिया कहते हुए भी ऐसे भाषण कराये गये हैं, जो कि मनुष्य जाति के उपयुक्त हैं, फिर भी महाभारत की सरमा यह शिकायत करती है कि उसके पुत्र ने यद्यपि हविष्य आदि को चाटा नहीं है, फिर भी जनमेजय के भाइयों ने उसके पुत्र को पीटा है। किसी खाद्य पदार्थ या ऐसे पदार्थ में जिसमें घी, गुड़ आदि पड़ा हो, चाटने का प्रसंग मनुष्य के संदर्भ में प्राय: नहीं आता, और ऐसा प्रयोग प्राय: कुत्तों के अर्थ में ही आता है।

प्रसाद जी इस द्विविधा में नहीं पड़ने गये हैं कि सरमा क्या वास्तव में कुतिया है अथवा क्या मानवी ? उन्होंने कुकुर वंश के यादवों का पता लगा लिया

१-" ----- तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेय :।
महाभारत आदिपर्व - पौष्यपर्व : तृतीय अध्याय, श्लोक सं० १, पृ० ४६ -
२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, प्राक्कथन ; पृ० ५ -

सरमा उसी वंश की याचकी है। जहाँ तक हविष्य आदि चाटने की बात थी, उसे प्रसाद जी ने घी आदि खाने के रूप में परिवर्तित कर दिया है। इसके साथ ही प्रसाद जी ने सरमा के व्यक्तित्व में कुछ ऐसे भी गुणों की कल्पना की है जो महाभारत की सरमा में विद्यमान नहीं हैं। अतः यहाँ महाभारत की सरमा और प्रसाद जी की सरमा का पृथक्-पृथक् अध्ययन कर लेना चाहिये।

महाभारत में चित्रित सरमा -

महाभारत के आदि पर्व के अंतर्गत पौष्य पर्व के तृतीय अध्याय में जनमेजय को सरमा द्वारा शाप दिये जाने का वर्णन इस प्रकार आया है --
" परीक्षित के पुत्र जनमेजय अपने भाइयों के साथ कुरुक्षेत्र में दीर्घकाल तक चलनेवाले यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। उनके तीन भाई थे। श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन। वे तीनों उस यज्ञ में बैठे थे। इतने में ही देवताओं की कुतिया सरमा का पुत्र सारमेय वहाँ आया।"[1]

यहाँ स्पष्ट रूप में सरमा को देवताओं की कुतिया और आगे के श्लोक में उसके पुत्र को कुत्ता शब्द से पुकारा गया है।[2]

इसके साथ ही सरमा का पुत्र भी यह कहता है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है और न तो उनके (जनमेजय के पुत्रों के) हविष्य की ओर देखा है

१- जनमेजयः पारीक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रमुपास्ते।
तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन इति।
तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेयः
महाभारत : आदिपर्व - पौष्य पर्व : तृतीय अध्याय ; श्लोक नं० १ -
२- स जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो
मातुः समीपमुपागच्छत्
महाभारत : आदिपर्व - पौष्यपर्व : तृतीय अध्याय , श्लोक नं०२, पृ० ४७-

और न उसे चाटा ही है।[1]

पुत्र के इस प्रकार अकारण संतप्त किये जाने से दु:खी होकर सरमा उस सत्र में आती है, जहां जनमेजय अपने भाइयों के साथ दीर्घकालीन सत्र का अनुष्ठान कर रहे थे। सरमा क्रोध से भरी हुई कहती है - " मेरे इस पुत्र ने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया था, न तो इसने हविष्य की ओर देखा है और न उसने चाटा ही था, तब तुमने इसे क्यों मारा ?"[2]

जनमेजय द्वारा कुछ भी उत्तर न पाने पर सरमा जनमेजय को शाप देती है, और कहती है कि जिस प्रकार उन्होंने इसके पुत्र को अकारण मारा है, उसी प्रकार उनके ऊपर अकस्मात् ऐसा भय उपस्थित होगा, जिसकी पहले से कोई संभावना न रही हो।[3]

उसके इस शाप से जनमेजय को बहुत ही घबड़ाहट और दु:ख का अनुभव हुआ और वे अपने पापकृत्यों (शापजनित उपद्रवों) का निवारण करने में लग गये।[4]

१- स तां पुत्रवाच नापराध्यामि किंचिन्नावेक्षे हवींषि नावलिह इति।
महाभारत: आदि पर्व-पौष्यपर्व : तृतीय अध्याय, श्लोक नं० ६ ; पृ० ४७ -

२- स तया क्रुद्धया तत्रोक्तोऽयं मे पुत्रो न किंचदपराध्यति
नावेक्षते हवींषि नावलेढि किमर्थमभिहत इति।
महाभारत : आदिपर्व - पौष्यपर्व : तृतीय अध्याय, श्लोक नं० ८, पृ० ४७-

३- महाभारत : आदिपर्व - पौष्यपर्व : तृतीय अध्याय, श्लोक नं० ८ ; पृ० ४७ -

४- जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं सम्भ्रान्तो विषण्णश्चासीत्।
महाभारत : आदिपर्व- पौष्यपर्व : तृतीय अध्याय ; श्लोक नं० १० ; पृ० ४७-

जनमेजय के नागयज्ञ की सरमा -

प्रसाद जी ने सरमा को यादवों की कुकुरवंशिया माना है। उनका कहना है " कुकुरी सरमा भी जनमेजय की प्रधान शत्रु थी, जिसके पुत्र को जनमेजय के भाइयों ने पीटा था। महाभारत और पुराणों को देखने से विदित होता है कि यादवों की कुकर नाम की एक शाखा थी संभवत: सरमा उन्हीं यादवियों में से थी, जो दस्युओं द्वारा अर्जुन के सामने हरण की गई थी।"[१]

नाटक के आरंभ से ही हमें सरमा दिखाई पड़ने लगती है। सरमा ने नागराज वासुकि से विवाह किया था। आर्य यादवी होते हुए नागजाति के राजा से विवाह करना उसका कुछ सांयोगिक प्रसंग है। वह साहस और वीरता की उपासना करती है। उसमें मनुष्य मात्र के प्रति एक अविचल प्रीति की भावना है। अपनी इसी उदारवृत्ति के कारण वह नागराज पर मुग्ध होकर उसके हाथों आत्म-समर्पण कर देती है।

सरमा मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम की भावना व्यक्त करती है और यहाँ तक कि स्वयं श्री कृष्ण की व्यवस्था से उत्पन्न परिस्थितियों की समालोचना करती है। वह स्वयं श्री कृष्ण पर यह आरोप लगाती है कि यदि वह चाहते तो यादवों का नाश न होता, भले ही इसका परिणाम अन्य जातियों को भयानक रूप से भुगतना पड़ता। प्रसाद जी ने सरमा के व्यक्तित्व में विश्व प्रेम के साथ ही आत्मगौरव की भावना एवं तेजस्विता भी उपस्थित की है। संपूर्ण परिस्थितियों की समीक्षा करते हुये वह मनसा से कहती है - " मनसा मैं व्यंग्य सुनने नहीं आई हूँ। श्री कृष्ण ने पददलितों को जिस स्वतंत्रता और उन्नति का उपदेश दिया था, वह आसुरी भाव से भरकर उद्दाम वासना में परिणत हो गई। ----- यदि वे चाहते, तो यादवों का नाश न होता। किंतु हाँ, उसका

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, प्राक्कथन ; पृ० ५ -

परिणाम अन्य जातियों के लिए भयानक होता। और, मनसा, यह समझ रखना कि कुकुर वंश से यादवों की यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ, अकर्मण्यता की मूर्ति होकर नहीं आई है। इस वक्षस्थल में अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है।"[1]

सरमा के हृदय में अपनी जाति के प्रति अभिमान है। उसके हृदय में नागजाति के प्रति विद्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है और प्रचंड रूप धारण करती हुयी वह मनसा से कहती है --" ----हां मैं कैसे भ्रम में थी। विषम को सम करना चाहती थी, जो मेरी सामर्थ्य से बाहर था। स्नेह से मैं सर्प को अपनाना चाहती थी, किन्तु उसने अपनी कुटिलता न छोड़ी। बस, अब यह जातीय अपमान मैं सहन नहीं कर सकती। मनसा, मैं जाती हूं। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गयी। मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किंतु इन हृदयहीन उद्दंड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।"[2]

सरमा के अंदर समरसता का भाव निहित है। वह वपुष्टमा से अपने उदार आदर्शों को बताती हुई कहती है -" सम्राज्ञी मैं तो एक मनुष्य जाति देखती हूं - न दस्यु और न आर्य। न्याय की सर्वत्र पूजा चाहती हूं - चाहे वह राजमंदिर में हो, या दरिद्र कुटीर में। सम्राट-, न्याय कीजिए।"[3]

प्रसाद जी ने भी सरमा से जनमेजय के समक्ष उसके पुत्र के पीछे आने के संबंध में शिकायत करायी है। जनमेजय आर्य गौरव के मद में डूबा हुआ उसकी अवहेलना करता है, इस पर नाटक की सरमा यद्यपि किसी भावी आशंका के लिये शाप नहीं देती, किंतु इससे समूची मनुष्यता के शून्य हो जाने का भय अवश्य

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, पहला दृश्य ; पृ० १०-

२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० १५ -

३- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, तीसरा दृश्य ; पृ० २८ -

दिखाती है। उसका विश्वास है कि जिस प्रकार से आर्य जाति नाग जाति आदि के लोग हैं, उसी प्रकार मनुष्य जाति की एक सामूहिक मनुष्यता भी है। वह जनमेजय पर कुपित होती हुई रोष भरे शब्दों में कहती है - " इतनी घृणा! ऐश्वर्य का इतना घमंड! प्रभुत्व और अधिकार का इतना अपव्यय! मनुष्यता इसे नहीं सहन करेगी। सम्राट् सावधान!"[1]

सरमा जनमेजय की शत्रु बन जाती है, लेकिन उसमें इतना चारित्रिक पतन नहीं हुआ है कि वह अपने बेटे को यह छूट दे दे कि वह गुप्त रूप से जनमेजय की हत्या करे। वह वीरता के वेष में कायरता को पसंद नहीं करती। उसमें आत्मगौरव है। वह मानती है कि वीरों का धर्म है खुले आम लड़कर या तो मर जाना या दुश्मन को मार डालना। सरमा भी अपने पुत्र में उसी आदर्श की कल्पना करती है। वह कहती है - " हत्या! तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता था, पर यह कलंक मैं नहीं सह सकती थी! तू उनसे लड़कर वहीं मर जाता या उन्हें मार डालता, यह मुझे स्वीकार्य था ----"[2]

सरमा एक दृढ़ व्यक्तित्व की नारी है। उसमें मातृत्व और नारीत्व दोनों हैं। वह जनमेजय से अपने अपमान का बदला अवश्य लेना चाहती है, किंतु अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में वह लौटकर नागजाति से सहायता नहीं लेना चाहती। वह स्वावलंबी व्यक्तित्व की एक स्वाभिमानी नारी है। वह स्पष्ट रूप से माणवक से कहती है - " पर अब क्या मनसा से सहायता माँगकर मुझे उसके सामने फिर लज्जित करना चाहता है? यादवी प्राण के लिए नहीं डरती। ले, पहले मेरा अंत कर दे फिर तू चाहे जहाँ जा।"[3]

सरमा अपने भटके हुए पति को भी मनुष्यता का उपदेश देती है, और

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, तीसरा दृश्य ; पृ० २६ -
२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, पहला दृश्य, पृ० ३० -
३- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, पहला दृश्य ; पृ० ३१-

कुटिलता तथा क्रूरता को छोड़ने का आग्रह करती है। इसके साथ ही अपने पति से स्पष्टरूप में अपनी स्वतंत्रता की माँग करती है। सरमा का प्रबल व्यक्तित्व उस समय और भी उभर पड़ता है, जब वह ब्राह्मण काश्यप को जनमेजय के विरुद्ध षड्यंत्र में लगा हुआ देखती है। वह इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर पाती कि एक निर्दोष आर्य सम्राट को धर्म का ढोंग करके पदच्युत करना और दस्युदल को उसका स्थानापन्न बनाना किसी भी प्रकार उचित है। काश्यप जब ठीक रास्ते पर नहीं आता तब वह सिंहनी की तरह गर्जने लगती है - " ब्राह्मण ! सहन की भी सीमा होती है। उस आत्मसम्मान की प्रवृत्ति को तुम्हारे बनाये हुये शिल्पकला के बंधन नहीं रोक सकेंगे। मैं यादवी हूं, अपमान का बदला षड्यंत्र करके नहीं लूँगी। यदि मेरे पुत्र की बाहुओं में बल होगा, तो वह स्वयं प्रतिशोध ले लेगा।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने सरमा को महाभारत के पृष्ठों से ही प्रामाणिक रूप में लिया है। किन्तु सरमा का बाह्य शरीर और उसका कंकाल ही महाभारत से लिया गया है। उसके शरीर में नवीन आत्मा, नया व्यक्तित्व और नये चरित्रबल उत्पन्न करने का काम प्रसाद जी ने अपनी कल्पना से किया है। सरमा मनुष्यमात्र की समता, जातीय संकीर्णताओं के प्रति आत्मगौरव और स्वाभिमान का प्रतिनिधित्व करती है। वह संघर्ष में सम्मिलित होती है, किंतु कभी न तो स्वयं अपने उच्च आदर्शों से डिगती है और न अपने पुत्र माणवक को ही डिगने देती है। यहाँ तक कि वह अपने ऐसे पति को भी मनुष्यता और प्रेम का पाठ पढ़ाती है, जो आजीवन आर्य जाति के विरुद्ध कठोरता और क्रूरतायुक्त व्यवहार करता रहा।

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, पाँचवा दृश्य ; पृ० ३५ -
२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, दूसरा अंक, पाँचवा दृश्य; पृ० ५७ -

दामिनी -

प्रसाद जी ने " जनमेजय के नागयज्ञ " के प्राक्कथन में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि दामिनी यद्यपि नाम से कल्पित है, किन्तु व्यक्तित्व से महाभारत काल की नारी ठहरती है। इसीलिए हम इसे अर्द्ध-पौराणिक नारी कह सकते हैं।

महाभारत व नाटक दोनों में शिष्य उत्तंक द्वारा गुरुदक्षिणा देने की चर्चा आई है। दोनों में गुरु ने गुरु-दक्षिणा स्वतः न माँगकर गुरु पत्नी से माँगने का विकल्प रखा है और दोनों में गुरु पत्नी द्वारा जनमेजय की महारानी वपुष्टमा के मणिकुंडल माँगने का संदर्भ आया है, किंतु दोनों में कथासाम्य होते हुये भी चरित्रगत समानता देखने को नहीं मिलती है। महाभारत और नाटक में आई हुई क्रमशः गुरु पत्नी और दामिनी का विवेचन कर लिया जाय।

महाभारत में आई हुई गुरुपत्नी -

महाभारत के आदिपर्व के पौष्यपर्व के तीसरे अध्याय में यह कथा आई है कि उत्तंक ने गुरु वेद से दक्षिणा स्वीकार करने का आग्रह किया।[1] उत्तंक द्वारा ऐसा सुनकर गुरु ने दक्षिणा की वस्तु का प्रस्ताव स्वतः न करके उत्तंक को घर के भीतर गुरुपत्नी से पूछ लेने के लिए कहा कि मैं गुरुदक्षिणा भेंट करूँ। इस पर गुरुपत्नी ने पुत्र वत्सलता के भाव से उत्तंक से कहा कि -" वत्स तुम राजा पौष्य के यहाँ उनकी क्षत्राणी पत्नी ने जो कुण्डल पहन रखे हैं उन्हें माँग लाने के लिए

१- सोऽहमनुज्ञातो भवता इच्छामीष्टं गुर्वर्थमुपहर्तुमिति।

तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क उष्यतां तावदिति।

महाभारत : आदिपर्व, पौष्यपर्व, तृतीय अध्याय, श्लोक नं० ९२।

जावो ।[1]

मणिकुंडल माँगने का कोई अन्यथा उद्देश्य नहीं था अपितु वह उन्हें स्वयं पहनकर ब्राह्मणों को भोजन परसना चाहती थी ।[2]

अतः गुरुपत्नी के आदेश पर उत्तंक राजा जनमेजय के यहाँ उनकी महारानी के मणिकुंडल लेने चला जाता है । इससे स्पष्ट है कि महाभारत में गुरुपत्नी और वपुष्टमा का व्यक्तित्व उभरा नहीं है, उल्लेख हुआ है । इस क्षीण आधार को लेकर ही प्रसाद की उर्वर कल्पना में एक नई ज्योति फूट पड़ी है ।

नाटक की दामिनी

प्रसाद जी ने ' जनमेजय का नागयज्ञ ' नामक नाटक में जिसे दामिनी कहा है, वह महाभारत की वेद पत्नी ही है । महाभारत में उसका कोई विशेष नाम नहीं दिया गया है । प्रसाद जी ने मनसा और सरमा के रूप में इस नाटक में ऐसे दो नारी पात्रों को रखा था, जो भिन्न-भिन्न दो महान् उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं । किंतु जहाँ अमल जल की कल्पना की जाती है, वहीं तल में कीचड़ का भी बना रहना कोई अस्वाभाविक या असंभव घटना नहीं है । दामिनी एक ऐसे ही उद्देश्य की पूर्ति करती है ।

शिष्य उत्तंक द्वारा मणिकुंडल मंगाने की घटना महाभारत की है, किंतु आचार्य वेद ने दक्षिणा की वस्तु स्वतः क्यों नहीं माँगी और गुरुपत्नी से ही दक्षिणा की वस्तु पूछने की बात क्यों कही, यह एक विचारणीय प्रश्न है । गुरु पत्नी ने मणिकुंडल माँगा और वह भी रानी वपुष्टमा का । उसका उद्देश्य था मणिकुंडल को स्वतः पहनकर ब्राह्मणों को भोजन कराना । यहाँ यदि

१- सैवमुक्तोपाध्यायानी तमुत्तंकं प्रत्युवाच गच्छ पौष्यं ।
प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे ।
महाभारत : आदिपर्व, पौष्यपर्व, तृतीय अध्याय, श्लोक नं० ९६, पृ० ५४-५५ ।

२- वही ,, ,, ,, श्लोक नं० ९७, पृ० ५५ ।

विश्लेषण करा जाय तो ब्राह्मणों को भोजन कराना प्रमुख उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। साधु भाव से ब्राह्मणों को सीधे - सादे वेश में भी भोजन कराया जा सकता था। गुरुपत्नी महारानी के मणिकुंडल को ही पहनकर ब्राह्मण भोजन कराना चाहती है, इसमें उसकी मणिकुंडल पहनने की लालसा ही प्रमुख दिखाई पड़ती है। वह भी अपने पति द्वारा लाया गया नहीं, एक युवक शिष्य द्वारा। महारानी वपुष्टमा से गुरु पत्नी की कोई स्पष्ट ईर्ष्या रही हो, अथवा कोई सपत्नी भाव रहा हो, ऐसी कल्पना करने का कोई आधार नहीं मिलता। अत: यह कल्पना की जा सकती है कि संभवत: गुरु पत्नी के हृदय में शिष्य उत्तंक के प्रति कुछ सतृष्णा भाव रहे होंगे और संभव है कि उसने वपुष्टमा का मणिकुंडल लाने का दायित्व उस पर सौंपकर उसके भी हृदय में छिपे भावों को टटोलना चाहा हो।

महारानी वपुष्टमा से मणिकुंडल प्राप्त कर लेना और ऐसी परिस्थिति में जब कि उसी मणिकुंडल के लिए नाग वासुकि भी प्रबलता से प्रयत्न कर रहा हो, कोई एक सरल काम न था। एक महारानी से मणिकुंडल प्राप्त कर गुरुपत्नी के लिये ले आने वाला व्यक्ति अवश्य ही अपने प्राणों पर बाजी लगाकर ऐसा कार्य करेगा। यदि ऐसा वह कर पाता है तो फिर कहा जा सकता है कि उसके इस महान् साहस में, उसके भी हृदय की रागात्मक वृत्तियों का संबंध है। संभवत: गुरुपत्नी ने युवा शिष्य के ऐसे किन्हीं भावों का परीक्षण करना चाहा हो।

गुरुपत्नी ने युवा शिष्य के मनोभावों का परीक्षण करना चाहा हो अथवा नहीं, प्रसाद जी ने उसे उसी कसौटी पर खड़ा किया है। उन्होंने इस माँग के पीछे गुरुपत्नी के हृदय में बसे हुए किसी चोर को पकड़ लिया है, और नाटक में दामिनी के प्रसंग में उसी को अभिव्यक्त किया है।

उत्तंक और दामिनी का संदर्भ उस समय से आता है जब कि उत्तंक पुष्प चुनने की क्रिया से वापस आ रहा है। वह अग्निशाला में पहुँचने की शीघ्रता में है। अग्निशाला में शिष्य तो और भी हैं, किन्तु गुरु उपस्थित नहीं है। अग्निशाला की परंपरा है कि उसके दैनिक कृत्य अपने समय से ही संपन्न किये जांय गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपत्नी का कर्तव्य था कि वह उन कृत्यों के संचालन की देखरेख करती, किंतु वह उत्तंक से कहती है - " व्यर्थ इतनी त्वरा क्यों? और भी

तो छात्र हैं। कोई कर लेगा। ठहरो।"[१]

दामिनी युवती है। पति आश्रम का अधिष्ठाता होने के नाते आध्यात्मिक प्रकृति का है। वह पत्नी के मनोभावों को पूर्णतः समझ नहीं पाता। पत्नी उससे संतुष्ट नहीं है। उसके से किसी बात की शिकायत करती हुई दामिनी कहती है " ---- जो दूसरों की परवाह नहीं करते उनके लिए दूसरे क्यों अपना सिर मारें।"[२]

दामिनी के हृदय में भरा हुआ यह असंतोष बहुत गहरा और व्यापक है। अभिलाषाओं की पूर्ति में असंतुष्ट नारी स्वयं अपने पति के प्रति प्रतिक्रियावादी बन जाती है। वह हाव-भाव और चेष्टाओं से उसको बहुत कुछ समझा देना चाहती है, किंतु भोला छात्र बहुत ही सरल प्रकृति का निकला। उसे इतना तक नहीं मालूम है कि वह पुष्प क्यों चुनता है। उसे इतना तक नहीं मालूम है कि पुष्प उसे अच्छे क्यों लगते हैं। वह पुष्प को केवल `प्रकृति की उदारता का दान` मानता है और चूँकि पुष्प उसे अच्छे लगते हैं, इसीलिए वह उन्हें तोड़ता है।

दामिनी के हृदय का असंतोष एक ठंडी सी सांस लेकर बोल पड़ता है। " गुरुजी ने तुम्हें जितना तर्क पढ़ाया है, उतनी यदि संसार की शिक्षा देते, तो तुम्हारा बहुत उपकार करते ------"।[३]

दामिनी के किसी भी हावभाव का उसके पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सोये हुए भाव किसी भी प्रश्न पर जागृत नहीं होते, अतः दामिनी अपने आपको और भी नीचे झुका लेती है और स्पष्ट समर्पण की भाषा में कह उठती है - " और जो पुष्प ऋतु में विकसित हों, उसे अपनी तृप्ति के लिए तोड़ लेना चाहिए

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० १७ -

२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० १७ -

३- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० १८ -

नहीं तो वह कुम्हला जायेगा, व्यर्थ झड़ जायेगा।"[१]

इतने पर भी उत्तंक उसकी भाषा में छिपी वासना को समझ नहीं पाता और कहता है कि पुष्प सूंघने से हृदय पवित्र होता है, मेधा शक्ति बढ़ती है और मस्तिष्क प्रफुल्लित होता है। इस पर दामिनी बहुत ही निराश हो जाती है और कहती है "तुम्हारा सिर होता है"।[२]

इस अंतिम वाक्य में दामिनी की जो वासनामूलक निराशा व्यक्त हुई है वह अपने ढंग की सर्वथा अनूठी है।

कामायनी की पौराणिकता का आधार -

कामायनी का पूरा कथानक पौराणिक है। पुराणों में सृष्टि और फिर जलप्लावन के आधार पर खंड प्रलय की चर्चा आती है। प्रलय के पश्चात् आदि पुरुष मनु ही बचे थे जो आगे की सृष्टि के लिए सूत्रधार बने। यह कहानी भिन्न - भिन्न ब्राह्मण ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरी हुई है। प्रसाद जी ने उसे संकलित कर एक महाकाव्य के रूप में वर्णित कर दिया है।

जलप्लावन से कामायनी की कथा का आरंभ होता है। इस घटना का प्राचीन उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों एवं पुराणों[३] में प्राप्त होता है। यद्यपि कामायनी की रचना में कवि का उद्देश्य केवल देवों के अंतिम प्रतिनिधि मनु द्वारा

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, पहला अंक, दूसरा दृश्य ; पृ० ८८ -

२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० ८९ -

३- क- पद्मपुराण ([illegible]वाँ अध्याय) विष्णुपुराण(५-११, ६, ३)

ख- स्कंदपुराण (वैष्णव खंड पुरुषोत्तम माहात्म्य खंड, २)

ग - भविष्यपुराण (प्रतिसर्गपर्व, अध्याय ४)

घ - मत्स्यपुराण (प्रथम, द्वितीय अध्याय)

सृष्टि रचे जाने की बात कहना नहीं था, फिर भी कामायनी के कथानक के अनुरूप उन्हें अपने पात्रों की पौराणिक आधार ग्रहण करना पड़ा है।

प्रसाद जी के ही शब्दों में - " आर्य साहित्य में मानवों के आदिपुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक साहित्य के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किंतु मन्वंतर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसीलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।"

अब आगे हम पृथक- पृथक पौराणिक नारी पात्रों का विवेचन करेंगे।

श्रद्धा

जहाँ तक श्रद्धा की प्राचीनता और उसकी पौराणिक भूमिका का प्रश्न है, सर्वप्रथम प्राचीन वाङ्मय पर दृष्टिपात करना चाहिये। ऋग्वेद में श्रद्धा का वर्णन मनु-पत्नी के रूप में किया गया है, और उसे सूर्य की आत्मजा कहा गया है। श्रद्धा के द्वारा ही अग्नि प्रज्वलित की जाती है, और श्रद्धा का प्रातःकाल, मध्यान्ह, और रात्रि में आवाहन किया जाता है।[१] परंतु भाष्यकार सायण ने उसे " कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका " कहकर उसे काम की पुत्री स्वीकार किया है। इस पर भी हमें आश्चर्य तब होता है जब हम कूर्मपुराण में श्रद्धा से ही काम की उत्पत्ति देखते हैं " श्रद्धाया आत्मजः कामो दर्पो लक्ष्मी सुतः"[२] कामगोत्र की कन्या श्रद्धा ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में अन्य ऋषियों की भाँति स्वतंत्र ऋषि का व्यक्तित्व रखती है। ऋषिका के रूप में ही उसकी स्तुति भी की गई है -

----

१- ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त १५१, छंद १ -५१।

२- कूर्मपुराण ।

श्रद्धाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।।[1]

इस मंत्र के श्रद्धा शब्द का भाष्य सायणाचार्य ने " पुरुषगता अभिलाष विशेष श्रद्धा " (मानव की विशेष अभिलाषा) किया है। ब्राह्मण ग्रंथ भी इसका समर्थन करते हैं। स्वयं शतपथ ब्राह्मण में श्रद्धा सर्वगुण संपन्न है। वहाँ मनु को श्रद्धादेव कहा गया है " श्रद्धादेवो वै मनुः "।[2] कालान्तर के भागवत पुराण, विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण आदि के आख्यानों में भी इसकी पुनरावृत्ति मिलती है। त्रिपुरा रहस्य तो यहाँ तक कहता है -

श्रद्धा हि जगताम् धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम् ।
अश्रद्धो मातृविश्वासे बालो जीवेत् कथं वद् "[3]

भागवत् में इन्हीं श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवीय सृष्टि का विकास माना गया है, और श्रद्धा को दस पुत्रों की जननी स्वीकार किया गया है -

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान ।।[4]

पुराणों की श्रद्धा अपने व्यक्तित्व को मनु-पत्नी के रूप में ही सीमित रखती है। उपनिषदों में उसे " आस्तिक्य बुद्धि इति श्रद्धा " कहा गया है, और छान्दोग्य उपनिषद् में मनु के साथ उसकी भावात्मक व्यवस्था की गई है, जिसको कवि ने आमुख में स्वीकार किया है।

गीता में श्रद्धा को ज्ञान की प्राप्ति का साधन माना है, जिसके संयोग से जीवन को परम् शांति प्राप्त होती है -

----

१- १०। ११। १५१।
२- (का० १ प्र० १)।
३- त्रिपुरा रहस्य : ज्ञानखंड अध्याय ७ श्लोक ७।
४- श्रीमद्भागवत् (६ - १- ११)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेन्द्रिय : ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।[१]

इतना ही नहीं भगवान् कृष्ण ने स्वयं श्रद्धावान योगियों को अपना श्रेष्ठ योगी बताया है -

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ।।[२]

और कहा है कि जो भी सकामी पुरुष मेरे अतिरिक्त किसी भी देवता को श्रद्धा से पूजता है, मैं उसकी श्रद्धा को देवता के रूप में स्थिर करता हूं। इन सबके बाद वे सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा को सात्विकी, तामसी और राजसी के तीनों वर्गों में विभाजित करते हैं।

" त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।"[३]

इसी श्लोक की व्याख्या करते हुए अपने गीता के भाष्य में श्री रामानुज श्रद्धा की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं - " श्रद्धा ही स्वाभिमतं साधयति एतदिति विश्वासपूर्विका साधनेत्वरा।" अर्थात् इससे मेरे अभीष्ट कार्य की सिद्धि होगी, इस विश्वास के साथ जो कार्य में शीघ्रता होती है, उसे ही श्रद्धा कहते हैं

प्रसाद जी ने भी श्रद्धा और मनु के सहयोग से रचित सृष्टि को "मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास" माना है।

प्रसाद जी की अलौकिक प्रतिभा, उनकी अपनी अध्ययनशीलता, वर्णनपटुता एवं शैवागमों के प्रत्यभिज्ञादर्शन की समरसता में रहकर अपने ऐतिहासिक तथा सांकेतिक

१- गीता : अध्याय ४; श्लोक नं० ३९।

२- गीता : अध्याय ६; श्लोक नं० ४७।

३- गीता : १७वां अध्याय ।

अस्तित्व की अक्षुण्णा रखते हुए श्रद्धा पहली बार कामायनी में परंपरागत विविध रूपों को आत्मसात करती हुई नायिका के रूप में प्रस्तुत होती है। उसके इस अनुसंधानात्मक व्यक्तित्व के निर्माण में कवि की सारग्राहिणी प्रतिभा और उसकी अपनी अलौकिक उद्भावनाओं का सर्वाधिक योग रहा है। इसके पूर्व ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण, त्रिपुरा-रहस्य तथा श्रीमद्भागवत् जैसे प्राचीन ग्रंथों में श्रद्धा का उल्लेख मात्र विभिन्न रूपों में प्राप्त होता है। पुराणों के बिखरे हुए कथानक को प्रसाद जी ने एक समन्वित जीवन - काव्य का रूप दिया है। उसके द्वारा मनु के सहयोग से मानव - सृष्टि का संचार होता है, यह एक पौराणिक सत्य है। कथानक की दृष्टि से प्रसाद जी ने इस सत्य को किसी प्रकार से खंडित नहीं किया है। जो कुछ उन्होंने उसके संबंध में जोड़ा है, वह इतना ही कि श्रद्धा मनु को स्वयं सृष्टि करने के लिए चुनौती देती, और आगे चलकर जब मनु इड़ा के विभ्रम में पड़ जाते हैं, तो वहां उनका मार्ग प्रशस्त करती है। किंतु इससे भी अधिक मौलिक उद्भावना श्रद्धा के व्यक्तित्व की रचना में दिखायी पड़ती है। यहां कामायनी की श्रद्धा एक संवेदना मात्र न रहकर एक मानवीय रूप में अभिव्यक्त होती है, जिसके व्यक्तित्व में दया, ममता, सेवा, समर्पण के साथ-साथ स्वावलंब प्रतिभा, विवेक, कार्यशक्ति भी समाविष्ट है। इस प्रकार मनु को भली-भांति क्रियाशील बनानेवाली वास्तविक वृत्ति श्रद्धा है। वह मनु के जीवन की समस्त जड़ता और निष्क्रियता समाप्त कर देती है।

कामायनी में प्रसाद जी ने उसका जो रूप चित्रित किया है, वह दया, माया, मधुरिमा आदि अनेक कोमल- भावनाओं से पूर्ण है। वास्तव में वह एक प्रवृत्तिमूलक आस्थामयी वृत्ति है, जो निवृत्ति का अंत कर देती है। श्रद्धा एक आस्तिक अनुभूति है जो चेतन शक्ति का उदात्त रूप है। मनु के मन की इच्छा को श्रद्धा ने कार्यान्वित किया। वे सृष्टि के निर्माण में नियोजित हुये। इस प्रकार श्रद्धा मनु के मन की ही नहीं अपितु समस्त मानवता के कल्याण की आधारशिला है

इड़ा

कामायनी की दूसरी नारी इड़ा है। इड़ा को प्रसाद जी ने लाक्षणिक

रूप में बुद्धि का प्रतीक माना है। किंतु मूल रूप में इड़ा एक पौराणिक पात्र है।

इड़ा एवं मनु के पारस्परिक संबंधों का संकेत ऋग्वेद में मिलता है। इड़ा को प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका एवं मनुष्यों पर शासन करनेवाली भी कहा गया है।

" इड़ा मकृण्वन्मनुषस्य शासनीम् "[1]

प्रसाद जी ने इड़ा के संबंध में ऋग्वेद में पाये गये अन्य मंत्रों का भी उल्लेख किया है। और इड़ा को सरस्वती के सदृश बुद्धि साधनेवाली, चेतना देनेवाली कहा है।

" सरस्वती साधयन्ती धियं न इड़ा देवी
भारती विश्वमूर्तिः "[2] और इसी प्रकार " आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विड़ा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्त्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु। "[3]

ऋग्वेद में इड़ा को स्थान स्थान पर बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली आदि कहा है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वह मनु के यज्ञ अन्न से उत्पन्न होने के कारण मनु की दुहिता है।[4] शतपथ ब्राह्मण में मनु और इड़ा के विवाद का भी उल्लेख आया है यथा -

" अथातोमनाश्च "[5]

इसी पौराणिक इड़ा को प्रसाद जी ने बुद्धि का पर्यायवाची माना है। वेदों की बुद्धि- साधिका देवी इड़ा के संयोग से सारस्वत प्रदेश में स्थापित शासन में बुद्धि का प्रभाव अधिक था। इड़ा का मन दुहिता होने के उल्लेख को कवि ने

१- ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त ३१, छंद ११।

२- ऋग्वेद, मंडल २, सूक्त ३, छन्द ८।

३- ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त ११०, छंद८।

४- कामायनी भूमिका -

५- ४ अध्याय ५ ब्राह्मण।

नवीन ढंग से ग्रहण किया है, और उसे मनु की 'आत्मजा - प्रजा' कहा है। अपनी ही 'आत्मजा-प्रजा' पर मनु द्वारा किए अत्याचार के समान घटनाएँ प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त हैं। ऋग्वेद में भी एक पिता द्वारा अपनी पुत्री के प्रति अनाचारेच्छा का वर्णन है।[1] मैत्रायणी संहिता में प्रजापति का अपनी पुत्री 'उषस्' पर आसक्त होने का वर्णन है।[2]

शतपथ ब्राह्मण में भी उल्लेख है कि इड़ा पर अत्याचार करने के कारण मनु को देवताओं के शाप का भागी बनना पड़ा था। इस घटना का संकेत कामायनी में भी है। इधर मनु इड़ा की ओर हाथ बढ़ाते हैं और रुद्र द्वारा भयानक उत्पात का आरंभ होता है। यहाँ केवल देवताओं के शाप को ही नहीं झेलना पड़ता है, वरन् संपूर्ण प्रजा भी विद्रोह कर उठती है।

" आलिंगन फिर भय का क्रंदन। वसुधा जैसे काँप उठी।"[3]

श्रद्धा एवं इड़ा के पारस्परिक संबंधों के सूत्र भी ब्राह्मण ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।[4] जिसमें दोनों को एक ही सिद्ध करने का यत्न किया गया है। अत: श्रद्धा द्वारा अपने पुत्र कुमार का इड़ा को समर्पित करने की घटना का आधार मिल जाता है।

कामायनी में प्रसाद जी ने इड़ा का जो चित्रण किया है, वह मानवीय बुद्धि के ठीक अनुकूल है। बुद्धि मन एवं हृदय के बीच एक विभाजक रेखा है। एकांतिक बुद्धिवाद मन को स्वार्थी बना देता है, तथा मन को आत्मपीड़न की ओर ले जाता है। मन पर बुद्धि का पूर्ण आधिपत्य हो जाने से जिस यंत्रवाद का प्रचार

१- ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ६१, छंद ५।

२- मैत्रायणी संहिता - ४, २- १२।

३- कामायनी, पृ० १५४ -

४- कामायनी सौंदर्य, पृ० १३ -

हुआ, वह आधुनिक युग में बुद्धिवाद से विकसित " यांत्रिक सभ्यता " के द्वारा भी पुष्ट होता है। बुद्धिवाद का ही परिणाम है कि स्वार्थों से युक्त होकर मनुष्य आत्मकेंद्रित होता जा रहा है, और हृदय के सुंदरतम भावों से दूर होकर बुद्धिवाद को अपनाता जा रहा है। स्वयं इड़ा के मुख से प्रसाद जी ने आधुनिक भौतिकतावादी सभ्यता की ओर संकेत करवाया है।[1]

इस प्रकार मन की यह बुद्धि वृत्ति उसकी भौतिक समृद्धि में सहायक हो सकती है, किन्तु सर्वांगीण विकास संभव नहीं। मनु की हिंसात्मक प्रवृत्ति के जागरण के पश्चात् जो कष्ट हुये उसका कारण अतिशय बुद्धिवाद का अवलंबन है। अतिशय बुद्धिवाद पतन का कारण बनता है। पतन के साथ ही मनु (अर्थात् मन) का संघर्ष बढ़ता है। इस संघर्ष से बचने और जीवन में आनंद तथा समरसता की अनुभूति के लिए मन, बुद्धि और हृदय का समन्वय आवश्यक है। इसीलिए इड़ा भी श्रद्धा के समक्ष आत्मसमर्पण कर देती है।

१- हे जनक कल्याणी प्रसिद्ध,
    अब अवनति- कारण हूं निषिद्ध,
  मेरे सुविभाजन हुए विषम
    टूटते नित्य बन रहे नियम,
  नाना केंद्रों में जलधर- सम
    घिर हट, बरसे ये उपलोपम
  यह ज्वाला इतनी है समिद्ध,
    आहुति बस चाह रही समृद्ध।
प्रसाद : कामायनी, " दर्शन सर्ग " ; पृ० २३ -

--अध्याय ६

सामाजिक परिवेश में प्रसाद के नारी-पात्र

सामाजिक परिवेश में प्रसाद के नारी पात्र -

समाज और व्यक्ति का अन्योन्याश्रय संबंध है। व्यक्ति की समस्याओं का समाधान समाज प्रस्तुत करता है, और समाज की समस्याओं का प्रतिबिंब व्यक्ति के व्यक्तित्व में दिखाई पड़ता है। प्रसाद ने अपने साहित्य में सामाजिक और वैयक्तिक दोनों प्रकार की समस्याओं को अपनाया है। वे नारी जाति की विविध समस्याओं के प्रति विशेषरूप में सजग रहे हैं।

प्रसाद ने नारी जाति की जिन बहुमुखी सामाजिक समस्याओं को अपने साहित्य में अपनाया है, उनमें से अधिकांश के लिए पौराणिक या ऐतिहासिक प्रमाण लाकर उपस्थित करने में नहीं चूके हैं। उपन्यासों और कहानियों में अधिकांशत: वे वर्तमान सामाजिक धरातल से लेकर चले हैं, और उनमें आई हुई नारियाँ वर्तमान युग की ऐसी नारियाँ हैं, जो कभी समाज में प्रखर व्यक्तित्व और उच्च प्रतिमा लेकर सामने आती हैं, और कभी सामाजिक विडंबनाओं में उलझी हुई अपेक्षाकृत धूमिल दिखाई पड़ती हैं।

प्रसाद जी का उद्देश्य नारी का व्यक्तित्व - निरूपणमात्र नहीं रहा है, मुख्यत: नारी चित्रण में उन्होंने समाज में प्रचलित अनेक वांछनीय और अवांछनीय परंपराओं को अपना विषय बनाया है। यहाँ तक कि नारी जीवन की छोटी से छोटी समस्या से लेकर, बड़ी से बड़ी आध्यात्मिक और आदर्शात्मक सभी समस्याओं का उन्होंने अपने साहित्य में समावेश करना चाहा है।

प्रसाद जी नारी जाति को समाज के अस्तित्व का मेरुदंड और व्यक्ति की भावनात्मक प्रगति की आधारशिला मानते हैं। उनकी कल्पना में नारी का बहुमुखी व्यक्तित्व जननी, सृष्टिकारिणी, स्वसा, सहचरी, आराध्यदेवी, प्रेरणा की प्रतीक आदि सभी रूपों में है। वह वासनाओं की समता ऐन्द्रिक अस्तित्व से भी युक्त अवश्य है, कुप्रवृत्तियों की उद्दीपन भी करती है, और वही प्रेम के क्षणों में कोमलकांता तथा विध्वंस के क्षणों में क्रांतिकारिणी भी है। पुरुष समाज नारी से बहुत कुछ पाता है, और बदले में उसे बहुत कुछ देता भी है, किंतु इस आदान - प्रदान का संतुलन कुछ विचित्र सा है। एक ओर नारी

अपना सर्वस्व समर्पित करती है, सद्भावनाओं के वशीभूत होकर, प्रेम से पुलकित होकर, वात्सल्य से प्लावित होकर; किंतु बदले में समाज उसे देता है प्रपीड़न, प्रवंचना, प्रभुत्व का आतंक आदि।

ध्रुवस्वामिनी नाटक में प्रसाद जी ने नारी जाति की कुछ इसी प्रकार की स्थिति का विवेचन मंदाकिनी के मुख से कराया है - " स्त्रियों के इस बलिदान का कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है। अपने निर्बल और अवलंब खोजने वाले हाथों से वह पुरुषों के चरणों को पकड़ती है, और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। तब भी यह बावली मानती है।"[1]

भारतीय नारी आदर्शमयी, कर्तव्यमयी, त्यागमयी और समर्पणमयी है। सहिष्णुता और पतिपरायणता उसके महान् गुण हैं। सहनशीलता उसके रोम-रोम में है और वह स्वयं सृष्टि की धात्री होते हुए भी उसके लिए भी सीमाएं कठोरता से निर्धारित कर दी गई हैं - कौमार्यावस्था में उस पर पिता का शासन होना और दांपत्य जीवन में पति उसका भाग्यविधायक होगा। यही नहीं, शास्त्रीय मर्यादाओं के अंतर्गत यह भी एक मान्यता है, कि वृद्धावस्था में नारी को अपने पुत्र के शासन में रहना चाहिये -

" बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वातन्त्र्यताम्।।"[2]

साधारणतया भारतीय नारी की यह एक ऐसी मर्यादा है, जिसकी स्वतंत्रता के लिए कहीं कोई उपबंध उपस्थित नहीं रहा है। एक शिशु को केवल उसी समय तक अभिभावक की आवश्यकता होती है जब तक कि वह प्रौढ़ नहीं हो जाता। किंतु भारतीय मान्यताओं के अंतर्गत नारी एक ऐसे शिशु के समान है,

---

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ५५ -

२- मनुस्मृति ; पृ० २१५ -

जिसके भाग्य में कभी पुरुष होकर स्वाधीन होना बदा ही नहीं है। यह वही समाज है जो एक ओर तो कहता है कि नारियों की जहां पूजा होती है, वहीं देवता निवास करते हैं, दूसरी ओर कहता है पति अंधा, बहिरा, कोढ़ी दीन, दुश्चरित्र अथवा कैसा भी क्यों न हो, स्त्री के लिए पूजा के योग्य है, और यदि स्वप्न में भी स्त्री ने अपने उस इष्टदेव की उपेक्षा अथवा तिरस्कार की तो वह रौरव नरक की अधिकारिणी होगी।

आदर्श की तुला पर जो नारी परंपरा से तुलकर आगे बढ़ी उसे यथार्थ की ठोकरों ने इतना झिंझोड़ा, इतना अस्त-व्यस्त कर दिया, इतना विभ्रम के आवर्त में घेर दिया कि पुरुष समाज के अनाचार चलते रहे, कुकर्मों की चक्की चलती रही, दंड, प्रतिहिंसा, उपहास, उपेक्षा तिरस्कार और वासना की आंधी उसके अस्तित्व में चारों ओर धू-धू करती हुई चलती रही, किंतु उसके लिए एक लीक बना दी गई - मर्यादाओं की ही उस लीक पर उसे निरंतर चलते रहना है।

पुरुष समाज को नारी जाति की ओर से जितना ही समर्पण मिला, पुरुष समाज की स्वार्थमयी प्रवृत्तियों और वासनाओं को उतना ही अधिक उद्दीप्त होने का अवसर मिलता गया। स्थिति यहां तक पहुंची कि अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने सतीत्व की परीक्षा देने वाली सीता भी समाज की शंकाओं और लांछनाओं से नहीं बच सकीं। आज भी समाज में सीता का आदर्श नारी जाति के लिए एक अनुकरणीय व आदर्श माना जाता है।

राजपूत काल से भारतीय नारी पुरुष-वर्ग के हाथों का खिलौना बनकर रह गई। राजपूत युग में अधिकांश युद्धों की पृष्ठभूमि में राजाओं की नारी सौंदर्य-प्रियता रहा करती थी। इस युग में क्रमशः सती-प्रथा, बहुविवाह, बेमेल-विवाह आदि की अनेक समस्याएं पनपने लगीं। मुस्लिम-काल ने एक बहुत ही गहरा और काला आवरण लाकर समग्र भारतीय नारी के ऊपर डाल दिया विदेशी आक्रमणों, धार्मिक संकीर्णताओं और विप्लव के घेरे से घिरी हुई नारी अपने सतीत्व का भार अपने ही कंकाल में समेटे बंद दीवारों के घेरे में बंध

गई। शिक्षा के द्वार, सामाजिक अधिकारों का कोष, उसके लिए क्रूरता से बंद कर दिया गया। एक व्यक्तित्वविहीन अबला बनकर वह वासनाओं की पूर्ति और प्रजनन के केंद्र के रूप में परिवर्तित हो गयी। पहले तो नारी जाति को अपना यह वातावरण कुछ अजीब सा लगा, कुछ घुटन सी हुई, किंतु घर के बाहर चारों ओर प्रभंजनपूर्ण वातावरण देखकर जब उसने अपने आपको घर के भीतर पुरुष जाति के संरक्षण में सुरक्षित पाया, तो उसे मानों प्रामक सुखों की लोरियों ने सुला दिया। प्रसाद जी हिंदी साहित्य के क्षेत्र में ऐसे समय में अवतरित हुए जब कि समाज को उद्बोधन की प्रेरणाएँ मिल रही थीं, और समाज मध्य युग से आधुनिक युग की ओर एक संक्रांति की अवस्था में था। नारी जाति को भी एक प्रबल उद्बोधन की आवश्यकता थी। प्रसाद जी ने साहित्य के माध्यम से नारी हृदय का कोना-कोना छान डालने का यत्न किया, और सामाजिक वातावरण में उसके अस्तित्व की अनेक समस्याओं का विश्लेषण करते हुए उनका समाधान भी ढूंढ निकाला। प्रसाद जी भारतीय नारी जाति के सशक्त प्रहरी कहे जा सकते हैं।

प्रसाद ने भारतीय नारी के लिए कोई ऐसा सर्वथा नवीन और अपरिचित आदर्श नहीं चुना, उन्होंने वैदिक काल से अब तक के नारी की सामाजिक स्थिति का गहरा अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत का अतीतकालीन नारी-समाज आज के नारी-समाज की तुलना में कहीं अधिक उन्नतिशील, प्रौढ़ और प्रांजल था। उन्होंने नारी चरित्र के विश्लेषण से इस बात का अनुभव किया कि नारी केवल सौंदर्य का परिमल ही नहीं बिखेर सकती, अपितु समाज के उन्नयन की सूत्रधारिणी भी बन सकती है। अत: उन्होंने बड़ी ही तन्मयता और गहराई से नारी के व्यक्तित्व और उसके सामाजिक अस्तित्व के सापेक्ष संबंध का विश्लेषण और विवेचन किया। उनका समग्र साहित्य नारी जाति के उन्नयन की एक मौलिक कहानी है।

सुविधा के लिए नारी संबंधी प्रमुख प्रश्नों को जिन्हें कि प्रसाद जी ने अपने साहित्य में उठाया है, निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है -

१- नारी और प्रेम।

२- नारी और यौन भावना ;

३- नारी और विवाह ;

४- नारी और शिक्षा।

५- नारी और आर्थिक स्वतंत्रता।

नारी और प्रेम -

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान इस बात का साक्षी है कि सृष्टि की उत्पत्ति आरंभ में चाहे किस प्रकार हुई हो किंतु आगे चलकर सृष्टि के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी हृदय के अन्त:प्रदेश में उत्पन्न होने वाला एक प्रबल तत्व है जिसे प्रेम कहते हैं। आदि नर ने आदि नारी को प्रथम - प्रथम जब अनुरागभरी आंखों से देखा होगा, और जिस क्षण आदि नारी ने नर के उस विलोकन से अभिभूत होकर कुछ लज्जाभरी आंखों को नीचे कर लिया होगा, ठीक उसी क्षण प्रेम की भावना का प्रथम सूत्रपात हुआ होगा। ठीक इस समय से ही दो हृदयों को परस्पर एक दूसरे के प्रति आकृष्ट कर देने वाली वृत्ति जो उत्पन्न हुई वह आज तक ज्यों की त्यों चलती आ रही है।

पुरुष की संरचना पत्थर अर्थात् कठोरता की आधारशिला पर हुई है। उसमें भावात्मकता की प्रधानता कम और बौद्धिकता का तेज प्रखर हुआ करता है, किंतु नारी स्वभाव से उसके ठीक विपरीत होती है। स्वभाव की कोमलता उसकी बाह्य अभिव्यक्ति नहीं, अपितु अंत:प्रसूत है। उसका निर्माण ही मृदुलता की आधारशिला और स्नेह के स्निग्ध वातावरण में हुआ है। प्रेम उसके हृदय की अनन्यतम विभूति है। प्रेम का अपरिमित कोष उसके हृदय के अंतराल में छिपा है, वह अपनी इस विभूति को किसी सामाजिक बंधन की श्रृंखला में जकड़ना नहीं पसंद करती। उसने समाज के प्रत्येक बंधन के सामने मस्तक झुकाया, किंतु प्रेम के क्षेत्र में वह अंकुश से स्वच्छंदता की पोषिका है। यदि उसके हृदय से यह तत्व खींच लिया जाय तो फिर उसका शरीर किसी भी उदात्त संवेदन से विहीन एक ऐसे यंत्र के रूप में परिणत हो जायेगा, जिसका स्वत: कोई अस्तित्व नहीं, किंतु पुरुष वर्ग की वासनाओं की पूर्ति के लिए एक निर्जीव साधन, मानो संतानोत्पत्ति के

लिए एक यांत्रिक माध्यम रह जायेगा।

नारी और हृदय की कोमलता -

नारी स्वभाव में प्रेम की प्रवृत्ति -

प्रसाद जी ने नारी हृदय के इस प्रेम तत्व को अपने साहित्य में प्रमुख रूप से स्थान दिया। उनका कहना था कि प्रेम नारी हृदय का स्वभाव है, उसके व्यक्तित्व का एक अंग है। उसके हृदय की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। यही कारण है इस बात के समर्थक थे कि नारी को प्रेम का स्वच्छंद अधिकार मिलना चाहिये। शीला सेक्सेना के शब्दों में - "वह अपने युग के नारी - स्वातंत्र्य के सबसे बड़े समर्थक थे ---- उनके लिए प्रेम के आदान - प्रदान की स्वतंत्रता ही सब प्रकार की स्वाधीनता की प्रतीक है ---- वस्तुतः उनके लिए नारी के प्रेम स्वातंत्र्य की समस्या नारी के पूर्ण स्वातंत्र्य का प्रतीक बन गयी है, इसका कारण है कि प्रसाद जी नारी को "स्नेहमयी रमणी" के रूप में देखते हैं।"[1] इसके साथ ही प्रसाद जी इस बात के भी पोषक हैं कि यदि प्रेम के मार्ग में विवाह नाम की कोई संस्था बाधक बनकर खड़ी होती है तो प्रेम की सर्वोपरिता को बनाये रखने के लिए उस संस्था का बहिष्कार भी किया जा सकता है। वे प्रेम की मौलिक उद्भावना को निश्छल, विशुद्ध और विकारहीन मानते हैं।

मदन और मृणालिनी के माध्यम से प्रसाद जी ने प्रणय (प्रेम) के व्यापक स्वरूप की परिभाषा दी है। प्रसाद जी का कहना है कि प्रेम रूपी आनंद के महासागर में पहुँचकर किनारे जाने की बिल्कुल इच्छा नहीं करती। प्रेमी और प्रेमिका उसी बीच प्रमण करते हुए समस्त अलौकिक आनंद को संचित कर लेना चाहते हैं:-- "प्रणय का भी वेग कैसा प्रबल है। यह किसी महासागर की प्रचंड आँधी से कम प्रबलता नहीं रखता। इसके झोंके में मनुष्य की जीवन नौका असीम तरंगों से घिरकर प्रायः कूल को नहीं पाती, अलौकिक आलोकमय अंधकार

१- शंभुनाथ पाण्डेय : प्रसाद की नारी-भावना ; पृ० ६० -

में प्रणयी लहरी पर आरोहण कर उसी आनंद के महासागर में घूमना पसंद करता है, कूल की ओर जाने की इच्छा भी नहीं करता।[1]

प्रणय वह काम को भी महत्व देता है ; प्रेम के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, किंतु प्रसाद जी प्रेम को काम की सीमाओं में आबद्ध नहीं रखते। प्रसाद जी प्रेम के पावन क्षेत्र में वासना को उद्भूत नहीं होने देते। उनके अनुसार प्रेम समर्पण पर आधारित है, और उस समर्पण में प्रतिदान की कोई आकांक्षा, वासनाओं की कोई पिपासा, और स्वार्थमयी वृत्तियों की कोई प्रवंचना नहीं हुआ करती। प्रेम का उद्देश्य स्वतः प्रेम ही है, किसी प्रकार से कामनाओं की पूर्ति नहीं। जहां वासना है वहां भौतिक आकांक्षाओं की उपस्थिति के कारण प्रेम के वास्तविक स्वरूप का तिरोभाव हो जाता है। वासना एक पंक है और प्रेम उस पंक से बहुत ऊपर उठनेवाला कोमल पंखुड़ियों से युक्त एक ऐसा पंकज है, जो अपना परिमल निरंतर दिशाओं को लुटाता रहता है, अपने आपके लिए किसी से कोई प्रतिदान नहीं चाहता।[2] जहां ऐसा निश्छल और त्यागमय प्रेम है, वहीं प्रसाद जी के अनुसार सात्विक प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। प्रसाद जी के साहित्य " प्रेमपथिक " में नारी और प्रेम की स्पष्ट विवेचना की गई है यद्यपि " प्रेमपथिक " स्वयं प्रेम तत्व पर ही आधारित एक खंडकाव्य है, किंतु प्रेम के सात्विक स्वरूप की अभिव्यंजना प्रसाद जी के अन्य साहित्य में भी स्थल-स्थल पर होती चली है।

" प्रेम पथिक " में प्रसाद ने पथिक और पुतली के माध्यम से प्रेम के तत्वों का विवेचन किया है। जिस प्रकार कालिदास के मेघदूत में यक्ष के हृदय से

१- प्रसाद : " मदन और मृणालिनी " ; पृ० १२५ -

२- उष: स्नात हुआ मैं प्रेम सुतीर्थ में -
मन पवित्र उत्साह-पूर्ण सा हो गया,
विश्व, विमल आनन्द-मग्न-सा हो गया,
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।।
प्रसाद : झरना, " प्रथम प्रभात " ; पृ० ६ -

निकलने वाले उच्छ्वास ही उसके विरहजनित संवेगों की पूर्णतया प्रकट कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रेमपथिक पुतली की स्मृतियों में डूबता उतराता एक ऐसी स्थिति तक पहुंचता है, मानो चंद्रबिंब से कोई देवदूत निकलकर आया हो और अपने कोमल कंठों से उस प्रेम के तत्वों को समझा रहा हो।

प्रसाद जी ने जिसे वास्तविक प्रेम कहा है उसका मार्ग बहुत बीहड़ है। यदि उस मार्ग को ऊपर की ओर से शीतल छाया आच्छादित करती है तो नीचे पथ में अनेक कांटे बिछे हुए हैं, जिन पर कि होकर किसी भी प्रेमपथिक को चलना है। इस प्रेम के यज्ञ के लिए आवश्यक शर्त है कि स्वार्थ और कामना का पूर्णतया त्याग करना होगा। प्रेम की भावना जब त्याग और बलिदान की भावना से निष्काम रूप से प्रेरित होगी तभी प्रिय को वास्तविक आनंद मिलेगा।
* पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल - भूलकर चलना है घनी छांह है जो ऊपर तो नीचे कांटे बिछे हुये, प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा। तब तुम प्रियतम स्वर्ग - विहारी होने का फल पाओगे।[1]

प्रेम में वासना की कीचड़ के लिए कोई स्थान नहीं। प्रेम का मयंक सदैव निर्मल हुआ करता है, और स्वच्छंद आकाश में निर्बाध रूप में क्रीड़ा किया करता है। चपला अर्थात् कामना स्वतः चंचल हुआ करती है। प्रेम रूपी मयंक के पूर्णोदय होने पर कामना की सारी चंचलता समाप्त हो जाती है। प्रसाद जी आगे कहते हैं-

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं, जो व्यक्तिमात्र में बना रहे।।[2]

कि प्रेम वास्तव में प्रभु का स्वरूप है। इसकी कोई सीमा नहीं। जहां तक प्रेम के प्रगाढ़ क्षेत्र में कोई गहराई तक घुसता जायेगा, तो उस प्रेम की अनुभूति से जो आनंद मिलेगा उससे वह निरंतर, उस पथ पर आगे बढ़ते जाने की कल्पना करेगा। वह प्रेम की अंतिम मंजिल पर पहुंचना चाहेगा और आराम नहीं करेगा जब कि उसे

१- प्रसाद : प्रेमपथिक ; पृ० २२ -
२- प्रसाद : प्रेमपथिक ; पृ० २२ -

पूर्ण संतोष हो जाये कि आगे उस क्षेत्र में कोई राह शेष नहीं रह गई है -

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रांत भवन में टिक रहना,

किंतु पहुंचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं।[१]

इस प्रकार प्रसाद जी प्रेम को बहुत ही व्यापक प्रभाव से युक्त मानते हैं। वह प्रेम की उस आदर्शमयी स्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें रूप अरूप का कोई रोना धोना नहीं, वासना और कामना के लिए कोई आकर्षण नहीं, और सांसारिक इच्छाओं के लिए कोई संभावना नहीं रह जाती। यदि प्रेमी इस आदर्श तक पहुंच जाते हैं, तो उन्हें आदर्श - प्रेमी कहा जा सकता है। नारी इस आदर्श की प्रतीक रही है।

स्थल - स्थल पर प्रसाद ने स्वच्छंद प्रेम की कल्पना की है जहाँ प्रणय के उन्मत्त आवेग में समाज का कोई बंधन नहीं रहता। --- " अकस्मात् जीवन कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी - भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल - कौन ? - कहकर सबको रोकने टोकने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरंद सी उसमें छिपी रहती है।"[२]

इसी प्रकार प्रसाद के मत में " सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है ...... वह आलोक का महोत्सव ... जिसमें हृदय - हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है।"[३]

अजातशत्रु में प्रसाद जी ने पुरुष और स्त्री दोनों की मीमांसा कारायण के मुख से करायी है। वह कहता है - " मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम

१- प्रसाद : प्रेमपथिक ; पृ० २२ -

२- चंद्रगुप्त में सुवासिनी ; अंक ४, पृ० १८८ ।

३- " ध्रुवस्वामिनी " में कोमा ; अंक ३।

में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है।"[1] किंतु स्त्री उससे कुछ भिन्न है। मानों पुरुष की सारी कठोरताओं को स्नेह, सेवा और करुणा के बल पर मृदुल बना देती है। उसकी छाया में एक अपूर्व सांत्वना मानो अभयवरदान देने के लिए खड़ी होती है। पुरुष शारीरिक बल पर जीवन संग्राम में अपने शासन का प्रसार करता है, किंतु " मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी विश्व शासन की एकमात्र अधिकारिणी, प्रकृतिस्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है।"[2] कारायण कहता है - " तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है - स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा जो अंतरात्मजगत का उज्ज्वलतम विकास है ---- इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुंदर और मनमोहक आवरण दिया है -- रमणी का रूप।"[3]

पुरुष और स्त्री की इस परिभाषा की व्याख्या प्रसाद जी के समूचे साहित्य में बिखरी पड़ी है। नारी के प्रति प्रसाद जी का दृष्टिकोण बहुत उदार है। वह उसे सदैव अग्रभूमि पर प्रतिष्ठित करते रहे हैं। उनके अनुसार नारी - जीवन की सार्थकता उसके हृदय के कोमलतम विकास में निहित है। इसी से उनकी नारी का हृदय सर्वत्र प्रेम की अगाध मधुरिमा से रसस्निग्ध हो उठा है, मध्ययुगीन नारी की भाँति उसमें इन्द्रिय-तृप्ति की अतृप्त प्यास नहीं है।[4] वह स्नेह, सेवा, त्याग और करुणा और सांत्वना की प्रतिमूर्ति है। वह सब स्त्री सुलभ संवेदना तथा कर्तव्य और धर्म से विभूषित है।[5]

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १८ -

२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १८ -

३- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १८ -

४- प्रसाद अंक ; पृ० ६२ -

५- प्रसाद : अजातशत्रु; पृ० ७१ -

कारण है उसका भी स्त्री होना।"[१]

किंतु इतना सब कुछ होते हुए भी नारी भौतिक सुखों का आगार अपने लिए नहीं चाहती। उसका हृदय केवल स्नेह का भूखा है। गाला कहती है - "स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, वह हृदय चाहती है।"[२] किंतु विडंबना यह है कि पुरुष उसके स्नेह, प्रेम और अपनत्व को केवल विश्वासघात की तुला पर तौलता है - और लेखक "हृदयहीन पुरुष उसके (स्नेहमयी नारी के) मर्म में शूल चुभाकर मुँह मोड़ लेता है।"

नारी अपनी इस विवशता से परिचित है। वह अन्य किसी अधिकार के छीने जाने की बिल्कुल चिंता नहीं करती, किंतु प्रेम, जिस पर कि उसका जन्मसिद्ध अधिकार है, उसे वह किसी भी मूल्य पर नहीं छोड़ सकती। प्रसाद जी ने नारी के हृदय को "प्रेम का रंगमंच"[३] कहा है। मंगल के संसर्ग में आकर गाला को जिस कोमल भावनाओं की अनुभूति होती है, उसे व्यक्त करती हुई वह कहती है - "स्त्रियों का जन्मसिद्ध उत्तराधिकार है मंगल। उसे खोजना, परखना नहीं होता, कहीं से ले आना नहीं होता। वह बिखरा रहता है अतापगामी से-धन कुबेर की विभूति के समान। उसे सम्हालकर केवल एक ओर व्यय करना पड़ता है ----"[४]। इस प्रकार प्रसाद जी प्रेम को नारी का नैसर्गिक स्वभाव और अधिकार मानते हैं। उसे ढूँढना नहीं पड़ता।

"तितली" में भी इसी प्रेम की एकनिष्ठा की भावना है। मधुवन की अनुपस्थिति में भी वह उसी की स्मृति को सहेजे हुए जीवन में कठोर कर्तव्य का निर्वाह किये चलती है। "---- मेरे जीवन का एक - एक कोना उसके लिए, उस स्नेह के लिये, संतुष्ट है।"[५]

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २२४।
२- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २५५ -
३- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २२७ -
४- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २२७ -
५- प्रसाद : तितली ; पृ० २४६ -

पवित्र प्रेम प्रसाद जी के अनुसार हृदय का एक नैसर्गिक बंधन है, इसके लिए प्रसाद जी आवश्यक नहीं मानते कि प्रेम की परिणति विवाह बंधन में ही हो। यद्यपि तितली उपन्यास में तितली और शैला दोनों का प्रेम विवाह में फलिता पाता है तथापि वे प्रेम के सात्विक क्षेत्र के आगे विवाह के कर्मविधान को इतना अधिक महत्त्व नहीं देते। कहीं कहीं तो वे विवाह को एक अनावश्यक तत्त्व के रूप में भी मानने लगे हैं। यहाँ तक कि उन्होंने स्थान - स्थान पर उन वैदिक मंत्रों का भी उपहास किया है जिनके उच्चारण के आधार पर दो हृदयों को जन्म-जन्मान्तर के लिए एक हो जाने के व्यवस्था दी है। कंकाल की यमुना प्रेम के संयुक्त विवाह के कर्मविधान का उपहास करती हुई वाथी से कहती है -
" --- प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा कर लिया था, और कुछ मंत्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया था ; पर किया था प्रेम।"[1]

नारी प्रेम का जो आदर्शात्मक रूप प्रसाद जी के मस्तिष्क में था, उसे उन्होंने यमुना के माध्यम से व्यक्त किया है। वह अनेक अपवित्रताओं के वातावरण से होकर निकलती है, किंतु वातावरण जनित कलुषता अपनी कालिमा से उसे आवृत्त नहीं कर पाती। " इन अपवित्रताओं में भी वह पवित्र, उज्ज्वल और उर्जस्वित है, जैसे मलिन वसन में हृदय हारी सौंदर्य।"[2]

कंकाल की घंटी प्रसाद जी के नारी प्रेम की भावना की एक अद्भुत दृष्टांत है। वह विधवा है और एक ऐसी विधवा है जिसे यों तो संसार ने विधवा कहकर परित्यक्त माना है, किन्तु उसके रूप और यौवन के लोलुप अनेक लोगों ने उसे पतिता बनाने का पूरा प्रयास किया है। प्रवंचनाओं के मायाजाल से निकली हुई घंटी विजय के हृदय में एक आश्रय और शीतलता प्राप्त करती है। उसका निश्छल समर्पण जाग उठता है, और वह समर्पण की भावुक बेला में विजय

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २७७ -

२- प्रसाद : कंकाल ; पृ० ७४ -

से कह उठती है - " मैं तुम्हें प्यार करती हूं। तुम ब्याह करके यदि उसका प्रतिदान किया चाहते हो, तो भी मुझे कोई चिंता नहीं। यह विचार तो मुझे कभी सताता ही नहीं। मुझे जो करना है, वही करती हूं, करूंगी भी। घुमाओगे घूमूंगी, पिलाओगे पीऊंगी, दुलार करोगे हंस लूंगी, ठुकराओगे रो दूंगी। स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है। मैं इन [illegible] सबों को समभाव से ग्रहण करती हूं और करूंगी।"[१]

प्रसाद जी प्रेम की स्वतंत्र सत्ता पर विश्वास करते हैं। घंटी को उन्होंने नैतिक मूल्यों से नीचे नहीं गिरने दिया है। प्रेम की निश्छल तरंगों में घंटी इतनी पावन बन जाती है कि मानो वैधव्य का उसका सारा कालुष्य धुल जाता है, और विजय को पूरा भरोसा हो जाता है कि यह " हंसमुख घंटी संसार के सब प्रश्नों को सहज किये बैठी है।"[२]

मदन और मृणालिनी[३] नामक कहानी में मृणालिनी के माध्यम से प्रसाद जी ने एक ऐसी नारी को सृजित किया है जो हृदय की सात्विक भावनाओं में प्रेम की प्रतिमूर्ति या देवी के रूप में स्थापित अवश्य की जा सकती है, किंतु विधि बंधन में बांधकर जीवन में आबद्ध कर देना प्रणयी को कभी सह्य नहीं हो सकता। यहां प्रेम वैवाहिक संबंधों की तुलना में बहुत ऊंचा और पुनीत हो गया है। यहां प्रेम में असीम तत्व की कल्पना प्रसाद जी ने की है।

प्रसाद जी का विचार है कि प्रेम के मार्ग में देशगत, जातिगत बंधन भी बाधक नहीं हो सकते। कार्नेलिया और चंद्रगुप्त का एक दूसरे के प्रति प्रेम देशगत सीमाओं को पूर्णत: उल्लंघन करता हुआ सा प्रतीत होता है। उनकी अधिकांश कहानियों में भी ऐसे नारी चरित्र मिलते हैं जो जाति की सीमाओं का उल्लंघन

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० १६६ -

२- प्रसाद : कंकाल ; पृ० १६५ -

३- आंधी संग्रह कहानी -

करके अपने सौन्दर्य का प्रकाश करते हैं।

प्रेम की पवित्रता -

यद्यपि स्वच्छंद प्रेम को नारी के व्यक्तित्व में निहित किया तथापि वे प्रेम की पवित्रता के पक्षपाती हैं, उस पवित्रता के सम्मुख संसार के और सभी बंधन असत्य मानते हैं। उस प्रेम में इतनी शक्ति और सामर्थ्य होती है कि वह पापी से पापी को अधिक - उज्ज्वल और कालिमा से रहित बना देता है।

कामायनी की संपूर्ण कहानी यद्यपि पौराणिक और ऐतिहासिक आवरण से ढकी हुई है किंतु प्रसाद जी वहाँ भी समाज की प्रेमजनित समस्या को एक नवीन रूप देने में नहीं चूके हैं। मनु और श्रद्धा का मिलन न तो समाज के किसी परंपरागत बंधन का मिलन है न ही मात्र वासनाओं का मिलन है, दो व्याकुल प्राणी आत्मीयता के आकर्षण में खिंचकर परस्पर एक हो जाते हैं - समाज के बंधन भले ही इसे पाप कहें अथवा पुण्य, मान्य कहें अथवा अमान्य, शास्त्रीय परंपरा से युक्त कहें अथवा स्वच्छंद। पाश्चात्य कहें अथवा पौर्वात्य, किंतु इन दोनों का मिलन एक ऐसे युग्म का मिलन है जिसमें आरंभिक अवस्था में किसी छल प्रपंच के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। पुरुष कर्म का साज सजाता है और स्त्री मातृत्व के भार से युक्त होकर गृह के वातावरण को नंदनवन बनाने में लग जाती है। पुरुष सदैव से ही चंचल वृत्ति का और अनास्था वृत्ति का रहा है। वासनाहीन समर्पण को वह कभी -कभी शंकाओं की दृष्टि से भी देखने लगता है, उसका अधिकारलुब्ध उसकी भावनाओं को ठोकर मारता है और यहाँ तक कि कभी कभी उसका अपना ही आत्मजात शिशु उसकी ईर्ष्या का कारण बन जाता है। मनु के मन में यही भाव उत्पन्न होते हैं -

" यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व ;

इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व ।"[1]

किंतु श्रद्धा शाश्वत रूप में समर्पण भरे प्रेम के पथ पर चलती रहती है । अंततः श्रद्धा का पावन प्रेम ही मानव को आनंद मार्ग की ओर अग्रसर करने में सहायक होता है । वास्तव में उत्सर्ग में ही नारीत्व की पूर्णता है और यही नारीत्व है कि -

मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं ।[2]

इस प्रकार श्रद्धा के उत्सर्ग में विधाता की कल्याणी सृष्टि की भूतल पर पूर्णस्मरण सफल बनाने की मंगल भावना छिपी है[3] । श्रद्धा का यह समर्पणभाव उसके नारी हृदय का वह उदात्त गुण है जो तप को जीवन का सत्य मानकर दीन अवसाद से दबे जा रहे पुरुष के प्रति स्नेह से द्रवित हो उठता है । प्रेम का प्रतिदान, वास्तव में निश्छल आत्मदान अथवा आत्मसमर्पण श्रद्धा के जीवन का सबसे सरस संबल है । यही कारण है कि वह प्रेम, उदारता, करुणा, क्षमा सहिष्णुता एवं औदार्य जैसे सात्विक गुणों से युक्त है । श्रद्धा की पृष्ठभूमि में नारी के ममतामय और स्नेहस्निग्ध रूप को कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है -

" दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास ;
हमारा हृदय - रत्न - निधि स्वच्छ,
तुम्हारे लिए खुला है पास ।"[4]

१- प्रसाद : कामायनी ; पृ० १६१ -
२- प्रसाद : कामायनी ; पृ० ७६ -
३- प्रसाद : कामायनी ; सृ० 'श्रद्धा' ; पृ० ४७-
४- प्रसाद : कामायनी , 'श्रद्धा' ; पृ० ४७ -

'झरना' में भी कवि प्रेम की इसी मंगल - विधायिनी एवं लोक-कल्याणकारिणी शक्ति का अनुभव करके सर्वत्र प्रेम की पताका फहराना चाहता है - "प्रबल प्रभंजन मलय - महक लो, फहरे प्रेम - पताका[१]।"
प्रेम ही मुक्ति है, प्रेम ही शक्ति है। प्रेम से ही हृदय सुवर्ण बनता है। प्रेम ही हृदय तथा जीवन को सौंदर्य प्रदान करता है। इस प्रकार झरना के कवि की कल्पना व अनुभूति प्रेम का अत्यंत उदात्त, भव्य, उज्ज्वल व आदर्श स्वरूप निर्मित करती है।

प्रेम की एकनिष्ठता और निश्छलता -

प्रसाद ने प्रेम को हृदय का "अकर्णोदय" माना है, और उसे एक "धर्म" के रूप में ग्रहण किया है। धर्म भारतीय नारी की अपनी विभूति है। धर्म की इस आस्था में प्राचीन काल से अब तक भारतीय नारी अडिग रही है।

प्रेम को धर्म के रूप में मानते हुए प्रसाद ने उसे नारी हृदय का प्राण-तत्व माना है। उनकी परिभाषा में प्रेम व्यक्तिनिष्ठ होता है और उसमें परिवर्तन या विचलन का प्रश्न नहीं आता।

अपने साहित्य में प्रसाद ने जहाँ नारी में उदात्त गुणों की कल्पना की है, वहाँ प्रेम में एकनिष्ठता के गुण की अवश्य कल्पना की है। उनकी नारियाँ एक ही पुरुष से प्रेम करती हैं और अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करती हुई भी, उसी पुरुष के प्रेम की ज्योति जलाती रहती हैं।

प्रसाद ने प्रेममयी नारी को पूर्ण समर्पणमयी भी माना है। यह समर्पण भावात्मक और शारीरिक दोनों प्रकार है, किंतु प्रसाद ने प्रेम के क्षेत्र में शारीरिक समर्पण को बहुत अधिक महत्व नहीं प्रदान किया है। यही कारण है कि उन्होंने ऐसे नारी पात्रों का भी सृजन किया है जो प्रेमी के वियोग में भी अथवा प्रेमी के अनचाहे में भी अपने हृदयों में प्रेम संजोये रहती हैं। जैसा अपने प्रेमी

१- प्रसाद : झरना : "बिन्दु"; पृ० ८१ -

को अपने पिता का हत्यारा समझकर उससे बदला लेने के लिए बहुत दूर तक अवसर की ताक में रहती है, और अंत में अपने प्रेमी बुद्धगुप्त को समुद्र पार भेजती हुई चंपाद्वीप में रह जाती है, और अपने हृदय के प्रेम को अक्षुण्ण बनाये रखती है।

जहाँ प्रेम और विवाह का तुलनात्मक प्रसंग आया है, प्रसाद ने विवाह को समाज द्वारा निर्मित एक संस्कार मात्र माना है, जिसमें प्रेम की अनिवार्यता होनी चाहिये, यदि विवाह का विधान, प्रेम की आधारशिला पर नहीं खड़ा है तो वह विवाह भले ही अग्नि की साक्षी देकर किया गया हो, किंतु प्रसाद जी की दृष्टि में झूठा है। इसके ठीक विपरीत यदि नारी किसी से प्रेम करती है तो कोई आवश्यक नहीं कि उसके प्रेम की परिणति विवाह के ही रूप में हो। वह एकनिष्ठ रूप में उस व्यक्ति से प्रेम कर सकती है, और उसके प्रेम में किसी भी परिस्थिति में विचलन नहीं आ सकता। इन्हीं तत्वों के आधार पर प्रसाद ने अपने साहित्य में प्रमुख नारी पात्रों का सृजन किया है।

मधूलिका राजकुमार अरुण से प्रेम करती है। और यह प्रेम उसे ऐसे विकट समय में मिलता है जब कि वह स्नेह की भूमि पर से अधिकार छीन लिए जाने के कारण दुःख से विकल है। उसकी प्रतारणाओं से चोट खाकर राजकुमार अरुण चला जाता है, किंतु मधूलिका अपने हृदय में जिस प्रेम का अंकुरण कर लेती है, उसका राजकुमार की अनुपस्थिति में भी पालन करती है और उससे दुबारा साक्षात्कार होने पर कहती है - "आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार!"[1]

आगे चलकर मधूलिका के व्यक्तित्व में राष्ट्र प्रेम और राजकुमार के प्रेम के बीच एक संघर्ष उठ खड़ा होता है। यद्यपि प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत प्रेम की तुलना में राष्ट्रप्रेम विजयी होता है, किंतु प्रेम की निश्छलता का आभास उस समय होता है जब मधूलिका अपने लिए पुरस्कार के बदले प्रेमी के साथ अपने भी प्राणदंड की

१- प्रसाद : आकाशदीप, " पुरस्कार " ; पृ० १५७ -

याचना करती है।

देवसेना[1] अपने प्रेम में पूर्णत: एकनिष्ठ है। स्कंदगुप्त के प्रति उसका प्रेम बहुत ही गहरा और अभिन्न है, किंतु उसके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने प्रेमी से अपने प्रेम की चर्चा कर उसका अपमान नहीं होने देना चाहती - मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूं। उसी में सब छिप जाता है।"[2]

प्रेम की गहन अनुभूतियों में वह अपने आप में रो लेती है और अपने आप ही गा लेती है। यहां तक कि उसका हृदय अपने आपसे मचलता है, अपने आपसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, आंखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि भिड़कती है, और[3] वह अपने आपको समझा कर अपने आप में ही सारा विवाद मिटा लेती है।

देवसेना का प्रेम एकनिष्ठता और निश्छलता का उत्कृष्टतम उदाहरण है। वह अपने प्रेम में अपने आप में ही घुल सकती है किंतु अपने आराध्य को उस प्रेम की आंच से निरंतर बचाती रहती है। संसार का कोई प्रलोभन अथवा स्वार्थ उसे अपने प्रेम से विचलित नहीं कर सकता। ऐन्द्रिकता उसके प्रेम में कहीं छू तक नहीं गयी है।

छैला[4] इसी प्रकार की प्रेमानुभूतिमयी नारी है। उसके प्रेम में भी एक-निष्ठता है और वियोग के क्षणों में भी वह प्रेमी की स्मृतियां संजोये अपने

१- स्कंदगुप्त

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ' तृतीय अंक ' ; पृ० ९२ -

३- वही ,, ,, ; पृ० ९२ -

४- आंधी कहानी शीर्षक की नारीपात्र ' छैला '

आपको पूर्ण मान सकती है। प्रिय के वियोग में वह उसका पत्र लिए हुए घूमती रहती है, यद्यपि अंत में उसका प्रिय से मिलन भी एक करुण वेदना के साथ होता है, किंतु वह अंत तक उसी की स्मृति संजोये रहती है। उसे कोई भी ऐहिक व ऐन्द्रिक प्रलोभन डिगा नहीं पाता।

तितली[1] में इसी प्रेम की एकनिष्ठता के दर्शन होते हैं। मधुबन की अनुपस्थिति में भी वह उसी की स्मृति को संजोये हुए जीवन के कठोर कर्तव्य का निर्वाह किये जाती है।

प्रसाद जी प्रेम की अनन्यता को नारी के लिए आवश्यक मानते हैं। बेला[2] के चरित्र में प्रेम की इसी एकनिष्ठता के दर्शन होते हैं। यद्यपि समाज के अन्याय से वह अपने प्रिय गोली से छीनी जाकर भूरे के प्रणय में बांध दी जाती है। किंतु अंत तक वह गोली को विस्मृत नहीं कर पाती। शारीरिक रूप में भूरे द्वारा भ्रष्ट किये जाने पर भी उसकी आत्मा पवित्र रहती है, उसकी भावनायें निष्कलुष रहती हैं। क्योंकि - " उसके हृदय में विश्वास जम गया था कि भूरे के साथ घर बसाना गोली के प्रेम के साथ विश्वासघात करना है। उसका पति तो गोली ही है।"[3] प्रसाद जी नारी के प्रेम के आदर्श को उसकी श्रेष्ठतम विभूति मानते हैं। यही कारण है कि वह नारी के प्रेम में कभी विचलन या स्खलन नहीं देख सकते। जहाँ कहीं यदि स्खलन भी हुआ है, तो वह आदर्श की कोटि से नीचे गिर जाती है।

यद्यपि प्रसाद का प्रेम संबंधी यह दृष्टिकोण आदर्श प्रेम की कोटि में आता है, किंतु प्रसाद जी प्रेम के क्षेत्र में इस आदर्श को सर्वथा व्यवहारिक और उपादेय मानते थे। उन्होंने जहाँ एक ओर नारी स्वच्छंदता का पक्ष समर्थित

१- तितली उपन्यास -

२- इंद्रजाल कहानी की बेला -

३- इंद्रजाल ; पृ० ६।

किया है, वहीं प्रेम के क्षेत्र में वे उसे एकनिष्ठ और अडिग मानकर उसके आधार का स्वरूप निर्धारित कर देते हैं। आधुनिक आलोचकों का कथन है कि प्रेम के क्षेत्र में आदर्श की स्थापना करना वैयक्तिक जीवन और अनुभूतियों की उपेक्षा कर प्राचीन काव्य परंपरा को अपनाना कहा जायेगा। उनका कहना है कि प्रेम एक ज्वार है जिसका एक ओर परिपाक भी हो सकता है और दूसरी ओर विखंडन भी संभव रहता है। अतः प्रेम की एकनिष्ठ और निश्चल कल्पना आदर्श की कल्पना करने के समान होगा। इसी आलोचना के आधार पर कुछ अत्याधुनिक लेखकों और कवियों ने प्रेम के इस विचलन पक्ष को भी अपनाया है, किंतु प्रसाद जी नारी के लिए जो मर्यादा स्थापित करते हैं, उसमें प्रेम को समाज द्वारा अर्पित या परिस्थितियों द्वारा विचलनशील नहीं मानते। नारी का यह सहज धर्म है कि वह जिससे प्रेम करती है, एकनिष्ठ रूप में करती है, और अपने प्रेम में निश्चल रहती है। संसार की कोई विडंबना, स्वार्थ, प्रलोभन, वासना अथवा अधिकार उसे अपने इस प्रेम से विचलित नहीं कर सकते। इस निश्चलता का कारण यह है, कि प्रसाद ने प्रेम को नारी के व्यक्तित्व की एक सहज, स्वाभाविक और सात्विक वृत्ति माना है। इस वृत्ति में ही उसके व्यक्तित्व की पूर्णता है।

प्रेम और वेदना -

प्रसाद जी प्रेम के क्षेत्र में केवल मिलन की ही सार्वभौमिकता को नहीं स्वीकार करते। कामनायें जब अपनी भुजायें फैलाकर भौतिकता और वासना को अपने आप में लपेट लेती हैं तो उस गुम्बद से प्रसूत होने वाली प्रेमभावना शुद्ध प्रेम के क्षेत्र से बाहर निकल जाती है। अतः प्रसाद जी नारी प्रेम के एक ऐसे स्वरूप को भी आदर्श मानते हैं, जिसमें मिलन का या तो कोई स्थान न हो या यदि हो तो केवल हृदय में वेदनाओं की ज्वाला जला जलाकर देने वाला मात्र मिलन हो और फिर हृदय में निरंतर बाडवज्वाला उठती रहे, हाहाकार करती रहे और फिर नीचे गिर-गिरकर सिंधु में विलीन होती रहे।[१]

१- मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूं।

आँसू में कवि बहुत दूर तक स्वयं अपने अस्तित्व को भूल जाता है और अपने आपको नारी हृदय की अनुभूतियों से सशक्त पाने लगता है। उसका अपने प्रियतम से जो मिलन हुआ है, उसमें मधुर - मधुर किंतु ज्वालामयी स्मृतियों की दूर तक एक बस्ती ही बसा दी है। आकाश के अगणित तारे उसी ज्वालामयी जलन के स्फुलिंग के समान चमक रहे हैं, और उस महामिलन के कुछ अवशेष चिन्ह हैं, जिन्हें कवि अपनी स्मृतियों में बसाये हुये है -

बस गई एक बस्ती है
  स्मृतियों की इसी हृदय में,
 नक्षत्र लोक फैला है
  जैसे इस नील-निलय में।
   ये सब स्फुलिङ्ग हैं मेरी
    इस ज्वालामयी जलन के
   कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
    मेरे उस महामिलन के।।[१]

प्रेम का यह आदर्श कुछ विचित्र सा मोड़ लेता है। उस महामिलन की स्मृतियों में डूबता उतराता कवि एक सपना सा देखता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो मुख पर घूंघट डाले हुये, अंचल में दीप छिपाये हुए जीवन की गोधूलि में कौतूहल से कोई चला आया है। विरह की घड़ियों में उसे कितनी गहरी पीड़ा सहनी पड़ी, रो - रोकर और सिसक, सिसककर वह उस व्यथा को सुनाने लगा, लेकिन प्रियतम अपनी मस्ती में कुछ गाता जाता था, और ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो उस वेदना को वह सुनकर भी नहीं सुन रहा है -

रो- रोकर सिसक - सिसककर
कहता मैं करुण - कहानी

१- प्रसाद : आँसू ; पृ० ६ -

तुम सुमन नोचते सुनते

करते जानी अनजानी ।[1]

यत्र-तत्र नाटकों में भी प्रेम का यह आदर्श देखने को मिलता है । साधारणतः अजातशत्रु नाटक से वाजिरा का प्रसंग यदि बाहर कर दिया जाय तो नाटक के कलेवर की कोई क्षति न होगी । किंतु जहां नारी हृदय के प्रेममय समर्पण के अनेक रूपों की व्यंजना नाटककार को करनी थी, वहीं एक ऐसे प्रेम की भी पवित्र अभिव्यक्ति करनी थी, जिसमें प्रेमी और प्रेमिका के बीच परिचय तक न हो, आपस में बोलने का अवसर तक न हो, किंतु भीतर ही भीतर दो अपरिचित हृदय अपने आपमें मिलकर एक हुए जाते हों । वाजिरा अजातशत्रु से कहती है -- " < < < < हम लोग इसी तरह अपरिचित रहें । अभिलाषाएं नये रूप बदलें, किंतु वे नीरव रहें । उन्हें बोलने का अधिकार न हो । बस, तुम हमें एक करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता के फूल तुम्हारे चरणों पर चढ़ाकर चली जाया करूंगी ।"[2]

प्रेम और वेदना की सुन्दर अभिव्यक्ति देवसेना के मूक प्रेम में दृष्टिगत होती है । वह स्कंद से प्रेम करती है, किंतु उसका प्रेम प्रकट होकर सामने नहीं आता । वह कहती है - " मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है । नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है । जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूं । उसी में सब छिप जाता है ।"[3]

रसिया बालम[4] के माध्यम से भी प्रसाद जी ने प्रेम के इसी पक्ष का समर्थन किया है ।

१- प्रसाद : आंसू ; पृ० १५ -

२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १०८ -

३- प्रसाद : स्कंदगुप्त, तृतीय अंक ; पृ० ६२ -

४- आंधी संग्रह कहानी -

रसिया राजकुमारी से प्रेम करता है, राजकुमारी यद्यपि उस पर मुग्ध है, किन्तु अपने प्रेम को प्रकट नहीं कर पाती। गरलपात्र से जो पत्र निकलता है, उससे स्पष्टतया राजकुमारी के प्रेममय व्यक्तित्व की झलक मिलती है। यद्यपि प्रकट रूप में यह प्रेम विकास पाने का अवसर नहीं प्राप्त करता, किन्तु दोनों ही ओर भीतर ही भीतर यह प्रेम पलता रहता है। प्रेम अपनी गहनता में जीवन और मरण का अवरोध नहीं स्वीकार करता। प्रेम की सच्ची झलक आत्मबलिदान में हुआ करती है। रसिया उस आत्मबलिदान की कसौटी पर खरा उतरता है, राजकुमारी भी उससे पीछे नहीं रहती। प्रिय के मिलन की एक घूंट - उसके बाद फिर गरल क्या, और अमृत क्या? राजकुमारी उस गरल पात्र के अवशेष को पीती हुई उसी पथ का अनुसरण करती है, जहाँ उसका प्रिय गया है, और जहाँ वे दोनों एक दूसरे को खुली आँखों से अनन्तकाल तक देखते रह सकें। प्रेम का यह उत्कर्ष प्रसाद के अन्य पात्रों में नहीं दिखाई पड़ता।

बिसाती[1] कहानी में प्रसाद ने शीरी और बिसाती के प्रेम के माध्यम से एक ऐसे प्रेम के आदर्श को व्यक्त किया है, जिसमें किसी कोने से उनके हृदय की दबी हुई पीड़ा व्यक्त हो गई है। उनके व्यक्तित्व का आभास कभी शीरी में मिलता है, और कभी उस बिसाती में जिसे कि शीरी का प्रेमी कहा गया है।

प्रसाद जी सदैव इस बात के समर्थक रहे हैं कि प्रेम की मार्मिक व्यंजना मूक भाषा में ही हुआ करती है। उनका आँसू काव्य एक ऐसे ही प्रेम की व्यंजना है, जिसमें कवि सब कुछ कह जाता है, लेकिन यह कदापि नहीं कह पाता कि जिसके प्रति वह इतनी वेदना का अनुभव कर रहा है, उससे वह प्रेम भी करता है। प्रेम की ठीक इसी पद्धति का अनुसरण कहानीकार ने इस कहानी में भी किया है।

शीरी उस सौदागर से प्रेम करती है, जिसे आगा कहा जाता है। आगा गरीब है और पीठ पर सामानों का गट्ठर लादे उन्हें बेचने के लिए घूमा करता है। शीरी के हृदय में जिन दिनों इस सौदागर के प्रति प्रेम की तरल तरंगे उत्पन्न हो

१- आकाशदीप कहानी संग्रह -

रही थी, उन दिनों वह सौदागर जीवन की विषम समस्याओं की उलझनों में लीन सौदा बेचा करता था। कभी ऐसा भी दिन देखने में आता था, जब वह पीठ पर बोझ लादे किसी के दरवाजे पर पहुँचता था, और लोग उससे इसीलिए नहीं खरीदते थे कि वह गरीब था और सौदा उधार नहीं दे सकता था।

शीरीं बीते हुए दिनों की याद करती है। उसकी इच्छा होती है कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास हम इतना धन रख दें कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें। सरला शीरीं निःसहाय थी। पिता की क्रूर इच्छाओं के आगे वह कभी भी कुछ खुलकर न कह सकी।

सौदागर हिन्दुस्तान चला जाता है, जहाँ अपना सामान बेचकर वह कुछ पैसा प्राप्त कर सके। शीरीं विवाह के बंधन में बंध जाती है, किन्तु विवाह का यह बंधन हृदय की समानुभूतिमयी प्रेरणाओं को बाँध सकने में समर्थ नहीं होता। वह एकांत में खड़ी खड़ी सोचती है कि हाथों पर आकर बैठ जाने वाला वह बुलबुल न जाने कहाँ "कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। बसंत तो आ गया पर वह नहीं लौट आया।"[१] शीरीं के इस वाक्य में अपने उस बुलबुल की एक गहरी याद छिपी हुई है जो व्यक्त कर देती है कि शीरीं का फूल जैसा हृदय अब भी अपने उस बुलबुल से मिलने को व्याकुल है। बसंत आगया, लेकिन बुलबुल लौटकर नहीं आया।

शीरीं की सहेली जुलेखा उसके संतप्त हृदय को बहलाना चाहती है, लेकिन वह गहरी निश्वास लेकर केवल इतना कह पाती है - "हाँ प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है, उनकी जाति बड़ी स्वतंत्रता प्रिय है।"[२] निश्चय ही यह स्वतंत्रता प्रिय जाति का संबोधन बुलबुल के साथ ही किसी ऐसे भी बुलबुल के प्रति है जो शीरीं के केवल हाथों पर ही आकर नहीं बैठता, बल्कि जिसने हृदय की गहराई में भी अपना घर बना लिया है।

१- प्रसाद : विसाती ; पृ० ६८२ -

२- वही ,, ; पृ० ६८२ -

शीरी के हृदय का समूचा प्रेम एक आंतरिक पीड़ा में ही पलता है। जुलेखा उससे पूछती है कि - " तूने अपनी घुंघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बांध लिया ?"[1] शीरी एक निराशा भरे शब्दों में कह उठती है - " मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते।"[2] इन वाक्यों में शीरी के हृदय की वह पीड़ा व्यक्त होती है, जो समाज के बंधनों के सामने हार तो मान लेती है, किंतु भीतर ही भीतर एक असीम प्रेम को संजोये घुटती रहती है।

बहुत दिनों बाद शीरी का प्रेमी लौट आता है। शीरी उसे दिखाई पड़ जाती है। सौदागर की स्मृतियों में फिर से एक उबाल आता है, और वह वैसे ही रुक जाता है, जिस प्रकार दूर से चला हुआ रासी साहिल पर आकर खड़ा हो और दूर तक फैले हुए जल में छल-छल करती हुई लहरें ही उसके मंतव्य का संकेत दे रही हों।

प्रेम का विश्लेषण करने वाले शीरी और सौदागर के इस प्रेम को भावुक और रोमांटिक प्रेम की संज्ञा में भले ही रखें, किन्तु यह एक ऐसा प्रेम है, जिसमें दो हृदय केवल मूक रूप में ही एक दूसरे से मिलते और मूक रूप में ही एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। सौदागर प्रेम के उपहार के रूप में जो कुछ छोड़ जाता है, वह उसकी ममतामयी कमायी है, और जो कुछ प्राप्त करके जाता है, उसे स्पष्टत: शीरी दूर तक फैली हुई लहरों की राशि में देख लेती है। करुण वेदना भीतर ही भीतर आंधी और तूफान उत्पन्न करती है, परंतु विवशता यह है कि उस आंधी और तूफान को आंसुओं के माध्यम से व्यक्त हो सकने की स्वतंत्रता नहीं है।

प्रसाद जी के साहित्य में नारी के प्रेम की सरल, भावुक, करुणामय, भावयुक्त और कोमल चित्रों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। उसमें नारी का विशाल हृदय करुणा का अथाह आगार है। देवरथ की सुजाता अपनी करुणा को बहुत ही सरल प्रवाह बहाती है। वह कहती है - " मेरी वेदना रजनी से भी काली है और दुख समुद्र से भी विस्तृत है ---------"।[3]

1- प्रसाद : विसाती ; पृ० १८२ -

2- वही ,, ; पृ० १८२ -

3- प्रसाद · इंद्रजाल, 'देवरथ'; पृ० १०६

कंकाल में यमुना का सरल हृदय करुणा से प्रेम से ओतप्रोत है। विशेषरूप में ऐसी नारियाँ जो हिंदू संस्कृति से बाहर की हैं, प्रसाद जी ने उसी करुणा प्लावित प्रेम की कल्पना की है, जो अन्य नारियों में है।

वेदना ठीक उसी प्रकार परिष्कारक है, जिस प्रकार ~~है~~ सोना आग से पवित्र होता है। प्रसाद ने इसी बात को स्वीकार किया है और नारी के हृदय में वह शक्ति पायी है, जो उस पीड़ा को वहन करने में समर्थ है, और उस पीड़ा को दुख के स्थान पर समात्मभाव के आनंद की सीमा में पहुँचा दे।

प्रेम और स्वाभिमान -

आकाशदीप और पुरस्कार कहानी में प्रसाद जी ने प्रेम के एक ऐसे पक्ष को भी अपनाया है जिसे साधारणतः एक दूसरे का विरोधी कहा जाता है। प्रेम दो हृदयों को परस्पर जितना ही एक दूसरे के समीप ले आता है, घृणा उसके ठीक विपरीत दो प्रेमी हृदयों को भी एक दूसरे से पृथक कर देती है। प्रेम और घृणा प्रायः एक दूसरे के विपरीत दिशा में चलने वाले तत्व हैं, किंतु प्रसाद जी इन दोनों तत्वों को एक साथ रखकर स्त्री के अतिशय अद्भुत मनोवैज्ञानिक सत्य, यथार्थ और सबल पक्ष का समर्थन कर सकने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

चंपा और बुद्धगुप्त दोनों बंदीगृह में है। कड़ियों का बंधन कुछ ढीला पाकर बुद्धगुप्त चंपा को और चंपा बुद्धगुप्त को बंदीगृह से मुक्त कराते हैं। नौका समुद्र की लहरों पर हिलकोरे लेने लगती है। प्रेम के स्फुरण का एक बहुत ही भावुक वातावरण सामने आ जाता है। -" लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा - स्नेह का असंभावित आलिंगन। दोनों ही अंधकार में मुक्त हो गये। दूसरे बंदी ने हर्षातिरेक से उसको गले लगा लिया।" सहसा उस बंदी ने कहा - " यह क्या ? तुम स्त्री हो " ?[१]

प्रेम - कठिनाइयों के अंधड़ में ही पल कर ही पुष्ट होता है। चंपा और बुद्धगुप्त समुद्र के भीषण उद्वेलन में भी और ऐसे क्षण में भी जब कि " भीषण

१- प्रसाद : आकाशदीप ; पृ० ७ -

आंधी पिशाचनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कंदुक- क्रीड़ा और अट्टहास कर रही थी , --- दोनों बंदी खिलखिलाकर हंस पड़े । आंधी के हाहाकार में उसे कोई सुन न सका ।[१]

यहीं दोनों के बीच एक ऐसे प्रेम के उदय होने का अवसर था जो कि दोनों के हृदयों के तार - तार को मिलाकर एक कर दे - ऐसे तार जो संयुक्त होकर भी एक हों , और वियुक्त होकर भी परस्पर न टूटे । प्रेम जिसे पूर्ण एकनिष्ठ और आत्मिक प्रेम कहा जासकता है , किंतु इसी प्रेम के बीच घृणा की एक रेखा भी उसी बुद्धगुप्त के प्रति उसके मन में आ जाती है । उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि उसके पिता को मारने वाला यही जलदस्यु बुद्धगुप्त है । वह बार - बार अपने मन से इस विश्वास को दूर करने का यत्न करती है । किंतु बुद्धगुप्त के आग्रह करने पर भी चंपा का पितृवत्सल हृदय इसे सहसा स्वीकार नहीं कर पाता । वह कहती है -- " यदि मैं इसका विश्वास कर सकती ! बुद्धगुप्त वह दिन कितना सुंदर होता , वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान होते ।"[२]

चंपा बुद्धगुप्त के प्रति अपने प्यार को न छिपाना जानती है, और न अपनी घृणा को । भावों के एक साथ के इतने बड़े उद्वेलन में उसका कहते - कहते रो पड़ना बहुत ही स्वाभाविक है - " विश्वास ? कदापि नहीं बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी , उसी ने धोखा दिया , तब मैं कैसे कहूं । मैं तुम्हें घृणा करती हूं , फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूं । अंधेर है जलदस्यु ! तुम्हें प्यार करती हूं ।"[३] चंपा के इस कथन में एक साथ ही उसका प्रेम, उसका एकनिष्ठ स्वाभिमान , उसका प्रतिशोध , उसकी पितृवत्सलता और उसकी नारी जनित विवशता बोल पड़ती है ।

१- प्रसाद : आकाशदीप ; पृ० १० -

२- प्रसाद : आकाशदीप ; पृ० ११ -

३- प्रसाद : आकाशदीप ; पृ० १८ -

चंपा की इस भावाकुल व्यंजना के माध्यम से प्रसाद ने यह व्यक्त करना चाहा है कि प्रेम आस्था- प्रधान हुआ करता है, तर्क प्रधान नहीं। प्रेम समर्पण प्रधान है, और चंपा अपने इस प्रेम की कसौटी पर इतनी खरी उतरती है कि, वह बुद्धगुप्त को अपने भावाकुल हृदय का सारा कोष उड़ेल देती है। यहां तक कि इस प्रेम में उसे शारीरिक और मानसिक सुख संवेदना में भी कोई आपत्ति नहीं है यथा - " सामने शैलमाला की चोटी पर हरियाली में विस्तृत जल-देश में, नील-पिंगल, संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल-छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी . . . उस मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चंपा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहां एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का। किंतु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चंपा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।"[1] कंचुकी से कृपाण निकालना स्पष्ट इस बात का द्योतक है कि आलिंगन और परिरंभ की इस भावुक वेला में सहसा चंपा बुद्धगुप्त से अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध भी लेने को आतुर हो उठी है। चंपा चंपा नामक द्वीप में रह जाती है। वहां के निरीह भोले भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए। वह कहती है -" प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"[2]

अतः चंपा अपने प्रेम में महान् है, घृणा में भी महान् है, कर्त्तव्य-परायणता में भी महान् है, और सबसे बड़ी बात है कि उसका प्रेम उसके मन में आकांक्षाओं की तरलता नहीं उत्पन्न करता, अपितु निरीह प्राणियों के प्रति सहानुभूति और स्नेह की स्निग्धता उत्पन्न करता है। ऐसे महान् व्यक्तियों की

१- प्रसाद : आकाशदीप ; पृ० ३० ।

२- प्रसाद : ,, ; पृ० ३० ।

कल्पना किसी भी साहित्य में कम हुई है।

"पुरस्कार" की मधूलिका में प्रसाद जी ने नारी हृदय के और भी व्यापक और संश्लिष्ट पक्ष को ग्रहण किया है। मधूलिका एक कृषक बाला है। कृषि भारत के जीवन में प्राचीन काल से ही व्याप्त है। यहाँ के किसान भूमि को एक संपत्ति मात्र मानते हैं। संपत्ति का क्रय - विक्रय हो सकता है, किंतु अपनी माँ का क्रय - विक्रय भारतीय जनमानस में कभी भी संभाव्य नहीं है। भारत का किसान स्त्री और पुरुष दोनों कृषि को एक व्यवसाय नहीं मानता, एक धर्म मानता है, एक गौरव मानता है। उसे अपनी धरती पर अभिमान है और यह वही धरती है जो युग-युग से पूर्वजों से लेकर अब तक सभी का पालन-पोषण करती रही है। मधूलिका एक ऐसे ही कृषक की पुत्री है, जिसे अपनी धरती से उतना ही लगाव है, जितना कि किसी को अपनी माँ से हुआ करता है। माँ को राजकीय सम्मान मिला, मधूलिका के लिए एक गौरव की बात है, किंतु उस सम्मान के बदले मधूलिका पुरस्कार रूप में मूल्य स्वीकार करे, इससे बढ़कर उसके लिए अपमान की कोई दूसरी बात नहीं हो सकती। यहाँ तक कि जब कोशल का राज्योत्सव समाप्त हो जाता है, मधूलिका स्पष्ट शब्दों में कोशल के महाराज से कहती है - "देव यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसीलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य से बाहर है।"[१]

मधूलिका का धरती का प्रेम केवल संकुचित होकर अपनी भूमि तक ही सीमित नहीं रह गया है। वह अपनी भूमि से प्रेम करती है, किंतु उसे अपने राष्ट्र से भी उतना ही प्रेम है जितना कि उस धरती से। अपनी धरती खो कर भी वह इस बात से संतुष्ट है कि उसकी भूमि राज्योत्सव की गरिमा बढ़ाने के काम आई। उसे अपनी भूमि राजा को समर्पित करने में उतना क्लेश नहीं है, जितना कि उसका मूल्य पाने में। यहाँ तक कि मधूलिका अपने हृदय के क्रांतिक प्रेम को भी राष्ट्रप्रेम के आगे ठुकरा देती है। अरुण से वह प्रेम करती है, अरुण मगध का निर्वासित राजकुमार

१- प्रसाद : आंधी ;, पृ० १४५-

अब एक विद्रोही के रूप में है। वह कौशल के दुर्ग पर आक्रमण करके एक नये राज्य का संस्थापन करने के चक्र में है। मधूलिका के सामने रानी बनने का एक बहुत बड़ा प्रलोभन है। सम्राट कोई अन्य नहीं, उसका ही प्रेमी अरुण बनने वाला है, किंतु वह इस प्रलोभन को बड़े ही निर्लिप्तभाव से ठुकरा देती है, और वह कौशल के महाराज को अरुण द्वारा किये जाने वाले षड्यंत्र का गुप्तरूप से समाचार दे देती है। कर्तव्य और राष्ट्र-प्रेम वैयक्तिक और आत्मिक प्रेम के स्पंदनों के आगे विजयी हो जाते हैं।

मधूलिका का यह व्यक्तित्व कहानी का एक मार्मिक तत्व है। उसने कौशल के महाराज की ओर से किसी पुरस्कार के प्राप्त करने के प्रलोभन में षड्यंत्र का भेदन नहीं किया था, उसमें कर्तव्यनिष्ठा और राष्ट्र प्रेम इतना प्रबलरूप से विद्यमान था कि, अपने हृदय के समूचे भावुक स्पंदनों को दबाकर भी अन्तत: उसने अपने कर्तव्य का निर्वाह करने का मार्ग अपनाया।

मधूलिका के प्रेम का तीसरा किंतु सबसे सशक्त और संवेदनशील पक्ष है, कुमार अरुण के प्रति उसका समर्पणाकार अनुराग। वह अपने आपमें और कुमार अरुण में, कुछ अंतर मानती है, और कुमार को " मंदमभिलाषी "[१] कहकर उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान कराती है और अपने को " पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली बालिका "[२] कहती है, किंतु हृदय की अनुरागवृत्ति प्राय: समाज के इस वर्गभेद को अपने ऊपर मान्य नहीं समझती। प्रेम के निश्छल साम्राज्य में धनी कौन? गरीब कौन? राजा कौन? प्रजा कौन?

मधूलिका सर्वप्रथम अरुण का अपमान कर देती है, और अपनी भूमि से अधिकार छीने जाने पर अरुण द्वारा किये जाने वाले प्रणय निवेदन का उपहास करती है, वह कहती है -" यह रहस्य मानव हृदय का है मेरा नहीं। राजकुमार नियमों से यदि मानव हृदय होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक बालिका का अपमान करने न आता।"[३]

१- प्रसाद : आंधी ; पृ० १५७
२- वही ,, ; पृ० १५७ -
३- वही ,, ; पृ० १५७ -

प्रसाद ने चंपा और बुद्धगुप्त के बीच जिस प्रेम के संवेदन की कल्पना की है उसमें मिलन के क्षणों की कमी नहीं है। कहानी का आरंभ ही संयोगजनित प्रेम से होता है, और एक टीसयुक्त स्वैच्छया वियोग में कहानी का अंत हो जाता है, किंतु पुरस्कार कहानी का मधूलिका के हृदय का प्रेम एक ऐसे संयोग से आकस्मिक रूप में उत्पन्न होता है, जिसमें बहुत कुछ स्पर्श-पुलक, रोमांच, आलिंगन आदि के लिए कोई अवसर नहीं। मात्र स्मृतियों का भावुक और मदिर गठबंधन मधूलिका के आकुल प्राण का अटूट गठबंधन बन जाता है। अरुण उसके जीवन में वापस भी आ जाता है। मधूलिका उसके साथ ही रहने लगती है। अरुण एक मोहक स्वप्न का विधायक बनता है, और मधूलिका की आँखों के सामने महारानी बनने का वैभव लहलहाने लगता है। किंतु वह प्रेम ही क्या जो महानतर कर्तव्यों और आस्थाओं पर घातक बनकर आवे? मधूलिका अरुण से प्रेम करती है, और उसकी विद्रोहावस्था में भी वह उससे उतनी ही अनन्यता के साथ प्रेम करती है, किंतु इस प्रेम के नाते वह अपने राष्ट्र के प्रति किये जाने वाले कर्तव्य को तिलांजलि नहीं दे देती। वह वह अरुण के षड्यंत्र की सूचना कौशल के महाराज को दे देती है, और जब पुरस्कार प्राप्त करने का समय आता है तो वह एक बहुत ही विलक्षण, मर्मस्पर्शी, रोमांचकारी और आदर्शयुक्त पुरस्कार माँगती है - यदि प्रेमी अरुण को प्राणदंड मिलता है तो वह वही प्राणदंड अपने लिए पुरस्काररूप में प्राप्त करेगी। वह अपने आपको राष्ट्रप्रेम से गौरवान्वित रखने के आशय से दंड और पुरस्कार के अवसर पर अरुण से भिन्न नहीं व्यक्त करती। वह यह प्रकट कर देती है कि राष्ट्र के प्रति उसका जो कर्तव्य था, उसने पूरा किया, किंतु वैयक्तिक प्रेम के प्रति वह किसी प्रकार से उदासीन हो ऐसी बात नहीं है। कर्तव्य और प्रेम का यह एक ऐसा समन्वय है जिसका पूरा निर्वाह प्रसाद जी की लेखनी कर सकी है।

नारी और यौन- भावना -

पिछले अध्याय में हमने प्रसाद द्वारा प्रस्तुत किए हुए प्रेम के महान् आदर्श

को देखा और उनके साहित्य में चित्रित उन नारी पात्रों के व्यक्तित्व की भी परीक्षा की, जिनमें प्रसाद ने अपने पावन, एकनिष्ठ, तन्मय और समर्पित प्रेम की व्याख्या प्रस्तुत की है। उन आदर्श प्रतीकों को और भी समुज्ज्वल बनाते हुए वे नारी पात्र हमारे सामने आये हैं जो केवल मांसल सीमाओं में ही परस्पर आकर्षण की अभिव्यक्ति मानते हैं। प्रसाद प्रेम और यौन भावना में एक मूलभूत अंतर मानते हैं। प्रेम एक उदात्त अनुभूति है, यौन - भावना एक पशुवृत्ति है, अर्थात् मानवता का अपमान। तन और मन भौतिकता की चरम अभिव्यक्ति है। रागात्मक हृदयतत्व से जब ये नितांत अछूते रह जाते हैं, तो वह आकर्षण प्रेम न होकर केवल यौन आकर्षण रह जाता है। रति स्थायी-भाव की यह अत्यंत स्थूल और भोंड़ी अभिव्यक्ति होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके अंतर्गत, इसके साथ अनेक मनोभावों का विकास होता है, जैसा कि " गीता " में कहा गया है

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।[1]

अर्थात् जब इन्द्रियाँ वश में नहीं होती, तभी विषयों की कामना उत्पन्न होती है। और काम में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक, तथा बुद्धि का नाश और तदनंतर श्रेय साधन से पतन।

प्रसाद की मागन्धी, कामना, साम्यवती, विजया, अनंतदेवी, सुरमा, कमला आदि नारी पात्रों की यही कहानी है। उनके व्यक्तित्व में समर्पण और त्यागमय प्रेम नहीं, वरन् इन्द्रिय लोलुप कामवृत्ति की प्रधानता है। यह कामवृत्ति रूप के के मद को जन्म देती है, ईर्ष्या और अहंकार में प्रकाश पाती है, क्रोध, प्रतिहिंसा और छल में विकसित होती है, निर्लज्जता, प्रगल्भता, क्रूरता, दु:साहस और घोर स्वार्थ इसके गुण हैं, अतृप्ति और चंचलता इसकी विशेषता है। इसमें नारीत्व नितांत नारीत्वहीन हो जाता है। उसका वात्सल्य भाव तक अपमानित होता है, और उसका स्थान लेते हैं, मदिरापान और

१- गीता, अध्याय २ ; श्लोक नं० ६२, ६३।

धनलोलुपता। नारी की इस प्रकार की मानसिक संरचना उसके परिवेश को अमंगल से क्षुब्ध करती है, और श्रेय की ओर ले जाती है। किंतु प्रसाद का विश्वास है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति नारी हृदय का नैसर्गिक गुण नहीं है। हृदय की रिक्तता से आरम्भ होकर जब वह रिक्तता की अनुभूति में समाप्त होता है, तभी भूल का बोध होता है, और तब आता है परिताप और हृदय परिवर्तन। प्रसाद के अधिकांश यौनवासनाग्रस्त नारी पात्रों की अंतिम निष्कृति परिष्कार में ही हम पाते हैं।

नारी व्यक्तित्व के इस स्खलन का उत्तरदायित्व सदा उस पर ही नहीं होता, वरन् प्राय: समाज पर ही होता है, जो उसे वेश्यावृत्ति की ओर झुका देता है।

मागन्धी -

मागंधी एक ऐसी ही पात्र है, सर्वप्रथम वह अपने रूप की ओर गौतम को लुभाना चाहती है, किंतु गौतम के मन में इस रूप सौंदर्य की ओर कोई आकर्षण नहीं जगता, मागंधी झुंझलाकर कहती है - "इस रूप का इतना अपमान। सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ।"[1]

प्रतिहिंसा की ज्वाला में वह उसी रूप सौंदर्य के प्रलोभन का पाश उदयन के ऊपर फेंकती है। वासना, वासना ही है, उसका परिणाम अतृप्ति और असंतोष ही मिलता है। मागन्धी को उदयन के यहाँ भी यही मिला। उसके हृदय की ज्वाला बुझ न सकी यथा - "यहाँ मैं रानी हुई, फिर भी वह ज्वाला नहीं गई; यहाँ रूप का गौरव हुआ, तो धन के अभाव में दरिद्र कन्या होने के अपमान की यंत्रणा में पिस रही हूँ।"[2]

मागंधी वासना की जलन को शांत करने के लिए आसव पीना आरंभ करती

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ३८।

२- वही : ,, ; पृ० ३८।

है, किंतु आग से आग की लपटों का बुझना संभव कहाँ। वह गौतम को बता देना चाहती है कि " गौतम यह तुम्हारी तितिक्षा कहाँ से आयेगी, यह तुमने कभी न विचारा कि सुंदरी स्त्रियाँ भी संसार में अपना कुछ अस्तित्व रखती हैं, अच्छा देखें तो कौन बड़ा रहता है।"[१]

प्रसाद जी इस तथ्य को भली भाँति स्वीकार करते हैं, कि वासना की उद्दाम प्रवृत्ति सफलता के क्षणों में अहंकार वृत्ति को अपनाती है और विफलता के क्षणों में प्रतिहिंसा वृत्ति को धारण कर लेती है। प्रतिहिंसा की भावनाओं से युक्त नारी बड़े से बड़ा अनर्थ कर सकने में समर्थ होती है। इसी प्रकार अहंकार वृत्ति की प्रबलता से युक्त नारी स्वयं के लिए और दूसरों के लिए पतन का मार्ग खोल देती है। मागन्धी में अहंकार और प्रतिहिंसा दोनों - एक साथ जग पड़ी हैं। वह उदयन को अपने माया पाश में जकड़े हुए उसे एक भुलावा देती है किंतु उसकी अतृप्ति उसे भीतर ही भीतर कचोटती रहती है। वह गौतमकी उपदेश की धज्जियाँ का एक स्वांग "[२] करती है और कहती है " स्त्रियों के मंदिर में उपदेश क्यों हो - क्या उन्हें पातिव्रत छोड़कर किसी और धर्म की आवश्यकता है?"[३] इस प्रकार के दम्भ गर्व का प्रभाव भी विषपूर्ण है। उदयन भी यह आभास पा लेता है कि " ---- मैं देखता हूं कि मदिरा के पहले तुमने हलाहल मेरे हृदय में उड़ेल दिया ----"।[४]

मागन्धी का उदयन के संबंध में जो व्यवहार है, वह भी छलपूर्ण है। वह क्षणिक तृप्ति को ही सब कुछ मान लेती है वह कहती है - " यही तो मैं भी चाहती हूं कि मेरी मूर्च्छना में मेरे प्राणनाथ की विश्व मोहनी वीणा झनकारिणी हो, हृदय और तंत्री एक होकर बज उठे, विश्व भर जिसके सम पर सिर हिला दे

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ३८।

२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ४१।

३- प्रसाद : ,, ; पृ० ४१।

४- प्रसाद : ,, ; पृ० ४२।

और पागल हो जाय ।"[1] वासना का इतना संमोहन और उसके आकर्षण का इतना व्यापक विस्तार अनियंत्रित यौवन भावना के ही उद्गारों का परिणाम है । यही कारण है कि मागन्धी के संगीत में शरीर का ताप है, हृदय की तृप्ति नहीं । वह प्रियतम से तन और मन की तपन बुझाने का एक आग्रह करती है -

> तपन बुझे तन की औ मन की, जो हम-तुम पल एक न न्यारे
> आओ हिय में अहो प्राण प्यारे ।।[2]

मागन्धी अपने अहं स्वार्थ के संकुल रूप में नारीत्व को भूल जाती है । जीवन का अस्तित्व उसके सामने केवल अबाध विलास में दिखाई पड़ता है । इन लालसाओं की पूर्ति के लिए वह क्रूरता करने में भी नहीं हिचकती । वह कहती है इस विलास की पूर्ति के लिए यदि उसे कितनी ही कलियों को कुचलना पड़े, कितनों ही के प्राण लेने पड़े, उसे कोई चिंता नहीं, वह पुरुषों को कुचल देने में ही सुख का अनुभव करती है ।[3]

इस प्रकार मागन्धी एक रूप गर्विता और रूपलोलुप नारी है । नाटक में उसे वेश्या रूप में चित्रित किया गया है । इसी रूप - धन और ऐश्वर्य के दंभ के कारण ही उसका पतन होता है ।

कामना -

कामना नाटक में कामना जब भावुकता का सहारा छोड़कर पार्थिव क्षेत्र में उतरती है तो उसमें एक निरंतर बनी रहनेवाली अतृप्ति होती है । अतृप्ति में प्रेम की एकनिष्ठता का खंडन होता है । कामना की तरलता कभी गतिशून्यता नहीं चाहती, नित्य नूतन प्राप्तियां, नित्य नूतन अनुभूतियां और फिर नित्य-नूतन अभिलाषाएं, यह एक स्वाभाविक गति है, जिसे कामना धारण करती है । कामना नाटक में स्वयं प्रतीकात्मक नारी - पात्र कामना कहती है - " यह मुस्कराते

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ५२ -
२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ५३ -
३- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ७५ -

हुये पुष्प, ऊंह कलियां - चुनो उन्हें गूंथो और सजाओ, तब कहीं पहनो। हो इन्हें कुम्हलाने में भी देर नहीं लगती ---- सुगंध और रुचि के बदले इनमें एक दबी हुई गर्म सांस निकलने लगती है ----"[1]

कामना निरंतर अतृप्ति में उलझी रहती है। वह अपने आपको अपना विश्लेषण करती है और कहती है - " मैं क्या चाहती हूं जो कुछ प्राप्त है उससे भी महान्। वह चाहे कोई वस्तु हो। हृदय को कोई करोद रहा है। कुछ आकांक्षा है; पर क्या है ? इसका किसी को विवरण नहीं देना चाहती। केवल वह पूर्ण हो, और वहां तक, जहां तक कि उसकी सीमा हो। बस - "[2]

कामना की यह लालसा न तो शुद्ध सात्विक प्रेम के अंतर्गत आती है; न भौतिक पार्थिव वस्तुओं की प्राप्ति तक ही, किंतु अवश्य ही वासना की उस उत्प्रेरणा तक आती है जहां यौन भावना मुखर है। कार्लीगुफा में नारी की - असीम और अतृप्त कामनाओं का एक चित्र अंकित है। यह चित्र व्यक्त करता है, कि कामनायें कितनी स्वर्णिम और कितनी प्रलोभनकारी होती हैं। नारी उसका प्रतिनिधित्व करती है, पुरुष उसका अनुगमन करता है। कामना का रूप, चित्रण करने में संभवत: प्रसाद ने उपर्युक्त चित्र को ही अपनी कल्पना का आधार बनाया होगा।[3]

प्रसाद जी इस उच्छृंखल यौन भावना को समाज के लिए हितकर नहीं मानते थे। उन्होंने स्थान - स्थान पर कठोर अंकुश देकर वासनाजनित उच्छृंखलताओं को रोकने का यत्न किया है। वे वनलक्ष्मी के मुख से कहलाते हैं - " अच्छी वस्तु तो उतनी है जितनी कि स्वाभाविक आवश्यकता है।"[4] यौन भावनाओं को

१- प्रसाद : कामना ; पृ० ८, ९।

२- प्रसाद : कामना ; पृ० ११।

३- Joseph Compbell: The art of Indian Asia, Plate No.82-83.

४- प्रसाद : कामना ; पृ० १६।

अतृप्ति मानव समाज के लिए अनेक अभावों का सृजन करती है। यह अभाव जीवन को जटिल बना देते हैं, इससे जो ज्वाला उत्पन्न होती है वह " सोने के रूप में सबके हाथों में खेलती और मदिरा के शीतल आवरण से कलेजे में उतर जाती है। कामना की तरंगों में जो अतृप्ति है वह प्रेम का प्याला तृप्ति नहीं कर सकता। जीवन के पात्र को प्रेम का अमृत पूरित नहीं कर सकता, उसे किसी लाला की आवश्यकता है। उसे आंखों में कोई ऐसी सृष्टि विकसित करनी है, जिसमें अनकही आकर्षण हो, मादकता हो, मन मतवाला होकर झूम उठे। कामना के संगीत में यही स्वर है - " भर ले जीवन-पात्र में यह अमृतमयी लाला।

सृष्टि विकसित हो आंखों में, मन हो मतवाला।

एक अभिलाषा पूरी नहीं होती कि दूसरी उठ खड़ी होती है। कामना द्वीप की रानी तो बन जाती है, किंतु विलास की पत्नी न बन सकने का उसे क्षोभ है। कामना की प्रगल्भता बढ़ती जाती है - " जैसे खिले हुए ऊंचे कदंब पर वर्षा के यौवन का एक सुनील मेघखंड छाया किये हो। कैसा मोहन रूप है ----।"[1]

अंत में उसे वासना की निस्सारता का ज्ञान होता है और विलास के यह पूछने पर कि स्त्रियों के पास होता क्या है? कामना एक पराजिता नारी की भांति कहती है - " कुछ नहीं, अपना सब कुछ देकर ठोकरें खाना! उपहास का लक्ष्य बन जाना।"[2]

<u>श्रद्धा -</u>

जहां प्रसाद जी ने अपने नारी पात्रों में यत्रतत्र वासना और यौन भावना की प्रगल्भता का अनुमान किया है, वहां श्रद्धा में उन्होंने वासना और यौन भावना के प्रति एक भयंकर क्रांति को भी देखने की कल्पना की है। मनु सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं, सारस्वत प्रदेश का राज्य और प्रजा सभी उनके शासन में काम

१- प्रसाद : कामना ; पृ० ५६ -

२- प्रसाद : कामना ; पृ० ७१ -

करने लगते हैं, किंतु उनके मन की एक ज्वाला शांत नहीं होती। वे इड़ा को भी प्राप्त करना चाहते हैं - इसी उद्देश्य से प्राप्त करना चाहते हैं कि फिर किसी अभाव का कोई अनुभव न हो, किंतु इड़ा के नारीत्व में उस भावना के प्रति एक प्रबल क्रांति छिपी होती है। उसकी पीड़ा सारस्वत प्रदेश की पूरी प्रजा की पीड़ा बन जाती है, और मनु को अपने ही हाथों से स्थापित किये हुए राज्य को छोड़कर पलायनवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है।

यौन - भावना का सबसे अधिक प्रगल्भ और नग्न सामाजिक रूप वेश्या-वृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। यह वृत्ति किसी न किसी रूप में समाज में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। प्राचीन भारत में उन्हें नगरवधू के रूप में सम्मान प्रदान किया जाता था। वैशाली की नगरवधू इसके लिए श्रेष्ठतम प्रमाण है। आरंभ में नगरवधू के व्यक्तित्व में जो कलात्मकता, विदग्धता, सामाजिक आदर्शों की श्रेष्ठता हुआ करती थी, उसका ह्रास हुआ। वेश्याएं केवल गंदली नालियों की भांति वासनापूर्ति का साधन बन गयीं। वेश्यावृत्ति का सामाजिक आधार ही यौन - पिपासा की पूर्ति है; यद्यपि वैवाहिक संबंधों के मूल में भी उद्देश्य प्राय: समान ही हुआ करता है, किंतु वैवाहिक संबंध एक प्रकार से धार्मिक और सामाजिक नियमों की मान्यताओं में बंधकर एक शिष्ट रूप में आगे की संतति के सृजन और संरक्षण की व्यवस्था करता है, किंतु वेश्यावृत्ति केवल क्षणिक उद्वेगों की दैहिक लालसाओं की पूर्ति हेतु शमन कर लेने के उद्देश्य से व्यवस्थित होती है। यह वृत्ति अनेक कुत्सित वासनाओं को उद्दीप्त करती है। प्रसाद जी इस वृत्ति के वासनात्मक पक्ष के विरोधी थे। जहाँ वेश्यावृत्ति करनेवाली नारी पात्रों में उन्होंने कलात्मकता देखी है, वहाँ तक वे उन्हें पूरा सम्मान देने में नहीं चूके हैं, किंतु जहाँ केवल यौन लालसाओं की पूर्ति ही उद्देश्य रहा है, वहाँ उन्होंने उस पात्र की भर्त्सना भी प्रकारांतर से की है, और अंत में उसे पश्चात्ताप के लिए एक अवसर भी दिया है।

सालवती -

सालवती वैशाली की एक ऐसी ही सर्वश्रेष्ठ सुंदरी वेश्या है। प्रसाद जी ने सालवती के माध्यम से अन्य सभी वेश्याओं के संबंध में एक प्रश्न किया है - और प्रश्न है -

" इनका कौमार्य, शील और सदाचार खंडित है, इसके लिए राष्ट्र क्या व्यवस्था करता है ?"[1]

सालवती " वैशाली की सौंदर्य लक्ष्मी " है। उसमें अपने सौंदर्य पर एक अभिमान किया है। सौंदर्य की पुतली सालवती अपने रूप और यौवन की प्रशंसा सुनकर वैशाली के वसंतोत्सव अनंग पूजा की अधिष्ठात्री देवी बन जाती है। एक तो धवलयश के वंश में उत्पन्न होने का अभिमान, दूसरी ओर वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी होने का दर्प दोनों मिलकर सालवती को माननीय बना देते हैं। उसके सर्वश्रेष्ठ सुंदरी चुने जाने के उपरांत अभय कुमार उससे पाणिपीड़न का निवेदन करता है, किंतु सालवती अपने रूप, गर्व में मतवाली होकर भौंहे टेढ़ी कर लेती है। जिस प्रसाद ने प्रेम के मार्ग में विवाह को अनावश्यक माना था, वही मात्र वासनात्मक प्रवृत्ति से वशीभूत विवाह को अस्वीकृत नहीं मानते।

सौंदर्य की रत्नराशि, जिसने कुलवधू बनना अस्वीकार कर दिया था, संघ के निर्णय पर वेश्या बनना स्वीकार कर लेती है। सालवती का मन दो अशांत किनारों के बीच टकराता दिखाई पड़ता है। कभी वह सोचती है - " पिता हिरण्य के उपासक थे। स्वर्ण ही संसार में प्रभु है, स्वतंत्रता का बीज है। यह १००स्वर्ण मुद्राएँ उसकी दक्षिणा हैं, और अनुग्रह कोई नहीं। तिस पर इतनी संवर्धना। इतना आदर ? दूसरे क्षण उसके मन में यह बात खटकने लगती है कि वह कितनी दयनीया है, जो कुलवधू का अधिकार उसके हाथ से छीन लिया गया

१- प्रसाद : सालवती ; पृ० १३८।

और उसने ही तो अभय का अपमान किया था। किसलिए? अनुरूप न होने का अभिमान। तो क्या मनुष्य को प्राय: वही करना पड़ता है जिसे वह नहीं चाहता -----"[1]।

संकल्प और विकल्प की मारी हुई सालवती अन्तत: रूपगर्विता के रूप में ही प्रकट हुई। उसके जयघोष के साथ ही साथ चरणों में उपहार के ढेर लग गये और वह अनंगपूजा के स्थान पर ठीक वैसे ही जा पहुँची जैसे अपराधी वध्य स्थल की ओर जाया करता है।

प्रसाद ने अन्य स्थलों पर, जहाँ सौंदर्य पूजा की बात आई है "वसंतोत्सव" की चर्चा की है। किंतु इस कहानी में इस उत्सव को उन्होंने स्पष्टत: अनंगपूजा का नाम दिया है। एक तो खुले रूप में सौंदर्य की होड़ में रूपगर्विता युवतियों का भाग लेना, फिर उसमें विजयिनी होने पर सामूहिक रूप में उसे वारवनिता का रूप प्रदान किया जाना, फिर अनंगपूजा, फिर कुलपुत्रों का आकर चरणों में भेंट समर्पित करना, सभी कुछ एक ऐसे वातावरण का सृजन करता है, जिसमें केवल नारी के शारीरिक सौंदर्य, सौंदर्य के भूखे कुलपुत्रों के बाज़ार में बिकने को, बिकने को ही क्यों, टूट - टूटकर बालू - विदालत होने के लिए खड़ा है। वेश्यावृत्ति के इस आरंभ में भी एक तथाकथित सिद्धांत छिपा हुआ है, और वह सिद्धांत है - समता का सिद्धांत। वैशाली अपनी लोकतंत्रात्मकता के लिए प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध है। वहाँ प्रत्येक नागरिक को समता का अधिकार प्राचीन काल से ही दिया जाता था। जब भौतिक सभी सुखों और संपत्तियों पर सबको समान अधिकार प्राप्त होता है तो फिर वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी पर सबका समान रूप से अधिकार क्यों न हो? मणिधर इस दावे को इस प्रकार प्रस्तुत करता है - " आज तक हम लोग कुलपुत्रों की समता का स्वप्न देखते हैं। उनके अधिकार ने संपत्ति और स्वार्थों की समानता की रक्षा की है। तब क्या उचित होगा कि यह सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य किसी एक के अधिकार में दे दिया जाय? मैं चाहता हूँ कि राष्ट्र

१- प्रसाद : सालवती ; पृ० १२८।

ऐसी सुंदरी को स्वतंत्र रहने दें और अनंग की पुजारिन अपनी इच्छा से अपनी एक रात्रि की दक्षिणा १०० स्वर्णमुद्राएं लिया करे।"[१] मानो सौंदर्य भी कोई पार्थिव संपत्ति हो, जिसे उसके सभी भागीदार समान रूप से बांटने के लिए लालायित खड़े हों। सौंदर्य का यह बंटवारा खुले आम पूर्ण उद्घोषणा से किया जाता है। जिसमें नारी बिक्री की वस्तु हो गयी है। रूप, यौवन और मदिरा का बाजार और साम्राज्य छा जाता है, किंतु अभी सालवती के मन में एक टीस बनी हुई है और वह टीस है - " सालवती का मान जैसे अभय कुमार को पदावनत किये बिना कुचला जा रहा था। वह उस दिन की स्नावती पर आज अपना पूरा अधिकार समझती थी ----"[२]।

सौंदर्य की भावुक उपासना अनंग पूजन की नग्न- साधना के समक्ष टूट - टूट कर बिखर जाती है। सालवती सौंदर्य और कला की देवी मात्र नहीं रह जाती। वह अब मात्र अप्सरा रह जाती है, और ऐसी अप्सरा जिसके जीवन में उसके सौंदर्य का मेल करनेवाले आते हैं, सौदा करते हैं, और अंत में मणिधर उसकी सौंदर्य तृष्णा को बिल्कुल ही अवरित कर जाता है। मणिधर का रक्त सालवती के शरीर में एक नये जीव का सृजन करने लग जाता है।

प्रसाद ने सालवती के माध्यम से एक ऐसी भी नारी की कल्पना की है, जो मातृत्व को अभिशाप मानती है। वह अपने गर्भ में नवजात बच्चे के आगमन का आभास पाकर भी अपने हृदय में मातृत्व के किंचित स्निग्ध भावों के अंकुरण का अनुभव नहीं करती। किसी भी सजग नारीत्व के अभाव,संभवत: पतन की यह एक अंतिम पराकाष्ठा है, और इस विपर्यय के लिए दोषी है, वह समाज जिसने सौंदर्य को स्वर्ण - राशि के पलड़े पर तौलकर नारी को अपनी वासना की दासी बना रखा है। इस वासना की पूर्ति के मूल में एकमात्र प्रवृत्ति यौनजनित पिपासाओं की तृप्ति है।

सालवती की प्रेमनिष्ठा की शून्यता की सीमा यहाँ है, कि उसे इसी

१- प्रसाद : सालवती ; पृ० १२८।

२- प्रसाद : सालवती ; पृ० १३०।

इसी बात में सुख मिलता है कि उसके चरणों में अनेक संभ्रान्त लोग सर झुकाते हैं। यहाँ उसकी अहंभावना जागृत हो जाती है। यही कारण है कि मणिधर जो इसके जीवन में इतनी दूर तक प्रवेश कर जाता है, उसके लिए भी सात्वती स्मृतियों का साज सजाना अपने लिए एक अपमान की बात समझती है, और अपने आपसे पूछती है "क्या मणिधर के लिए दुखी होना मानसिक परतंत्रता का चिन्ह है, जिसे वह कभी स्वीकार न करेगी।"[1]

सात्वती की मुख्य चिंता इस बात पर आधारित नहीं है कि जब वह अपने बच्चे का जनन करेगी तो उसका भविष्य क्या होगा? उसे वह किसका बच्चा कहकर पुकारेगी? किसके पास उसे धरोहर रखेगी, उस बच्चे की स्नेहवंचिता होकर वह किस प्रकार एक कलंकिनी का जीवन व्यतीत करेगी? उसकी वास्तविक चिंता है - प्रसव के बाद उसके सौंदर्य का क्या होगा? उसका सर्वश्रेष्ठ सुंदरी के रूप में जो एकाधिकार फैला हुआ है उसका क्या होगा? मणिधर को वह बड़े ही उच्छृंखल रूप में कोसती है - "रूप ज्वाला के शलभ! तुम्हें तो जल मरना था। तो उस अपराध का दंड मिला। और मैं स्वतंत्रता के नाम पर जो भ्रम का सृजन कर रही थी, उसका क्या हुआ! मैं लाञ्छन को विलाँगनी। आज मेरा सौंदर्य कहाँ है? और फिर प्रसव के बाद क्या होगा?"[2] सौंदर्य का मिथ्या अभिमान और यौन वासनाओं का अनियंत्रित विलास नारी को पतन के किस गर्त तक ले जाकर गिराता है, उसका एक प्रबल प्रमाण यहाँ देखने को मिलता है। जैसे हृदय के सारे ममता स्रोत सूखकर सिकता कण के रूप में बदल गये हों और मरुस्थल की धू-धू करती हुई आँधी कभी बालू के कणों का पहाड़ इकट्ठा कर देती हो और कभी चमकती हुई किरणों के संघात से बालुकाराशि मृगजल उत्पन्न कर कितनों को पथ भूलने के लिए अपनी ओर लालायित कर रहा हो।

पतन की इस पराकाष्ठा में सात्वती जब अपने को अभयकुमार से तिरस्कृत

१- प्रसाद : सात्वती ; पृ० १३ -

२- प्रसाद : सात्वती ; पृ० १३३।

पाती है तो फिर उसका सौंदर्य दर्प जाग उठता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे सब कुछ प्राप्त करते हुए भी वह संसार की सर्वाधिक दीन-हीन नारी है। प्रेम में नारी भिखारिणी होकर भी संपन्न, किंतु वासना में सब कुछ प्राप्त कर भी अभावग्रस्त रिक्त रह जाती है। वह इस वितृष्णा में अपने सारे श्रृंगार के उपादान शरीर से उतारकर फेंक देती है, धरती पर लोटने लगती है, और मालूम पड़ता है जैसे " वसुधा पर सुकुमार यौवनलता सी वह जैसे निरवलंब पड़ी हो। "[1] आज जैसे उसने यह अनुभव किया कि नारी का अभिमान अकिंचन है। वह मुग्धा विलासिनी अभी - अभी संसार के सामने अपने अस्तित्व को मिथ्या माया, सारहीन समझ कर आई थी।"[2]

साल्वती के हृदय में अधम वृत्तियों का एक पुंज कहीं से आकर प्रवेश कर गया है। बच्चे को जन्म देने के उपरांत, वह बिना किसी ममता के आंसू बहाये बच्चे को उसके भाग्य पर छोड़ देती है और स्वयं अपने सौंदर्य संरक्षण की साधना में लीन हो जाती है। ८ साल बाद फिर वह समाज के सामने आती है, और आती है पुन: सौंदर्य के बाजार में अपने सौंदर्य को सर्वश्रेष्ठ कहलाने की भौतिक भावना सहित। यहां उसके हृदय में क्रूरता की प्रवृत्ति का समावेश हो गया है।

यहीं से प्रसाद ने संभवत: यह अनुभव किया हो कि वे साल्वती के माध्यम से किसी भी वेश्या के हृदय को बहुत ही कठोर आघात पहुंचा रहे हों। साल्वती को यह आभासित हो जाता है कि वेश्यावृत्ति स्त्री जाति के लिए सर्वाधिक जघन्य कार्य है, वह सौंदर्य प्रतियोगिता में विजयिनी होकर भी उद्घोष करती है कि चाहे उसे स्वयं जो भी दंड दिया जाये, किंतु " अकल्याणकर और पराजय का मूल्य इस अमानव नियम को जो अभी थोड़े दिनों से वज्जिसंघ में प्रचलित है, बंद करना चाहिये।"[3] वह कहती है - " जिसकी प्रसवरात्रि में

१- प्रसाद : साल्वती ; पृ० १३२ -
२- वही ,, ; पृ० १३२ -
३- वही ,, ; पृ० १३८ -

ही उसकी मानिनी मां ने हज्जारपिंड की तरह अपनी सौंदर्य की रक्षा के लिए फेंक दिया था।"[1] वह एक शुद्ध हृदया नारी की भाँति अपने बच्चे की मां बनना स्वीकार कर लेती है और एक निर्विकार प्रणयिनी की भाँति अभयकुमार का हाथ भी अपने हाथों में ले लेती है। यही उसकी निष्कृति है।

चूड़ीवाली -

" चूड़ीवाली " पच्चीस वर्ष की एक गोरी छरहरी स्त्री है, उसकी कलाई जैसे सचमुच चूड़ी पहनाने के लिए ढली थी।" पान से लाल पतले-पतले होंठ दो तीन वक्रतावों में अपना रहस्य छिपाये हुये थे। उन्हें देखने का मन करता, देखने पर उन सलौने अधरों से कुछ बोलवाने का जी चाहता। बोलने पर हंसाने की इच्छा होती, और उस हंसी में शैशव का अल्हड़पन, यौवन की तरावट और प्रौढ़ा की सी गंभीरता बिजली के समान छा जाती।[2]

चूड़ीवाली के इस सौंदर्य में ही एक आकर्षण है जो यदि अन्य किसी को नहीं तो कम से कम सरकार को अपनी ओर अवश्य आकृष्ट कर लेता है, किंतु वह चूड़ी कम पहनाती है, अपने आपको सरकार के सान्निध्य में अधिक ले आने का प्रयत्न करती है। बहूजी के मज़ाक पूछने पर - " आजकल दूकान पर ग्राहक बहुत कम आते हैं क्या ? " तो वह प्रगल्भ शब्दों में कह देती है " बहूजी आजकल खरीदने की धुन में हूं, बेचती हूं कम।"[3]

चूड़ीवाली अपने नाम के अनुसार गुण-धर्म से भी युक्त है। उसका विलासिनी नाम उसके नर्तकी रूप के लिए पूर्ण सार्थकता का आधार प्रस्तुत करने लगा। यद्यपि उसका जीवन सुख विलास में बीता था, और उसके यहाँ वैभव की कोई कमी न थी, फिर भी - " विलास और प्रमोद का पर्याप्त संभार

१- प्रसाद : शरणागत ; पृ० १३ -
२- प्रसाद : चूड़ीवाली ; पृ० १२८ -
३- प्रसाद : चूड़ीवाली ; पृ० १२७ -

मिलने पर भी उसे संतोष न था। हृदय में कोई अभाव खटकता था, वास्तव में उसकी मनोवृत्ति उसके व्यवसाय के प्रतिकूल थी।"[१]

प्रसाद ने अपने साहित्य में नारी प्रेम के प्रश्न पर कई प्रकार के प्रयोग किये हैं। जहाँ अनेक स्थलों पर उन्होंने स्वच्छंद प्रणय संबंधों का समर्थन किया है, वहाँ विलासिनी के हृदय में यही स्वच्छंद प्रणय संबंध एक काँटे की तरह खटकने लगता है, और प्रसाद जी विलासिनी के हृदय में दांपत्य सुख के स्वर्गीय स्वप्न की आकांक्षाओं का संचार कर देते हैं। बारवनिता समाज के सुखोपभोग की सामग्री भले ही हो, किंतु प्रकट रूप में उसे दांपत्य सुख पाने का अधिकार कहाँ? इसीलिए प्रसाद जी के शब्दों में - " परंतु समाज उसे हिंस्र पशु के समान भयंकर था। उससे आश्रय मिलना, असंभव जानकर विलासिनीने छल के द्वारा वही सुख लेना चाहा, यह उसकी सरल आवश्यकता थी, क्योंकि अपने व्यवसाय में उसका प्रेम क्रय करने के लिए बहुत-से लोग आते थे, पर विलासिनी अपना हृदय खोलकर किसी से प्रेम न कर सकती थी।"[२]

साहचर्य में प्रसाद जी ने हृदय की स्वाभाविक निष्ठा को समाज की यौनपिपासा के समक्ष विकीर्ण कर दिया था, किंतु विलासिनी के प्रसंग में वे समस्त बाह्य विलासजनित सुखों को संतुष्ट करने के प्रयत्न में सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं। दांपत्य सुख उसके लिए एक सरल आवश्यकता मानकर वे उसे सरकार के रूप, यौवन और चारित्र्य के प्रलोभन में कुंठित कर देते हैं। वस्तुत: वह विलासिनी चूड़ीवाली न थी। वह तो बारवनिता होती हुई भी विजयकृष्ण अर्थात् सरकार को अपनी आँखों में बसाये अपने चिरसंचित मनोरथ को पूर्ण करने के लिए कुछ दिनों के लिये चूड़ीवाली बन गयी थी।

विजयकृष्ण के सामीप्य में विलासिनी के हृदय का कोकिल आनंद विह्वल होकर कूक उठा। वह कहती है - " अहूं यह कूकहूंगी है। पींजरे में जी नहीं सकती।

१- प्रसाद : चूड़ीवाली ; पृ० १२६ -

२- प्रसाद : आकाशदीप ; चूड़ीवाली ; पृ० १२६ -

उसे फूलों का प्रदेश ही जिला सकता है, स्वर्ण - पिंजर नहीं। उसे खाने के लिए फूलों की केसर का चारा और पीने के लिए मकरंद - मदिरा कौन जुटायेगा[1] बहू की मृत्यु के उपरांत सरकार के मन का स्वाभिमान जाग पड़ता है और वे कहते हैं - "मैं वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ हूं।"[2]

विजयकृष्ण के चले जाने पर उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है कि यह समाज कितना क्रूर और कितना जटिल है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि उसके हृदय की सारी एकनिष्ठता और उसका समूचा त्याग संसार की आंखों में कभी शुद्ध नहीं हो सकता। वेश्या रहने का कलंक उसकी सारी पवित्रताओं पर राहु बनकर निगलने के लिए खड़ा है। प्रसाद जी एक दार्शनिक की भाँति विलासिनी के माध्यम से समाज की व्याख्या करने लगते हैं, और कठोर सत्यों का इस प्रकार अन्वेषण करते हैं - " अपना व्यवसाय और विजय की गृहस्थी बिगाड़कर जो सुख खरीदा था, उसका कोई मूल्य नहीं। मैं कुलवधू होने के उपयुक्त नहीं। क्या समाज के पास इसका कोई प्रतिकार नहीं, इतनी तपस्या और इतना स्वार्थ - त्याग सब व्यर्थ है।"[3]

अंत में चूड़ीवाली के हृदय का परिष्कार हो जाता है। वह वास्तविक रूप में अपने वेश्या धर्म को छोड़कर निश्छल साधना में लीन हो जाती है, और फिर प्रसाद जी उसे एक सफल प्रेमिका के रूप में मानते हुए, उसके हाथों को सरकार के हाथों में समर्पित कर देते हैं। उनकी मान्यता है - " सेवा ही नहीं चूड़ीवाली। उसमें विलास का अनंत यौवन है। क्योंकि केवल स्त्री पुरुष के शारीरिक बंधन में वह पर्यवसित नहीं है। वाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही उसकी सीमा नहीं, गार्हस्थ्य जीवन उसके लिए प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है इसीलिए वह प्रिय भी है और श्रेय भी है। मुझे विश्वास है कि तुम अब सफल हो

१- प्रसाद : चूड़ीवाली ; पृ० १३० ।
२- ,, ,, ; पृ० १३२ ।
३- ,, ,, ; पृ० १३२ ।

जायेगी ।[१]

यौन पिपासा का सबसे कुत्सित प्रमाण समाज में वेश्यावृत्ति का बना रहना है। इस प्रसंग में प्रसाद जी का अपना विशिष्ट विचार है। उन्होंने समाज की उन कुवृत्तियों को भली-प्रकार परखा है जिसे सौंदर्य-पिपासा के भ्रामक नाम से पुकारा जाता है, और जहां से वेश्यावृत्ति आरंभ होती है। प्रसाद जी नारी हृदय की मौलिक वृत्तियों में उदात्तता की कल्पना करते हैं, यदि कहीं अनुदात्त वृत्तियां उत्पन्न हो गई हैं, तो उसका उत्तरदायी वह समाज है जिसकी निर्बाध वासना लिप्सा उन्मत्त होकर समाज की इन भटकी हुई नारियों पर जुर्म ढाती है। वे अंत:करण से शुद्ध भी हो सकती है, उनमें सात्विक नारी भावों का उदय भी हो सकता है, उनमें भी एकनिष्ठ पत्नीत्व, मातृत्व और सहधर्मिणी का रूप उत्पन्न हो सकता है, आवश्यकता इस बात की है कि समाज उन्हें अपने आपको उदात्त-वृत्तियों में ढाल लेने का अवसर दे, उन्हें शुद्ध हृदय से अपनाये। यही कारण है कि जहां यौन पिपासा की निरंतर अतृप्ति देखी गयी है, वहां प्रसाद जी ने नारी-पात्रों में हृदय-परिवर्तन, पश्चाताप और शुद्धीकरण का समुचित अवसर सृजित कर दिया है।

प्रसाद ने अपने साहित्य में कुछ ऐसी नारियों का भी चरित्रांकन किया है, जिनका यदि विश्लेषण किया जाय तो वे अन्तत: यौन-वासना की मृग-मारीचिका मात्र ठहरती हैं। विजया एक ऐसी ही नारी-पात्र है।

प्राय: कहा जाता है कि स्त्री पुरुष से क्दापि नहीं प्रेम करती। वह उसके पुरुषार्थ से प्यार करती है। यह भी कहा जाता है कि स्त्री का मन जितना चंचल होता है, उतना ही उसका प्रेम भी अस्थिर होता है। इसी चंचलता के आधार पर स्त्री को चंचला नाम से भी पुकारा गया है। किंतु नारी के व्यक्तित्व का यह चंचला रूप ही एकमात्र रूप नहीं है। जहां कहीं स्त्री में गांभीर्य, उदात्तता, स्नेह, अपनत्व, मातृत्व, सहधर्मत्व आदि के भाव पाये जाते हैं,

---

१- प्रसाद : चूड़ीवाली ; पृ० १३४।

घटना भी बतलाती है कि उसमें प्रेम का नहीं, यौन भावना का विशेष आकर्षण है। विजया के चरित्र की दुर्बलता का प्रधान कारण है चंचलता। मृदुता, स्थिरता और विवेक बुद्धि की उसमें अतीव न्यूनता है। इसी चंचलता ने उसे व्यभिचारिणी बना दिया है। अपनी इसी चंचल वृत्ति के कारण स्कंद की राज्य से उदासीनता देखकर वह भटार्क की ओर आकर्षित होती है। वह कहती है - " उस उदार दृष्टि से तो भटार्क क्या पुरुष नहीं है ? है अवश्य। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है।"[1]

वस्तुत: विजया के संबंध में देवसेना का यह निष्कर्ष ठीक उतरता है कि " धनवानों के हाथ में माप ही एक है, वह विद्या, सौंदर्य, बल, पवित्रता और तो क्या हृदय भी उसी से मापते हैं वह माप है - उनका ऐश्वर्य।"[2]

नारी जीवन का यह ऐश्वर्य उसे विलास की ओर ले जाता है, विलास वासनामूलक होता है। वासना उच्छृंखल होती है, उच्छृंखलता में आस्था का अभाव होता है, अनास्था कभी सात्विक प्रेम की वृत्ति नहीं उत्पन्न कर सकती, यदि उत्पन्न कर सकती है तो केवल इन्द्रियजनित भोगविलास और ऐश्वर्य। स्कंदगुप्त नाटक की विजया एक ऐसी ही उच्छृंखल वासनामूलक नारी है।

विजया यहाँ तक कि उच्छृंखल वृत्तियों के संग्रह में इतनी अत्यंत व्यस्त हो गई है कि उसे संगीत में भी कोई आकर्षण नहीं दिखाई पड़ता। न वह युद्ध के क्षणों में किसी संगीत की कल्पना करती है, न प्रेम के क्षणों में। देवसेना से वह बहुत ही आश्चर्य से पूछती है " उस समय (प्रेम के क्षणों में) भी गान ----? गाने का भी रोग होता है क्या? हाथ को ऊँचे - नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर सिर को ओर से हिला देना। जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई।"[3]

विजया को देवसेना का यह तर्क भी ग्राह्य नहीं होता कि " प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है। प्रत्येक हरी - हरी पत्ती के मिलने में एक स्वर है ---- पक्षियों को देखो उनकी 'चह-चह' 'कल-कल' 'छल-छल' में काकली में रागिनी है।"[4]

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ८८ -
२- वही ,, ; पृ० ८८ -
३- वही ,, ; पृ० ५५ -

विजया का वही हृदय जो कभी स्कंदगुप्त के राजकीय प्रभाव पर आकर्षित हुआ था और फिर जो प्रपंचबुद्धि के पुरुषत्व, वीर-हृदयत्व आदि पर निछावर हुआ था आगे चलकर भटार्क का स्वेच्छया वरण कर लेता है। विजया कहती है " प्रलोभन से, भय से, धमकी से कोई मुझको भटार्क से वंचित नहीं कर सकता।"[1]

वासना की उच्छृंखलता कभी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती कि उसकी पराजय हो गई। असफलता के क्षणों में वासना प्रतिहिंसा का रूप लेती है और वह प्रतिहिंसा इतनी प्रबल होती है कि भयंकर से भयंकर विस्फोट भी कर सकने में समर्थ होती है। विजया भी जब देखती है कि अनंतदेवी उसके मार्ग में बाधक बनकर सामने आ रही है तो उसकी वासनाजनित प्रतिहिंसा प्रबलवेग से जागृत हो जाती है, और वह एक सर्पिणी की भाँति फुफकारने लगती है - " प्रणाय वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े - विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार होती है।"[2]

विजया की उच्छृंखल वृत्तियों का पतन होता है। उसका क्षणिक उद्वेग शांत होकर उसे इस बात का अनुभव करा देता है कि उसका अस्तित्व केवल एक दुर्बल रमणी का अस्तित्व रहा है। पश्चाताप की ज्वाला में जलती हुई वह अंत में कहती है - " मैं कहीं की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीलाभूमि, उधर गंभीर समुद्र। दुर्बल रमणी हृदय थोड़ी आँच में गरम और शीतल हाथ फेरने से ठंडा। क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विष उगल देना ? जिनको क्षमा की आवश्यकता है - जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुयी सहानुभूति। यह मन का विष, यह कलपने वाले हृदय की क्षुद्रता है।"[3]

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १०४ -
२- वही ,, ; पृ० १०४-
३- वही : ,, ; पृ० १०५ १०५ -

अंत में विजया के हृदय का परिष्कार हो जाता है। वह प्रायश्चित और ग्लानि की आग में जलती हुई अपने को शुद्ध कर लेती है। वह क्रांति की सूत्रधारिणी बनकर उद्बोधन की रागिनी गाने को और भारतवासियों को मुक्ति के सौभाग्य से जगाने का व्रत लेती है।[1]

अनेक परिवर्तनों के बाद भी विजया की कामनायें बनी ही रह जाती हैं, और अंत में एक असफल नारीत्व लिये स्कंदगुप्त से कहती है - " तुम्हारे लिए मेरे अंतस्तल की आशा जीवित है।[2] वह स्कंदगुप्त को पुनः एक बार अपने सान्निध्य में जीवन के ऐहिक सुखों की ओर ललकारती है, और पुनः यह टटोलने का यत्न करती है कि क्या स्कंदगुप्त के हृदय में लालसाओं का स्पंदन कहीं जीवित है वह कहती है - " क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्णा हो गई है ? आओ हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो। ---- यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मंडल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायं। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत की आंखों को थोड़े काल के लिए बंद कर रखे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराएं और इस लोक के अनंत पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य - चकित हों, वही मादक सुख, घोर आनन्द, विराट् विनोद हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय।[3] - कितना अतृप्त तथा मादक विलास विजया में अब भी छिपा है। सुखों की यह मरीचिका नारी को किस अंत तक ले जायेगी, इसकी कोई स्वाभाविक कल्पना नहीं की जा सकती। प्रसाद जी भी विजया को वासना पंक में इतनी दूर तक खींचकर उसका कोई स्वाभाविक अंत नहीं निकाल पाये हैं उन्हें विवश होकर ऐसे मादक और विलासमय व्यक्तित्व को

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १२१।

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १३५ -

३- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १३६, १३७ -

अपने ही हाथों आत्मघात करा देना पड़ा है, जितना निर्मम और अकरुण विजया का मानसादर्श था, उतना ही अकरुण और निर्मम है उसका अंत।

अनंतदेवी

'स्कंदगुप्त' नाटक की अनंतदेवी जहाँ एक ओर भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं के विभ्रम में पड़ी हुई एक असहाय नारी के रूप में व्यक्त हुई है, वहीं अपनी कामनाओं और अपने कुचक्र के बल पर वह एक बहुत बड़ा कूटनीतिक षड्यंत्र भी नियोजित कर सकी है। वह भटार्क के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करती है, वहाँ भटार्क उसके समूचे व्यक्तित्व का विश्लेषण इस प्रकार करता है - "एक दुर्भेद्य नारी - हृदय में विश्व प्रहेलिका का रहस्य-बीज है। ओह, कितनी साहसशीलता रखी है? चेतू गुप्त - साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है। परंतु इसकी आँखों में काम - पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है।"[१] भटार्क एक ही स्वर में अनंतदेवी के अनेक गुणों का साक्षात्कार कर लेता है। उसका नारी हृदय दुर्भेद्य है - उसमें विश्व-प्रहेलिका का रहस्य बीज है, उसमें गुप्त साम्राज्य के भाग्य की कुंजी किसी भी ओर घुमा देने की शक्ति है। उसके व्यक्तित्व का एक दूसरा रूप भी है, आँखों में काम - पिपासा के संकेत, कपोलों पर अतृप्त की चंचल प्रवंचना, हृदय में श्वासोंकी गर्मी और संकेतों में विलास का संदेश।

भटार्क इस तथ्य को जानता है कि अनंतदेवी के हृदय में प्रेम की कोई धारा प्रवाहित नहीं है अपितु उसका सारा आकर्षण एक राजनीतिक षड्यंत्रण का आकर्षण है।

अनंतदेवी देवकी का वध कराने का षड्यंत्र करती है। मार्ग में रामा सर्वनाग की टोकती है, और कहती है - "कुत्ते का लोभी! तू सती का अपमान

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० २६।

करे, यह तेरी स्पर्धा ? ----"[1] इस पर अनंतदेवी का क्रोध प्रज्वलित हो जाता है और वह देवकी से पहले रामा का ही अंत करने का निर्देश करती है। जहाँ स्वार्थों का प्रलोभन हृदय की सद्वृत्तियों को ठोकरें मार रहा हो; जहाँ वासना का उत्ताल सागर मर्यादाओं के कूलों को तोड़ - तोड़कर गर्जना कर रहा हो, और जहाँ आकांक्षाओं एवं लालसाओं का प्रभंजन हृदय को अपने आवर्त में घुमा रहा हो, वहाँ न स्वाभिमान रह जाता है, न संयम, न सच्चरित्रता और न विवेक।

भारतीय नारी अपने पुत्र के समक्ष यदि दुहाई दे सकती है, तो केवल इस बात की कि - "कुछ भी हो मैं तुम्हारी माँ हूँ।" अनंतदेवी भारतीय नारी हृदय के इस आदर्श से हटकर भ्रमित हो गई है। इस पथ भ्रष्टता को प्रसाद जी कदापि रामा की दृष्टि से नहीं देख सकते थे। अतः उन्हें अनंतदेवी को ऐसी निकृष्ट स्थिति में लाकर खड़ा करना पड़ा जब कि उसे अपने ही पुत्र के समक्ष इस बात की दुहाई देनी पड़ी कि वह उसके पिता की पत्नी है। नारी स्वाभिमान का अपहरण प्रसाद जी ने जैसा अनंतदेवी के प्रसंग में कराया है वैसा अन्य किसी प्रसंग में देखने को नहीं मिलता।

अनंतदेवी कूटनीति के आवृत में घिरी, नारी-हृदय विहीन एक नारी है। उसमें प्रतिहिंसा की ज्वाला अधिक धधकती दिखाई पड़ती है। यहाँ तक कि जिस विजया को वह युवराज का मन बहलाने के लिए कहती और उसे युवराज के साथ सिंहासन पर बैठाने का प्रलोभन देती है, उसी से बिल्कुल ही स्पर्धाहीन बनकर कहती है " क्या ? इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं वही हूँ - जो अश्वमेध - पराक्रम कुमारगुप्त से, बालों को सुगन्धित करने के लिये गंधचूर्ण जलवाती थी - जिसकी एक तिरछी कोर से गुप्त साम्राज्य डाँवाडोल हो रहा है, उसे तुम ---- एक सामान्य स्त्री ! ----"[2]

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ६३ -
२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १०४ -

अनंतदेवी ऐंद्रिक एषणाओं में लिप्त एक नितांत भौतिक स्तर पर जीवित रहने वाली नारी है। नारी के लिये यह नितांत भौतिकता प्रसाद जी कभी भी उपबंधित नहीं कर सकते। जहां कहीं नारी के व्यक्तित्व में उद्दाम वासनाओं और एषणाओं की आंधी उठती हुई दिखाई पड़ी है, वहां प्रसाद जी ने पतन, दंड या प्रायश्चित का मार्ग खोल दिया है। अनंतदेवी के लिए भी प्रसाद जी के आदर्शों में किसी क्षमा का विधान नहीं, उसकी एषणाओं को भी पराजित होना पड़ता है। प्रसाद जी ने अन्ततः उससे स्कंदगुप्त के प्रति यह कहला ही दिया है " क्यों लज्जित करते हो स्कंद! तुम भी तो मेरे पुत्र हो!"[१]

स्कंदगुप्त उसे क्षमा भी प्रदान कर देता है, किंतु स्कंदगुप्त की यह क्षमा कैकेयी को राम की ओर से मिलने वाली क्षमा नहीं, अपितु राम को वनवास देनेवाली मां के प्रति भरत की ओर से मिलने वाली व्यंगभरी क्षमा के समान है। स्कंदगुप्त उसकी क्षमा याचना में भरी हुई कृत्रिमता को पूर्णतः समझ जाता है, और अनंतदेवी के अनुरूप ही वह कहता है - " माता का हृदय सदैव क्षम्य है, तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुई हो, वही तो कैकेयी ने किया था ----"[२]।

प्रसाद की परिभाषा में " समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।"[३]

" पुरुष है - कुतूहल और प्रश्न; और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पंचम अंक ; पृ० १५५ -

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १५६ -

३- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० २४ -

उसके अनुकूल - उसके अभावों की परिपूर्ति करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार। अनजाना मनुष्य संतुष्ट है - बच्चों के समान। पुरुष ने कहा - "क", स्त्री ने अर्थ लगा दिया - "कौवा"; वह यह रटने लगा।"[1]

प्रसाद की परिभाषा के अंतर्गत स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति सहज स्वाभाविक आकर्षण वासना की पुकार के नाते नहीं, अपितु दोनों के हृदयों में बसने वाले एक प्रबल तत्व की पुकार है और वह है - प्रेम। प्रेम किसी बंधन को स्वीकार नहीं करता, प्रेम किसी कृत्रिमता को आमंत्रित नहीं करता, प्रेम किसी लोलुपता में अपना मायाजाल बुनने नहीं देता। उसमें आत्मत्याग, समर्पण और बलिदान की भावना होती है। उसमें सहिष्णुता की शक्ति होती है, इन्हीं गुणों के कारण वह प्रेय और श्रेय दोनों है। प्रेम का उद्देश्य केवल प्रेम है, वासना नहीं। प्रसाद जी ने नारी प्रेम की परिकल्पना में इसी सात्विक और स्वाभाविक प्रेम को आदर्श माना है। अत: नारी हृदय केवल एषणाओं से आक्रांत हो, प्रसाद जी ऐसी कल्पना नहीं करते। किंतु प्रसाद जी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार से पुरुष वर्ग में सद्वृत्तियाँ, दुर्वृत्तियाँ दोनों विद्यमान होती हैं, कभी सद्प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है तो कभी दुर्वृत्तियों की। ठीक उसी प्रकार नारी हृदय में भी इन दोनों वृत्तियों का अस्तित्व होता है - प्रधानता कभी सद्वृत्तियों की होती है और कभी दुर्वृत्तियों की। सद्वृत्तियों के आवरण में आनेवाली नारी प्रसाद जी की परिभाषा में पुरुष के लिए एक पूरक शक्ति है, एक प्रेरणा है, किंतु दुष्प्रवृत्तियों के आवरण में आनेवाली नारी एक विचित्र रहस्य है, छलना है, अग्राह्य है। यही कारण है कि प्रसाद जी ने जिस नारी पात्र में वासनाओं, कामनाओं, एषणाओं और यौन भावनाओं की प्रबलता देखी है, उसे भौतिकता के मायाजाल में उलझाने, पतन की स्थिति तक पहुंचाने और प्रायश्चित स्वरूप या

१- प्रसाद : [illegible] ; पृ० २४-२५।

ही आत्मघात करा देने अथवा हृदय की दुर्बलताओं को सद्वृत्तियों में परिवर्तित करा देने में नहीं चूके हैं।

छलना -

अजातशत्रु नाटक में छलना वासवी की सपत्नी और अजातशत्रु की वास्तविक माता के रूप में चित्रित की गई है। वासवी में नाटककार ने जिन उदात्त गुणों की कल्पना की है, छलना उसकी एक अपवाद बनकर सामने आती है। प्रसाद जी नारी में जहाँ महान् गुणों की कल्पना करते हैं, वहाँ उसे मायाविनी रूप में भी मानते हैं। उसका यह मायाविनी रूप कभी - कभी बहुत प्रबल होता है। नारी के व्यक्तित्व में जैसा कि प्रसाद जी ने माना है, विकृति वहीं आती है जब वह नारी सुलभ सहज मर्यादाओं को छोड़कर भौतिकता की ओर अधिक बढ़ने लगती है। मर्यादाओं के संबंध में प्रसाद जी की बड़ी आदर्श पूर्ण कल्पना है। उससे भ्रष्ट हुई नारी सुधार का रोग है। छलना उसी की एक प्रतिबिंब होकर हमारे सम्मुख आती है।

छलना को नाटक में राजपुत्रों, राजलिप्साओं, अधिकारयुक्त और महत्वाकांक्षाओं की ओर लालायित दिखाया गया है। वह एक दुर्बल व्यक्तित्व की साधारण नारी है, जिसका स्वभाव अत्यंत ही हठी और उग्र है तथा जो प्रो० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में -- "आसानी से देवदत्त के हाथ का खिलौना बना ली जाती है।"[1]

छलना के व्यक्तित्व के तीन रूप सामने आते हैं - राजमाता का रूप, पत्नीरूप, और सपत्नी रूप। तीनों में वह अपनी कंठ प्रवृत्ति के कारण राजमाता के गांभीर्य को नहीं ग्रहण कर पाती। अपने पुत्र अजातशत्रु को वह आरंभ से ही रण-कुशल, साहसी और युद्ध प्रिय बनाना चाहती है। युद्ध मनुष्य

१-प्रो० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन ; पृ० ३५ -

के जीवन का शाश्वत सत्य नहीं है। मनुष्य को वास्तविक सुख शांति में मिलता है। पत्नी रूप में भी उसका व्यक्तित्व वासवी के व्यक्तित्व की भाँति उभड़ नहीं पाया है। जहाँ वासवी त्याग, ममता, और स्नेह की प्रतिमूर्ति है, वहाँ छलना में स्पष्टतः राजमद दिखाई पड़ता है। अहिंसा और जीवमात्र के प्रति दया गौतम बुद्ध के मुख्य सिद्धांतों में से है। पद्मावती अजातशत्रु को इन गुणों का ज्ञान कराती है, किंतु छलना का दंभ बोल उठता है -" जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दंड के आधार पर है। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि वह भी हिंसामूलक है।[1] "

छलना में प्रमाद, ईर्ष्या, विमाता की कुटिलता और भौतिक सुखों की और लोलुपता विशेषरूप से पाई गई है। यहाँ तक कि स्थान-स्थान पर स्वयं वासवी को भी उसे अपने पत्नी-धर्म और मातृत्व-धर्म का ज्ञान कराना पड़ा है। असुरत्व प्रवृत्तियों का समाहार अंत में उदात्त प्रवृत्ति में होता है। छलना की कुटिलताओं को भी समय की गति और घटनाओं के मोड़ से वासवी के चरणों में झुकना पड़ता है।

विद्वानों के अनुसार कहा जा सकता है कि छलना की प्रमुख संस्कार जन्य प्रवृत्ति है उत्कट महत्व। परिस्थिति का योग (देवदत्त की प्रेरणा) पाकर वह पुत्र स्नेह, अहंता, अहम्मन्यता, मर्यादोल्लंघन का रूप धारण कर लेता है। पद्मावती के मंगलमय उपदेश में उसे षड्यंत्र दीखता है, और वासवी के सदभिप्राय मौन में " नीरस अपमान और सार्वजनिक घृणा। यह असह है। वह तत्क्षण कुमार के युवराज्याभिषेक की घोषणा चाहती है। उसके इस दुराग्रह में कुटिल देवदत्त का बड़ा हाथ है नहीं तो लिच्छवी कुमारी में इतना मनोबल कहाँ कि वह यों अड़ जाती। अजातशत्रु का शौर्य छलना की धरोहर है और छलना का पराक्रम देवदत्त की उपायत है।"

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० २१।

यहाँ तक कि वात्सल्य के क्षेत्र में भी वह बहुत ही बिगड़ी प्रकृति की पाई गई है। उसका वात्सल्य आघात के चपेट में देवदत्त को फटकारने लगता है - " धूर्त तेरी प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई। पुत्र बंदी होकर विदेश को चला गया और पति को मैंने स्वयं बंदी बनाया। पाखंड, तूने ही चक्र रचा है।"[1] इस पर देवदत्त स्वयं उसे उसके दुर्गुणों का बोध कराता है - " तेरी राजलिप्सा और महत्वाकांक्षा ने ही तुमसे सब कुछ कराया ----।"[2]

<u>सुरमा -</u>

राज्यश्री नाटक की एक गतिशील नारी पात्र " सुरमा " यौवन स्वास्थ्य और सौंदर्य की छलकती हुई प्याली है। यह नारी पात्र वैभव और काल्पनिक सुख लिप्सा में लिप्त है। भावुकता और महत्वाकांक्षा ही उसके हृदय को दुर्बल बनाती है। वह अपने मालिन होने के स्तर को भूलकर भी अपनी उद्दाम कामनाओं की पूर्ति के संबंध में संकल्प- विकल्प किया करती है, और काल्पनिक रेखायें तैयार किया करती है। उसकी कामप्रसूत अदम्य लालसामयी कामना उसकी निम्न पंक्तियों में बोल उठती है जब कि वह अपनी भूख और प्यास मिटाने के लिए शांतिदेव से प्रार्थना करती है; वह कहती है - " मैं आजीवन किसी राजा की विलासमालिका बनाती रहूं - ऐसा मेरा अदृष्ट हो, तो भी मान लेने में असमर्थ हूं। मेरे प्राणों की भूख, आँखों की प्यास तुम न मिटाओगे?"[3] तात्पर्य यह कि वह केवल किसी एक राजा की विलासमालिका मात्र बनी रहना नहीं चाहती। वह यह चाहती है कि वह भी किसी वैभव पुरुष की कठोर भुजाओं के पाश में बंधी होती

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १०४ -

२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० २७ -

~~३- राज्यश्री एक अध्ययन ; पृ० १०६ -~~

३- प्रसाद : राज्यश्री ; पृ० ११ -

और कोई उसके लिए मालिका बनाकर प्रस्तुत करता। कितनी गहरी उसकी महत्वाकांक्षा की ज्वाला है, जिसकी आग में वह अंदर ही अंदर सुलगती रहती है। उसकी यही महत्वाकांक्षा उसकी मनःप्रवृत्ति को उच्छृंखल बना देती है।

उसके जीवन की यह उच्छृंखलता का ही परिणाम है कि अपनी कामनाओं की तृप्ति के लिए वह देवगुप्त के कृत्रिम विलासयुक्त अनुराग में आ जाती है। वह रानी बनती है, और देवगुप्त के विलास-भवन में जीवन के ऐश्वर्य और वैभव से युक्त रंगीनियों का खुलकर उपभोग करती है। वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जघन्य से जघन्य कार्य करने में भी नहीं चूकती। यहाँ प्रसाद जी ने सुरमा का बहुत स्वाभाविक चित्रण किया है। पतित आचरण की विवेकहीन स्त्री क्षणिक लालसाओं की पूर्ति के लिए अनुकूल परिस्थिति पाते ही कितनी उच्छृंखल एवं तरल हो जाती है।

एक बार वह पुनः शांतिदेव की ओर झुकती है। विकटघोष के शब्दों में उसके हृदय की अस्थिरता स्पष्ट लक्षित होती है - "रमणी! जब तुम्हें कोई चलने को कहता है, तो पैरों में पीड़ा का अनुभव करने लगती हो। जब विश्राम का समय होता है, तो पवन से भी तीव्रगति धारण करती हो। तुम स्नेह से चिकनी, जल से अधिक तरल, पत्थर से भी कठोर। इन्द्रधनुष से भी सुंदर बहुरंगशालिनी स्त्री!"[1]

अंत में देवगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसकी अंतश्चेतना जागृत हो जाती है। उसे अपने हृदय पर क्षोभ और ग्लानि होती है। उसका यह रूप परिस्थिति का परिणाम है। अपने चरित्र के पैशाच्य को प्रायश्चित के आंसुओं से धोकर वह भोले के पथ पर चलने से रुकना चाहती है।[2] "ठठाकर हंसना, नाचते हुए स्थिर जीवन में एक आंदोलन उत्पन्न कर देना, नहीं यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा। राज्यश्री की

१- प्रसाद : राज्यश्री ; पृ० ३३-

२- देवेश ठाकुर : प्रसाद के नारी चरित्र ; पृ० ३७ -

देखती हूं, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है - पता चलता है कि मैं कहाँ हूं।" उसकी आँखों के सामने से भ्रम का पर्दा उठ जाता है और राज्यश्री की क्षमा द्वारा उसका उद्धार होता है। सुरमा की धधकती हुई वासनाग्नि जब शांत हो जाती है, तब उसका मन संयत और गंभीर हो जाता है। चरित्र की दुर्बलता मनुष्य को कितना नीचे गिरा देती है, इसका स्वाभाविक चित्रण, प्रसाद जी ने सुरमा के माध्यम से किया है।

प्रसाद ने सुरमा के माध्यम से नारी का एक विशिष्ट वर्ग उत्पन्न किया है, जिसमें यौन-भावना की प्रधानता है। यह प्रवृत्ति प्रसाद की दृष्टि में हेय और उपादेय नहीं है। प्रसाद की दृष्टि में नारी का यह उच्छृंखल पतन है, जो उन्हें किसी भी रूप में मान्य नहीं है।

कमला[१]-

प्रसाद जी के नारी पात्रों में कमला नारी जीवन के समस्त भौतिक और उदात्त भावनाओं के विरुद्ध प्रलय की एक छाया के समान चित्रित हुई है। प्रसादजी ने अपने अधिकांश नारी पात्रों में सत्य, शील, करुणा, स्वाभिमान, और चरित्रगत आदर्श की कल्पना की है, किंतु कमला के चित्रण में उन्होंने एक ऐसा विशेष प्रयोग किया है, जिसमें नारी के उपर्युक्त गुणों को एक साथ चुनौती दी गयी है।

पतिपरायणता और चरित्रबल की रक्षा करने का गुण भारतीय नारी की अपनी पृथक विशेषता है। कालुष्य की छाया भी उसके अकलंकित चरित्र पर न पड़ सके, इस उद्देश्य से वे जीवित ही अपने आपको भस्म कर लेना अधिक श्रेयस्कर मानती थीं। सती और जौहर की प्रथाएं भारतीय नारी गौरव की पराकाष्ठा का द्योतक रही हैं। पद्मिनी ने अलाउद्दीन खिलजी के हाथों अपने आपको समर्पित करने से कहीं अधिक श्रेयस्कर माना था, अपने आपको अग्नि की लपटों में समर्पित

१-प्रसाद : प्रलय की छाया ; पृ० [illegible] -

कर देना। उसके स्वाभिमान और आत्मबलिदान की कहानी भारत के कोने-कोने में गूंज उठी थी। भारत की कुमारिकाएं उसके आदर्श को अपने जीवन का आदर्श बनाने की बात सोचने लगी थीं। किंतु गुजरात की रानी कमला जो कि अपने रूप और यौवन के अभिमान में चूर थी, पद्मिनी की इस प्रशंसा को न सह सकी। रूप - गर्व की आंधी में वह अपने नारी-अस्तित्व को भूल गयी। उसने सोचा - जल कर भर मिटने की अपेक्षा अपने रूप और यौवन के व्यामोह में संसार को पराजित कर लेना अधिक श्रेयस्कर है। रूप-गर्व की आंधी ने उसकी अन्त:दृष्टि को अंधा बना दिया था, और वह सत्-असत् के बीच कोई विभेद स्थिर न कर सकी।

उसने सुल्तान को अपनी रूप-ज्वाला में भस्मीभूत करने का निश्चय किया। उसको स्वयं ऐसा अनुमान हुआ मानो पद्मिनी की बाह्यरूप रेखा तुच्छ थी, उसके सुन्दर शरीर के समक्ष फीकी थी। दर्पण में अपनी रूप- शोभा को देखकर तथा उसकी पद्मिनी के चित्र से तुलना करके उसने स्वयं को ही श्रेष्ठ पाया था -

" पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊंगी -
वह दावानल ज्वाला,
जिसमें सुल्तान जले।
देखें तो प्रखर रूप-ज्वाला-सी-धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।
आह! कैसी वह स्पर्द्धा थी ?
स्पर्द्धा थी रूप की,
पद्मिनी की बाह्य रूप-रेखा चाहे तुच्छ थी,
मेरे इस सांचे में ढले हुए शरीर के
सम्मुख नगण्य थी।
देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे,
मैंने समझा था यही" ।[१]

१-प्रसाद : प्रलय की छाया ; पृ० ६४ -

किसी नारी का इस सीमा तक अपने आपके ही सौंदर्य पर रीझ उठना एक सर्वथा असाधारण बात थी ।

कमला गुर्जर नरेश के पराजित होने के बाद सुल्तान अलाउद्दीन के सैनिकों के हाथों बंदिनी हुई । पहले इसी कमला के शारीरिक सौंदर्य पर गुर्जर नरेश नाच उठे थे । उस समय उसे स्वयं ऐसा अनुभव हुआ था, मानों नारी के त्रिगुणात्मक नेत्र किसी को भी प्रमादी बना देते और किसी का भी धैर्य हर लेते हैं । उसे अपने नेत्रों और युवावस्था से शाण-चढ़े अंगों पर एक गर्व सा हो उठा । उसने समझा कि वह अलाउद्दीन खिलजी को भी अपने नयनबाणों से घायल कर देगी और उसका अभिमान चूरकर उसे अपने चरणों में नतमस्तक देखेगी । उसने अनुभव किया -

नारी के नयन ! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नहीं करते
धैर्य किसका ये नहीं हरते ?
वही अस्त्र मेरा था ।[१]

उसका यह सोचना आगे चलकर इस अर्थ में सत्य निकला कि सुल्तान ने सौंदर्य की अनुभूति उस कमला को अपने चंगुल में बंदिनी देख मानवीय वासनाओं और लालसाओं की पूर्ति का एक उत्सव मनाया । रानी कमला की विपत्ति की घड़ी में भी रूपगर्व का अंकुर विवेक से दूर उड़ाता गया और यहाँ तक कि जब वह बंदिनी बन चुकी थी, तब भी रूपगर्विता वाणी में उसने कहा था -

" हे वही मैं गुर्जर की रानी हूं, कमला हूं "
वाह री ! विचित्र मनोवृत्ति मेरी !

१- प्रसाद : जयशंकर, " प्रलय की छाया " ; पृ० ६५ -

कैसा वह तेरा व्यंग्य परिहास-शील था ?

उस आपदा में आया ध्यान निज रूप का।[1]

यहाँ तक कि भीतर ही भीतर उसके मन में अपने सौंदर्य का अभिमान इस बात के लिए मचल उठा था कि देखें दिल्ली का सुल्तान उसके रूप आकर्षण में उसका दास बनता है, अथवा नहीं। भारतेश्वरी बनने की लालसा उसके मन में भीतर ही भीतर मचलने लगी -

रूप यह !

देखे तो तुरुष्कपति मेरा भी

यह सौंदर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी

कितनी महान् और कितनी अभूतपूर्व ![2]

कमला दैहिक लालसाओं के मायाजाल में विवेकशून्य होकर उड़ने लगी। पहले उसने अपने पति का प्रतिशोध लेना चाहा था, किंतु सुल्तान को अपने रूपाकर्षण में लुब्ध पाकर उसके मन में यह भी लालसा उत्पन्न हो गई कि देखें वह कठोर सुल्तान के निर्मम हृदय में अपनी रूप- माधुरी के बल पर सौंदर्य की अनुभूति जगा सकती है अथवा नहीं -

"कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का

कभी निज रूप सुंदरता की अनुभूति

क्षण भर चाहती जगाना मैं

सुल्तान ही के उस निर्मम हृदय में,

नारी मैं !

कितनी अबला थी और प्रबला थी रूप की।"[3]

कमला एक ओर तो अपने को बंदिनी रूप में अबला मानती है, किंतु दूसरी

१- प्रसाद : लहर, ' प्रलय की छाया' ; पृ० ६७, ६८ -

२- वही ,, ,, ; पृ० ६८ -

३- वही ,, ,, ; पृ० ६८ -

और उसका यह दंभ भी गया नहीं है कि वह रूप और यौवन से युक्त प्रमदा भी है। उसे रूप ने धोखा दिया, सौंदर्य की छलना में वह सत्य-असत्य, मर्यादा, अमर्याद प्रेम और अप्रेम किसी का विवेक न रख सकी। सुल्तान के समीप पहुंचते - पहुंचते सौंदर्य की पुतली जो सुल्तान को विजित कर लेना चाहती थी, स्वयं सौंदर्यमयी वासना की आंधी में बह उठी। उसके मनोभावों का चित्रण करते हुए कवि ने स्वयं उसके मुंह से कहलाया है -

" आज सात रात्र भीगा कितनी महीनों पर
छलती सदृश उठती - सी गिरती - सी मैं
अद्भुत ! चमत्कार !! दुष्य भित्र गरिमा में
एक सौंदर्यमयी वासना की आंधी - सी
पहुंची समीप सुल्तान के।"[१]

वासना जीवन के प्रति मोह और एक मादक अतृप्ति उत्पन्न करती है। वासना के बहाव में कर्तव्या-कर्तव्य अथवा स्वाभिमान, स्वदेशाभिमान आदि सभी कुछ लुप्त हो जाता है। जीवन एक अलभ्य सौभाग्य सा प्रतीत होता है। इसीलिए वासना आसक्ति उत्पन्न करती है। कमला भी वासना के उद्गारों में कर्तव्या-कर्तव्य को भूल जाती है, जीवन को सौभाग्य और अलभ्य मानने लगती है;[२] और लालसाएं भिखारिणी सी बनकर जीवन धन का स्पृहणीय दान मांगने लगती हैं। पति का प्रतिशोध, राजरानियों का जौहर व्रत, मर्यादा रक्षा के प्रति नारीत्व आदि सभी कुछ भूलकर कमला जीवन को अनन्त मानने लगती है और मानों समाज की मान्यताओं के विरुद्ध हुंकार करती हुई अपने आपसे पूछने लगती है -

---

१- प्रसाद : लहर : प्रलय की छाया ; पृ० ६८।
२- " जीवन सौभाग्य है जीवन अलभ्य है।"
प्रसाद : प्रलय की छाया ; पृ० ७० -

" जीवन अनन्त है,

इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ?[1]"

उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो संसार के कण-कण मधुमय जीवन का दान माँग रहे हैं। ओस कण से लेकर अर्णनिधि अर्थात् समुद्र तक इसी जीवन की भीख माँगता हुआ उसे दिखाई पड़ता है, और उस सरिताओं की मीठी मीठी धारा जीवन का अजस्र स्त्रोत लेकर बहती दिखाई पड़ती है।[2]

नारीजन्य स्वाभिमान के आवेग में सुल्तान के सम्मुख वह अपने आपको समाप्त कर लेने की भी प्रवंचना करती है, किंतु सुल्तान की अनुनयभरी वाणी उसके कानों में गूंज उठती है। अलाउद्दीन उससे कहता है कि " पद्मिनी को मैं न पा सका, किन्तु तुम्हें पाकर खो भी नहीं सकता। तुम्हारा यह रूप माधुर्य अपनी कोमलता से मेरी क्रूरताओं पर शासन करेगा"-

" देखता हूं मरना ही भारत के नारियों का

एक गीत-भार है।

रानी ! तुम बन्दिनी हो मेरी प्रार्थनाओं में

पद्मिनी को तो लिया है

किंतु तुमको नहीं।

शासन करोगी तुम मेरी क्रूरताओं पर

निज कोमलता से - मानस की माधुरी से ![3]

यहाँ तक कि कमला सुल्तान के सम्मुख इतनी स्वाभिमान - शून्य हो जाती है कि मानिक की रक्षा के लिए उसे सुल्तान के सम्मुख गिड़गिड़ाना पड़ता है, और कहना पड़ता है कि " उसे छोड़ दीजिये " सुल्तान उसके नारीत्व की पराकाष्ठा को समझ लेता है और व्यंग्य भरी वाणी में कहता है -

---

१- प्रसाद : प्रलय की छाया ; पृ० ७० -

२- वही ,, ,, ; पृ० ७० -

३- वही ,, ,, ; पृ० ७१ -

जाने दो रानी की पलटी यह आशा है ।[१]

यहाँ आकर कमला के स्वाभिमान को एक झटका सा लगता है, और वह समझ पाती है कि उसका सौंदर्य कितना क्षणिक और उसका यौवन -प्रभाव कितना सारहीन है । उसे अनुभव होता है कि उसने जीवन के मणिकांचन को कौड़ी के मोल बेच दिया है, और मानों आकाश को पकड़ने की आशा में यद्यपि उसने हाथ ऊपर को उठाया है, किंतु सिर अतल में दे डाला है । वह अनुभव करती है -

" हाय रे हृदय ! तूने
कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मणिकांचन
और आकाश को पकड़ने की आशा में
हाथ ऊँचा किये सिर दे दिया अतल में ।[२]

अंत में जीवन का मोह उसे नहीं छोड़ता और वह गुर्जेश कर्णदेव अर्थात् अपने पति द्वारा भेजे गए इस संदेश को भी ठुकरा देती है कि " शीघ्र अंत कर दो जीवन लीला " और वह भारतेश्वरी बनकर कृष्णा-गुर्जरिका की भाँति स्वर्ण के पात्र में होने के अभिमान में एक धूम-रेखा-मात्र के समान जलती रह जाती है ।

प्रसाद जी ने कमला की इन मनोवृत्तियों को " प्रलय की छाया " शीर्षक कविता के अंतर्गत रखा है । प्रसाद जी ने नारी के व्यक्तित्व में एक चिरंतन सत्य की कल्पना की है, और नारी में जहाँ - कहीं असत् रूप आभासित हुआ है, वहीं उन्होंने उस पर एक अंकुश आरोपित कर दिया है । वह अंकुश नारी के चरित्रगत मर्यादाओं का है ।

"प्रसाद ने " प्रलय की छाया " में नारी के असत् रूप का अत्यंत सजीव चित्र चित्र खींचा है । रूपराशि - स्वरूपा किंतु रूपगर्विता कमला अपनी ही " मधुगंध से

१- प्रसाद : लहर, " प्रलय की छाया " ; पृ० ७४ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ७४ =

कस्तूरी मृग जैसी " पागल हो जाती है ।"[1] उसके चरित्र का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने आगे लिखा है - " उसमें (कमला में) साहस दिखाने का लोभ है, किंतु वास्तविक दृढ़ता नहीं, आत्महत्या की तैयारी है, किंतु बचने पर क्षोभ नहीं, उसमें गर्व है किंतु दायित्व का अभाव है, प्रतिशोध की आकांक्षा है किंतु वासनाओं में डूबी हुई । फलत: निज रूप की भावना तथा शासन की महत्वाकांक्षा ने उसके हृदय में भारतेश्वरी बनने की कामना की पूर्ति कर ही दिया । रूप की विजय में उसने निज विजय समझी । यद्यपि यह नारी की सबसे बड़ी हार थी, आत्म-सम्मान का हनन था, सतीत्व का पतन था ।"[2]

यही कारण है कि प्रसाद जी ने कमला को " प्रलय की छाया " के अंतर्गत रखते हुए उसके विलासपूरित उद्वेगों को एक प्रश्नवाचक चिन्ह सा बना दिया है, और उसके इन मनोवेगों का अंत क्या होगा, इसका स्पष्ट निर्देश उन्होंने स्वयं न देकर कमला के मुख से ही यदाकदा निकलने वाले सात्विक उद्गारों के संकेतमात्र में दिखलाया है । निश्चय ही इन लालसाओं का अंत है - नारी का पतन और उसके वैभवपूर्ण अस्तित्व का विनाश की अनियंत्रित सरिता में सम्मज्जन । नारी का यह अंत प्रसाद जी को शाश्वत रूप से कभी भी स्वीकार्य नहीं है । यही कारण है कि प्रसाद कमला को विलासमयी लालसाओं के धरातल पर उतारकर उत्थान और पतन की ऊँची-नीची सीढ़ियों से ले चले हैं और उसे ऐसे स्थान पर अपने मनोभावों में डूबी हुई अकेली छोड़ दिया है जहाँ से जीवन के निश्चित गंतव्य का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता ।

१- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिंदी काव्य में नारी भावना ; पृ० १५७ -
२- वही ,, ,, ,, ; पृ० १५८ -

नारी और विवाह

संभवत: मानव जब असभ्य था, तब स्त्री पुरुष के यौन संबंधों का विवाह के रूप में समाजीकरण नहीं हुआ था। महाभारत में इस प्रकार के प्रांतों के उल्लेख मिलते हैं जहाँ उन्मुक्त कामाचार रहा होगा।[1] इससे यह भी अनुमान किया जाता है कि भिन्न भिन्न समाज में विवाह का आरंभ भिन्न - भिन्न समय में हुआ। यहाँ तक कि स्वयं महाभारत में द्रौपदी के पाँच पति होने की कल्पना इस बात के लिये प्रमाण है कि स्त्री किन्हीं-किन्हीं समाज में एक सार्वजनिक संपत्ति मानी जाती थी, किंतु भारत में विवाह की प्रथा पुरानी ही है, और ऋग्वेद में इस प्रथा को एक निश्चित संस्कार के रूप में पूर्ण मान्यता मिल चुकी थी। अल्टेकर के अनुसार "वैदिक युग में केवल विवाह की पूर्ण प्रतिष्ठापना ही नहीं हो चुकी थी, अपितु इसे एक सामाजिक और धार्मिक कर्तव्य तथा आवश्यकता की मान्यता भी दी जा चुकी थी।"[2]

१- उत्तर कुरु के संबंध में लिखा है -

"यत्र नार्यः कामचारा भवन्ति"।

माहिष्मती के संबंध में लिखा है -

"स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत।"

महाभारत ६,१६, ३२, [illegible]।

२- "Not only was marriage well established in the Vedic age, but it was also regarded as a social and religious duty and necessity."

Altekar : The position of women in Hindu civilization page 31.

" विवाह की प्रथा हिन्दुओं में अतिप्राचीन काल से प्रचलित है । हिन्दू-विधि और समाज में इसका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । 'रहुँज' के मतानुसार विश्व में किसी भी समाज द्वारा विवाह को उतना महत्व नहीं प्रदान किया गया है जितना हिन्दुओं के द्वारा ।"[1]

मनुस्मृति में मनुष्य जीवन के लिए नितांत आवश्यक संस्कारों एवं ऋणों का उल्लेख आया है । जीवन के लिए नितांत आवश्यक संस्कारों में से गर्भाधान, पुंसवन , सीमान्तोन्नयन , जातकर्म , नामकरण , निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन एवं सावित्री , समावर्तन और विवाह हैं । इन सभी संस्कारों में विवाह संस्कार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है,[2] जो मनुष्य के तीन ऋणों में से एक की पूर्ति का साधन है । ये तीन ऋण इस प्रकार हैं - देवऋण, ऋषिऋण , और पितृऋण । विवाह पितृऋण से मुक्ति दिलाता है । इसका तात्पर्य यह है कि विवाह संस्कार के माध्यम से ही सृष्टि की संरचना होती और उत्पन्न होने वाली संतान पूर्वजों का तर्पण करता है । अतः वैदिक काल से विवाह की महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है ।

मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का भी उल्लेख आया है - ब्राह्म, दैव , प्राजापत्य , आर्ष , पैशाच , राक्षस , असुर , और गांधर्व । उपर्युक्त में से प्रथम चार प्रकार के विवाह उच्चकोटि के और शेष चार प्रकार के विवाह निम्नकोटि के माने जाते थे । ब्राह्म विवाह सर्वोत्तम माना जाता था , जिसमें वधू का पिता उसे वस्त्रालंकरण आदि से सुसज्जित कर योग्य वर के हाथों दानस्वरूप सौंप देता था । इन विवाहों में गांधर्व विवाह भी एक मान्य विवाह था , जिसमें वर-वधू स्वयं एक दूसरे का चुनाव करते थे , और उन्हीं के इच्छा पर उनके पारस्परिक प्रेम के परिणामस्वरूप यह विवाह संपन्न होता था । इस विवाह में किसी धार्मिक यज्ञ आदि की आवश्यकता नहीं होती थी । बौधायन धर्मसूत्र में

१- विजय नारायण मणि त्रिपाठी : हिन्दू विधि ; पृ० ३८ -

२- मनुस्मृति ।। ३ ।। ३५ - ३७ ।।

इस विवाह की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है :

" गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात् [1] "

कामसूत्र में भी इस विवाह को आदर्श विवाह की संज्ञा दी गयी है -

सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह ।

अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्व : प्रवरोमत: ।। [2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार के रूप में माना जाता था , और इसकी पृष्ठभूमि में धार्मिक और सामाजिक दायित्व हुआ करते थे। केवल यौन कामनाओं की पूर्ति के लिए विवाह की प्रणाली भारतीय समाज में कभी नहीं अपनायी गयी । भारतीय समाज में यौन भावनाओं के जहां सामाजिक स्वरूप की स्वीकृत है, वहां उसके व्यक्तिनिष्ठ और रागात्मक अंश की भी ।

<u>प्रसाद और उनके युग में वैवाहिक परिस्थितियाँ -</u>

प्रसाद के जीवन काल में देश में सामाजिक और राजनीतिक जागरण हो चुके थे। यह अनुभव किया जाने लगा था कि समाज को यदि आगे बढ़ाना है तो नारी जाति को उन्नति की ओर बढ़ाते ले जाना आवश्यक है। राजा राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन, स्वामी दयानंद सरस्वती , स्वामी रामकृष्ण परमहंस एवं उनकी परंपरा में स्वामी रामतीर्थ और विवेकानंद जैसे महर्षियों ने नारी जागरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया था। विशेषरूप में ब्रह्मसमाज , आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी ने इस दिशा में और भी निश्चित कदम उठाये थे। सतीप्रथा एवं बाल-विवाह के समापन , विधवा-विवाह , नारी-शिक्षा आदि के क्षेत्रों में नारी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही थी ।

इतना होते हुए भी व्यापक रूप में विवाह संबंधी प्राचीन मान्यताओं और

१- बौधायन धर्म सूत्र, १, ११, १३, ७ -

२- वात्स्यायन , कामसूत्र ३-५-३१ -

रूढ़ियों का पूर्णतः समापन नहीं हो पाया था। विधवा - विवाह की अमान्यता पुरुष वर्ग का बहुविवाह की ओर झुकाव, पुरुष की वासना की खुली किताब - वेश्यावृत्ति, अनमेल- विवाह, बाल-विवाह आदि अनेक घातक रोग समाज के शरीर को भीतर से खोखला कर चुके थे। भारतीय मान्यता के अंतर्गत विधवा-विवाह वर्जित था अतः समाज में अनेक विधवायें होती जा रही थीं। दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति का आदर्श भी सामने था, जिसमें विवाह केवल एक सामाजिक समझौता के रूप मान्य था।

प्रश्न यह था कि भारतीय समाज की वैवाहिक परंपराओं के संबंध में किन मान्यताओं को अपनाया जाय, जिसके बल पर समाज को विकास का नया मार्ग दिया जा सके। प्रसाद ने इस समस्या के प्रत्येक पहलू पर गहराई से विचार किया है। उन्होंने भारतीय आदर्शों तथा पाश्चात्य दृष्टि के आलोक में प्रचलित रूढ़ियों का मूल्यांकन सहृदय एवं संतुलित भाव से किया। उन्होंने विवाह संबंधी प्रत्येक प्रचलित परंपरा के संबंध में यह देखने का प्रयत्न किया कि वेदों, उपनिषदों पुराणों तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में विवाह के संबंध में कौन - कौन सी व्यवस्थाएँ दी गई हैं। यहां तक कि प्रसाद ने विधवा - विवाह, पुनर्विवाह, अंतर्जातीय, अंतर्देशीय विवाहों आदि नवीन से नवीन समस्याओं का समाधान इतिहास, पुराण व उपनिषदों में ढूंढने का प्रयत्न किया, और कुछ ऐसे विलक्षण किंतु सार्थक एवं उपयोगी तत्वों का भी उन्होंने अनावरण किया जो विस्मृति के गर्त में पड़े हुए थे। आगे हम उन्हीं तत्वों में से उनके नारी पात्रों की समस्याओं के अनुरूप कुछ प्रमुख तत्वों का विवेचन करेंगे।

प्रसाद का क्रान्तिकारी आदर्श -

प्रसाद भी व्यक्ति की स्वतंत्रता में किसी भी कोने से कोई बाधा स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। प्रसाद ने नारी को उतना ही पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान किया, जितना समाज में पुरुष का व्यक्तित्व प्रभावपूर्ण है। जहाँ प्रसाद ने विवाह नामक संस्था की पवित्रता को स्वीकार किया है, वहाँ उन्होंने [illegible]

शब्द के अंतर्गत आनेवाली किसी भी नारी व्यक्तित्व का हनन करने वाली रूढ़ि, जड़ता, तथा पुरुष के स्वार्थ और वासना के प्रतिपक्ष का खुलकर विरोध किया है। वे विवाह को ऐसा अटूट बंधन नहीं मानते, जिसे आत्मा का हनन करके भी सिर पर बोझ की तरह वहन किया जाय। वे मनुष्य जीवन का उद्देश्य आनंद की प्राप्ति मानते हैं। आनंद की प्राप्ति आत्मिक स्वतंत्रता में मिल सकती है। यदि आत्मिक स्वतंत्रता को समाज की अनियंत्रित रूढ़ियों में जकड़ दिया गया, तो फिर जिस संस्था से आनंद और सुख की प्राप्ति होनी चाहिये थी, वह जीवन को अभिशप्त कर देती है। इसीलिए प्रसाद नारी को विवाह के बंधन में इतना नहीं जकड़ना चाहते कि उसकी स्वतंत्रता ही समाप्त हो जाय।

प्रसाद की मान्यता है कि यदि नारी पारिवारिक जीवन को प्राथमिकता देकर अपना स्थान निर्दिष्ट कर ले तो उसका जीवन सफल और उन्नत बन सकता है। तभी वह अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति भी समुचित न्याय कर सकती है।

प्रसाद ने विवाह की परिभाषा करते हुए विवाह को दो हृदयों का पूर्ण अनुराग माना है।[1] यह अनुराग हार्दिक और शारीरिक दोनों ही एक साथ हो सकता है। उन्होंने वनलता द्वारा कहलाया है - " मैं जिसे प्यार करती हूं वही केवल वही व्यक्ति - मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को - जो मेरे सुंदर हृदय का आवरण है - सतृष्ण देखे। उस प्यास में तृप्ति न हो, एक - एक बूंद वह पीता चले, मैं भी पिया करूं ----।[2]

प्रसाद ने अपने साहित्य में विवाह के एक नये पक्ष का भी समर्थन किया है। विवाह की क्रिया प्रायः मंत्रों के उच्चारण और अग्निदेव के साक्ष्य के आधार पर मानी जाती है, जिससे और में नारी का स्वत्व लुप्त हो जाता है। किंतु प्रसाद इसे समाज का एक कृत्रिम विधान मानते हैं, और वे दो आत्माओं के

१- प्रसाद : एक घूंट ; पृ० २८ -
२- प्रसाद : एक घूंट ; पृ० ४१, ४२

सम्मिलन को पहले ही वह सम्मिलन सामाजिक रूढ़ियों की शर्तों को न पूरा करता हो - एक विवाह मानते हैं। प्रसाद जी स्वयं कहते हैं - " हृदय का सम्मिलन ही तो विवाह है, मैं तुम्हें सर्वस्व अर्पण करता हूं और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों, मंत्रों का महत्व कितना। झगड़े की, विनिमय की यदि संभावना रही तो वह समर्पण ही कैसा ? मैं स्वतंत्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूं, समाज न करे तो क्या ?"[1] यहां तक कि प्रसाद ने विधवा पुतली[2] को अपने प्रिय किशोर के शरीर की अपेक्षा हृदयमात्र से मिलने की आयोजना की है। वहां वे व्यावहारिक विवाह की अपेक्षा[3] आत्मिक मिलन को ही एक श्रेष्ठ विवाह का आदर्श मानकर चले हैं।

इसी प्रसंग में प्रसाद जी एक और भी तथ्य स्वीकार करते हैं, जो कि समाज की रूढ़ियों के हृदय में शूल शलाका की भाँति चुभने वाला है। समाज की व्यवस्था में नारी के लिए विवाह के बिना संयमपूर्ण और सुरक्षित जीवन बिताने की कल्पना नहीं की जाती थी। प्रसाद जी इसका प्रबल विरोध करते हैं और उनका कहना है कि जीवन में विवाहरूपी संस्था का आरोपण कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार - " -- जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, वे भ्रांत हैं ----"[4]।

प्रसाद ने विवाहिता स्त्रियों की दुर्दशा भी देखी थी। उन्होंने विधवा को जितना दुखों के सागर में डूबते - उतराते देखा है, उतना ही सधवा को दयनीय स्थिति में पाया है। उन्होंने सुवासिनी के मुख से विवाहिता स्त्रियों की परिभाषा इस प्रकार दी है - " पत्नियों के प्रमोद का कटा - छंटा हुआ शोभावृक्ष! कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गयी। माली के मन से संवरे हुए गोल-मटोल खड़े

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० १६४ -

२- प्रेम पथिक -

३- ' आओ गले नहीं मुरझाकर हृदय - हृदय से मिल जावें '
प्रसाद : प्रेमपथिक ; पृ० ३२ -

४- प्रसाद : कंकाल ; पृ० १७५, १७६ -

रही ।[१]

प्रसाद ने विवाह की समाकालीन विडंबनाओं पर तीखे व्यंग्यबाणों का भी प्रयोग किया है।[२] कहा जा सकता है कि - " प्रसाद जी को नारी और पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण और उनकी स्वतंत्र गतिविधि के हामी होने के कारण प्रचलित पवित्रतावादी विचारधारा के प्रति विद्रोह करना पड़ा है। उनके अधिकांश पात्र इसी विद्रोही मनोभावना की उपज हैं, और उपेक्षा तथा फक्कड़पन का सा जीवन व्यतीत करते हैं, पर यह फक्कड़पन नवीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक साधना का अंग बनकर आया है। वह अपना विशिष्ट उद्देश्य रखता है, निरुद्देश्य नहीं है।"[३]

प्रसाद पुनर्विवाह के प्रचलन के भी समर्थक हैं। पति के क्लीव, क्रूर, दुश्चरित्र आदि होने की स्थिति में वे स्त्री को पुनर्विवाह का भी अधिकार देने से नहीं चूकते।[४] जाति भेद, देशभेद आदि उनकी मान्यता के अंतर्गत विवाह के लिए किसी भी प्रकार बाधक नहीं है। इसीलिए अपने साहित्य में जहाँ प्रसाद ने स्वच्छंद व्यक्तिवादी प्रेमभावना का समर्थन किया है, वहाँ उन्होंने विवाह के भी स्वच्छंदता वादी रूप की कल्पना की है।

" वर्तमान युग में नर-नारी के यौनाकर्षण को प्राकृतिक धर्म मानकर वैवाहिक बंधनों के स्थान पर अबाध यौन- संयम की जो पुकार उठी है - जान पड़ता है, ---- प्रसाद ने इस उग्र विचारधारा के समर्थकों पर व्यंग किया है।"[५]

प्रसाद अपने युग की सामाजिक नारी मान्यताओं में एक क्रांति लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने नारी स्वातंत्र्य का शंखनाद फूंका और पुरुष और नारी में समरसता की स्थापना पर बल दिया।

१- प्रसाद : कंकाल, " मधुप अंक" ; पृ० ८८ -

२- वही तितली ; पृ० १९५ -

३- पं० नंददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद ; पृ० ४६ -

४- ध्रुवस्वामिनी का आमुख -

५- रामरतन भटनागर : प्रसाद साहित्य और समीक्षा ; पृ० १९० -

भारतीय आदर्शों के अंतर्गत नारी को जहाँ समर्पणमयी, सती-साध्वी के रूप में माना गया है, वहाँ उसे आदर्शों की परंपरा में अनेक विकृतियों का भी सामना करना पड़ा है। विधवा-समस्या भारतीय और विशेषकर हिंदू-समाज की एक जघन्यतम विकृति है। समाज ने नारी के लिए एक पातिव्रत्य का अटल सिद्धांत निरूपित किया है, और समाज में विधवा होना एक कलंक की बात मानी गयी है। समाज के किसी भी शुभ कर्म में विधवा सामने नहीं आ सकती। किसी पुरुष का उसके जीवन में संपर्क उसके लिए एक कलंक है। समाज विधवाओं के इस अभिशप्त रूप को स्वीकार करते हुए भी उसके रूप और यौवन पर ललचाई और कुटिल दृष्टि डालने से नहीं चूकता। भोली - भाली युवती विधवायें प्राय: मायावी पुरुषों के चक्र में पड़कर अनेक उत्पातों, अपवादों, व्यंग्यों, कुटिल और घृणित कहीं - कहीं पर नृशंस और बर्बर भी व्यवहारों की शिकार बनती हैं।

नारी को आभासित होता है कि जैसे पराधीनता की एक परंपरा सी[1] उसकी नस - नस में, उसकी चेतना में न जाने किस युग से घुस गई है। उसका जीवन उसे जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्म - विज्ञापन का भार ढोते रहने के लिए ही निश्चित हुआ था।[2] फिर भी समाज के कानों पर उसके उद्धार के लिए जूं तक नहीं रेंगती। वह जीवन भर कलंकिनी के रूप में जीवन व्यतीत करने को बाध्य की जाती है, वह रोती है, सिसकती है, अपनी आत्मा को सामाजिक विडंबनाओं के पत्थरों के बीच में मसोसती है, पीसती है, और समाज के किसी भी कोने से अपने लिए सहानुभूति और करुणा की बूंद न पाकर पछाड़ खाती है। क्रूर समाज उसके प्रति उदासीन है। वह यदि पुनर्विवाह करना चाहे तो समाज के दरवाजे उसके लिए बंद रहे हैं।

प्रसाद ने अपने साहित्य में इन समस्याओं को भी सिरे से उठाया है। उन्होंने कुछ ऐसी भी विधवाओं की कल्पना की है जो जीवन भर मृतक पति की

1- ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ३४ -

2- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ३८ -

स्मृतियों में अपने संपूर्ण जीवन को एक पुनीत यज्ञशाला बना देती है। यथा - ममता[1] नामक तरूणी एक ऐसी ही नारी है जो अपने वैधव्य की मर्यादा को संचित रखने के लिए जीवन भर कष्टों को फेलती रहना सहर्ष स्वीकार करती है, किंतु अपने भावी जीवन के सुख-साज की सामग्री को, जो शेरशाह की ओर से उसके पिता के लाख उत्कोच रूप में भेजी गयी है, ग्रहण करना स्वीकार नहीं करती। वह कहती है - " तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया? पिता जी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये। पिता जी! हम लोग ब्राह्मण हैं। इतना सोना लेकर क्या करेंगे?"[2]

प्रसाद की अंतरात्मा में उस विधुर सौंदर्य को देखकर कितनी तड़प हुई होगी, उसका चित्रण एकमात्र सहज संवेदनशील कवि ही कर सकता है। प्रसाद के शब्दों में " ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आंधी, आंखों में पानी की बरसात लिए, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी"[3] कितनी दयनीय स्थिति है हिंदू - विधवा की!

ठीक इसी प्रकार बीहू की बिन्दो का जीवन भी विडंबनाओं से पूर्ण, दारूण दुखों की अवतारणा करता है - " उसका यौवन, रूप रंग कुछ नहीं रहा। बच रहा - थोड़ा सा पैसा, बड़ा - सा पेट और पहाड़ से आने वाले दिन।"[4] ग्रामगीत की रोहिणी अपने अतृप्त प्रेम की ग्राम-गीतों में पुकार करती हुई वैधव्य जीवन की पीड़ा को पंक्तियां देती रहती है।

" बरजोरी बसे हो नयनवां में,
डीठ! बिसारे बिसरत नाहीं

१- आकाशदीप कहानी संग्रह की ममता शीर्षक कहानी -
२- प्रसाद : " आकाशदीप संग्रह ", ममता शीर्षक कहानी ; पृ० २६ -
३- वही ,, ,, ,, ,, ; पृ० २५ -
४- प्रसाद " आंधी संग्रह ", बीहू शीर्षक कहानी ; पृ० ८५ -

ऐसी बहूं आय अनवाँ में,
बरजोरी बंध ही -।"[१]

इसी प्रकार राज्यश्री पति की मृत्यु के पश्चात् अपने को अनाथ और अकेली पाकर चिता जलाकर भस्म होने की प्रक्रिया में तत्पर दिखायी गयी है। किंतु ऐसी नारियाँ प्रसाद के साहित्य में अपवाद स्वरूप ही चित्रित हुई हैं। प्रसाद जी नारी की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक हैं। वे उसे समाज में पुरुषों के समान ही अधिकार देना चाहते थे। उनकी परिभाषा में नारी पुरुष की क्रीतदासी नहीं है - " --- ओह तो मेरा कोई रक्षक नहीं ? (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूं। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।[२]

पुरुष यदि पत्नी की मृत्यु के उपरांत अथवा कतिपय परिस्थितियों में पति के जीवित रहते हुए भी दूसरा विवाह कर सकता है, तो प्रसाद जी का दावा है कि स्त्री भी पति की मृत्यु के उपरांत और कतिपय परिस्थितियों में पति के जीवित रहते हुए भी दूसरा विवाह कर सकती है। पाराशर के उद्धरण देते हुए प्रसाद जी ने उपर्युक्त मत को स्पष्ट किया है, कि यदि पति नष्ट हो जाये, या मर जाये, या कहीं अन्यत्र भाग जाये या क्लीब हो जाये, या परिस्थिति से पतित हो जाये तो स्त्री ऐसी स्थिति में उस पति को छोड़कर दूसरे का वरण कर सकती है-

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।[३]

प्राय: समाजशास्त्री इस तर्क को सामने प्रस्तुत करते हैं कि चूँकि पाश्चात्य देशों में नारियों को तलाक और पुनर्विवाह के संबंध में अधिकार मिले हुए हैं, क्योंकि

१- प्रसाद : 'आकाशदीप संग्रह', ग्रामगीत शीर्षक कहानी ; पृ० १११ -

२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० २८ -

३- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; सूचना ; पृ० ७ -

भारतीय समाज में भी नारियों को ये अधिकार दिये जाने चाहिये। प्रसाद जी का यहीं मतभेद है। उनका दृष्टिकोण है कि पाश्चात्य समाज में कोई भी ऐसी अच्छाई नहीं है, जिसे हम सर्वथा नवीन मानकर उनका अंधानुकरण करने लगें। यहाँ तक कि ज्ञान- विज्ञान के क्षेत्र में भी वे भारतीय संस्कृति को अग्रगण्य मानते हैं और विश्व की अन्य संस्कृतियों को भारतीय संस्कृति की अनुकृति मानते हैं -

" जगे हम लगे जगाने विश्व -----"।

ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी यह तर्क भारतीय धर्मग्रंथों से प्रमाणित कर सकने में पूर्णतः सफल सिद्ध हुए हैं, कि भारतीय स्त्री को विधवा हो जाने की स्थिति में तथा कतिपय परिस्थितियों में जब कि पति जीवित ही हो, फिर भी पुनर्लग्न कर सकने का अधिकार है। भले ही यह अधिकार अंध-परंपराओं के गह्वर में इतना विलीन हो गया हो कि उसका प्रकट रूप आज उतना स्पष्ट न हो, फिर भी जब हमारे उपनिषद् इस अधिकार को मुक्तकण्ठ से समर्थित करते हैं, और यहाँ तक कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी उसकी अनुमति देता है, तो कोई कारण नहीं है कि समाज उसे अपनाने में किसी पाप या संकोच का अनुभव करे।

ध्रुवस्वामिनी की सूचना में प्रसाद जी स्वयं लिखते हैं - " शास्त्रीय मर्यादित भावों को चंद्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न असंभव, विलक्षण और कुरुचिपूर्ण मालूम हुआ ---- क्यों इसको के संवाद ताम्रपत्र के पाठ में संदेह किया जाने लगा, किंतु बाणभट्ट के हर्षचरित्र की आलोच्य पंक्तियाँ एवं राजशेखर के काव्य मीमांसा ग्रंथ की निम्न पंक्तियाँ -

" दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवी ध्रुवस्वामिनी
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीरामगुप्तो नृपः।"[1]

यह घटना केवल कपोल कल्पना कहकर नहीं उड़ायी जा सकती[2]।

१- राजशेखर।

२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; सूचना पृ० ५।

नारद स्मृति में भी लिखा है " स्त्रियों की रचना संतानोत्पत्ति के लिए हुई है। स्त्री क्षेत्र है और पुरुष उस क्षेत्र में बीज डालने वाला। अत: बीजयुक्त (पौरुष संपन्न) पुरुष को ही स्त्री देनी चाहिये। बीजहीन को क्षेत्र की आवश्यकता नहीं।"

अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ।[1]

(नारद)

प्रसाद जी ने आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का भी उल्लेख किया है, जिसमें मोक्ष के प्रसंग के अंतर्गत स्त्रियों के अधिकार की घोषणा की है -

" नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्बिषी
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपि वा पतिः।"[2]

इन आधारों पर ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त के स्थान पर चंद्रगुप्त के साथ पुनर्लग्न एक ऐतिहासिक घटना के साथ ही एक सोद्देश्य उठाई गई समस्या भी है। ध्रुवस्वामिनी का सामाजिक विडंबनाओं में घुटता हुआ व्यक्तित्व अपने प्रेम-पात्र को प्रेम पाने को ललक रहा है, फिर भी वह एकबार अपने उस अधिकार की माँग करती है जिसे कोई भी पत्नी अपने पति से माँगने का दावा करती है -" मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अवलम्बन बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते ----"[3] ध्रुवस्वामिनी का यह कथन आज की अधिकांश भारतीय नारियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का परिचायक है।

१-प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; सूचना ; पृ० ७।
२-प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी , सूचना ; पृ० ६।
३- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० २६, २७।

स्त्री का पति पर अक्षुण्ण अधिकार हुआ करता है। संभवत: इतना बड़ा अधिकार एक रानी को एक राजा पर नहीं मिला करता। अत: ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त से स्वयं अपने मनोभाव व्यक्त करना चाहती है और कहती है - " मैं केवल रानी ही नहीं, किंतु स्त्री भी हूं; मुझे अपने को पति कहनेवाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नहीं।"[१]

अपने जीवन की संपूर्ण संवेदनाओं और असफलताओं की ममता और कारुण्य की अनुभूति में छिपाकर, वह अपने पत्नीत्व का कर्तव्य-निर्वाह करती चलती है। लेकिन रामगुप्त उसे उपहार में देने की वस्तु समझता है और पति होते हुए भी शकराज के पास भेज जाने का आदेश देता है। तब भी ध्रुवस्वामिनी धैर्य के साथ उससे विनय करती है - " राजा, आज मैं शरण प्रार्थिनी हूं ---- मैं तुम्हारी होकर रहूंगी ---- राज्य और संपत्ति रहने पर राजा को - पुरुष को- बहुत सी रानियां और स्त्रियां मिलती हैं; किंतु व्यक्तित्व का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।"[२] किंतु इस याचना के उपरांत भी पति का पुरुषार्थ नहीं जागता। स्वार्थान्धता, पदलोलुपता और क्लीवत्व पति के रोंगटों में किसी भी प्रकार का स्पन्दन नहीं होने देता।

" प्राय: नारी सदैव ही अपने पति को बल- पौरुष शाली और उद्यमी व्यक्ति के रूप में देखना चाहती है, न कि सुकुमार, कर्महीन भोगविलास में लिप्त रहने वाले हीन पौरुष व्यक्ति के रूप में। उसकी सदैव यही आकांक्षा रहती है और इसी में वह गर्व का भी अनुभव करती है कि उसका स्वामी स्त्रैण नहीं वरन् पर्याप्त शक्तिशाली, यथेष्ठ बलिष्ठ और सब प्रकार की बाधाओं से जूझने में है- केवल ऐसा व्यक्ति ही उसके सच्चे प्रेम का अधिकारी हो सकता है, अन्यथा

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० २७ -
२- वही ,, ; पृ० २८ -

विलासी व्यक्ति से तो वह हृदय के अंतरतम से घृणा करती है।"[१] यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जो सार्वदेशिक है।

चंद्रगुप्त के प्रति उसके सहज स्नेह का कारण उसका अदम्य, साहसी पौरुष का जीवित प्रतीक और शक्ति का पुंज होना है। वह उसे सदैव अपनी रक्षा करने में सर्वथा सशक्त और समर्थ पाती है।

अंत में वह धर्मशास्त्र के पंडितों पर व्यंग्य कर उनके कर्मकांड को भी निराधार बतलाती हैं। वह कहती है कि यह समाज का घोरतम अन्याय है कि "स्त्रियों को धर्म-बंधन में बाँधकर उनकी सम्मति के बिना, उनके अधिकार का अपहरण होता है और धर्म के पास कोई प्रतिकार कोई संरक्षण नहीं होता जिससे वे अभागी स्त्रियाँ अपनी आपत्तिकाल में अवलम्ब माँग सकें।"[२]

यहाँ पर प्रसाद जी विवाह का आदर्श "स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार, रक्षा और सहयोग के रूप में प्रस्तुत करते हैं।"[३] पुरोहित भी शास्त्रों की व्यवस्था ध्रुवस्वामिनी के पक्ष में देते हैं - "यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-किल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं है।"[४]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रसाद विवाह को मात्र कायिक संपर्क का वैध साधनमात्र नहीं मानते। विवाह के लिए दो हृदयों का सम्मिलन और दोनों का पारस्परिक प्रेम एक अनिवार्य तत्व के रूप में उन्होंने माना है। केवल सामाजिक प्रचलन के रूप में, या धार्मिक दायित्व के रूप में विवाह की सार्थकता को स्वीकार करने में वे तत्पर नहीं हैं। यहाँ तक कि ऐसे विवाह को वे निरर्थक भी मानते हैं,

---

१- डा०शंभुनाथ पाण्डेय : प्रसाद अंक ; पृ० २५७ -
२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ५२ -
३- वही ,, ; पृ० ५४ -
४- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ६१ -

जिसमें दो हृदयों का सम्मिलन और प्रेम नहीं है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि यदि दो हृदयों में पारस्परिक प्रेम अपनी सच्चाई के साथ है तो फिर विवाह के धार्मिक संस्कार की कोई अनिवार्य आवश्यकता भी नहीं रह जाती। अपने साहित्य में नारी पात्रों के वैवाहिक प्रकरणों में वे अपनी इसी क्रांतिकारिणी विचारधारा से चले हैं।

विवाह के स्थान पर प्रेमतत्व की प्रधानता -

प्रसाद जी विवाह को " हृदय और हृदय का सम्मिलन "[1] मानते हैं। विवाह की कल्पना में वे प्रेम-तत्व को प्राथमिकता देते हैं। यहां तक कि वे प्रेम को विवाहित जीवन की प्रथम आवश्यकता मानते हैं। अपने साहित्य में प्रसाद जी ने स्थान - स्थान पर ऐसे नारी पात्रों का सृजन किया है, जो परस्पर प्रेम की तल्लीनता में इतने तन्मय हैं, कि उन्हें किसी संस्कार जन्य विवाह, साक्ष्य या समझौते की आवश्यकता नहीं पड़ती।[2] कामायनी में आदि पुरुष मनु और आदि नारी श्रद्धा का आत्मिक और शारीरिक दोनों प्रकार का मिलन किसी प्रकार के संस्कार की औपचारिकता के उपरांत नहीं दिखाया गया है।[3] यहां दो हृदयों का एक दूसरे के प्रति आत्मीयता का कोमल तंतु एक ऐसे महामिलन की भूमिका प्रस्तुत कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप मानव की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी जहां प्रेम की प्रधानता रही है, प्रसाद ने प्रेम की परिणति विवाह के रूप में कराना आवश्यकता नहीं माना है। यहां तक कि वे ऐसे भी प्रेम के पक्षपाती हैं कि हृदयों में प्रेम की उद्भावना होकर आगे फिर किसी मिलन का कोई अवसर न उपस्थित हो। वाजिरा एक ऐसी स्त्री है जो केवल हृदय के भीतर प्रेम उत्पन्न हो जाने को ही जीवन भर की विभूति मान लेती है, और उसका विश्वास है कि प्रेम की भावना हृदय में उत्पन्न हो जाने के बाद

१- प्रसाद : कंकाल, ` तृतीय खंड ` ; पृ० १६४ -

२- देखिए कंकाल ; पृ० १६६ -

३- देखिये कामायनी , " श्रद्धा सर्ग " ; पृ० २६८ -

कोई आवश्यकता नहीं कि प्रेमी पात्र से परिचय ही हो जाय या बातचीत का अवसर भी मिले। वह कहती है " ----- हम लोग इसी तरह अपरिचित रहें, अभिलाषायें नये रूप बदलें, किंतु वे नीरव रहें। उन्हें बोलने का अधिकार न हो। बस तुम हमें एक करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता के फूल तुम्हारे चरणों पर चढ़ाकर चली जाया करूंगी।"[१]

प्रसाद ने पुरुष और स्त्री के बीच जिस आंतरिक प्रेम की कल्पना की है, कभी - कभी पाश्चात्य समाज के आदर्शों के अनुकूल मालूम पड़ती है। पाश्चात्य परंपरा में विवाह की परिणति के लिए पहले प्रेमोपचार की आवश्यकता होती है। इस प्रथा के अनुसार युवक और युवती को कुछ समय तक एक दूसरे के साथ रहकर एक दूसरे को भली - भाँति पहचान लेने का अवसर दिया जाता है।

इस प्रकार पाश्चात्य समाज में विवाह की तैयारी के लिए प्रेम का जानबूझकर एक अभिनय किया जाता है। प्रसाद जी इस अभिनय से सहमत नहीं हैं। उनके साहित्य के अनुशीलन से ऐसा कहीं भी दृष्टांत नहीं मिलता जिसके आधार पर कहा जा सके कि प्रेम कोई ऐसा तत्व है, जो केवल इस कारण किसी पुरुष और स्त्री के बीच उत्पन्न हो सकता है कि वे एक दूसरे को प्रेम करने के प्रयत्न कर रहे हैं, अथवा यह कि वे इस बात की अजमाइश कर रहे हैं कि वे देखें कि दोनों के बीच परस्पर प्रेम हो सकता है अथवा नहीं।

प्रसाद जी आत्मा की सहज अनुभूति में विश्वास करते थे। इसीलिए उन्होंने प्रेम को ऐसा व्यवसाय नहीं माना है, जिसे जानबूझकर व्यवहारिक दृष्टि से किया जाय वस्तुतः प्रेम के क्षेत्र में वे एक प्रकार से अंधता, अतीत भावावेगमें अधिक विश्वास करते थे। यदि इस अनुभूति ने केवल आत्यधिक धरातल पर वासनाजन प्रलोभनों और आकर्षणों का मार्ग अपनाया तो वह इन्द्रियजन्य आकर्षण है, प्रेम नहीं। यदि उस अनुभूति ने हृदय में सात्विक वृत्तियों को उत्पन्न कर निःस्वार्थ और वासना रहित समर्पण का मार्ग अपनाया तो फिर वहीं से प्रसाद जी प्रेम

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ७६।

की नींव गहरी और दृढ़ मानते हैं। वस्तुत: प्रसाद के साहित्य में स्थान - स्थान पर नवयुग की चेतना बोल उठी है - " घंटी । जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं तुम्हें सर्वस्व अर्पण करता हूँ और तुम मुझे ; इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों - मंत्रों का महत्व कितना । झगड़े की, विनिमय की, यदि संभावना रही, तो समर्पण ही कैसा । मैं स्वतंत्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या !"[1]

पाश्चात्य समाज की भाँति प्रसाद ने प्रेम के क्षेत्र में सामाजिक समझौते के सिद्धांत को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार किया है। वे भारतीय संस्कृति के सशक्त प्रहरी हैं। प्रसाद नारी के लिए स्वतंत्र रूप में जीवन साथी चुनने का अधिकार देने के समर्थक हैं। उन्होंने कामना के मुख से कहलाता है - " यह तो इस द्वीप का नियम है कि प्रत्येक स्त्री - पुरुष स्वतंत्रता से जीवन भर के लिए अपना साथी चुन लें।[2] किंतु इस अधिकार को वे निरंकुश नहीं बनाना चाहते। कामना आगे कहती है स्त्री के ऊपर यदि किसी का डर या भय होना चाहिये तो नियमों का। वह नियमों की आज्ञा को न तोड़े, फिर किसी से मिले जुले स्वतंत्र रहे, साथ रहे। निरंकुशता आने पर जो स्थिति होती है उसे लालसा के व्यक्तित्व में देखा जा सकता है -

" दारुण ज्वाला, अतृप्ति का भयानक अभिशाप। मेरे जीवन का संगी कौन है ? मैं लालसा हूँ। जन्म भर जिसका संतोष नहीं हुआ। ---- उच्छृंखल उन्मद विलास - मदिरा की विस्मृति। विहार की क्रान्ति। फिर भी लालसा। -----"[3]

कंकाल में भी ऐसे सामाजिक संबंधों और प्रेम की कसौटी पर रखकर नारी पात्रों की व्यंजना की गई है। गाला के शब्दों में - " स्त्री जिससे प्रेम करती है,

---

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० १६४ -

२- प्रसाद : कामना ; पृ० १५ -

३- प्रसाद : कामना ; पृ० ७५ -

उसी पर सरवस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है, यदि वह उसका प्रेमी हो तो। स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है। विधाता का ऐसा ही विधान है।[1]

एक घूंट में विवाहित जीवन को स्वच्छंदता की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। यह सत्य है कि 'आत्मा का स्वास्थ्य, सौंदर्य और तारुण्य प्रेम की स्वतंत्रता' में ही है। बनलता कहती है - "मैं जिसे प्यार करती हूं वही - केवल वही व्यक्ति मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को - जो मेरे सुंदर हृदय का आवरण है - सतृष्ण देखे। उस प्यार में तृप्ति न हो, एक-एक घूंट वह पीता चले, मैं भी पिया करूं समझे?"[2] बनलता के शब्दों में जैसे प्रेम की एकनिष्ठता बोल रही है। "सबसे एक - एक घूंट पीते पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना"[3] प्रसाद जी का संदेश भी यही है जो उन्होंने आनंद के माध्यम से 'एक घूंट' में व्यक्त किया है।

अजातशत्रु और स्कंदगुप्त में भी ऐसे नारी पात्रों की कल्पना है जो प्रेम की भीतरी अनुभूति में इतनी तृप्त हैं, कि उन्हें किसी विवाह की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं हुई है।[4] देवसेना स्कंदगुप्त को प्यार करती है, वह प्यार यद्यपि अंतिम समय तक भी शारीरिक मिलन के रूप में परिणति नहीं हो पाता, तो भी देवसेना की एकनिष्ठता में कोई अंतर नहीं आता वह अपनी सुंदर कल्पना को जो आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, स्वर्ग मानती है। वह विजया से कहती है - "वही स्वर्ग है। जहां हमारी सुंदर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है। वह इसी लोक में मिलता है। जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २२४ -
२- प्रसाद : एक घूंट ; पृ० ५१, ५२ -
३- प्रसाद : एक घूंट ; पृ० ५२ -
४- स्कंदगुप्त के नारी पात्र -

है ।"[१]

देवसेना का हृदय अत्यंत विशाल है । उसका प्रेम निश्छल, स्वार्थरहित है । यही कारण है कि प्रेम की पवित्र अनुभूति को अपने ही अंतर में संजोएँ, संगीत में अपने को विस्मृत किये रहती है । वह कहती है - " मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है । नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता कचोटने का सुख मिलता है । जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूं । उसी में सब छिप जाता है ।"[२] उसके प्रेम में त्याग है । वह अपनी स्वार्थ लिप्साओं के वशीभूत होकर स्कंद को अकर्मण्य नहीं बनाना चाहती । वह निष्काम भाव से अपने हृदय से उसी एक की उपासना करने की प्रार्थना करती है - " ---- नाथ ! मैं आपकी ही हूं, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती ।"[३]

तितली के प्रेम में कर्मनिष्ठता है । मधुबन की अनुपस्थिति में वह उसकी स्मृति को सयत्न संजोये हुये जीवन के कठोर कर्तव्यका निर्वाह करती है । तितली का अविचल विश्वास है कि -"संसार पर उनको चोर, हत्यारा, और डाकू कहे, किंतु मैं जानती हूं कि वह ऐसे नहीं हो सकते । इसीलिए मैं कभी उनसे घृणा नहीं कर सकती । मेरे जीवन का एक - एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए संतुष्ट है ।"[४] इस विश्वास के परिणामस्वरूप ही उसे मधुबन पुनः प्राप्त हो जाता है ।

कोमा[५] प्रेमानुभूति को जीवन का सर्वस्व समझती है । प्रणय के पंथ की अनुगामिनी होकर उसे प्रपीड़न, निराशा और उपहास ही मिल सका है । फिर भी वह सब कुछ दैन्य और त्याग के बल पर सहती है और अपने प्रेम का दीप

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ५६ -
२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ६२ -
३- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १३५ -
४- प्रसाद : तितली ; पृ० २५६ -
५- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी , कोमा नामक स्त्रीपात्र -

अहाये रहती है। शकराज के प्रति उसकी एकनिष्ठा अनन्य है।

" कोमा प्रसाद के कवि हृदय का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी है। उसके शब्दों में करुणा और स्नेह का सम्मिश्रित स्वर सुनाई पड़ता है। शकराज को वह प्यार करती है, उसे पाकर वह अनुभूतिमय बन गयी है, किंतु शकराज उसे प्रेम का प्रतिदान नहीं दे सका।"[1] वह कहती है - " राजा तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव-शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमय बन गई हूं।"[2]

सुवासिनी के चरित्र द्वारा प्रसाद ने प्रेम की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया है। राक्षस उसके हृदय का प्रेमी नहीं, अपितु उसके रूप और गुण का ग्राहक है और उसका अंतिम लक्ष्य भ्रमर की भांति अपनी वासनाओं की पूर्ति करना है। यही कारण है कि सुवासिनी उससे विवाह के अतिरिक्त अन्य संबंध स्थापित करने के लिए कहती है - " तुम मेरे रूप और गुण के ग्राहक हो, और सच्चे ग्राहक हो, परंतु राक्षस! मैं मानती हूं कि यदि ब्याह छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार मैं तुम्हारी हो जाती तो तुम ब्याह से अधिक सुखी होते ----"।[3]

इस प्रकार प्रसाद ने विवाह के लिए प्रेम की एक अनिवार्यता माना है। यदि जीवन में प्रेम ने स्थान पा लिया तो फिर विवाह की पूर्णता हो जाती है, यदि विवाह न भी हुआ तो प्रेम अपने स्थान पर अविचल और एकनिष्ठ है। विवाह प्रेम के मार्ग में बाधक नहीं है। प्रेम विवाह की एक रिक्ति की पूर्ति करता है। प्रसाद अपने साहित्य में इसी मान्यता के आधार पर चले हैं और उन्होंने नारी - चरित्रों के गठन में इस तत्व को अवश्य ध्यान में रखा है।

१- कृष्णदेव शर्मा : ध्रुवस्वामिनी समीक्षा ; पृ० १८४ -

२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ४३ -

३- प्रसाद : चंद्रगुप्त, " चतुर्थ अंक " ; पृ०१६२ -

दांपत्य परंपरा के आदर्श नारी - पात्र -

उन्होंने अपने साहित्य में नारियों के लिए स्वाभिमान, स्वातंत्र्य आदि के जो आदर्श प्रस्तुत किये हैं उनकी प्रेरणा पूर्णतः भारतीय है। उन्होंने नारी आदर्शों के लिए मौलिक प्रेरणा पाश्चात्य नारी समाज से नहीं ग्रहण की। वे नारी की स्वतंत्रता का पोषण भारतीय संस्कृति के माध्यम से ही करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने यत्र-तत्र वैवाहिक संस्था को अव्यवहारिक कहते हुए भी प्रकृति और पुरुष के परिणय बंधन को विवाह के पुनीत बंधन में बांधकर उसकी शाश्वतता और पावनता प्रतिष्ठित करनी चाही है। उन्होंने भारतीय नारी के उस आदर्श को किसी भी नारी समाज का महानतम आदर्श माना जिसमें कि पत्नी पति को अपना आराध्य समझती हुई जीवन - पर्यन्त समर्पण की भावना से अपनी दांपत्य साधना में लीन रहती है। उनके साहित्य में अनेक ऐसे नारी पात्र हैं, जिनमें पति - परायणता आदर्श की मात्रा तक पायी जाती है। वस्तुतः प्रसादजी नारी के उदात्त भावों के पोषक थे और जहां उन्होंने गार्हस्थ्य धर्म की प्रतिष्ठा के विपरीत यौन संबंधों की प्रबलता देखी वहां उनकी लेखनी क्षुब्ध हो उठी है। प्रसाद जी आध्यात्मिकता के समर्थक थे और नारी - पुरुष के लिए तभी संबल बन सकती है जब कि वह स्वयं हृदय की कलुषित वृत्तियों को दूर फेंकती हुई सद्‌वृत्तियों की प्रेरणा पर पुरुष के साथ जीवन - पर्यन्त कंधे से कंधा मिलाकर चले। "सहधर्मिणी" नाम उसका तभी सार्थक होगा।

उपन्यासों में भी प्रसाद जी ने पातिव्रत्य धर्म की आदर्श प्रतिष्ठा की है। प्रसाद जी ने पत्नी को केवल पत्नी या प्रेमिका रूप में ही नहीं देखा है, वरन् वह सहचरी भी है, पतिव्रता, सहधर्मिणी, सती और गृहिणी भी है। "पत्नी होने पर वह केवल प्रेयसी नहीं रहती, वरन् कर्तव्य और त्याग उसके अनिवार्य आभूषण या बन्धन हो जाते हैं, जो उसकी चंचलता को गंभीरता में और अनुराग को तपस्या में परिवर्तित कर देते हैं। उसमें पूर्ण निष्ठा और परितृप्ति का अपूर्व

संयोग उत्पन्न हो जाता है ---- ।"[१]

अजातशत्रु की वासवी पत्नी, माता और सपत्नी तीनों रूप में हमारे समक्ष एक आदर्श भारतीय नारी के रूप में आती है। वह नारी हृदय के उदात्त मनोभावों का प्रतिनिधित्व करती है। उसके व्यक्तित्व में भारतीय नारी आदर्शों की भावधारा प्रवाहित है। बौद्ध धर्म के आदर्शों ने उसकी आदर्शात्मक मर्यादा को और भी समुज्ज्वल बना दिया है। वह कहती है -" कुल-शील-पालन ही तो आर्य ललनाओं का परमोज्ज्वल आभूषण है। स्त्रियों का यही मुख्य धन है।"[२]

वासवी के हृदय में सेवा की निस्सीम भावनायें भरी हुई हैं। इसीलिए वह वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धांत को मानती हुयी भी अपने अस्तित्व की पूर्णता पति की सेवा में मानती है। पति की सेवा में जो शांति है वह किसी भी राज्य-सुख में नहीं प्राप्त कर पाती। उसके लिए पति के सानिध्य में कोई भी भौतिक वैभव व सुख सामग्री अनिवार्य नहीं है। वह कहती है -" भगवान्! हम लोगों के लिए तो एक छोटा - सा उपवन पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी।"[३]

वासवी स्वयं पतिपरायणा तो है ही साथ ही उसका हृदय इतना उदार है कि उसमें सपत्नी छलना के प्रति भी कोई रागद्वेष नहीं है। यहाँ तक कि वह छलना को भी पतिभक्ति धर्म का ज्ञान कराती है, और उसके हृदय में नारी सुलभ कोमल और स्निग्ध गुणों को उत्पन्न करने का यत्न करती है -" रानी! यही जो जानती कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है, तो पुरुषार्थ का ढोंग क्यों करती।"[४]

सतीत्व नारी जीवन का अनन्यतम उद्देश्य है। यदि नारी के हृदय में पतिपरायणता और नारी सुलभ कोमल वृत्तियों की प्रधानता है तो कोई कारण

१- डा० मक्खनलाल शर्मा : हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा ; पृ० ९५ -
२- प्रसाद : अजातशत्रु, " पहला अंक " ; पृ० ५१।
३- वही ,, ,, ; पृ० ३१।
४- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १०६, ७७ -

नहीं कि उसमें आदर्श नारी के अन्य गुण न उपस्थित हों। एकनिष्ठ पत्नीत्व सुकोमल वात्सल्य को भी जन्म देता है, और वासवी में यह वात्सल्य भाव इतना अधिक भरा हुआ है कि अजातशत्रु को संकट में पड़ा देख वह रणचंडी के समान स्वयं कौशल जाती है और अजातशत्रु को आसन्न संकट से मुक्त कराती है।

डा० गुलाबराय जी के शब्दों में " ----- उसका चरित्र पवित्र उज्ज्वलता से पूर्ण है। प्रेम, दया और अपनत्व उसके जीवन के मंत्र है। वह भारतीय आदर्शों का आरक्षण करनेवाली नारी की शुद्ध प्रतिमूर्ति है। माता का स्नेह, सती का उत्तरदायित्व और नारी का गौरव उसमें मिलता है।"[1] उसमें पतिपरायणता, वात्सल्य और सपत्नी के प्रति सहानुभूति तो है ही, साथ ही राजपरिवार के संपूर्ण सुख की कामना भी उसमें विद्यमान है। वह सपत्नी छलना से कहती है -" छलना! यह गृह- विद्रोह की आग तू क्यों जलाया चाहती है? राजपरिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है।"[2]

इस प्रकार वासवी के व्यक्तित्व की सारी महानता के मूल में उसका एकनिष्ठ पत्नीत्व ही आधार है।

अजातशत्रु नाटक की पद्मावती के चरित्र पर भी वासवी के आदर्श गुणों की छाया स्पष्ट अंकित है। वह दिव्य नारी गुणों से संपन्न मगध की राजकुमारी है। उसमें नारी सुलभ उदात्त गुण विद्यमान है। कोमलता और दयालुता उसके व्यक्तित्व की प्रथम विशेषता है। गौतम का अनुपम व्यक्तित्व उसके लिए शुद्ध हृदय से उपासना की वस्तु है। भगवान् गौतम बुद्ध के उपदेशों से पूरित उसका मंदिर पवित्रता का केंद्र बन जाता है, किंतु पद्मावती को संदेह का कारण बनना पड़ता है। भगवान् बुद्ध के प्रस्थान पर चारों और भगवान् बुद्ध की जय- जयकार हो रही है। पद्मावती भी उल्लसित होकर खिड़की के माध्यम से भगवान् बुद्ध के पावन दर्शन

१- गुलाबराय : प्रसाद की कला, पृ० १२८ -

२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० २६ -

करती है और कहती है - " अहा ! संघ - सहित करुणानिधान आ रहे हैं, दर्शन तो करूँ ।"[1] किंतु उसकी यह लालसा उदयन के संदेह और क्रोध का कारण बन जाती है, और वह संदेह भरे शब्दों में कहता है - " - पापीयसी, देख ले, यह तेरे हृदय का विष - तेरी वासना का निष्कर्ष आ रहा है । इसीलिए न यह नया झरोखा बना है ।"[2] किंतु पद्मावती आत्मविश्वास के साथ शांतिपूर्वक पति को उत्तर देती है -- " प्रभु ! स्वामी ! क्षमा हो ! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं है, किंतु अमृत है । नाथ ! जिसके रूप पर आपकी भी असीम भक्ति है उसी रमणी-रत्न मागन्धी का भी जिन्होंने तिरस्कार किया था - शांति के सहचर, करुणा के स्वामी - उन बुद्ध को, मांसपिण्डों की कभी आवश्यकता नहीं ।"[3]

कितना अगाध विश्वास उसके हृदय में भगवान् बुद्ध के प्रति है और कितनी उज्ज्वल उसकी भक्ति है । प्रसाद की नारियों के रूप - गुण, आकृति, मुद्रा और व्यवहार आदि के चित्रण में जहाँ ऐतिहासिक प्रमाणों और सामाजिक रूढ़ियों का सहारा लेते हैं; वहाँ प्राचीन कला - मूर्तियों और प्रतिमाओं से भी उन्होंने बिंब ग्रहण किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मावती के चित्रण में, जो बुद्ध की प्रतिमा में ही अपने जीवन का समस्त सार समझती है, प्रसाद जी ने निम्नलिखित चित्र से प्रेरणा के तत्व लिए हैं ।[4]

पद्मावती के चरित्र में अनेक उदात्त गुणों की कल्पना की है, जिनमें सहिष्णुता, कोमलता, पतिपरायणता तथा विश्व-कल्याण की कामना आदि मुख्य हैं । इन गुणों के कारण उसका व्यक्तित्व परम श्रद्धास्पद हो गया है । उसमें पतिपरायणता आदर्श रूप में है । पति की प्रत्येक इच्छा के संमुख उसका सर झुका

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ५६ -
२- वही ,, ; पृ० ५६ -
३- वही ,, ; पृ० ५६-
४- पद्मावती औरंगाबाद के बौद्ध गुफा मंदिर ३ की भ[illegible] उपासना से प्रभावित मालूम पड़ती है (नम्बर १६ - १७)

हुआ है। वह जिस शक्ति को लेकर चली है, उसमें सबसे बड़ी शक्ति है निश्छलता।

वह निरपराधिनी होकर भी इस बात में विश्वास करती है कि यदि उसके स्वामी द्वारा उसे दंड भी मिलता है तो वह उसके लिए सौभाग्य का कारण होगा। वह यहाँ तक कहती है - " प्रभु! पाप का सब दंड ग्रहण कर लेने से वही पुण्य हो जाता है।"[१]

अजातशत्रु में मल्लिका का व्यक्तित्व अपने पति परायणा रूप में वासवी के व्यक्तित्व से और भी प्रखर दृष्टिगोचर होता है। वह पत्नी और पति के बीच के अंतर को भलीभाँति पहचानती है। युद्ध में जाने वाले पति के मार्ग में वह कंटक बनकर नहीं आना चाहती। वह जानती है कि उसका पति उसका आराध्य उसके लिए अनुराग की वस्तु है, सुहाग की वस्तु है, किंतु वह ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसे वह केवल अपने सुहाग मंजूषा में संजोकर रख सके। उसी के शब्दों में - " कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक मैं नहीं बनना चाहती। वह मेरे अनुराग, मेरे सुहाग की वस्तु है। फिर भी उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व है, जो हमारी शृंगार-मंजूषा में बंद करके नहीं रखा जा सकता ----।[२]

मल्लिका वीर क्षत्राणी की भाँति इस बात में गौरव का अनुभव करती है कि उसके पति वीर है और युद्ध में गये हैं। वह वीरों का धर्म ही युद्ध करना मानती है, और मल्ल जाति की स्त्रियों में अपने आपको अत्यंत ही सौभाग्यशालिनी इस आधार पर मानती है कि उसके पति में वीरत्व के सभी गुण उपस्थित हैं। उसे अपने पति पर अभिमान है " ----- उस दिन मेरा परम सौभाग्य था, सारी मल्लजाति की स्त्रियाँ मुझ पर ईर्ष्या करती थीं। जब मैं अकेली रथ पर बैठी थी, मेरे वीर स्वामी ने उन पाँच सौ मल्लों से अकेले युद्ध किया -----"[३]।

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ५७ -
२- वही ,, ; पृ० ७० -
३- वही ,, ; पृ० ७१ -

मल्लिका अपने सधवा रूप में जितनी महान् है, विधवारूप में भी वह उतनी ही महान् कही जा सकती है। पूर्ण समर्पण और स्कात्मभाव से युक्त सधवा जीवन ही तुच्छ वैधव्य में प्रतिपादित हो पाता है, वही उसे वियोग के दाह को सहने की शक्ति देता है। वैधव्य का संकट सहसा उसके कंधों पर गिर जाता है और वह दुखों के वातावरण में डूबने लगती है, किंतु उसमें पति - परायणता इतनी अधिक मात्रा में है, मानों उसका वैधव्य ही उसके पथ का निर्माता बनकर आ जाता है। वह दुखी भी होती है, किंतु उसकी अंतश्चेतना उसे शीघ्र ही अपने कर्तव्य पथ पर लाकर खड़ा कर देती है। वह अपने आपसे कहती है - " संसार में स्त्रियों के लिए पति ही सब कुछ है, किंतु हाय! आज मैं उसी सौभाग्य से वंचित हो गयी हूं ---- हे प्रभु मुझे बल दो - विपत्तियों को सहन करने के लिए - बल दो!"[१] इस प्रकार उसका आत्मविश्वास उसके दुख के दिनों का संबल बन जाता है। वह अपनी विपत्ति को सह सकने की सामर्थ्य भगवान् गौतम बुद्ध से मांगती है, और उसे पूरा भरोसा हो जाता है कि भगवान् की शरण में पहुंचकर वह किसी भी सांसारिक बोझ से मुक्त हो गयी है।

स्त्री - सुलभ सौजन्यता और संवेदना, कर्तव्य और धैर्य की शिक्षा को वह व्यवहार क्षेत्र में अपने पुनीत आचरणों द्वारा सार्थकता प्रदान करती है। उसके चरित्र में सद्वृत्तियों का दृष्टान्त निदर्शन हुआ है, वह अपने महान् गौरवशाली गुणों की गरिमा के द्वारा सामान्य लौकिक धरातल से बहुत ऊंची उठी प्रतीत होती है।

इसी प्रकार स्कंदगुप्त नाटक की देवकी भी अपने आदर्शों के प्रति आस्थावान और धर्मपरायणा है। घोर आपत्तिकाल में उसका धैर्य अनुकरण की वस्तु है। वह विपत्तिकाल के समय भगवान् की " स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान " करती है। उसका पत्नीत्व विकसित होकर ही निश्छल वात्सल्य के रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ तक कि पुत्र वियोग में प्राण त्याग कर सकने में भी समर्थ होती है। देवकी के व्यक्तित्व में प्रसाद जी ने उसी स्त्रीत्व तथा मातृत्व की कल्पना की है।

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ७८ -

देवसेना में विवाह सूत्र में बिना बंधे ही जहाँ समर्पण की एकांतता है, वहीं भारतीय आदर्शों के अनुरूप प्रेम, त्याग, वेदना, कोमलता आदि के गुण भी अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ विद्यमान हैं। उसका प्रेम वासना के पंक से बहुत ही दूर है, यहाँ तक कि उसका प्रिय पात्र स्कंदगुप्त विजया की ओर आकृष्ट दिखाई देता है, किंतु इसे देखकर भी देवसेना के हृदय में कोई ईर्ष्या या कलुष के भाव नहीं उत्पन्न होते, उसे अपने प्रेम की दृढ़ता पर विश्वास है, और उसे इस बात की ईर्ष्या नहीं है कि विजया उसके मार्ग की बाधक बनकर आ रही है।

देवसेना की विचारधारा कुछ उन्नतर भावभूमि पर चलती है। उसके जीवन का आदर्श एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुंदर प्रभात में फूला हुआ, पारिजात वृक्ष है।[१] देवसेना कहती है - " जहाँ हमारी कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वहीं स्वर्ग है, वही विहार का, वहीं प्रेम करने का केवल स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है।[२] स्कंदगुप्त से वह प्रेम करती है, पर उसका प्रेम समर्पण के सरोवर में नील कमल सा प्रतीत होता है। उसे वासना की दुर्गन्ध दूषित नहीं करने पाई है। इस प्रकार वह अपनी इच्छा का त्याग कर प्रेम के उज्ज्वल आदर्श को उपस्थित करती है।

प्रसाद जी की आदर्श दांपत्य की नारियों में " राज्यश्री " नाटक की राज्यश्री का स्थान भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह पतिपरायणा/स्नेहशीला और विचारवती पत्नी के रूप में सर्वप्रथम दिखाई पड़ती है। " राज्यश्री पति की इच्छा में ही संतोष मानती है। उसकी अनुपस्थिति में सदैव उसी के विषय में सोचती है। उसके स्वरूप में धर्म - भाव से उद्दीप्त उत्साह एवं त्याग - भावना का सम्मिश्रण प्राप्त होता है।"[३]

परंपरा से हिन्दू गृहिणी पति के समक्ष अपने समूचे व्यक्तित्व को

१- डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, " प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन ; पृ०१०२-
२- प्रसाद : स्कंदगुप्त, द्वितीय अंक ; पृ० ५६ -
३- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ; प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २२।

आत्मसात् कर देती है। पति की प्रसन्नता में वह अपने को प्रसन्न रखती तथा पति की खिन्नता में अपने को खिन्न पाती है। किंतु पातिव्रत से प्रसाद जी यह तात्पर्य नहीं समझते कि पत्नी का अस्तित्व ही विलुप्त हो जाय। उसका अपना निजी व्यक्तित्व भी है। उदाहरण के लिए राज्यश्री पति की प्रसन्नता में भले ही प्रसन्न रहना जानती हो, किंतु खिन्नता और अवसाद के क्षणों में वह स्वयं खिन्न और उदासीन होकर पति के लिए और भी चिंता का भार नहीं बनना जानती। उसमें वह शक्ति है कि पति के हृदय में बसे हुए भयंकर अवसाद को भी दूर कर सके। राज्यश्री अपने पति को उनके धैर्यवान, साहसी और पराक्रमी होने का स्मरण कराती है और प्रयत्न करती है कि उनका अवसाद एक आह्लाद में परिणत हो सके। पति के अवसादपूर्ण वाक्यों का उत्तर देती हुयी वह कहती है -" नाथ आप जैसे धीर पुरुषों को - जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शांत है - क्या मानसिक व्याधियां हिला या डुला सकती हैं? कभी नहीं।"[1]

किंतु उसका पति उसके इस आह्वान से पुलकित नहीं होता। वह बार-बार इस बात की दुहाई देता है कि यह मेरा हृदय सशंक होकर मुझे आज दुर्बल बना रहा है। गृहवर्मा यह अनुभव तो करता है कि पुण्यभूमि सिंहासन, सरल और अनुरक्त प्रजा, सुजला - सस्य श्यामला उर्वरा भूमि, स्वास्थ्य का वातावरण और सबसे सुंदर उत्तरापथ का कुसुम - यह पवित्र कुल" आदि सब कुछ उसका है, किंतु फिर भी " यह सुदूर व्यापी नील आकाश कितने कुतूहलों का परिवर्तनों का क्रीड़ास्थल है, यह आवरण है भी कितना काला - कितना ------"[2]।

राज्यश्री पति की चिंतापूर्ण बातों से कुछ विचलित होती है, किंतु तुरंत ही पति को रोकना चाहती है और कहती है - " बस नाथ बस। क्यों हृदय को दुर्बल बनाकर व्याकुलता बढ़ा रहे हो।"[3]

गृहवर्मा के हृदय में बैठा हुआ विषाद बहुत गहरा है। वह मनुष्य हृदय का स्वभाव दुर्बल कहता है, और संसार की प्रवंचनाओं की चर्चा करते हुए कहता है

१- प्रसाद : राज्यश्री ; पृ० १४ -

२- वही ,, ; पृ० १५ -

३- वही ,, ; पृ० १५ -

" प्रवृत्तियाँ बड़ी - बड़ी राज्यशक्तियों के हृदय को (मनुष्य हृदय को) घेरे रहती हैं। अवसर मिला कि इस छोटे-से हृदय-राज्य को आत्मसात् कर लेने को प्रस्तुत हो जाती है।"[१]

राज्यश्री उसे व्यर्थ की चिंताओं से रोकती है। वह उसे हृदय प्रसन्न करने का संतोष देती है और संगीत अथवा मृगया से हृदय परिवर्तन का सुझाव देती है। इस प्रकार प्रथम दर्शन में ही राज्यश्री हमारे समक्ष जिस रूप में आती है वह उसका एक प्रौढ़ पत्नीत्व रूप है। वह पति के मार्ग का प्रदर्शन करना जानती है। पति के मन को घेरे हुए अवसाद को दूर करने की प्रेरणा देना जानती है। पत्नी भारतीय मर्यादाओं के अनुकूल पति के लिए जीवन के प्रत्येक क्षण में सहचरी हुआ करती है। राज्यश्री यद्यपि जानती है कि राजनीतिक परिस्थितियों के घेरे में घिरा हुआ उसका पति चिंतातुर है, किंतु वह विवेकपूर्ण ढंग से पति की चिंताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है, और इसी बहाने वह पति को धर्माचरण की प्रेरणा देती है।

इस प्रकार राज्यश्री के व्यक्तित्व में सतीत्व, पौरुष और कर्तव्यनिष्ठा इतनी दृढ़ता के साथ भरी है कि हर परिस्थिति का सामना साहसपूर्वक करती है।

प्रसाद जी ने अपने इरावती उपन्यास में गृहिणी के इसी आदर्श धर्म की प्रतिष्ठा बन्धुदत्त के मुख से करवाई है - " एकमात्र पति - कुल की कल्याण-कामना से भरी हुई ; दिनान्त में भी सबको खिला-पिलाकर जो स्वयं यज्ञशिष्ट अन्न खाती हुई, उपालंभ न देकर प्रसन्न रहती है, वह गृहिणी है, अन्नपूर्णा है। ----- बाधा, विघ्न, रोग, शोक, आपत्ति, संपत्ति सबमें अटल अपने सब अधिकार का उपभोग करने वाली ऐसी स्त्री दुर्लभ है ----- "[२]।

१- प्रसाद : राज्यश्री ; पृ० १६ -

२- प्रसाद : इरावती ; पृ० ८७ -

विवाह एक सामाजिक समझौता -

वैवाहिक संबंधों की स्थिरता के संबंध में पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण में एक मौलिक भेद है। पाश्चात्य नारी समाज विवाह को एक सामाजिक समझौते (Social Contract) के रूप में मानता है। जिस प्रकार से किसी व्यापार में कुछ भागीदार संविदा के रूप में एक दूसरे के साथ आबद्ध हो जाते हैं, और एक बार उस संविदा में प्रविष्ट कर लेने के बाद वे उस व्यापार या उद्योग के प्रति उस समय तक उत्तरदायी भी जाते हैं जब तक कि या तो वह संविदा स्वयं समाप्त न हो जाय अथवा उसमें से कोई पदाकार किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अपने आपको पृथक न कर ले। उसी प्रकार वैवाहिक संबंध को भी किसी विशिष्ट स्त्री की ओर से अथवा किसी विशिष्ट पुरुष के प्रति अथवा किसी विशिष्ट पुरुष की ओर से किसी विशिष्ट स्त्री के प्रति किया गया एक समझौता माना जाता है। जब तक इस समझौते का वैध पक्ष (Legal aspects) पूर्ण रहता है, अथवा इस समझौते के भंग होने की मांग नहीं की जाती है, तब तक यह समझौता प्रभावकारी रूप में दोनों पक्षों के ऊपर लागू है, किंतु यदि किसी विशेष परिस्थिति में न्यायाधिकारी के समक्ष यह समझौता भंग कर लिया जाता है तो फिर इसकी प्रभावकारिता संबंधित पदाकारों पर लागू नहीं होती।

यह मानवीय जीवन के वैवाहिक संबंधों का एक सामाजिक पक्ष है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी पुरुष अथवा स्त्री अपनी इच्छानुसार किसी पुरुष अथवा स्त्री के साथ वैवाहिक संबंधों का समझौता कर सकता है, और जब तक दोनों के बीच में समझौता स्थिर रहता है, दोनों पति - पत्नी के रूप में बने रहेंगे, और समझौता भंग होने की स्थिति में दोनों एक दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जायेंगे और फिर अपनी इच्छानुसार फिर किसी दूसरे स्त्री या पुरुष के साथ यह समझौता कर सकेंगे।

पाश्चात्य सामाजिक जीवन में पिछली कई शताब्दियों से जो भिन्न-भिन्न समय पर क्रांतियां हुई उनमें औद्योगिक, आर्थिक संपन्नता और वैयक्तिक स्वतंत्रता

की भावना का बड़े वेग के साथ प्रसार हुआ। इस प्रसार के साथ विशेष रूप से नारी समाज के जीवन में वैयक्तिक स्वतंत्रताओं ने क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिये, उन्हीं परिवर्तनों का परिणाम है कि स्त्री - पुरुष का पारस्परिक संबंध भी आर्थिक ढाँचे पर आधारित हो गया। आज पाश्चात्य स्त्री समाज विवाह की पृष्ठभूमि में किसी आध्यात्मिक बंधन को मानने को तैयार नहीं है।

भारतीय दृष्टिकोण में विवाह एक अटूट और अविच्छिन्न संबंध माना गया है। इसकी पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। परंपरा से भारतवर्ष में यह प्रथा प्रचलित नहीं रही है कि एक स्त्री एक के बाद एक और फिर एक के बाद अनेक वैवाहिक संबंधों का समझौता करती रहे, और समाज उसे प्रश्रय देता रहे। इस आध्यात्मिकता के सैद्धांतिक पक्ष में कुछ महत्वपूर्ण और आदर्शात्मक तथ्य है। स्त्री - पुरुष वैवाहिक संबंधों में प्रविष्ट होने के बाद केवल वाणिज्य व्यवसाय की तरह एक दूसरे के भौतिक लाभ हानि में भागीदार नहीं रह जाते अपितु दोनों के बीच आत्मा और आत्मा तथा रक्त और रक्त का सम्मिलन होता है। इस सम्मिलन से दैहिक आकांक्षाओं की पूर्ति तो होती ही है, किंतु इसके साथ ही अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति होती है और वह है - जाति की संतति का सृजन। यदि वैवाहिक संबंधों को केवल सामाजिक समझौता मान लिया जाय तो इसका तात्पर्य है कि वासनाओं की उद्दाम प्रवृत्तियों को शांत करने के नवीन से नवीन माध्यम तो अवश्य मिलते जायेंगे, किंतु उसकी पृष्ठभूमि में कोई आत्मिक ममत्व अथवा हार्दिक तन्मयता का सूत्र नहीं रह जायेगा। यह एक पतन की स्थिति होगी जहाँ जाति की संतति के प्रति माता और पिता दोनों में से कोई उत्तरदायी न होगा फिर दांपत्य और पारिवारिक जीवन एक संयुक्त उद्योग की भाँति बन जायेगा, जिसमें जो भागीदार जहाँ तक पूँजी लगाये और जितना लाभ प्राप्त कर सके - का सिद्धांत प्रचलित हो जायेगा।

प्रसाद जी वैवाहिक संबंधों को पूर्णतया सामाजिक समझौते के रूप में स्वीकार नहीं करते। उन्हें वह आदर्शात्मक और आध्यात्मिक पक्ष बहुत ही स्पृहणीय लगता है जिसमें समर्पणगामी स्त्री अपने पति की उपासना में अपने अस्तित्व

को लगा दें और पुरुषोचित पराक्रम से युक्त पुरुष उस समर्पण से एक नवीन उत्कर्ष की प्रेरणा लेकर जीवन के कठोर दायित्वों की पूर्णता की ओर बढ़ चले। कामायनी में उन्होंने श्रद्धा के माध्यम से मनु को यही प्रेरणा दी है -

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत - विकार।

< < < <

बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुंदर खेल।[1]

किंतु प्रसाद जी भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष के सबल समर्थक होते हुए भी सामाजिक कुरीतियों के प्रति अंध आस्थावान नहीं थे। उन्हें ऐसी कोई चीज प्रिय नहीं थी जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व दबकर घुटन का अनुभव करे, और उस घुटन में अपनी आत्मा को दबा - दबाकर वह केवल इसीलिए उसे अस्तित्वहीन कर दे कि समाज की परंपरा या प्रथा उस प्रकार की है। इसीलिए उन्होंने जब किसी भी सामाजिक परंपरा में आत्मा के हनन और चेतना की घुटन का अनुभव किया है, वह परंपरा अथवा प्रथा चाहे कितनी ही आध्यात्मिक आवरण में क्यों न रही हो, प्रसाद जी ने खुलकर विरोध किया है, और अपने साहित्य में ऐसे अवसर लाने की सचेष्ट चेष्टा की है कि समाज के सामने उन परंपराओं की निस्सारता सिद्ध हो सके।

प्रसाद जी इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि सद्वृत्तियाँ और सदाचरण

१- प्रसाद : कामायनी ; पृ० ६१ -

से युक्त दांपत्य - जीवन एक आदर्श जीवन है । इसीलिए उन्होंने नारी के लिए सर्वप्रथम स्थान पारिवारिक जीवन में ही निर्दिष्ट किया है, किंतु यदि दांपत्य जीवन में सद्वृत्तियाँ और सदाचरण की स्थापना नहीं हो सकी है तो फिर आध्यात्मिक संबंधों का नाम लेकर जीवन को अभिशापित करने और निरंतर घुट-घुटकर मरने का समर्थन प्रसाद जी ने कदापि नहीं किया है । इसीलिए उन्होंने अपने साहित्य में ऐसे अवसर उपस्थित किये हैं जहाँ भारतीय नारियाँ पाश्चात्य नारी समाज की भाँति पुरुष समाज को उनके अनाचारों के विरुद्ध एक चुनौती दे सकें, और यदि पुरुष समाज वैवाहिक संबंधों की आध्यात्मिकता को यदि स्वयं व्यवहारत: निर्वाहिक रूप न दे सके तो स्त्रियाँ भी उन संबंधों के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण अपना सकें, और अपने जीवन में उतना ही स्वच्छंदता का अनुभव कर सकें जितना कि प्रतिपक्षी वर्ग किया करता है ।

प्रसादजी का मत है कि विवाह के रूप में वस्तुत: एक समझौता ही करना पड़ता है । " ------ इसका उपाय एकमात्र समझौता है, वहीतो ब्याह है --------"[1] लतिका द्वारा उन्होंने कहलवाया है --- " ---- मन इतना भिन्न उपकरणों से बना हुआ है कि समझौते पर ही संसार के स्त्री - पुरुषों का व्यवहार चलता हुआ दिखाई देता है ।"[2] अन्य कृतियों में विवाह के कठोर पक्ष पर भी दृष्टि डाली है, किंतु कंकाल में वे पुरुष और नारी के प्रणय और विवाह के रूप में समझौते तक ही अपनी दृष्टि डालते हैं ।

प्रसाद की वासना की प्रगल्भता और अबाधता तथा भौतिकवादी उपलब्धियों की उत्कृष्टता में विश्वास नहीं करते । इसीलिए उन्होंने विवाह को मात्र सामाजिक सूत्र न मानकर " हृदय के सम्मिलन को ही ब्याह " माना है ।

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २६८

२- प्रसाद :कंकाल, " चतुर्थ खंड " ; पृ० २५५ -

विवाह चाहे भी अग्नि की साक्षी देकर हुआ हो अथवा मंत्रोच्चारण से संबंधित हो, यदि उसमें दो हृदयों का अनुरागपरक निःस्वार्थ भाव से सम्मिलन नहीं हुआ तो, वह एक मिथ्या विडंबना मात्र ही है। अत: विवाह की कल्पना में प्रसाद जी प्रेम तत्व के सम्मिलन को आवश्यक मानते हैं। एक घूंट में आनंद भी इसी भाव को व्यक्त करता है - " ---- मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूं। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।"[१]

प्रसाद ने वैवाहिक संबंधों को आध्यात्मिक बंधन मानकर सामाजिक संस्कार माना है और उनकी निम्नलिखित नारियां इस कोटि के विवाह से युक्त दिखाई पड़ती हैं।

कंकाल की गाला में प्रसाद जी ने एक ऐसी नारी व्यक्तित्व के निर्माण की कल्पना की है, जो प्रेम करती है और उसके प्रेम की पूर्णता में विवाह को एक प्रतीकात्मक संस्कार मानती है। वह प्रेम को स्त्रियों का जन्मसिद्ध उत्तराधिकार मानती है। वह कहती है - " स्त्रियों का जन्मसिद्ध उत्तराधिकार है मंगल। उसे सोचना, परखना नहीं होता, ---- वह बिखरा रहता है असावधानी से ---- धन कुबेर की विभूति के समान। उसे संभाल कर केवल एक ओर व्यय करना पड़ता है - इतना ही तो।"[२] मंगल के प्रति उसका प्रेम सेवा की तल्लीनता की भावना उत्पन्न करता है, और उसके परिणामस्वरूप दोनों का सामीप्य विवाह बंधन के रूप में बदल जाता है। दोनों का यह वैवाहिक संबंध, प्रेम और प्रेम का संबंध, समर्पण और आत्मीयता का संबंध है, और इस विवाह संबंध में वासना प्रकट होकर कहीं छू तक नहीं जाती। विवाहोपरांत भी गाला मंगल की सच्चे अर्थों में सहगामिनी और सहधर्मिणी होकर " भारत - संघ " के प्रचार और सेवाकार्य में संयुक्त हो जाती है।

ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न का समर्थन करते हुए लिखा है कि - " यह ठीक है कि हमारे आचार और धर्मशास्त्र की व्यवहारिकता की परंपरा विच्छिन्न हो है। आज जितने सुधार या समाजशास्त्र के परीक्षात्मक

१- प्रसाद : " एक घूंट " ; पृ० ४५ -
२- प्रसाद : कंकाल ; पृ०२२७ -

प्रयोग देखे या सुने जाते हैं, उन्हें अचिंतित और नवीन समझकर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह देते हैं, किंतु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की दीर्घकाल व्यापिनी परंपरा में प्राय: प्रत्येक विधानों का परीक्षात्मक प्रयोग किया है।"[१]

उपर्युक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी इस बात के समर्थक थे कि यदि वैवाहिक संबंध जोड़ा जा सकता है तो उसे तोड़ा भी जा सकता है। इस संबंध में उन्होंने " अमोक्षा भर्तुरकामस्य द्विषती भार्य्या भार्यायश्च भर्ता, परस्परं द्वेषान्मोक्षा :" के सिद्धांत को माना है।

प्रसाद जी ने नारी के सामाजिक जागरण की आवाज अवश्य उठाई है, किंतु उसे वे इतनी दूर खींचकर नहीं ले जाना चाहते कि वह किसी प्रकार के सामाजिक संयम और नियम की सीमा से बाहर चली जाय। यदि नारी केवल अधिकार सुख की लालसा से, अथवा बौद्धिक चेतना के बल पर, वह समाज की सीमाओं को तोड़कर प्रगल्भरूप में बाहर आना चाहती है, तो इसे प्रसाद जी स्वीकार नहीं करते। " स्त्रियों की दुर्बलता की दुहाई देकर और उनके सुधार की आवाज ऊँची उठाकर और समाज में उन्हें उचित स्थान देने का दावा करके भी प्रसाद जी का आदर्श भारतीय ही रहा है। पश्चिम के आदर्श की उन्नति का मार्ग उन्होंने न माना।[२]

प्रसाद जी ने नारी के सामाजिक अधिकारों का समर्थन करते हुए भी विवाह के उस आधार को व्यवहार्य नहीं माना है, जिसमें विवाह केवल एक सामाजिक समझौता मात्र रह जाता है और चाहे जब जोड़ा या तोड़ा जा सकता है। यदि समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है तो इससे वासना के नग्न - विलास का मार्ग खुल जायेगा। नारी के लिए हर संभव अधिकारों को प्रदान करते हुए भी प्रसाद जी उसे वासना की पुतली अथवा भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति का साधनमात्र नहीं बनाना चाहते। उनका विश्वास है कि - " कठोरता का उदाहरण है पुरुष, कोमलता का विश्लेषण है स्त्री।"[३]

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी, सूचना ; पृ० ७ -
२- गुलाबराय : प्रसाद की कला ; पृ० १७५ -
३- शंभूनाथ पांडेय : प्रसाद की नाट्य कला और अजातशत्रु पृ० ३१ -

प्रसाद ने स्त्री और पुरुष में समझौते की बात स्वीकार की है। किंतु इस समझौते में उन्होंने संबंध-विच्छेद के प्रश्न को भी उठाया है। उनके अनुसार नारी के लिए प्रेम की सर्वनिष्ठता का अर्थ जीवन-भर पुरुष की पाशविकता, अत्याचारों और क्रूरताओं की दासता कदापि नहीं है। प्रसाद ने नारी को संबंध-विच्छेद का भी अधिकार देने का पक्ष समर्थित करते हैं। ध्रुवस्वामिनी ऐसी नारी है, जो अन्याय, प्रपीड़न और दमन को सहते - सहते अंत में विस्फोट कर उठती है।

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी प्रसाद जी ने वैधव्य दुःख को बहुत ही विकट दुःख माना है। वैधव्य दुःख जो नारी जाति के लिए कठोर अभिशाप है, को मल्लिका ने जिस अगाध धैर्य के साथ स्वीकार किया है, उससे उसकी कष्ट-सहिष्णुता का ज्ञान किया जा सकता है। सधवा रूप में हम उसे जितना महान् पाते हैं, विधवा रूप में उसकी महानता और भी बढ़ जाती है। कर्तव्य उसकी भावनाओं में इतना कूट - कूट कर भरा हुआ है, कि सहसा उसके ऊपर टूट पड़ने वाला वैधव्य उसकी चेतना को विचलित नहीं करने पाता। उसे उस समय भी इस बात का ज्ञान है कि स्त्री के लिए पति ही सर्वस्व है, और आज वह अपने उस सर्वस्व से वंचित हो गई है। अपनी दुःखद स्थिति का वर्णन करते हुई वह स्वतः कहती है - " संसार में स्त्रियों के लिए पति ही सब कुछ है, किंतु हाय! आज मैं उसी सौहाग से वंचित हो गयी हूँ। हृदय थरथरा रहा है, कंठ भर आता है - एक निर्दय चेतना सब इन्द्रियों को अचेतन और शिथिल बनाये दे रही है। आह!"[१]

व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों रूपों में मल्लिका का व्यक्तित्व आदर्श बन सका है। एक और अपने व्यक्तिगत दुःखों की अनुभूति वह इतनी दूर तक करती है कि कामना करती है कि संसार की किसी भी स्त्री को वैधव्य का दुःख न भोगना पड़े - " यह वैधव्य दुःख नारी जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है, यह किसी भी स्त्री को अनुभव न करना पड़े।"[२]

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ८८ -
२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ८८, ८६ -

"प्रसाद के "कंकाल" में लगभग प्रत्येक पात्र यमुना, घंटी, लतिका आदि किसी न किसी रूप में पुरुष की क्रूरता और उसके विश्वासघात से पीड़ित हैं। नारी जाति का निर्माण मानो विधाता की एक झुंझलाहट है। पुरुष उससे लेना ही जानता है, देना नहीं। नारी को समाज में प्रेम का भी अधिकार नहीं, ~~बन अपनी हृदयंगम अनुभूतियाँ~~ यमुना समाज के इस अन्याय से परिचित है -
"कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं बहन। सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं। फिर भी मैं समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिए यही पूर्णता बना दी है। यह उनकी रचना है।"[1]

प्रसाद जी ने सामाजिक विडंबनाओं को अच्छी तरह देखा था। विधवाओं की दयनीय दशा को उभारकर पर लाने का उन्होंने अथक परिश्रम किया। विधवा होकर भी क्या नारी, स्त्री सुलभ भावनाओं से वंचित रहती है? नहीं। प्रसाद जी की दृष्टि में विधवा को भी प्रेम करने का अधिकार है। अपने उपन्यासों तथा कहानियों में उन्होंने ऐसे समाज सुधारक पात्रों को भी लाकर खड़ा कर दिया है; जो विधवा की स्थिति को सधवा रूप में परिणत करने के लिए उत्सुक है। विजय समाज और धर्म के कर्तव्यों को ललकारता हुआ कहता है कि - "तो क्या समाज और धर्म का यह कर्तव्य नहीं कि उसे (घंटी) किसी प्रकार अवलंब दिया जाय, उसका पथ सरल कर दिया जाय?"[2] घंटी का प्रेम जीवित है प्रणय के पूर्णत्व पर, समर्पण के निसर्ग पर, इसी के बल पर उसने विजय को आत्मसमर्पण कर दिया है।

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने ऐसे नारी पात्रों की भी सृष्टि की है, जो विधवा विवाह, पुनर्विवाह, आदि का सबल समर्थन करते हैं। "विराम-उद्धार"[3] में प्रसाद जी ने विधवा विवाह का समर्थन करवाया है। उन्होंने ऐसे नारी पात्रों का सृजन किया है, जो अन्ततः विधवा-विवाह को स्वीकार कर लेती हैं

१- प्रसाद : कंकाल, "चतुर्थ खंड"; पृ० २५५ -
२- प्रसाद : कंकाल ; पृ० १०७।
३- छाया कहानी संग्रह -

वेश्या-वृत्ति के स्थान पर दांपत्य धर्म ग्रहण -

मुंशी प्रेमचंद और प्रसाद जी में परस्पर नोक-झोंक हुआ करती थी और प्रेमचंद को प्रसाद जी की यह प्रवृत्ति पसंद न थी कि वर्तमान समाज को सुधारने के लिए सीधे वर्तमान समाज की परिस्थितियों को न लिया जाय, अपितु उन परिस्थितियों का समाधान अतीतकाल की घटनाओं में देखा जाय। इसीलिए प्रसाद जी की ऐतिहासिक खोज की प्रवृत्ति को प्रेमचंद जी "गड़े मुर्दे उखाड़ना" कहते थे। किंतु प्रसाद जी केवल इतिहास के तत्वदर्शी ही रहे हों, और केवल उन्हीं परिस्थितियों का समाधान प्रस्तुत कर सके हों जिनका इतिहास की घटनाओं से संबंध रहा हो, ऐसी बात नहीं है। प्रसाद जी ने किसी भी ऐसी समस्या को नहीं छोड़ा, जो कि वर्तमान समाज को घुन की तरह भीतर ही भीतर खाती और खोखली करती जा रही हो।

प्रसाद जी ने अपने साहित्य में वेश्याओं की समस्या को भी अपनाया है। इस समस्या के प्रसंग में प्रेमचंद और प्रसाद जी के दृष्टिकोणों में पारस्परिक भिन्नता है। प्रेमचंद जी इस सिद्धांत के पोषक हैं कि समाज में वेश्या के रूप में विकृत होने वाली नारियों के मूल में केवल समाज है और वेश्याओं का पूर्णतः रूपान्तरण और सुधार किया जा सकता है। प्रसाद जी इस तथ्य को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में वेश्यावृत्ति के निरंतर बने रहने के लिए तीन आधार हैं -

(१) ऐतिहासिक परंपरा से वेश्यावृत्ति की निरंतरता।

(२) वर्तमान समाज की विषमताओं और जटिल परंपराओं के कारण वेश्यावृत्ति को मिलने वाला बढ़ावा और

(३) कतिपय नारियों की अबाध वासना - लोलुपता और लुब्ध आकांक्षा भी वेश्यावृत्ति के उत्पन्न होने और समाज में बने रहने का आधार है।

आरंभ में वेश्याएं समाज में आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं, और जिनमें कला एवं सौंदर्य की पूर्णता के गुण होते थे, केवल उन्हीं को वेश्या का सम्मानित पद दिया जाता था। विद्या, बुद्धि, कला-सौंदर्य आदि के प्रसंगों में वे वेश्याएं

नारी समाज के लिए अग्रणी और आदर्श का काम करती थीं । उनमें कला जैसे संगीत , नृत्य , वाद्य , चित्र , आदि का महानतम् उत्कर्ष होता था , और संस्कृति के भावात्मक पक्ष का वे सबल पोषण प्रस्तुत करती थीं। वैदिक काल से लेकर बौद्ध - युग तक इनके उल्लेख मिलते हैं । बौद्ध की समकालीन आम्रपाली (अम्बपाली) और सुजाता प्रसिद्ध कला प्रवीण नर्तकियाँ थीं । वैशाली जैसे गणराज्यों में " नगर-वधू " की औपचारिक नियुक्तियाँ हुआ करती थीं , और नगरवधुओं की समाज में पवित्रतम प्रतिष्ठापना मानी जाती थी । मृच्छकटिक नाटक में वेश्या वसंतसेना को " नगरस्य विभूषणाम् " कहा गया है । वह कला और दाक्षिण्य की केंद्र थी । वसंतसेना के महल में ८ प्रकोष्ठ थे जो कला केंद्र थे ।

दूसरी कोटि में ऐसी वारांगनाएं आती हैं जो समाज की अनेक विडंबनाओं और विषमताओं के मायाजाल में पड़कर स्वेच्छया नहीं , विवशताओं के कारण वेश्या बन गई हैं । समाज में प्रचलित परंपरा इस प्रकार की वेश्याओं के उत्पन्न होने की विशेष उत्तरदायी है । जो विधवा में स्वेच्छया या परिस्थितियों के दबाव में पथभ्रष्ट कर दी जाती हैं , फिर समाज उनके कलंक को आत्मसात् नहीं कर पाता, फिर वे निरंतर की भर्त्सना और जीवन भर के उपहास भरे जीवन से भाग खड़ी होती हैं , और अंत में किसी न किसी कोठे पर उन्हें किसी न किसी खाला की शरण मिल ही जाती है । कुछ सती-साध्वी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति को संसार का जघन्यतम कृत्य मानते हुए भी , इसीलिए वेश्या बनी हुई है कि समाज उनके उद्धार का कोई मार्ग प्रस्तुत नहीं करता । समाज अपनी वासना का विष उनके शरीर में उड़ेलकर नाक दबाये , मुंह छिपाये , वहाँ से निकलकर दूर खड़ा होता है और वे वेश्याएं अपनी समग्र विवशताओं और विकृतियों की अगणित रेखायें अपने चेहरे पर सौंदर्य - प्रसाधनों के आवरण में छिपाये फिर किसी नये ग्राहक की तलाश में बंसी लगाए खिड़की पर आ बैठती हैं ।

तीसरी कोटि की ऐसी वेश्यायें हैं जिनके हृदय में भौतिक वासनाओं और आकांक्षाओं की आंधी इतने प्रबल वेग से चलती रहती है कि वे स्वयं अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वारांगना- रूप स्वीकार कर लेती हैं । ऐसी वेश्याएं

यदि खुलकर समाज के सामने आ जाती हैं, तब तो उन्हें औपचारिक वारांगना की संज्ञा मिल जाती है, किंतु यदि उनमें यह सामर्थ्य नहीं हो पाती कि वे समाज की वक्र दृष्टियों का खुलकर सामना कर सकें, तो फिर वे समाज के किसी दांपत्य कक्षा में ही कुलटा बनी घूमती रहती हैं और समूचे कौटुम्बिक जीवन को विषैला और भ्रष्ट कर डालती हैं

प्रसाद जी इन तीनों वर्गों में गिनी जाने वाली वेश्याओं के लिए पृथक-पृथक सुधार के उपाय प्रस्तावित करते हैं। ऐतिहासिक परंपरा से जिस नर्तकी प्रथा के प्रमाण मिलते हैं, प्रसाद जी उसका भी खंडन स्वीकार नहीं करते। वे कला-पारखी थे और उनका विश्वास है कि कला की सुकोमलता, जो किसी भी संस्कृति का संवेदनशील जीवन तत्व है, नारी में ही पायी जाती है। अतः जहाँ कहीं उन्हें नर्तकी रूप में कला की प्रौढ़ता दिखायी पड़ी है, वहाँ उन्होंने नर्तकी-विशेष को अपूर्व सम्मान प्रदान किया है। प्रसाद जी के अनुसार नर्तकी का जीवन कला के व्यवसायियों का जीवन है। यह कला अपने आप में पवित्र है। परंतु इसके द्वारा समाज में जिस उच्छृंखलता एवं नैतिक भ्रष्टाचार की पुष्टि होती है, उसके लिए कला के मूल्य लगाने वालों की कुरुचि तथा कुत्सित इच्छा उत्तरदायी है न कि स्वयं कलाकार।

प्रस्तुत प्रकरण में प्रसाद जी ने स्पष्टतः अपने मत को व्यक्त किया है। उनका विश्वास है कि वेश्याओं की दयनीय स्थिति का उत्तरदायी आज का समाज है जो नारी को सम्मान के बदले में आत्महनन की प्रेरणा देता रहता है; क नीच से नीच कृत्य करवाता है, और अपनी वासनाओं की पूर्ति करने में नहीं हिचकता। वह कहते हैं - "इन वेश्याओं को देखो - उनमें कितनों के मुख सरल हैं, उनकी भोली-भाली आँखें रो-रोकर कहती हैं, हमें पीट-पीटकर चंचलता सिखाई गई है। मेरा विश्वास है कि उन्हें अवसर दिया जाता, तो वे कितनी ही कुल-वधुओं से किसी बात में कम न होतीं।"[1]

1- प्रसाद : कंकाल ; पृ० ६२ -

जहाँ तक सामाजिक विडंबनाओं और विभीषिकाओं की विवशताओं के कारण वेश्यावृत्ति अपनाने वाली नारियों का संबंध है, प्रसाद जी ऐसी नारियों को पूर्ण सहानुभूति प्रदान करते हैं, और उनके सुधार का आदर्श समाज के सामने प्रस्तुत करते हैं। प्रसाद जी की कल्पना है कि ऐसी नारियों को यदि समाज में अपनाया जाय और गृहस्थ-धर्म में प्रविष्ट होने का अवसर दिया जाय तो वे कुल-लक्ष्मियों के रूप में अपने को पूर्णतः प्रमाणित कर सकेंगी। उन्होंने युवक समाज की ऐसी भगिनियों को, जो कि समाज की विषमताओं के कारण पथभ्रष्ट होने को विवश कर दी गयी हैं, अपनाने और उनकी आत्मा में छिपे पश्चात्ताप के प्रति सहानुभूति प्रकट करने की चुनौती दी है। जहाँ प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर स्वच्छंद प्रणय संबंधों का समर्थन किया है, वहाँ विलासिनी के हृदय में यही स्वच्छंद प्रणय संबंध एक काँटे की तरह खटकने लगता है, और प्रसाद जी विलासिनी के हृदय में दांपत्य सुख के स्वर्गीय स्वप्न की आकांक्षाओं का संचार कर देते हैं। परंतु वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ विजय कृष्ण उसकी प्रणय को पत्नी रूप में नहीं स्वीकार कर पाते। तब वह सोचती है -

" ---- मैं कुलवधू होने के उपयुक्त नहीं। क्या समाज के पास इसका कोई प्रतिकार नहीं, इतनी तपस्या और इतना स्वार्थ-त्याग व्यर्थ है ? "[१]

किंतु प्रसाद जी का दावा है कि ऐसी महिलाओं के भी एक हृदय है और वे सम्मानित सामाजिक बनकर रहना चाहती हैं। इस प्रकार विलासिनी भी विजय-कृष्ण से अस्वीकृति पाकर सेवा के महान् आदर्श को लेकर आदर्श हिंदू गृहस्थ की भाँति निष्ठि साधना में लीन हो जाती है। और अंत में उसका कुलवधू होने का स्वप्न साकार हो जाता है, अपनी एकनिष्ठता और विश्वास के बल पर ही अपने चरित्र की उदात्तता से महान् बनती है। इस प्रकार प्रसाद जी प्रणय की भावना को बहुत ही स्वाभाविक मान कर चले हैं। यही कारण है कि प्रसाद जी ने वेश्यावृत्ति के लिए कभी भी नारी को दोषी नहीं ठहराया है। कंकाल में एक

१- प्रसाद : आकाशदीप, "चूड़ीवाली" ; पृ० १३२ -

स्थान पर वे कहते हैं - " इन वेश्याओं को देखो - उनमें कितनों के मुख सरल हैं, उनकी भोली - भाली आँखें रो - रोकर कहती हैं, मुझे पीट पीटकर चंचलता सिखाई गयी है -- ।"[१]

प्रसाद जी ने जहाँ प्रथम वर्ग की वेश्याओं के लिए अपने सम्मान का, और द्वितीय वर्ग की वेश्याओं के लिए अपनी सहानुभूति का कोश खोल दिया है, वहाँ उन्होंने तृतीय वर्ग के अंतर्गत आने वाली वेश्याओं के लिए भर्त्सना और व्यंग्य का भी भंडार खोल दिया है। वे वासना को अबाध सरिता को अपावन मानते हैं, और उनका निश्चित मत है कि जहाँ केवल वासना की तरंगों की ही प्रबलता होगी, वहाँ विनाश का होना अवश्यंभावी है। इसीलिए जहाँ नारी में वासना और भौतिक एषणाओं की प्रबलता दिखाई पड़ी है, प्रसाद जी ने प्रथमतः तो उस वासना की आँधी के प्रभावों को वेग के साथ प्रदर्शित किया है, अंत में भौतिक लालसाओं के ऐसे जाल में उन्हें लाकर आबद्ध कर दिया है कि या तो वे अन्ततः लालसाओं की निस्सारता का ज्ञान कर पश्चाताप करतीं और अपने आपको किसी लोकोपयोगी कार्य में लगा देती हैं; अथवा फिर कोई विकल्प न रह जाने पर आत्महत्या कर लेती हैं।

मागंधी एक रूप गर्विता और रूप लोलुप नारी है। अजातशत्रु नाटक में उसे वेश्या के रूप में चित्रित किया गया है। नारी की नैसर्गिक संपत्ति जिस पर वह कभी कभी अहंकार करने लग जाती है, रूप सुषमा ही है। रूप का मद जब कभी किसी नारी में अपने उच्छृंखल रूप में आता है, तब वह प्रायः मर्यादाओं के प्रतिबंधों को तोड़कर दुकूल - विहीन सरिता की भाँति उमड़ने लगती है। इस मद ऐश्वर्य की इस आँधी में भीतर ही भीतर उसका पतन भी होने लगता है, और अंत में वह पाती है कि वह केवल वासना की एक पुतली रह गयी है। नारी के प्रगतिशील व्यक्तित्व का यह एक स्खलन है।

मागन्धी, रूप गुण से युक्त वासना की आँधी में उड़ती हुई दिखाई पड़ती

१- प्रसाद : कंकाल, " तृतीय खंड " पृ० २६३ -

हैं। गौतम से प्रणय याचना करने पर जब उसके हाथ विफलता ही लगी तो उसके रूप मद ने एक नया मार्ग चुना और गौतम के विरुद्ध उदयन की रानी बनने को उद्यत हो गई। वासना की आँधी में मन की उद्दाम तरंगों को शांति कहाँ ? उसे अपने रूप का अपमान स्मरण होता रहा और वह ज्वाला में जलती हुई कहती है - "इस रूप का इतना अपमान ! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ ----अच्छा इसका भी प्रतिशोध लूँगी, अब से यही मेरा व्रत हुआ। उदयन राजा है, तो मैं भी अपने हृदय की रानी हूँ। दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं ?"[1]

मागन्धी को इस बात का अभिमान है कि सुंदर स्त्रियों का संसार में अपना विशिष्ट अस्तित्व है। इस दंभ में वह किसी को भी पराजित कर लेने और अपनी वासना से अभिभूत कर लेने की मिथ्या महत्वाकांक्षा करती है। यहाँ तक कि पतन के गर्त में भी वह अपने को महान् समझती है, और अपने वेश्या रूप की सराहना अपने आप ही करती है - "बड़े - बड़े राज पुरुष और श्रेष्ठी इसी चरण को छू कर अपने को धन्य समझते हैं। धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं; राजरानी होकर क्या मिलता था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा।"[2]

जीवन में जब महान् लक्ष्यों का स्खलन हो जाता है और जीवन निरुद्देश्य हो जाता है तब मनुष्य सामान्य पशु- प्राणियों की भाँति केवल भरण-पोषण और वासना पूर्ति को ही जीवन का समस्त सार समझ बैठता है। मस्ती की तरंग में केवल इतना ही ध्यान रहता है कि हम एक स्फुलिंग बनकर आये थे और तृष्णाओं की ज्वाला धधकाते फिर किसी स्फुलिंग में विलीन हो जायेंगे। मागंधी भी अपने आपको कुछ इसी ढंग से व्यक्त करती हुई कहती है - "स्वर्ण-पिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा - जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ३८ -
२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ६८ -

में मिलता है ? ----- मैं उसी श्यामा की तरह जो स्वतंत्र है, राजमहल की परतंत्रता से बाहर आयी हूं। हंसूंगी और हंसाऊंगी, रोऊंगी और रुलाऊंगी फूल की तरह आई हूं, परिमल की तरह चली जाऊंगी। स्वप्न की चंद्रिका में मलयानिल की सेज पर खेलूंगी। फूलों की धूल से अंगराग बनाऊंगी, चाहे उसमें कितनी ही कलियां क्यों न कुचलनी पड़ें! चाहे कितनों ही के प्राण जायं, मुझे कुछ चिंता नहीं। कुम्हला कर, फूलों को कुचल देने में ही सुख है।"[1]

वासना की असीम वेदना। वेदनाओं से उत्पन्न अतृप्त आंसू। आंसुओं से उत्पन्न अतृप्त पिपासा। जहां सब कुछ ही अतृप्त हो, वहां यदि परिचय भी पूछा जाय तो! भला कोई परिचय ही क्या देगा ?

" फिर भी परिचय पूछ रहे हो, विपुल विश्व में किसको दूं ?
चिनगारी श्वासों में उठती, रो हूं, ठहरो दम ले लूं

सूनी सी बेला, नील गगनतल, छिन्न विपंची, भूखा प्यार,
धापा - कुहक किसना है फिर तो परिचय देंगे आंसू हार।"[2]

आगे चलकर नाटक में मागन्धी के व्यक्तित्व में एक नया मोड़ आया है। पहले वह मागन्धी रानी के रूप में थी, फिर काशी की वेश्या श्यामा के रूप में दिखाई पड़ी, और अंत में भूले भटके अधीरित पथिक की भांति आम्रपाली के रूप में सामने आती है। उसे रूप की अस्थिरता और वासनाओं की निस्सारता का ज्ञान हो जाता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि स्त्री सुलभ एक स्निग्धता, एक सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गए। पवित्र आंसुओं से भीगी हुई आम्रपाली गौतम के चरणों में निश्छल भाव से आत्मसमर्पण कर देती है। गौतम उसे उपदेश करते हैं कि वह अतीत विकारों को स्मरण करना छोड़कर निर्मल बन जाय। अंत में मागन्धी का यह समर्पण बहुत ही पवित्र बन सका है - " प्रभु !

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ७५ -
२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ६२ -

मैं नारी हूं, जीवन भर अपदस्थ होती आई हूं। मुझे उस विचार के सुख से न वंचित कीजिए। नाथ! जन्म-भर के पराजय में भी आज मेरी ही विजय हुई।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नारी की अतृप्त कामनाएं भी कभी-कभी उसे वेश्या बनने में योग देती हैं। यौवन की उद्दाम भावनाओं को जब मार्गेषी शांत नहीं कर पाती तो उन्मुक्त रूप से उसको शांत करने के लिए वेश्या रूप ग्रहण करती है।

दासी कहानी की इरावती परिस्थितियों के बीच पड़कर भ्रष्ट की जाती है। काशी के पतन से ही क्रीतदासी बनायी जाती है। वह म्लेच्छों द्वारा मुलतान की लूट में पकड़ी जाकर कन्नौज के चतुष्पथ पर ५०० दिरम पर बेच दी जाती है। इसके लिए वह स्वयं स्वीकार करती है कि - "मैं हूं दासी; कुछ चमकदार धातु के टुकड़ों पर बिकी हुई हाड़-मांस का समूह, जिसके भीतर एक सूखा हृदय पिंड है।"[2]

यद्यपि बलराज से उसका परिणय होने वाला था, किंतु परिस्थितियों ने उसे नीच से नीच कुकर्म करने के लिए प्रेरित किया। बलराज उसे आततायियों के हाथ से बचाने के लिए उसे पत्नी रूप में स्वीकार करना चाहता है। प्रेम की परिभाषा बताते हुए कहता है - "प्रेम की परिभाषा अलग है इरा! मैं तुमको प्यार करता हूं। तुम्हारी पवित्रता से मेरे मन का अधिक संबंध नहीं भी हो सकता है। चलो हम ---- और कुछ[3] भी हों, मेरे प्रेम की अग्नि तुम्हारी पवित्रता को अधिक उज्ज्वल कर देगी।"

"प्रेमचंद ने ----- वेश्या के प्रश्न को प्रत्यक्ष रूप से उठाया है और बिना हल किये ही छोड़ दिया है। उसका हल भी उनकी दृष्टि में, जो होगा वह सार्वदेशिक और सार्वकालीन होगा, इसीलिए मिश्री के 'मंडी' बनाने पर कहा गया है कि यह प्रश्न २-४ वेश्याओं का नहीं है, वरन् व्यापक है। इसकी

१- प्रसाद : अजातशत्रु, 'तीसरा अंक'; पृ० १३१ -

२- प्रसाद : दासी ; पृ० ६१ -

३- प्रसाद : दासी ; पृ० ६२, ६३ -

व्यापकता आज और बढ़ गयी है। उपन्यासकारों को नारी के मान्य आदर्शों में उसकी आर्थिक मुक्ति को सर्वप्रथम स्थान देना चाहिये, तभी जनमानस बदलेगा और उसके साथ ही बदलेंगे समाज के मानदंड जो हमें पीछे की ओर खींच रहे हैं।"[1]

प्रसाद एक सच्चे साहित्य सेवी होने के नाते युग की पुकार को उसके सही अर्थों में सुनने वाले और एक नये युग का निर्माण करने वाले थे। उनकी लेखनी से जो समाज अभिव्यक्त हुआ है, वह रूढ़ियों ~~अभिव्यक्त हुआ है~~, वह रूढ़ियों में ग्रस्त और अपनी ही विडंबनाओं में पड़ा हुआ समाज है। उसमें एक बहुत बड़े परिवर्तन की आवश्यकता है। पुरुष की वासना ही है, जिसने कुछ नारियों को विवश कर रखा है कि वे अपनी आत्मा पर पत्थर की चट्टान रखकर भी अपने शरीर का विक्रय करें। कुछ तो नारियां इस पाप कर्म में स्वतः प्रलोभनों वश पड़ जाती हैं, और कुछ परिस्थितियों की विषमता के कारण यह नारकीय जीवन बिताने को विवश कर दी जाती हैं। दोनों प्रकार की इन विकृतियों को उत्पन्न करने वाला समाज ही है, किंतु प्रसाद जी की धारणा थी कि प्रत्येक मनुष्य में आत्मा होती है, और यदि उसकी आत्मा को जगाया जाये तो अनुकूल परिस्थिति पाकर स्वाभिमान जग सकता है, और चरित्रबल वापस लौट सकता है। वेश्यायें भी समाज द्वारा दूषित नारियां हैं, उनमें भी आत्मा है, किंतु परिस्थितियों के प्राबल्य के कारण वह आत्मा दब गयी है। उसे जगाया जा सकता है। उनमें भी सद्भावनाओं और सद्वृत्तियों का संचार किया जा सकता है। प्रेम एक ऐसा तंतु है जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। उसे यदि उचित दिशा मिल सकी तो वह जीवन के सद्मार्ग की ओर विकसित हो सकता है। वेश्यायें इस बात के लिए अपवाद नहीं कही जा सकतीं। प्रसाद ने इसी तंतु को स्निग्ध और स्नेहिल वातावरण में बढ़ाने की चेष्टा की है।

1- डा० मक्खनलाल शर्मा : हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा, पृ० २०१ -

विवाह संबंधी विशिष्ट कुरीतियां -

समाज में विवाह तथा तत्संबंधित समस्याएं अनेक अन्य समस्याओं की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं। अनुमान है कि विवाह संबंधी कुरीतियों को यदि दूर कर दिया जाये तो समाज की लगभग पचास प्रतिशत कुरीतियां समाप्त हो जायेंगी। बहु-विवाह, वृद्धविवाह, विधवा-विवाह पर भी प्रतिबंध, वैवाहिक बंधनों में गृहस्त अनमेल जोड़े, दहेज- प्रथा, कन्याविक्रय आदि अनेक समस्याएं हैं, जिनके सुधरने से समाज का कोढ़ दूर हो जायेगा। प्रसाद जी का ध्यान इनमें से कुछ महत्वपूर्ण दुर्गुणों की ओर गया है। उनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

बहुविवाह -

प्रसाद जी बनारस के निवासी थे। और सामंतीय संस्कृति के अधिक नजदीक थे। सामंतकाल का अभिशाप था बहु-विवाह। राजे - रजवाड़ों में विभिन्न रानियां हुआ करती थीं।

प्रसाद युग में बहुविवाह एक मुख्य और विचारणीय बात थी। पुरुष समाज को बहुत समय से अनेक पत्नियां रखने का अधिकार रहा है। इस अधिकार के कारण समाज में बहुत से जघन्य कृत्य होते रहे हैं। एक से अधिक पत्नियों का होना जहां एक ओर स्त्रियों के लिए अपमानपूर्ण था, वहीं समाज के व्यापक अर्थ में अमानवीय और व्यभिचारपूर्ण भी था। सपत्नियों में संघर्ष की एक पारिवारिक समस्या भी विकटरूप में थी।

प्रसाद ने अपने नाटकों के माध्यम से परस्पर सपत्नियों में संघर्ष दिखाकर इस प्रथा का पूर्णतः बहिष्कार करना चाहा है। उनके विचार से एक विवाह का आदर्श ही दांपत्य जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। इसीलिए उन्होंने प्रेम को सराहा। उनकी अधिकांश कहानियों में प्रेम का यही उन्मुक्त रूप दिखाई पड़ता है।

छलना और वासवी[१] का संघर्ष सपत्नी होने के कारण ही गृह-कलह के

१- अजातशत्रु : नाटक की नारीपात्र -

रूप में प्रगट हुआ है। वासवी बिंबसार की बड़ी रानी और छलना बिंबसार की छोटी रानी है। यद्यपि वासवी में मानवीय गुणों की प्रधानता है और कलह-प्रिय नहीं है, किंतु छलना क्रूर, स्वार्थी, कुंठित तथा ईर्ष्या से युक्त। फिर दोनों का मेल कैसे हो? किन्तु विवशता यह है कि सपत्नी होने के नाते दारुण गृह-कलह के बीच भी उन्हें एक साथ ही रहना है।

छलना में राजमाता बनने की महत्वाकांक्षा है। यह महत्वाकांक्षा वासवी के विरुद्ध उत्पन्न हुई है, और यही अनेक कलहप्रिय घटनाओं का कारण बनती है। यहाँ तक कि छलना अपने उद्देश्य की पूर्ति में अपने लिए पतन का मार्ग भी बनते हुए देखकर उसके प्रति सजग नहीं होती। जहाँ एक ओर वासवी गृह-कलह को शांत करना चाहती है, वहीं छलना ईर्ष्या की आग से समूचे वातावरण को विशाल रूप में भुलसाती जा रही है। घटनाओं का कुछ क्रम ऐसा होता है कि छलना पति और पुत्र दोनों से वंचित हो जाती है।

इस नाटक के माध्यम से प्रसाद ने बहुविवाह और सपत्नी समस्या को उठाया है। यद्यपि उन्होंने स्वतः यह कहीं नहीं कहा है कि सपत्नी कलह से इतना कड़ा गृहदाह अन्यत्र भी उठ सकता है, फिर भी वासवी और छलना के चरित्रों से उन्होंने पाठकों के समक्ष यह परिस्थिति रख दी है कि बहुविवाह का परिणाम क्या होता है।

देवकी और अनंत-देवी[1] के परस्पर संघर्ष को दिखाकर प्रसाद जी ने एक विवाह के आदर्श की प्रतिष्ठा करनी चाही है। देवकी कुमारगुप्त की बड़ी रानी और (स्कंद की माता) तथा अनंतदेवी कुमारगुप्त की छोटी रानी (पुरगुप्त की माता) है।

देवकी धर्मपरायणा, कोमल और भीरु स्वभाव की है। भगवान् की चिन्मय करुणा में उसकी असीम आस्था है। इसके ठीक विपरीत अनंतदेवी

१- स्कंदगुप्त नाटक की नारीपात्र

महत्वाकांक्षाओं के वशीभूत होकर षड्यंत्रों द्वारा अपनी स्वार्थ-वृत्तियों की तृप्ति चाहती है। अनंतदेवी एक चतुर, किन्तु पथभ्रष्ट और आदर्शहीन नारी के रूप में हमारे संमुख आती है। अपनी स्वार्थलोलुप प्रवृत्ति के कारण ही वह अंत में पति की हत्या और सपत्नी के वध की चेष्टा करने के लिए भी तत्पर दिखाई पड़ती है।

बहु-विवाह की मूलभूत समस्या केवल सपत्नी कलह ही नहीं है, अपितु उसके मूल में भोग-विलास और वासना की जो बढ़ती हुई लोलुप प्रवृत्ति है, उसके द्वारा उत्पन्न समाज की हानियाँ विशेष महत्व की हैं। अत: प्रसाद ने अपने समकालीन लेखकों की भाँति ही इस समस्या के निराकरण का भी एक प्रश्न उठाया है।

<u>बाल - विवाह -</u>

यह बहुत ही विडंबनापूर्ण स्थिति है कि बच्चों को उस उम्र में वैवाहिक बंधनों में बांध दिया जाय, जब कि उन्हें इस बात का ज्ञान भी न हो कि विवाह संबंधी संस्कार का जीवन में महत्व या आवश्यकता क्या है। बाल-विवाह की प्रथा हमारे देश में इतनी दूर तक पहुँची हुयी थी कि नवजात शिशुओं को सूप या टोकरि में लिटाकर एक दूसरे के विवाह संस्कार कर दिए जाते थे। प्रसाद का ध्यान बाल-विवाह संबंधी समस्या की ओर गया।

प्रसाद जी ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों के माध्यम से बाल-विवाह से उत्पन्न विशिष्ट कुरीतियों का विवेचन किया है। यही कारण है कि उनकी सभी नायिकाएँ सरला भले ही हैं, किशोरी भले ही हैं, किंतु अपना भविष्य अच्छी तरह समझती हैं। अपने जीवन का रूप निर्धारित करने की सामर्थ्य, प्रतिभा एवं शिक्षा भी उनमें है।

" विसाती पत्थर [१] कहानी की मंगला एक ऐसी ही बाल-विधवा है। समाज में विधवा की, विशेषतौर से बाल-विवाह से उत्पन्न विधवा की कितनी दयनीय स्थिति होती है, यह प्रसाद जी ने मंगला के माध्यम से व्यक्त किया है।

१- प्रसाद : इंद्रजाल -

छोटी सी अवस्था में वैधव्य का शिकार हो जाने पर नारी के ऊपर विपत्तियों का पहाड़ सा टूट पड़ता है, किंतु हृदय की निसर्ग यौवन भावनायें, हृदय के किसी कोने में स्थित रहती हैं। उनका पुनर्विवाह न कर देने पर या उन्हें उचित मार्ग निर्देशन न देने पर, अनुचित मार्ग का अनुसरण करती हैं। यह स्थिति स्वयं उनके लिए और पूरे समाज के लिए ही हानिकर है। प्रसाद जी ने मंगला की वैधव्य अवस्था का चित्रण करते हुए बालविवाह को सर्वथा हानिकारक घोषित किया है। इसके साथ ही उन्होंने पुनर्विवाह की संभावनाओं संबंधी घोषणा भी की है।

बाल्यकाल में ही वैधव्य आ जाने पर भी प्रकृति का नियम ठहरा नहीं रहता। समय आने पर मंगला यौवन के रूप से लद जाती है -"वह मादकता विलक्षण थी। मंगला के अंग-कुसुम से मकरंद छलका पड़ता था।"[१] मुरली का इस रूप के प्रति आकर्षण भी एक स्वाभाविक घटना थी। किंतु परिस्थितियों की विडंबना मंगला को इंद्रनाथ के साथ भागना पड़ता है। उसकी यह भटकन अंत में विक्षिप्तता बन जाती है और मुरली का आश्रय पाने पर भी वह शांति नहीं पाती और पहाड़ियों में जाकर खो जाती है।

जीवन का यह व्यतिक्रम बाल-विवाह के कारण ही उत्पन्न हुआ है। प्रसाद जी इस समस्या का स्पष्ट समाधान न दे पाये, फिर भी उन्होंने इस समस्या के कारण मानव जीवन पर होनेवाले अत्याचारों का संकेत कर दिया है।

हम कह सकते हैं कि वैधव्य बाल - विवाह का एक अभिशाप है, जिसका चित्रण प्रसाद ने 'चित्रवाले पत्थर' में किया है। ऐसी स्थिति में नारी उखड़ी हुई लता के समान हो जाती है, जिसे हवा उड़ा ले जाती है।

घंटी बाल-विधवा किन्तु अल्हड़ युवती है। अपनी इस विशेषता के कारण वह विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की कुदृष्टि का शिकार होती है। उसकी

१- प्रसाद : इंद्रजाल, 'चित्रवाले पत्थर'; पृ० ६६ -

चंचलता उसके प्रति एक ऐन्द्रिक आकर्षण उत्पन्न करती है। विजय प्रथमतः उसके मोहपाश में है, किन्तु उसका यह मोहपाश केवल वासना-जनित न रहकर हृदय की उदात्त वृत्तियों का सहारा ले लेता है। वह विधवा - विवाह का समर्थक बन जाता है, और उन संभावनाओं पर तर्क - वितर्क करने लगता है कि क्या घंटी से उसका विवाह कर लेना पाप कृत्य होगा? वह समाज और धर्म के खोखलेपन का स्पष्ट चित्रण करते हुए कहता है - " ---- तुम्हें घंटी के चरित्र पर विश्वास नहीं, तो क्या समाज और धर्म का यह कर्तव्य नहीं कि उसे किसी प्रकार अवलंब दिया जाय, उसका पथ सरल कर दिया जाय? यदि मैं घंटी से ब्याह करूं, तो तुम पुरोहित बनोगी?"[१]

आगे चलकर यही विधवा घंटी बाथम की कुदृष्टि का शिकार बनती है। उससे बचने के लिए घंटी को गोस्वामी कृष्णशरण का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

इस प्रकार प्रसाद जी ने बाल - विवाह से उत्पन्न विधवा की निस्सहायावस्था और अनिश्चितता, तथा पतन की संभावनाओं की कथा अपने उपन्यास कंकाल द्वारा प्रस्तुत की है। यही कारण था कि प्रसाद जी ने बाल-विवाह का विरोध किया, तथा एक ऐसे समाज की स्थापना भी की, जहां नारी को पुरुषों के समान ही अधिकार प्रदान किये जायं, जिससे परिस्थितियों के वशीभूत होकर भी वह स्वावलंबन का पथ अनुसरण कर सके।

ठीक इसी प्रकार बाल-विधवा विधवा जीवन की एक आंधी लेकर प्रस्तुत होती है। उसे इस लोलुप और अत्याचारी समाज से भय नहीं है, क्योंकि वह जानती है कि - " अत्याचारी समाज पाप कहकर कानों पर हाथ रखकर चिल्लाता है, वह पाप का शब्द दूसरों को सुनाई पड़ता है, पर वह स्वयं नहीं सुनता।"[२]

विधवा समाज की कोई परवाह नहीं करती। वह विधवा होते हुए भी निःसंकोच कमल का हाथ पकड़ लेती है। उसे अपने परिश्रम पर विश्वास है, वह

१- प्रसाद : कंकाल, 'द्वितीय खंड' ; पृ० १०७ -

२- प्रसाद : आंधी, 'विधवा' ; पृ० ११७ -

कहती है - " मैं चार आने का परिश्रम प्रतिदिन करती हूं। तुम भी सितार के गजरे मांजकर कुछ कमा सकते हो। थोड़े से परिश्रम से हम लोग एक अच्छी गृहस्थी चला लेंगे।"[1]

एक विधवा का अपने परिश्रम बल पर यह विश्वास और एक पुरुष के साथ मिलकर गृहस्थी चला लेने का प्रस्ताव विधवा जीवन के गहन अंधकारमय जीवन में एक नयी प्रकाश की रेखा के समान है। संभवत: प्रसाद ने इसी माध्यम से हिन्दू समाज की प्रत्येक विधवा की मनोदशा को प्रतिबिंबित करना चाहा है।

विधवा की इस दीन तथा अत्यंत ही शोचनीय स्थिति का वर्णन प्रसाद जी ने रामा[2] के चरित्र में किया है। रामा पर दुराचार का लांछन लगाया जाता है। उसकी वैधव्य स्थिति से लाभ उठाकर तथा उसकी समस्त संपत्ति पर अधिकार जमाने के प्रलोभन में, उसका देवर उसे लाकर हरद्वार छोड़ आता है, किंतु प्रसाद जी विधवा को इस प्रकार लांछित होते नहीं देख सकते थे। पुण्यतीर्थ हरद्वार में पहुंचकर विधवा रामा सधवा बन जाती है, और समाज की मान्यताओं को पैरों तले कुचलती हुई अपनी कन्या तारा के साथ प्रकट रूप में घूमती हुई समाज को एक प्रबल चुनौती देती है।

इस प्रकार प्रसाद जी का विचार था कि विधवा को भी अपने जीवन के निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर ही उसकी उच्छृंखल भावनायें कुंठित हो सकती हैं।

घ- बेमेल विवाह -

बहुविवाह और बाल विवाह की कुरीतियों का स्पष्टत: उल्लेख करते हुए प्रसाद जी ने असमान विवाह की प्रथा का भी अंत करने का संकेत किया।

दामिनी[3] का विवाह वृद्ध पति वेद से हो जाता है। किंतु कहां युवाकाल की मदिर आकांक्षाओं से उन्मत्त दामिनी और कहां वृद्ध कुलपति वेद।

१- प्रसाद : आंधी, 'विधवा' ; पृ० १२७ -
२- 'कंकाल' की नारीपात्र -
३- जनमेजय का नागयज्ञ -

अपनी वासनाओं की तृप्ति उस वृद्ध पति के पास रहकर नहीं हो पाती । वासनाओं की मृग-मरीचिका में वह स्थल - स्थल पर भटकती फिरती है । उसे कहीं भी शांति नहीं मिलती । उसके पतन का कारण अनमेल विवाह है ।

सर्वप्रथम वह युवा उसंक पर आकर्षित होती है, किंतु उसंक से प्रेम का प्रतिदान न पाकर नारी हृदय प्रतिशोध के लिए कटिबद्ध हो जाता है । वह तदाक तक इसके लिए पहुँचती है । यहीं दामिनी का विवेक जागृत हो जाता है । अश्वसेन की लोलुप दृष्टि उस पर पड़ती है, किंतु उसका विवेक अश्वसेन जैसे स्वार्थलोलुप व्यक्ति को तिरस्कृत कर देता है । वह कहती है - " हटो अश्वसेन, मेरा मानस कलुषित हो चुका है, पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है । उसे दूषित न होने दूंगी - चाहे प्राण चले जांय । दुराचारी दे । ईश्वर से डर ।"[१]

अंत में दामिनी का स्वाभिमान जागृत हो जाता है । पुन: पति के संमुख आकर, अपने अपराधों की क्षमा मांगती है । यहां दामिनी की पराजय में भी उसकी विजय होती है । उसकी आचरणहीनता का, उसकी पराजय का उत्तरदायित्व वह समाज है, जो पत्नी की युवा आकांक्षाओं को बूढ़े पति के शुष्क दामन से बांध देता है ।

प्रसाद की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि समाज में प्रचलित विवाह संबंधी विशिष्ट कुरीतियों की गहराई में जा पहुँचे है । एक तत्वदर्शी समाज सुधारक की भांति प्रसाद ने उन समस्याओं को लेकर उनका समाधान प्रस्तुत करना चाहा है । स्त्री या पुरुष मनोवेगों के बीच में बांटे नहीं जा सकते । मानवीय प्रेमजनित अभिलाषाएं तथा सुखोपभोग की कामनाएं प्रत्येक व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं । विधवाएं या सपत्नियों के बीच में रहनेवाली युवतियां इस अभिलाषा से अभाव नहीं रही जा सकतीं । अत: इन मानसिक वेगों की पूर्ति के लिए समुचित आश्रय की आवश्यकता है । समाज ने ऐसी नारियों को बंधनों के मायाजाल में बांध रखा है । उन्हें

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० ५५ -

भी जीवन के सुखों की आकांक्षा है। उन सुखों से उन्हें वंचित कर देना मानव जीवन की एक करुणामयी कहानी है। प्रसाद ने विविध आदर्शों द्वारा इन समस्याओं के समाधान का मार्ग दर्शन किया है। अपने इस प्रयत्न में वे सफल हैं।

अन्तर्जातीय विवाह -

प्रसाद का दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक था। उन्होंने अपने साहित्य में मुख्यतः भारतीय संस्कृति का पोषण अवश्य किया, किन्तु उनकी दृष्टि भारतीय संस्कृत और भारतीयता तक ही सीमित न रही, उन्होंने मानवमात्र को एक ही आत्मीयता के धागे में बंधा पाया। इसीलिए अपने साहित्य में उन्होंने अन्तर्जातीय और अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों की भी कल्पना की है।

यद्यपि प्रसाद युग अनेक प्रकार की संकीर्णताओं से आबद्ध, जातिवादिता की जंजीरों से जकड़ा हुआ था। विशेषतौर से अंतर्जातीय विवाह को तो समाज में निषिद्ध माना जाता था। (कुछ अंश में तो अब भी माना जाता है) समाज की जकड़ी हुई परंपराओं तथा रूढ़ियों को तोड़ना सहज न था।

उन्होंने अपनी रचनाओं में स्वतंत्रतापूर्वक अंतर्जातीय संबंधी विवाह को पुष्ट किया है। यद्यपि प्रारंभिक कृतियों में किंचितरूप में लोकभय, किंचित रूप में अपनी आदर्शवादिता, और किंचित रूप में अपनी संकोचवृत्ति के कारण खुल नहीं सके थे। आगे चलकर ज्यों - ज्यों उनके व्यक्तित्व और लेखनी में अधिक गंभीरता आती गई, त्यों - त्यों उनके विचार भी परिपक्व होते गये। और वे खुलकर सामाजिक रूढ़ियों और परंपराओं का विरोध करने तथा उनके परिष्कार का आदर्शात्मक सुझाव प्रस्तुत करने लगे। इसी क्रम में उन्होंने अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विवाहों के भी सुझाव तैयार किये।

"मदन और मृणालिनी"[१] में प्रसाद जी ने अपनी उपर्युक्त समस्या को उठाया है। मदन और मृणालिनी परस्पर साथ रहते - रहते प्रेम की भावनाओं

१- छाया कहानी संग्रह -

में बहने लगते हैं। मृणालिनी बंग महिला है - " मदन ब्याह का नाम सुनकर चौंक पड़ा और मन में सोचने लगा कि यह कैसी बात ? कहाँ हम युक्तप्रान्त-निवासी अन्य जातीय, और कहाँ ये बंगाली ब्राह्मण, फिर ब्याह किस तरह हो सकता है। हो न हो ये मुझे भुलावा देते हैं। क्या मैं इनके साथ अपना धर्म नष्ट करूँगा।"[1]

प्रसाद ने यहाँ धर्म और प्रेम का द्वंद्व चित्रित किया है। द्वंद्व का शमन होता है आत्मत्याग से, और यह आत्मत्याग मदन के चरित्र में दृष्टव्य है।

मदन और मृणालिनी सीलोन जाकर भी विवाह के भय से परस्पर प्रेम नहीं कर पाते। समाज का भय वहाँ भी उन्हें पृथक बना देता है। सीलोन जाकर अर्थात् समाज से कोसों दूर रहकर भी उनका हृदय दर्पण कुंठामुक्त नहीं हो पाता। आगे चलकर प्रसाद जी ने कहानी का अंत भी यहीं कर दिया है, जब कि मदन पुनः मृणालिनी को सिलोन में छोड़कर अपने देश भारत को वापस चला आता है। उसकी विवशता के मूल कारण के रूप में जातिवादिता ही प्रमुख थी। जातिवादिता की संकीर्णताओं में घिरा हुआ मदन स्वच्छंद विचारों की अभिव्यक्ति कर सकने में असमर्थ रहता है।

प्रसाद जी ने प्रेम के क्षेत्र में जातिप्रथा के संकीर्ण बंधनों का सर्वथा खंडन किया है। इसी कारण प्रसाद की अभिजातीय वर्ग के युवक को निम्नवर्ग की नारी से प्रेम-विवाह करने में भी तैयार हो जाते हैं। नीरा[2] दैन्य और निर्धनता का जीवन व्यतीत करती है, क्योंकि उसका पिता एक कुली है। कुली कन्या होने के कारण प्रसाद ने उसके ऊपर ऐसा कोई प्रतिबंध आरोपित नहीं किया है कि अभिजातकुल में उत्पन्न देवनिवास उसे ग्रहण न कर सके। प्रसाद ने ऐसे ही समाज का निर्माण किया है जो मनुष्य की पुकार को सुन सके और मनुष्य - मनुष्य के बीच तैयार की गई इन कृत्रिम रेखाओं को तोड़ सकें।

१- प्रसाद : छाया, " मदन - मृणालिनी " ; पृ० १९६ -

२- आँधी कहानी संग्रह की " नीरा " कहानी की नारी पात्र -

देखने की इच्छा।"[1]

यहाँ के जीवन से ही नहीं वरन् भारतीय धर्म भी उसके लिए आकर्षण का केंद्र बनता है। वह धर्म का रूप समझकर उसे ग्रहण करने का प्रयास करती है। इंद्रदेव के पूछने पर वह विश्वासपूर्वक कहती है - " चित्रपट पहले शुभ्र होना चाहिये, नहीं तो उस पर चित्र बदरंग और भद्दा होगा। मैं हृदय का चित्रपट साफ कर रही हूं - अपने उपास्य का चित्र बनाने के लिए।"[2]

उसका उपासक यही इंद्रदेव है। वह उसी के लिए धर्म परिवर्तन की बात भी स्वीकार कर लेती है। नंदरानी इंद्रदेव के ब्याह के लिए शैला के संमुख प्रस्ताव रखती हुई कहती है - " ---- जब तुम इंद्रदेव को बहुत दूर तक अपने पथ पर खींच लाई हो, तब यों अकेले छोड़ देना क्या कायरता नहीं ? ---- मुझे इन्द्रदेव के ब्याह करने का अधिकार है।"[3]

चंद्रगुप्त नाटक में भी प्रसाद जी दो परस्पर विदेशी जातियों में एकता और मैत्री के आदर्श की स्थापना का दृष्टिकोण लेकर चले हैं। इस प्रकार अंतर्जातीय और अंतर्देशीय विवाह को पुष्टि प्रदान की गई है। चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह दो संस्कृतियों के सम्मिलन के महान् आदर्श को लेकर आयोजित हुआ है। साथ ही भारतीय वातावरण में अंतर्जातीय व्यक्तियों में प्रेम-भावना को प्रथम बार ही स्वीकृति प्रदान की गयी है।

कार्नेलिया यद्यपि ग्रीक राजकुमारी है, किंतु भारत आकर उसके ज्ञान, उसकी संस्कृति और उसकी सभ्यता से अत्यंत प्रभावित होती है। उसके हृदय में चंद्रगुप्त के प्रति अगाध स्नेह है। पिता के मुख से चंद्रगुप्त से युद्ध का जब समाचार सुनकर उसका हृदय बेचैन हो उठता है। वह कभी नहीं चाहती कि उसका पिता उस चंद्रगुप्त से युद्ध करे, जिसने उसकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी।

१- प्रसाद : तितली ; पृ० ७१ -
२- प्रसाद : तितली ; पृ० ११४ -
३- प्रसाद : तितली ; पृ० २०६ -

सिल्यूकस (कार्नेलिया का पिता) कार्नेलिया के हृदय में उठने वाले चंद्रगुप्त के प्रति प्रेम के अंकुर का आभास पा जाता है। अपनी बेटी के हृदय के उस अंकुरण को सदैव जीवित रूप प्रदान करने के लिए स्वयं चंद्रगुप्त के हाथों पराजित होता है। अंत में उसे भारत की साम्राज्ञी के पद पर विभूषित करते हुए कहता है - " ----- कार्नी, तू सुखी हो बेटी। तुझे भारत की सीमा से दूर न जाना होगा - तू भारत की साम्राज्ञी होगी।"[1]

इस प्रकार चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का परिणय कराकर प्रसाद जी ने दो संस्कृतियों में परस्पर एक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

अंतर्जातीय और अंतर्देशीय विवाह प्रसाद जी के व्यापक और उन्मुक्त दृष्टिकोण का परिचायक है। प्रसाद जी ने भारतीय समाज के सामने जो कि अपनी कूपमंडूकता में ही अपने को महान मानने लगा था, ऐसे विवाह संबंधों के माध्यम से एक आदर्श प्रस्तुत किया है कि देश और जाति की भिन्नता दो हृदयों के मेल को परस्पर रोक नहीं सकती। मनुष्य जहां कहीं भी होगा, मानवमात्र के प्रति उसका सहजाकर्षण सर्वथा सहज संभाव्य है।

नारी और शिक्षा

शिक्षा किसी भी समाज की प्रगति के लिए मेरुदंड है। शिक्षा से वंचित होकर कोई भी समाज पतन की ओर जा सकता है। भारतीय नारी-समाज परिस्थितियों के आवर्त में पड़कर पिछली कई शताब्दियों से अशिक्षित रहा है। अशिक्षा के वातावरण में उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण, रहन-सहन, विचार और प्रगति संकुचित और सीमित हो गयी थी। राजाराममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्रीमती एनीबेसेन्ट, महात्मा गांधी और उनके नेतृत्व में अखिल भारतीय कांग्रेस ने नारी शिक्षा के क्षेत्र में भी कदम उठाया था। किंतु नारी समाज के लिए शिक्षा का भी सूत्रारंभ ही हुआ था, अपूर्ण और अपर्याप्त था। साथ ही इस दृष्टिकोण

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १८८ -

का भी स्थिरीकरण नहीं हो पाया था कि भारतीय नारियों को प्राचीनकाल की परंपरा के अनुसार वैदिक शिक्षा प्रदान की जाय अथवा युग की प्रगतिशीलता को देखते हुए पाश्चात्य ढंग की शिक्षा प्रदान की जाय।

प्रसाद का दृष्टिकोण अत्यंत ही आधुनिक और प्रगतिशील था। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता और सम्यक् विकास के समर्थक थे। नारी के लिए वे शिक्षा को उतना ही अनिवार्य मानते थे, जितना कि पुरुष के लिए। उन्होंने नारी को किसी भी क्षेत्र में पुरुष की तुलना में पीछे नहीं माना। इसके ठीक विपरीत नारी को उसके सहज गुण धर्म के कारण, उन्होंने पुरुष की तुलना में अधिक प्रखर व्यक्तित्व और प्रतिभा से युक्त माना। यही कारण है कि उनके अधिकांश नारी पात्र पुरुष पात्रों की तुलना में अधिक प्रतिभासंपन्न दिखाई पड़ते हैं। वैदिक युग से पौराणिक, और गुप्त युग तक की रचनाओं में उन्होंने नारियों की एक लंबी श्रृंखला तैयार कर दी है, जो पूर्णतया शिक्षित और सुसंस्कृत हैं।

प्रसाद जी नारी-शिक्षा के पूर्णतया समर्थक थे। उन्होंने नारी-शिक्षा संबंधी समस्या को यत्र-तत्र स्थान दिया है, और उससे उनके शिक्षा संबंधी विचारों का परिचय मिलता है :

मदन[1] शिक्षा की उपयोगिता के संबंध में एक प्रश्न उठाता है। वह मंगल से कहता है - "भई, तुम पढ़ते हो, हो तो अच्छा करते हो ; यह पढ़ना किस काम का होगा ? मैं तुमसे कई बार सुन चुका हूँ कि पढ़ने से, शिक्षा से, मनुष्य, सुधरता है ; पर मैं तो समझता हूँ - वे किसी काम के न रह जायँगे।"[2]

यद्यपि मदन यह प्रश्न करता है मंगल से, किंतु इसका उत्तर उसकी पुत्री माला देती है - "बाबा ! पढ़ाई सब कामों को सुधार कर करना सिखाती है।"[3]

1- कंकाल -
2- प्रसाद : कंकाल, " तृतीय खंड " ; पृ० २०५ -
3- वही ,, ,, ; पृ० २०५ -

मंगल लड़कियों की पाठशाला की आवश्यकता पर भी बल देता है, किंतु यह कठिनाई सामने रखता है कि ऐसे विद्यालय के लिए स्त्री अध्यापिका की आवश्यकता होगी, जो कि दुर्लभ है। इस समस्या का समाधान गाला प्रस्तुत करती है और कहती है - "बाबा! तुम कहते हो तो मैं ही लड़कियों को पढ़ाती।"[1]

इसी प्रकार कंकाल में ही अन्य स्थलों पर भी प्रसाद ने शिक्षा संबंधी समस्या को उठाया है। प्रसाद की यह मान्यता रही है कि सामाजिक उत्कर्ष के क्षेत्र में कोई बाहरी शक्ति आकर सहायता नहीं पहुंचा सकती। अपितु समाज की अन्तःशक्तियों को ही जगाकर सामाजिक उत्कर्ष किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने इस सिद्धांत को ज्यों का त्यों माना है। उनकी योजना है कि समाज में जो भी शिक्षित नारियां हैं उन्हें चाहिये कि वे अन्य दुखिया नारियों को अपने सद् प्रयत्नों से आगे बढ़ावें। घंटी कहती है - "बहन, स्त्रियों को स्वयं घर घर जाकर अपनी दुखिया बहनों की सेवा करनी चाहिए। पुरुष उन्हें उतनी ही शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं, जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो। घरों के भीतर अंधकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है, और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें अत्याचार के पर्दे में छिपाई गई हैं, उनकी सेवा करूंगी। धात्री, उपदेशिका, धर्म-प्रचारिका, सहचारिणी बनकर उनकी सेवा करूंगी।"[2]

प्रसाद ने किसी भी व्यक्तित्व के उन्नयन के लिए संपत्ति और शिक्षा के स्तर को महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार "संपत्ति, अधिकार और विद्या ने भिन्न-भिन्न देशों में आभिजात्य और ऊंच-नीच की सृष्टि की।"[3] किंतु यह विभेद ईश्वरकृत नहीं है, और इस विभेद को एक "उत्क्रांति" के द्वारा दूर किया जा सकता है। इस उत्क्रांति को प्रसाद ने "समदर्शी भगवान की क्रीड़ा"[4]

१- प्रसाद : कंकाल, "तृतीय खंड" ; पृ० २०६ -
२- वही ,, "चतुर्थ खंड" ; पृ० २५८ -
३- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २५८ -
४- वही ,, ; पृ० २६० -

माना है। इस प्रकार शिक्षा के उच्चक वातावरण के लिए प्रसाद भी उस उत्क्रांति तक के समर्थक हैं, जिसमें "कुंठीभूत विभूतियाँ, मानव-स्वार्थ के बंधनों को तोड़कर उन्मुक्त पूर्णत्व के लिए बिखरना चाहती हैं।"[1]

प्रसाद ने अंकिता देवी द्वारा अपना सब कुछ दान कर देने का वर्णन किया है, और दान के उस धन से नारी-शिक्षा के संबंध में उनकी एक निश्चित योजना है - "उस धन से स्त्रियों की पाठशाला खोली जायगी, जिसमें उनकी कुशलता की शिक्षा के साथ वे इस योग्य बनायी जायेंगी कि घरों में पर्दों में दीवारों के भीतर नारी-जाति के सुख, स्वास्थ्य और संयत स्वतन्त्रता की घोषणा करें, उन्हें सहायता पहुंचाएं, जीवन के अनुभवों से अवगत करें, उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलाएं।"[2]

इस प्रकार नारी शिक्षा के माध्यम से प्रसाद जी नारियों में जो नवीन उत्प्रेरणा लाना चाहते थे उसके लिए उनकी यह योजना नारी समाज के जीवन में एक नयी जागरण का शंखनाद करती है।[3] तितली भी समाज कल्याण की भावनाओं से प्रेरित होकर पाठशाला खोलती है, और उसके परिवार में उपस्थित होते हैं तीन ऐसे अनाथ बच्चे जिसे समाज व्यभिचार की संतान मानता है और जिसे उनकी माताएं भी भूमि में पाप समझती हैं।[4] तितली अपनी इस पाठशाला को गुरुकुल बना देने के पक्ष में है, और यह एक ऐसा गुरुकुल होगा, जिसमें नारियों के जीवन को एक नई दिशा प्रदान की जायेगी।[5]

उपर्युक्त संदर्भों से प्रसाद जी के नारी-शिक्षा संबंधी विचारों का

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० २५० -
२- वही ,, "चतुर्थ खंड"; पृ० २५१ -
३- प्रसाद : तितली (उपन्यास) की नारी पात्र -
४- प्रसाद : तितली ; पृ० २३३-
५- वही ,, ; पृ० २३३, २३४ -

परिचय मिलता है। प्रसाद अपने साहित्य में जीवन की समरसता के पोषक रहे हैं। इस समरसता को उन्होंने क्रांति के मार्गों से प्राप्त करने पर बल दिया है।[१] किंतु सामाजिक शिक्षा की नितांत आवश्यकता को देखते हुए वे उत्क्रांति तक करने के समर्थक बन जाते हैं। प्रसाद जैसे गंभीर विचारक के मस्तिष्क में इतना बड़ा परिवर्तन अवश्य ही शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्यकता के कारण है। इसमें भी वे नारी शिक्षा के विशेष समर्थक रहे हैं। वे नारी को केवल शास्त्र विद्या का ही ज्ञान नहीं कराना चाहते, अपितु अर्थशास्त्र, राजनीति, शस्त्र - विद्या और कलात्मक अभिरुचि के लिए अन्य सब विषयों का ज्ञान आवश्यक मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने साहित्य में ऐसे अनेक नारी पात्रों का सृजन किया है जो विविध शास्त्रों में पूर्णतया दक्ष हैं, और जिनके संबंध में इस प्रकार के स्पष्ट संकेत नहीं हैं, वे भी अशिक्षित नहीं प्रतीत होतीं। जैसे श्रद्धा, देवसेना, मालविका आदि पात्र हैं, जो किसी न किसी प्रकार की शिक्षित अभिरुचि को व्यक्त करती हैं।

नारी और आर्थिक स्वतंत्रता

आज के परिवर्तनशील युग में आर्थिक स्वतंत्रता को एक मूलाधिकार[2] के रूप में मान लिया गया है। प्रायः सभी प्रगतिशील देशों में एक निश्चित सीमा तक व्यक्ति को अर्थोपार्जन करने और अपनी सुख-सुविधा के लिए धन - संचित करने का अधिकार दिया गया है। नारी इस अधिकार से वंचित नहीं है।

आर्थिक क्षेत्र में प्राचीनकाल से ही भारतीय नारियों को उन्मुक्त आर्थिक अधिकार नहीं दिये गये थे। संपत्ति का स्वामी पति हुआ करता था, और पति

१- ध्रुवस्वामिनी तथा अन्य ग्रंथ देखें।

2- Fundamental Right.

के उपरांत यह स्वामित्व पुत्र में अथवा परिवार के अन्य सगे संबंधियों में प्रत्यावर्तित हो जाता था। स्त्री को गृह स्वामिनी मानते हुए भी वास्तविक अधिकार पुरुषों में निहित रहता था, और आशा की जाती थी कि स्त्री केवल आंतरिक गृह व्यवस्था का भार संभालेगी, और वह भी बचपन में पिता की अधीनता में, यौवनावस्था में पति की अधीनता में, और वृद्धावस्था में पुत्र की अधीनता में रहकर।

यह आर्थिक दासता नारी के पराभव को स्थिर बनाये रखने का कारण थी। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलनों के साथ ही नारी - जागरण और नारी स्वतंत्रता की भी लहर उठ आयी, और सार्वभौम रूप में इस तथ्य को स्वीकार किया गया कि पुरुषों के समान ही नारियों को भी अपनी रुचि, योग्यता और क्षमता के अनुरूप धंधा करने, अर्थोत्पादन करने, और अर्थसंचय करने का अधिकार है।

हिन्दी साहित्य में उपर्युक्त मान्यता की स्पष्ट रूप में सर्वप्रथम अभिव्यक्ति मिली, प्रसाद जी के साहित्य में, जहाँ उन्होंने यह उद्घोष किया कि, "स्त्री के लिए पर्याप्त रुपया या संपत्ति की आवश्यकता है। पुरुष उसे घर में लाकर जब छोड़ देता है, तब उसकी नित्य की आवश्यकताओं पर बहुत कम ध्यान देता है, इसलिए मेरा भी अब यही मत हो गया है, कि स्त्री के लिए सुरक्षित धन की व्यवस्था होनी चाहिये।"[1]

इतना ही नहीं प्रसाद जी तो यहाँ तक भी कहते हैं कि वित्तीय व्यवस्था का सारा दायित्व स्त्रियों पर ही होना चाहिये। वे यह भी मानते हैं कि "स्त्रियों को ही धन की आवश्यकता है। और संभवतः वे ही उसकी रक्षा भी कर सकती हैं।"[2]

१- प्रसाद : तितली ; पृ० ११६ -
२- वही ,, ; पृ० ११६, ११७ -

प्रसाद जी के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है, कि स्त्रियाँ धनलोलुप हैं, या धन ही उनके जीवन का एकमात्र आधार है। वे अपनी इस आशंका को शैला के मुख से व्यक्त करा देते हैं, और इस बात का स्पष्टीकरण देते हैं, कि नारी को वस्तुत: धन की क्यों आवश्यकता है। वे शैला के द्वारा ही निम्नलिखित स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमें पुरुषों की ओर से नारी के प्रति उदासीनता को ही इस आवश्यकता का मुख्य कारण माना गया है:—
'समाज का संगठन ही ऐसा है कि प्रत्येक प्राणी को धन की आवश्यकता है। इधर स्त्री को स्वावलंबन से जब पुरुष लोग हटाकर उनके भाव, और अभाव का दायित्व अपने हाथ में ले लेते हैं, तब धन को छोड़कर दूसरा उनका क्या सहारा है?'[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसाद ने नारी की आर्थिक स्वतंत्रता को भी अपने साहित्य में एक समस्या के रूप में उठाया है, और वे नारी को पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करने के पक्ष में हैं, किंतु वे धन की आवश्यकता को जीवन निर्वाह का एक साधन मानते हैं, साध्य नहीं। यथा प्रसंग कहा जा चुका है कि प्रसाद नारी को भौतिकवाद के क्षेत्र में बहुत दूर तक खींच ले जाने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि अतिशय भौतिकवाद व्यक्ति में अहम् भाव उत्पन्न करता है, और इस अहम् भाव से अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। प्रसाद जी नारी को इन विकारों से रहित ममतामयी कल्याणी के रूप में देखना चाहते हैं। यही कारण है कि धन संबंधी आवश्यकता और अधिकार के प्रश्न को वे अपने साहित्य में बहुत अधिक विस्तार नहीं दे पाये हैं।

१- प्रसाद : तितली ; पृ० ५७ -

--अध्याय ७

नारी और उसका वाह्य-रूप

नारी और उसका बाह्य रूप

नारी का सौंदर्य अपने अनुपमेय आवयविक स्वातिशय के कारण चिरकाल से कविमन की सौंदर्यचेतना के आकर्षण का केन्द्र रहा है। सौन्दर्य वर्णन की वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ दोनों ही परंपरायें मिलती हैं। हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में अधिकांशत: वस्तुनिष्ठ दृष्टि का प्राधान्य पाया जाता है और अँग्रेजी के रोमांटिक काव्य में व्यक्तिनिष्ठ भावना का। प्रसाद ने इन दोनों ही परंपराओं का अतिक्रमण करके एक सर्वथा अभिनव दृष्टि का निर्माण किया है। कवि कुलगुरु कालिदास ने यौवन को स्त्रियों का सहज अलंकार कहा है। अभिज्ञानशाकुंतलम् की शकुन्तला तथा कुमारसंभव की उमा की रचना करते हुए उनकी सौन्दर्य दृष्टि अत्यंत जागरूक रही है। उनकी निसर्ग कन्या शकुन्तला सुकुमार सौन्दर्य का मूर्त रूप है, किन्तु उमा की रचना करते हुए कालिदास ने यह भी जोड़ा कि " पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच:।[1] " कविवर प्रसाद ने इन दोनों ही तत्वों का सामंजस्य एक ही स्थान पर किया है - यह उनकी अभिनव दृष्टि है। हिन्दी के मध्ययुग में रीतिधारा के कलाप्रिय कवियों ने नारी-सौंदर्य का बड़ा विस्तृत वर्णन किया था। नारी के अंग - प्रत्यंग और प्रसाधन का सिख से सिख तक का चित्रण नाना शब्दावलियों में उस काव्य में प्राप्त है। जहाँ काव्य-रचना में भी भाव की अपेक्षा वे अभिव्यक्ति तत्व की रूप-रचना के प्रति अधिक जागरूक थे वहीं उन्होंने नारी[2] आवयविक सौन्दर्य, नख - शिख और प्रसाधन-बद्ध सौंदर्य का तो विशद् और सूक्ष्म चित्रण किया, किन्तु उसके भावजगत के सौन्दर्य को एक बहुत ही संकुचित क्षेत्र में, एक अत्यंत संकुचित दृष्टि से देखा, जिसके फलस्वरूप वह ' नवोढ़ा, प्रगल्भा, अभिसारिका, प्रोषितपतिका ' आदि बंधे-बंधाये साँचों में रह गयी।

नारी सौन्दर्य के वर्णन में दो तत्व प्रधान हैं। १- आवयविक आकर्षण;

१- कुमारसंभव ५, ३६।

२- सौन्दर्य का प्रभाव। इन दोनों ही तत्वों की व्याख्या रीतिकालीन काव्य में रतिस्थायीभाव को केन्द्र में रखकर हुई - और वह भी काफी स्थूल काम का स्वरूप प्रस्तुत करने में ही सफल हुई। किन्तु प्रसाद ने -

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी[1]

मानते हुए सौन्दर्य को " प्रियदर्शन " ही नहीं उसकी प्रभा को भी माना और उसे सत्य के साथ संयुक्त देखा।[2]

रूप - सौंदर्य का बाह्यरूप पक्षमात्र है, जिस पर रीतिकालीन कवियों ने अधिक बल दिया था, किन्तु प्रसाद सौन्दर्य में " चित् " की दीप्ति पाते हैं -

जागृत था सौंदर्य, यदपि वह
सोती थी सुकुमारी ;
रूप - चंद्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा-सी नारी।[3]

प्रसाद ने सौंदर्य को सुखद होने मात्र[4] की सीमा से निकालकर एक नई पीठिका प्रदान की। " सौंदर्य के दो पक्ष हैं - एक इंद्रियगम्य, दूसरा

१- प्रसाद : कानन कुसुम, ' सौन्दर्य ' ; पृ० ५१ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ५१ -
३- प्रसाद : कामायनी , ' कर्म ' ; पृ० १३५ -
४- प्लेटो से लेकर मार्क्स, सान्तायन, रस्किन, कैरिट आदि चिंतक सौंदर्य का सुख से घनिष्ठ संबंध मानते हैं।
डा० रामानन्द तिवारी : ' सत्यं शिवं सुन्दरम् ' , अध्याय ५१ ; पृ० ६५६ ·

आध्यात्मिक। प्रथम का प्रतिपादन सुख में होता है, और दूसरे का आनंद में -- सुख इंद्रियों का विषय है और आनंद अंतःकरण का।"[1]

प्रसाद ने नारी - सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए उसकी प्रभाविष्णुता में मात्र सुख की ही सीमा को स्वीकार नहीं किया है। जिस प्रकार कोई भी कलाकृति ऐन्द्रिक रूपों (भाषा, छंद, रेखा, रंग, स्वर आदि) में सौंदर्य-मयी संवेदना की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार 'दिव्य शिल्पी' की कलाकृति नारी सौन्दर्य के संबंध में 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार'[2] हृदय का सौंदर्य ही आकृति ग्रहण करता है, तभी मनोहरता रूप में आती है[3]; कहकर प्रसाद ने नारी-सौंदर्य के अनुभूतिपक्ष और प्रभावपक्ष को एक नया आयाम प्रदान किया। नारी व्यक्तित्व की एक नूतन परिभाषा और आंतरिक सौन्दर्य के साथ बाह्य सौंदर्य की एक अभिनव रूपरेखा प्रसाद ने प्रस्तुत की। काव्य की अर्थवती कला की भाँति नारी-सौंदर्य का भी एक आंतरिक पक्ष है, जिसमें बाह्य पक्ष की सार्थकता सम्मिलित है। जब यह सौंदर्य अपने आंतरिक पक्ष से शून्य हो जाता है, तो न केवल उसका सामाजिक प्रभाव विनाशकारी होता है, वरन् उस रूपवती के भी स्खलन का मार्ग बनकर उसके व्यक्तित्व में शून्यता भर देता है।[4] प्रसाद ने सुन्दर और उदात्त का समन्वय किया है और सुन्दर और श्रेय का सामंजस्य स्थिर किया है। जो सुन्दर है, वह केवल सुख का ही स्त्रोत नहीं है, वरन् मंगलमय प्रभाव और वृत्तियों के उदात्तीकरण का भी साधक है -

----

१- डा० रामकुमार वर्मा : साहित्यशास्त्र; पृ० १८ -

२- प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा'; पृ० ५६ -

३- आकाशदीप, 'कला'; पृ० ८२ -

४- श्यामा, अनन्तदेवी आदि, -

अरुणांचल - मन - मंदिर की वह
　　मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा ;
लगी सिखाने स्नेहमयी - सी
　　सुन्दरता की मृदु महिमा ।[१]

प्रसाद ने नारी के व्यक्तित्व में सौन्दर्य का जो समावेश किया है, उसमें हम मुख्यतया तीन तत्व पाते हैं -

१- आंगिक चित्र
२- हृदय की अनुकृति बाह्य उदार ;
३- प्रभाव वर्णन ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रसाद ने नारी सौन्दर्य के चित्रण में अंगों का यथातथ्य वर्णन मात्र वासनात्मक उद्दीपन के निमित्त कहीं भी नहीं किया है। जहां कहीं आंगिक वर्णन की शैली का समावेश हुआ है, उसमें उसका प्रभाव ही विशेषरूप से परिलक्षित हुआ है।

आंगिक चित्र

सौन्दर्य चित्रण की एक प्रमुख विशेषता है कि कवि आंगिक वर्णनों का सहारा लेता है। प्रसाद ने भी स्थान-स्थान पर नारी के अंगों का वर्णन किया है, किंतु परंपरागत कवियों और प्रसाद जी के दृष्टिकोण में मौलिक अंतर है। रीतिकाल में आंगिक चित्रण में नख- शिख वर्णन की प्रधानता थी। प्रसाद ने नारी सौंदर्य में अंगों का वर्णन केवल उनके प्रभावों को व्यक्त करने के उद्देश्य से किया है। प्रसाद ने नारी सौन्दर्य का जो अंकन किया है उसमें अंगों की स्थूलता और उन्मादकता को ज्यों का त्यों चित्रित करने का नहीं, अपितु भावनात्मक क्षेत्र में उसके प्रभावों को अंकित करना उनका उद्देश्य रहा है। प्रसाद ने

१- कामायनी, 'निर्वेद'; पृ० २३४ ।

इसीलिए नखशिख वर्णन कहीं नहीं किया है, वरन् उन्हीं अंगों के उल्लेख आते हैं जो हृदय में भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम बन पाते हैं। उनका सौन्दर्य शरीर के आकारों का वर्णन नहीं है वरन् प्रसाद जी सौन्दर्य में सचेतन तत्व को निहित मानते हैं। नीचे प्रसाद द्वारा किये गये आंगिक चित्रों के दृष्टांत दिये जा रहे हैं।

<u>मुख वर्णन</u> -

प्रसाद जी ने अपने सभी पात्रों के मुख वर्णन की ओर विशेष ध्यान दिया है। किसी के भी व्यक्तित्व का आभास उसका मुख देखकर किया जा सकता है, चूँकि प्रसाद जी ने अपने प्रत्येक नारी पात्र में किसी न किसी उदात्त शक्ति, गुण, सौन्दर्य या प्रवृत्ति की कल्पना की है, इसलिए उन्होंने उन्हीं विशेषताओं के अनुरूप अपने नारी-पात्रों को चित्रित भी करने का यत्न किया है। इन चित्रों में मुख वर्णन का अपना विशेष स्थान रहा है।

सामान्यत: कवि परंपरा में कांति की दृष्टि से मुख की सुंदरता के लिए चंद्रमा को उपमान माना गया है। प्रसाद जी के पूर्व हिन्दी साहित्य में कभी नारी के मुख को चंद्रमा के समान, कभी चंद्रमा से भी बढ़कर कहा गया है, किंतु उस सौन्दर्य संरचना में किसी प्रकार के भावों का उन्मेष नहीं हो पाया है। भारतेन्दु बाबू ने मुख को चंद्रमा कहकर और हथेलियों को कमल कहकर यह कल्पना अवश्य की थी कि वारिधि के नाते मानो कमल, चंद्रमा के कलंक को धो रहा है।[१]

प्रसाद ने मुख का वर्णन करते हुए परंपरागत उपमानों को ही नहीं छोड़ा है वरन् उसके साथ बंधी हुई धारणा को भी छोड़ दिया है। उन्होंने नये उपमानों के साथ नई धारणा को जोड़ा है। कामायनी में प्रसाद ने मुख-वर्णन के लिये दो सर्वथा नूतन उपमान प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम श्रद्धा के मुख की तुलना

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : गंगा महिमा (कविता से) -

अरुण रवि मंडल से की है। प्रसाद की दृष्टि में सौंदर्य की सीमा उसके रूप तक ही समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि उसकी पूर्णता उसकी दीप्ति, प्रतिभा, प्रखरता और उसकी तेजस्विता में हो पाती है। प्रसाद की दृष्टि में नारी मुख का सौंदर्य कान्ति और मधुरता में ही सीमित नहीं है। मुख कितना भी सुंदर हो, किंतु यदि वह प्रभामय न हुआ तो उसकी सारी सुंदरता प्रभाव की दृष्टि से निर्जीव कही जायेगी। प्रकृति के आंगन में समस्त नक्षत्र मंडल में सबसे अधिक तेजोमय और प्रकाशवान नक्षत्र सूर्य है जिसके प्रकाश से समस्त संसार प्रकाशित होता है। सूर्य की वह आभा उस समय और भी अधिक तेजोमय प्रतीत होती है जब कि पश्चिम की ओर से बादलों का घना आच्छादन आकाश को घेरे हुए हो और पूरब की ओर से बाल अरुण के प्रखर किरणें उन्हें चीरती हुई प्रकट हो। प्रसाद ने मुखमंडल की वास्तविक शोभा के लिए सूर्यमंडल की इसी आभा को एक आदर्श उपमान के रूप में माना है -

> आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम -
> बीच जब घिरते हों घन श्याम
> अरुण रवि-मंडल उनको भेद
> दिखाई देता हो छविधाम।[1]

सूर्य जिस प्रकार से प्रखर प्रतिभा और प्रकाश (तेज) का प्रतीक है, उसी प्रकार से ज्वालामुखी भी तेज, दीप्ति और शक्ति का पुंज है, जिसकी दबी हुई शक्ति समय पाकर फूट पड़ती है। यहाँ श्रद्धा के अंगों में यौवन के उन्माद का फूटना " ज्वालामुखी " के फूटने के समान है। इसी प्रकार सौन्दर्य का अपनी पूर्ण आभा से ██████ व्यक्त होना " इन्द्रनील मणि के लघु शृंग " के

१- प्रसाद : कामायनी, " श्रद्धा " ; पृ० ५६ -

समान दिखाई पड़ता है।[1] यहाँ नारी के सौंदर्य में कोमलता भी है और ज्वाला भी। कोमलता इतनी है कि वह पुरुष को अपनी ओर खींच ही नहीं लेती बल्कि जीवन की ओर प्रवृत्त भी कर देती है - और ज्वाला इतनी कि वह समस्त विकारों एवं प्रमादों को जलाकर एक नवीन सुरभिमय आलोक की प्रेरणा दे देती है। अंगों में " तरुण मादकता का उद्दीपन " बिजली के फूल के खिलने के समान है।[2] नारी की कायागत विशालता " हिम शैल " की विशालता के समान है। यहाँ अचेत ज्वालामुखी, बिजली के फूल, आदि उपमान नारी सौन्दर्य में एक नई शक्ति और तेजस्विता का संकेत देते हैं।

उसके घुंघराले बाल उसके मुख के पास लटक रहे हैं। मुख पर बालों का यह लटकना ऐसा है मानो नील घन के सुकुमार छोटे - छोटे बच्चे चन्द्रमा से अमृत भरने के लिये लटक आये हों :—

१- या कि, नव - इन्द्रनील- लघुशृंग
फोड़कर धधक रही हो कांत ;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत।।
प्रसाद : कामायनी, ' श्रद्धा ' ; पृ० ४७ -

२- नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ - बन - बीच गुलाबी रंग।
प्रसाद : कामायनी, ' श्रद्धा ' ; पृ० ४६ -

घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास ;
नील घन- शावक- से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास ।[1]

यहाँ मुख को केवल चंद्रमा कहकर ही छोड़ नहीं दिया गया है, अपितु जिस प्रकार से चंद्रमा की ज्योत्स्ना अमृत की भाँति चारों ओर फैल जाती है, और आकाश में तिरते हुये मेघखंड उस ज्योत्स्ना से अपने-अपने घड़े में अमृत भरते हुये दिखाई पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार घुंघराले बाल मुख के ऊपर लटक कर मुख की सुकुमारता में परिलक्षित होने वाले अमृत को पीते हुये दिखाई पड़ते हैं। यहाँ मुख की आभा में अमृत का पाया जाना नारी के पावन और कल्याणी रूप का द्योतक है, जिसे पीकर अमरत्व की कल्पना तो भले ही की जा सकती है, परंतु जिसे देखकर वासना का उद्दीपन बिल्कुल ही नहीं हो सकता।

यही नहीं, उस मुख की संपूर्ण आभा में कुछ विशिष्ट बातें भी हैं, जो और भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। अमृत से भरे हुये उस मुख सौंदर्य को कवि ने किसी भी रूप में निर्जीव नहीं रहने दिया है। उसमें उसे एक मुस्कान दिखाई पड़ती है, जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो अरुण की एक अम्लान किरण किसलय पर आकर टिक गई हो -

और उस पर मुख पर वह मुसक्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।[2]

इसके ठीक विपरीत इड़ा (बुद्धि) अपने स्वभाव के अनुरूप अपने मुख पर

१- प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा सर्ग' पृ० ४७ -
२- प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा सर्ग' ; पृ० ४७ -

ऐसी अलकों को बिखराये हुये सामने आती है मानो तर्क का जाल ही बिखर गया हो।

बिखरी अलकें ज्यों तर्क - जाल !

वह विश्व मुकुट- सा उज्ज्वलतम शशि खंड-सदृश था स्पष्ट भाल।

दो पद्म-पलाश-चषक-से दृग देते अनुराग-विराग ढाल।

गुंजरित मधुप से मुकुल - सदृश वह आनन जिसमें भरा गान।[१]

प्रसाद ने मुख को नारी के बाह्य सौंदर्य को व्यंजित करने का प्रमुख माध्यम माना है। कपोल मुख की सुंदरता के दो आधार- तत्व हैं। प्रसाद ने कपोलों के माध्यम से मुख की सुंदरता को बहुत ही व्यापक और दूरगामी बनाने का यत्न किया है। वह मुख ही क्या जिसे देखकर देखनेवाले की आँखे स्वयं गुलाबी न होने लगें - "वह थी मंगला की यौवनमयी उषा। सारा संसार उन कपोलों की अरुणिमा की गुलाबी छटा के नीचे मधुर विश्राम करने लगा। वह मादकता विलक्षण थी। मंगला के अंग-कुसुम से मकरन्द छलका पड़ता था। मेरी धवल आँखें उसे देखकर ही गुलाबी होने लगीं।"[२]

प्रसाद ने मुख के सौन्दर्य को उसकी समग्रता में एक पूर्ण इकाई मानकर भी व्यक्त किया है, और उसकी भिन्न - भिन्न विशिष्ट रेखाओं को भी परखा है, और उनसे व्यक्त होने वाले व्यक्तित्व के गुणों का अंकन किया है। संतोष कामना के मुख की सुंदरता का वर्णन करते हुये कपोलों के ऊपर, और भौंहों के नीचे स्थित "एक श्यामसंडल" का भी अवलोकन करता है। उसके माध्यम से वह कामना के हृदय में छिपे हुए नीरव रोदन " तक का अध्ययन कर जाता है, और फिर उसकी दृष्टि ललाट की ओर जाती है तो वह उसी मुख में एक अपूर्व

१- प्रसाद : कामायनी, "इड़ा"; पृ० १८० -

२- प्रसाद : इंद्रजाल, "विसाती पत्थर"; पृ० ६६ -

गंभीरता को भी खेलते हुये देखता है। फिर पलकों के पर्दे के भीतर भी वह झाँक आता है जहाँ लज्जा नाम की एक नई वस्तु छिपी है और उसमें कुछ ऐसी मर्ममरी बातें छिपी हैं, जिनका अनुभव पहले नहीं किया गया था।[1]

प्रसाद ने मुख की उस शोभा को भी देखा है, जब घने मेघ खंडों का आवरण हटाकर चंद्रमा अपना मुख बाहर निकाल देता है। विलासी की शीरीं अपने मुख पर पड़े हुये अवगुंठन को सहसा उलट देती है। उस शोभा को देखकर समूची प्रकृति हंस देती है। उसके मुख की शोभा प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच इतनी घुल-मिल जाती है कि चारों ओर खिले हुए गुलाब के फूलों के बीच शीरीं का मुख गुलाबों के राजा की भाँति दिखाई पड़ता है। उसकी आँखें ऐसे दो नील भौंरों के समान दिखाई पड़ती हैं, जिन्होंने अपने मुंह में मकरंद भर लिया है, और उस गुलाब से उड़कर दूर जाने में असमर्थ हो गये हैं।[2]

जहाँ कहीं प्रसाद ने किशोरी युवतियों के रूप - लावण्य को चित्रित

१- " तुम्हारे कपोलों के ऊपर और भौंहों के नीचे एक श्याम मंडल है, नीरव रोदन हृदय में और गंभीरता ललाट में खेल रही है। और भी एक लज्जा नाम की नयी वस्तु पलकों के पर्दे में छिपी है ----"।
प्रसाद : कामना, अंक १, दृश्य २ ; पृ० ४६ -

२- " शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हंस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुंह में भरे दो नील - भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पर निस्पंद थे।"
प्रसाद : आकाशदीप, "विलासी"; पृ० ८१, ८२ -

किया है, वहाँ उन्होंने उन्हें पूर्ण लावण्यवती चित्रित करते हुए भी रीतिकालीन नायिकाओं की आभिसारिक प्रगल्भता से दूर रखा है। प्रसाद द्वारा चित्रित सौंदर्य ऐसे आंतरिक और बाह्य सौन्दर्य का मिश्रित रूप है, जिसे देखकर उन किशोरियों का रूप लावण्य एक अनूठा मिथ-सा प्रतीत होता है। प्रसाद ने किशोरियों के शुभ्र शरीर को मलिन और फटे हुये वस्त्रों से ढंका हुआ भी देखा है, किंतु उसमें भी एक दमक का आभास पाया है। ऐसे स्थलों पर नासिका की जड़ से चलकर कानों के समीप तक फैली हुई भ्रू-युगल रेखाओं को भी उन्होंने देखा है और देखा है उसकी छाया में दो ऐसे उनींदे कमलों को जो संसार से अपने को छिपा लेना चाहते हैं। ऐसे स्थलों पर सारा सौंदर्य ही `विरागी` हो जाता है और शरद के शुभ्र-घन के हलके आवरण में आप ही लज्जित हो उठता है -

" बालिका का शुभ्र शरीर मलिन वस्त्र में दमक रहा था। नासिका- मूल से कानों के समीप तक भ्रू-युगल की प्रभावशालिनी रेखा और उसकी छाया में दो उनींदे कमल संसार से अपने को छिपा लेना चाहते थे। उसका विरागी सौन्दर्य, शरद के शुभ्र - घन के हलके आवरण में पूर्णिमा के चन्द्र - सा आप ही लज्जित था।"[1]

आँसू काव्य में प्रसाद ने मुख की जो शोभा चित्रित किया है, वहाँ मुख को देखकर सर्वप्रथम यह आभास होता है, मानों कुछ पूर्णिमा का मधु भरा चंद्र मुस्काता हुआ सामने आया हो। प्रथम मिलन में ही उस मुख की मुस्कान ने ऐसा आभासित कर दिया है मानो यह परिचय युग- युग का परिचय रहा हो -

> मधु राका मुस्काती थी
> पहले देखा जब तुमको
> परिचित- से जाने कब के
> तुम लगे उसी क्षण हमको।[2]

यहाँ मुख मनोभावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर सामने आया है।

१- प्रसाद : आकाशदीप, " स्वर्ग के खंडहर में " ; पृ० ४२ -

२- प्रसाद : आँसू ; पृ० १७ -

यह परिचय आंखों के माध्यम से तुरंत ही हृदय का परिचय बन जाता है और जैसे पूर्णिमा के चंद्र को गले लगा लेने के लिए जलनिधि की लहरें आतुर होकर ऊपर को उठने लगती हैं, उसी प्रकार यहां मनोभावों का आलोड़न होने लगता है, और फिर उस मुख में कुछ ऐसी विचित्र छवि है कि कवि उसे देखता रह जाता है। उसके इस देखने में किसी प्रकार के वासनात्मक उद्‌गारों का प्रश्न नहीं उठता। यहां तो वह छवि स्वयं कवि की समग्र सम्वेदना का उन्मेष कर सकने में समर्थ है। इसलिए उसका इस मुख की छवि को निरंतर देखते जाना अत्यंत ही निष्कलुष कहा जायेगा -

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिमा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।[1]

कभी वह मुख अपने ऊपर घूंघट[2] का एक आवरण डाल लेता है और एक कौतूहल बनकर सामने आ खड़ा होता है। कभी मुख पर लटकते हुये बालों को देखकर मन में प्रश्न उठ जाता है -

बांधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ?[3]

यहां सौंदर्य की अतिशयता का वर्णन किया गया है। कौतूहल शांत होकर जब सौन्दर्यानुभूति को एक स्थिर रूप प्रदान करता है उस समय कवि का मुख की यथार्थपरक शोभा की ओर ध्यान जाता है, और तब वह देखता

१- प्रसाद : आंसू ; पृ० १८ -
२- शशि- मुख पर घूंघट डाले।
प्रसाद : आंसू ; पृ० ६ -
३- प्रसाद : आंसू ; पृ० २१ -

है[१] कि मुख के पास ही यह कान है जो ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं, मानों कमल के पार्श्व में उसके बड़े - बड़े और चिकने पत्ते हों, किंतु ये पत्ते चिकने हैं, इन पर पानी की बूंदों का ठहरना संभव नहीं अर्थात् वासना से दूर मुख की कोमलता का चित्रण कवि ने किया है। इस प्रकार मुख की छवि के अवलोकन से हृदय की सुखानुभूतियों और दुखानुभूतियों का सजग हो जाना प्रसाद जी के मुख चित्रण की अपनी विशेषता है। उन्होंने नारी के आवयविक सौंदर्य को ही नहीं देखा, वरन् नारी के बाह्य सौन्दर्य में सृष्टि की संरचना की एक पूर्णता की कल्पना की है। उन्होंने नारी सौन्दर्य के सृजनात्मक प्रभाव पर बल दिया है, जिसमें शक्ति और तेजस्विता, अपूर्व गंभीरता, लज्जा, कोमलता, सौन्दर्य की अतिशयता आदि सन्निहित हैं।

दृष्टि वर्णन -

कवि-परंपरा में नायिका के नेत्रों की चपलता के प्रति अत्यधिक मोह रहा है। नेत्र ही ऐसा अंग है जिसमें समस्त मनोभाव सहज ही अभिव्यक्त हो जाते हैं। रीतिकालीन परंपरा से नेत्रों के कंपन, भ्रू-विलास, चितवन, नेत्र-संचालन नेत्र-निमीलन आदि का बहुत वर्णन आया है। आंखों ही आंखों में काम क्रीड़ा के संकेत की स्वीकारोक्तियां तक व्यक्त की गई हैं। यहां तक कि इन्हीं नेत्रों के संबंध में कहा गया है कि इन नेत्रों का बाण जिसे एक बार लग जाय उसका जीना मरना

१- मुख- कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके ?
प्रसाद : आंसू ; पृ० २३ -

सब कुछ हो सकता है[१]। किंतु यह सभी वर्णन आंखों की उस शक्ति के चित्रण तक सीमित रहे हैं जिनसे काम- भाव का उद्दीपन होता है।

प्रसाद ने नेत्र-वर्णन को भी एक नवीन और भावात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की। नारी के नेत्रों में बांकपन का होना प्रसाद जी ने अस्वाभाविक नहीं माना है। फिर भी, उनकी मान्यता में नेत्रों के उस बांकपन से केवल लिप्साओं का घड़ा ही नहीं भरा जा सकता, अपितु जीवन की सचेतनता भी उन नेत्रों से ग्रहण की जा सकती है।

आंखों की वस्तुपरक-संरचना और भ्रू-संचालन का वर्णन करते हुए प्रसाद ने एक नया उपमान ढूंढा है। आंखों के लिए परंपरागत उपमान जैसे खंजन, मीन आदि प्रसाद जी को उतने तीखे और शक्तिमान नहीं प्रतीत हुये हैं, जितने कि नेत्र स्वयं हुआ करते हैं। ये नेत्र ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानो काले बादलों के बीच बिजली अपनी तीव्र शक्ति छिपाये बैठी है। बिजली कौंध जाती है, प्रकाश क्षण भर के लिये एक अनुपम आभा बिखरा कर फिर उसी बिजली में आकर सिमटजाता है। उन आंखों के बीच काली पुतली एक श्याम झलक की आभा व्यक्त करती है[२]।

१- अमीय हलाहल मद भरे, स्याम स्वेत रतनार।
   जियत मरत झुकि - झुकि परत, जेहि चितवत इकबार
                                        (रसलीन)

२- घन में सुन्दर बिजली सी
   बिजली में चपल चमक सी
   आंखों में काली पुतली
   पुतली में श्याम झलक सी।
   प्रसाद : आंसू ; पृ० १६ -

प्रसाद ने आँखों में वह शक्ति देखी है जो प्रतिमा की समग्र सजीवता को अपनी ओर समेट लेती है। वे आँखें अपनी छवि जब इन आँखों में (कवि की आँखों में) एक बार लाकर भर देती हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो उन आँखों ने सीधे कवि के हृदय तक एक मोहक लकीर सी खींच दी है -

> प्रतिमा में सजीवता सी
> बस गई सुछवि आँखों में
> थी एक लकीर हृदय में
> जो अलग रही लाखों में।[1]

प्रसाद ने आँखों में यौवन के मद की लाली और तज्जनित मादकता भी देखी है। वे इस अनुभूति में डूबते उतराते रह गये हैं कि इन आँखों में कितनी कालिमा है। इस कालिमा के बीच यौवन के मद की कितनी लालिमा बिखरी हुई है, और आँखों का यह नीलापन ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी ने नीलम की प्याली में मानिक मदिरा भरकर उसे बहुत ही मतवाला बना दिया है -

> काली आँखों में कितनी
> यौवन के मद की लाली
> मानिक - मदिरा से भर दी
> किसने नीलम की प्याली।[2]

कभी कभी प्रसाद काली आँखों का अंधकार बहुत दूर तक जाते हुए देखते हैं और फिर कलाकार जो अभी तक मदहोश था, उन आँखों के माध्यम से क्षितिज के पार तक आँखों का उठना देखता है। कलुषता के सभी आवरण धुल जाते हैं और तूलिका के नये रंग में जो चित्र उभरकर सामने आता है, उसमें केवल प्यार ही प्यार दिखाई पड़ता है। अर्थात् यह नेत्र जहाँ एक ओर मादकता का संचार करते हैं, वहीं दूसरी ओर कालुष्य को धोकर निष्कलुष प्यार का मार्ग खोल

१- प्रसाद : आँसू ; पृ० २० -
२- वही ,, ; पृ० २१ -

देते हैं -

काली आँखों का अंधकार
जब हो जाता है वार पार
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार -[१]

इसी प्रकार काली आँखों के ऊपर आवरण के रूप में फैली हुई बरौनियों में प्रसाद ने करुणा की अदृश्य सरस्वती की अनेक धाराओं को बहती हुए देखा है। उनकी दृष्टि विरहिणी और प्रेमी नायिका की आँखों की सुन्दरता का वर्णन आँखों को समग्र इकाई के रूप में न करके बरौनियों तक के पृथक् सौंदर्य का चित्रण किया गया है। साथ ही उन बरौनियों के छितराने में करुणा और सरस्वती की पवित्र धाराओं को बहते हुए भी दिखाया गया है। भले ही वह सरस्वती प्रसाद के शब्दों में " अदृश्य " रही हो -

" उसकी झुकी हुई पलकों से काली बरौनियां छितरा रही थीं और उन बरौनियों से जैसे करुणा की अदृश्य सरस्वती कितनी ही धाराओं में बह रही थी।"[२]

कहीं कहीं प्रसाद ने आँखों की सुंदरता के माध्यम से स्त्री के समग्र व्यक्तित्व का भी मूल्यांकन कर लिया है। आँखों की रचना ही ठेला के सरल, स्वतंत्र और साहसिकता से भरे व्यक्तित्व को आभासित कर देती है। यहाँ तक कि उसकी सुरमीली आँखों में लेखक किसी अगाध नशे का अनुभव करता है। फिर भी उसका भोलापन और उसकी समर्पण भावना प्रधान रहती है - मादकता नहीं -
" कितनी सरल, स्वतंत्र और साहसिकता से भरी हुई रमणी है। सुरमीली आँखों में कितना नशा है।"[३]

१- प्रसाद : लहर ; पृ० १७
२- प्रसाद : आँधी ; पृ० १०६
३- प्रसाद : आँधी ; पृ० २३ -

कहीं कहीं नारी के नेत्रों में प्रसाद ने त्रिगुणात्मक सन्निपात के भी दर्शन किये हैं जो किसी को भी प्रमत्त कर देने में समर्थ हैं, और किसी का भी धैर्य हरण कर लेने की क्षमता इनमें विद्यमान है -

नारी के नयन ! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात

किसको प्रमत्त नहीं करते

धैर्य किसका ये नहीं हरते ?[१]

साधारणतया नेत्रों में मोहक आकर्षण और कटाक्ष के ही गुणों का वर्णन किया जाता है। सन्निपात एक ऐसे ज्वर का बोध कराता है, जो उन्मत्तावस्था को व्यक्त करता है। यहाँ सन्निपात से कवि का तात्पर्य प्रभाव की तीव्रता से है जो किसी के मानसबोध को सहसा बदल डालता है।

यत्र-तत्र प्रसाद ने बाह्य-रूप वर्णन के माध्यम से नारी के जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष का ही पूरा चित्र, और वह भी बहुत ही संवेदनशील अनुभूतियों सहित चित्रित किया है। ऐसी स्थिति में नारी के शरीर पर जो व्यापक प्रभाव आकर घिर जाता है, उससे पुरुष ही क्यों, अन्य नारियाँ भी प्रभावित हो जाती हैं। ऐसे स्थलों पर प्रसाद ने " मोह न नारि नारि के रूपा " के सिद्धांत को भी मानो चुनौती दे दी है। उदाहरण के लिए तितली के उस रूप विधान की मधुरिमा को देखा जा सकता है, जब वह किशोरी से तरुणी हो जाती है। राजकुमारी का हृदय उसकी शोभा को देखकर स्निग्ध हो जाता है - " उसकी काली रजनी - सी उनींदी आँखें जैसे सदैव कोई गम्भीर स्वप्न देखती रहती हैं। लम्बा छरहरा अंग, गोरी - पतली उंगलियाँ, सहज उन्नत ललाट, कुछ खिंची हुई भौंहें और छोटा - सा पतले - पतले अधरों वाला मुख ---- साधारण कृषक बालिका से कुछ अलग अपनी सत्ता बता रहे थे। कानों के ऊपर से

१- प्रसाद : लहर ; पृ० ६५-

सी घूंघट था, जिससे लटें निकली पड़ती थीं। उसकी चौड़ी किनारी की धोती का चम्पई रंग उसके शरीर में घुला जा रहा था। वह संध्या के निरभ्र गगन में विकसित होने वाली ---- अपने ही मधुर आलोक से सन्तुष्ट - एक छोटी-सी तारिका थी।"[१]

इतना ही नहीं, तितली के तरुण सौन्दर्य पर शोभा का एक नया आवरण आकर फैल जाता है। अभी तक उसके अल्हड़ यौवन पर लज्जा का कोई अंकुश नहीं लगा था। अब उसमें यह नया परिवर्तन देखा जा रहा है। उसकी शारीरिक कांति को लज्जा ने आकर ढक लिया है, और उसकी सारी शोभा इतनी सलज्ज हो गई है, जैसे शिशिर कणों से लदी हुई कुंदकली की मालिका हो। मर्यादा के अंकुश में ढका हुआ उसका सारा सौन्दर्य व्यक्तित्व की गंभीरता से युक्त हो गया है, मानो कुन्दकली की वह मालिका शिशिर कणों से भीगी हुई अपना सौरभ बिखेर रही हो - " तितली अपनी सलज्ज कान्ति में जैसे शिशिर-कणों से लदी हुई कुन्दकली की मालिका-सी गम्भीर सौन्दर्य का सौरभ बिखेर रही थी।"[२]

<u>आंगिक मुद्रायें -</u>

आंगिक मुद्राओं के वर्णन में भी प्रसाद ने परंपरागत नखशिख, और हाव चित्रण की प्रणाली का परित्याग किया है। उन्होंने नारी की आंगिक मुद्राओं को इस प्रकार से चित्रित किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व की उदात्तता आभासित हो सके।

मुद्राओं के वर्णन में प्रसाद जी नारी के लालित्य को बहुत अधिक उभारते हैं। उनमें रीतिकालीन श्रृंगारिक कवियों के हाव अर्थात् ऐसी मुद्रायें नहीं

१- प्रसाद : तितली ; पृ० ८५।

२- प्रसाद : तितली ; पृ० ११५ -

दृष्टिगत होतीं जो स्थूल काम का संकेत देती हों, अर्थात् जिनसे इंद्रियलोलुप नायिका का बिंब उभरता हो। प्रसाद जी ने आंगिक क्रुाओं के माध्यम से कहीं भी मांसल व स्थूल चित्र नहीं चित्रित किया।

श्रद्धा मनु के समक्ष ऐसी ही क्रुाओं में आती है जो "नयन का इंद्रजाल अभिराम" सा प्रतीत होता है, और ऐसा मालूम होता है कि कोई घनी लता है, जो चारों ओर से पुष्पों के वैभव में आवृत है अथवा कोई मेघखंड है जो चारों ओर से चाँदनी से घिरा हुआ है -

> और देखा वह सुन्दर दृश्य
> 	नयन का इंद्रजाल अभिराम ;
> कुसुम-वैभव में लता-समान
> 	चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।[१]

विभिन्न उपमानों एवं प्रतीकों के माध्यम से प्रसाद जी ने श्रद्धा की सलज्ज, कोमल, मधुर और ललित क्रुाओं का अंकन किया है। श्रद्धा एक ओर तो उषा की प्रथम किरण के समान जागृति से पूर्ण दिखाई पड़ती है और दूसरी ओर उसमें वह सौन्दर्य भी है जो आलस्य के मद से भरा हुआ तरुणाई की फलक से पूर्ण है :-

> उषा की पहली रेखा कांत
> 	माधुरी से भीगी भर मोद ;
> मदभरी जैसे उठे सलज्ज
> 	भोर की तारक-द्युति की गोद।[२]

यहाँ श्रद्धा के संपूर्ण व्यक्तित्व से लज्जा, मादकता, कांति और माधुर्य की व्यंजना हुई है। कवि ने एक ऐसी कामिनी का रूप चित्रित किया है

१- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ५६ -
२- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ५७ -

जो मनु के हृदय में उठनेवाली कामनाओं को एक नये रंग में भर देती है।

श्रद्धा के व्यक्तित्व में लज्जा, विनय, शील मानो आकर समाविष्ट हो गया है।[१] उसके सौन्दर्य में जहाँ प्रखरता है, वहाँ शैशव का भोलापन भी है और उसके नैसर्गिक रूप को देखकर और घुंघराले बालों के माध्यम से नीले रंग के छोटे - छोटे बादल के बच्चों का चंद्रमा के पास अमृत भरने के लिये घिरना अत्यंत ही मीठी एवं भावुक कल्पना है। शैशव के भोलेपन के साथ किशोरावस्था का अल्हड़-सौन्दर्य और अशान्त मतवालापन, सभी रूपों में वही आकर्षण और संमोहन दिखाई पड़ता है -

और उस मुख पर वह मुसक्यान।
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।[२]

यहाँ श्रद्धा की आंगिक मुद्राओं से किसी गूढ़ कामपरक-वृत्ति का संकेत नहीं लक्ष्य होता; वरन् उसका एक स्वाभाविक नैसर्गिक सौन्दर्य है, जो कोमल और अतीन्द्रिय है। नारी के इस रूप में केवल कामनाओं को रंग देने वाली वासना ही नहीं है, अपितु हृदय की शुभ्र और पुनीत साध भी है।[३] उसके भीतरी और बाहरी दोनों रूपों पर भावनाओं का ऐसा सुंदर समावेश है कि मनु की सारी चेतना उसी के केंद्र में आवर्तन करने लगती है।

१- किये मुख नीचा कमल - समान।
प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद ॥
प्रसाद : कामायनी, `श्रद्धा` ; पृ० ५५ -

२- प्रसाद : कामायनी, `श्रद्धा` ; पृ० ५७ -

३- और, पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध ;
प्रसाद : कामायनी, `श्रद्धा` ; पृ० ५८ -

किसी - किसी स्थल पर तो सारे उपमान ही नारी की मुद्रा को चित्रित करते हैं। श्रद्धा का रूप ऐसा प्रतीत होता है मानो हृदय की छाया का ही बहुत ही उदार और उन्मुक्त रूप खड़ा हो :—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लंबी काया, उन्मुक्त ;
मधु-पवन-क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ - संयुक्त।[1]

यहाँ शिशु साल से शरीर की मसृणता, मधु पवन से श्रद्धा की युवावस्था तथा सौरभ से सुगन्धित प्रभाव की ओर संकेत किया गया है। जहाँ कवि श्रद्धा के अंगों में यौवन का उभाड़ भी देखता है, किंतु वहाँ भी उसके अंग- अंग में एक ऐसी स्फूर्ति है जो मानो स्पर्शमात्र से अचेतन में भी सचेतनता डाल देती है।

प्रसाद ने अंगों के भिन्न- भिन्न चित्र तैयार करने में अंगों की स्थूलता को केन्द्र-बिन्दु नहीं माना है, अपितु उन चित्रों को उन्होंने भावनाओं की अभिव्यक्ति का केंद्र माना है। मनोभावों में सम्प्रेषण के लिए वे आंगिक चित्र बहुत ही प्रभावशाली माध्यम का काम करते हैं।

प्रसाद की अधिकांश नारियाँ युवती, किशोरी और तरुणी हैं। उनके वर्णन में भी प्रसाद जी ने कुछ विशिष्ट अंगों को छोड़कर अन्य अंगों का वर्णन नहीं किया। आंगिक वर्णनों में भी उन अंगों की मांसलता या प्रगल्भता को व्यक्त करना उनका अभीष्ट नहीं रहा है। उनके मानसिक प्रभावों को रेखाबद्ध करना उनका विशिष्ट लक्ष्य रहा है। जैसे पयोधरों का यदि कहीं वर्णन आया भी है तो वह मातृत्व के भार से युक्त होकर।[2] जहाँ मातृत्वभार का चित्रण

१- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ५६ -

२- मातृत्व - बोझ से झुके हुये
बंध रहे पयोधर पीन आज ;
कोमल काले ऊनों की नव ,
पट्टिका बनाती रुचिर साज।
प्रसाद : कामायनी, "ईर्ष्या" ; पृ० १५४ -

अभीष्ट नहीं रहा है, वहाँ उन्होंने " अंचल में दीप छिपाकर " गोधूलि-वेला में किसी का आगमन मान लिया है। यहाँ तक कि कामायनी में काम, वासना और लज्जा जैसे सर्गों में भी आंगिक प्रगल्भता का वर्णन कहीं नहीं दृष्टिगत होता जहाँ स्त्री - पुरुष के शारीरिक संबंधों का यथातथ्य वर्णन भी हुआ है, वहाँ कविता का वातावरण वासनोत्तेजक मात्र नहीं रह जाता, अपितु भावोन्मेष, और भावाकुलता से चारों ओर रोमांच का वातावरण हो जाता है, जो कि समस्त सृजनात्मक शक्तियों का उन्नायक है।

रूप और प्रसाधन -

प्रसाद ने रूप-सौंदर्य को अविकल रूप में अपने आप में पूर्ण माना है। उस रूप की पूर्णता नीले मेघों के वस्त्र धारण करने वाली नारी के अधखुले अंगों से भी आभासित हो सकती है। रूप की माधुरी किसी प्रसाधन से हीन होते हुए भी खिले हुए बिजली के फूलों से युक्त दिखायी पड़ सकती है। यहाँ रूप का स्वाभाविक और प्रसाधनहीन किंतु अत्यंत ही प्रभावपूर्ण अंकन है।[१]

रूप सौंदर्य के प्रति प्रसाद की अपनी निश्चित धारणा थी। वे इस बात को मानते थे कि मयंक भले ही काले बादलों से घिरा हो, किंतु उसे किसी प्रसाधन की आवश्यकता नहीं। बादलों से आवृत होकर भी जब वह प्रकट होगा तो उसके सौन्दर्य में स्वाभाविक रूप में मन को मुग्ध कर देने वाला एक अतीन्द्रिय आकर्षण होगा। उनकी मान्यताओं के अनुसार -

" सलोने अंग पर पट हो मलिन भी रंग लाता है।
कुसुम - रज से ढका भी हो कमल फिर भी सुहाता है[२]।

प्रसाद ने नारी की सुंदरता को बिना किसी प्रसाधन के भी पूर्ण माना है, और नारी की प्रसाधनमंडित देह छवि को दारुणमंथरता का एक उत्कृष्ट

१- प्रसाद : कामायनी, " श्रद्धा " ; पृ० ५५, ५६ -

२- प्रसाद : विशाख, " प्रथम अंक " ; पृ० ३ -

उदाहरण रखा है। उनका कहना है कि सौन्दर्य को किसी कृत्रिम प्रसाधन की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ तक कि विशेष श्रृंगार के ढोंग को प्रसाद ने नारी स्वतंत्रता के लुप्त होने का एक चिन्ह माना है। शीला के मुख से उन्होंने स्पष्टतः कहलाया है - " बनावटी बातें क्षणिक होती हैं, किन्तु जो सत्य है, वह स्थायी होता है। बहन दामिनी, मेरी समझ में तो स्त्रियाँ विशेष श्रृंगार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता भी खो बैठती हैं।[1]"

प्रसाद ने नारी - सौंदर्य में एक स्वाभाविक प्रभाव देखा है। उस सौन्दर्य में प्रभाव ही प्रमुख तत्व है न कि प्रसाधन, क्योंकि -

है यही सौंदर्य में सुषमा बड़ी, लौहहिय को आँच इसकी ही कड़ी।
देखने के साथ ही सुंदर बदन, दीख पड़ता है सजा सुखमय सदन।।
देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ, प्राण भी आमोद से सुरभित हुआ।
रस हुआ रसना में उसको बोलकर, स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर।।[2]

रीतिकालीन परंपरा के अंतर्गत यह एक धारणा बन गई थी कि नारी के सौंदर्य और काव्य की सुषमा को व्यक्त करने के लिए अलंकारों और प्रसाधनों की नितांत आवश्यकता होती है।[3] प्रसाद ने इस मान्यता के ठीक विपरीत अलंकारों और प्रसाधनों के बंधनों से मुक्त नारी का जो रूप चित्रित किया है, यथार्थ ही एक नैसर्गिक लावण्य से युक्त है।

प्रसाद ने अपने साहित्य के लिए मुख्यतः ऐसा क्षेत्र चुना है जिसमें नारी को पर्दे की ओट में रखना अनिवार्य नहीं माना गया था। भारतीय इतिहास का गुप्त-काल नारी की स्वच्छंदता का भी काल था। मुस्लिम-काल में एक ओर पर्दा

1- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, " तीसरा-अंक " : चौथा दृश्य ; पृ० ८२ -
2- प्रसाद :" कानन कुसुम " ; पृ० ३६ -
3- भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ।
- केशव ।

प्रथा बढ़ती गयी और दूसरी ओर रसलोलुप नायकों को रिझाने के लिए नारी को अनेक प्रसाधनों से युक्त होना आवश्यक मान लिया गया। यहाँ तक कि प्रसाधनों से युक्त नारी में भी कोई सौंदर्य होता होगा, रीतिकालीन कल्पना से परे की बात थी। प्रसाद ने इस मान्यता को एक प्रबल चुनौती दी। कुछ प्रसंगों में जहाँ मुस्लिम काल से संबंधित कतिपय चित्र प्रसाद ने उपस्थित किये हैं, उनमें भी नारी - सौंदर्य के लिए अतिशय अलंकारिता का उन्होंने विरोध किया। जहाँनारा सर्वप्रथम तो नकाब के अंतर्गत हमारे सामने आती है। किंतु औरंगजेब की बढ़ती हुई निरंकुशता को देखकर वह नकाब उलटकर भी सामने आ जाती है। अंत में जहाँनारा जब अपने वृद्ध और हतभागे पिता शाहजहाँ के साथ दासी वेश में रहना स्वीकार करती है तब प्रसाद की आँखों में उसका सौंदर्य और भी सलोना हो जाता है - " वह भड़कदार शाही पेशवाज अब उसके बदन पर नहीं दिखाई पड़ती, केवल सादे वस्त्र ही उसके प्रशान्त मुख की शोभा बढ़ाते हैं।"[1]

प्रसाद ने रूप के सौन्दर्य को केवल रूप के सौन्दर्य के रूप में नहीं देखा है। रूप की सुंदरता भले ही प्रसाधन से हीन होकर सामने आवे, किंतु यदि उसमें हृदय की विशालता भी है तो वह सार्थक है अन्यथा केवल रूप का चकाचौंध एक छलना के रूप में बन जाता है। आंसू में रूप सौन्दर्य के साथ कवि ने उसी हृदय सौंदर्य को साथ-साथ ढूंढने का यत्न किया है।

अरूप सौन्दर्य -

इस प्रकार प्रसाद के आंगिक चित्रों में हम नारी के समस्त अंगों का वर्णन नहीं पाते, केवल मुख और नेत्रों का ही पाते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि प्रसाद की दृष्टि उस सौंदर्य की ओर थी जो स्थूल अंगों की सीमाओं में बंधा नहीं है, जो अंगों की रेखाओं को पार करके असरूप और अरूप हो जाता है जिसमें नारी सौंदर्य का विराट और दार्शनिक रूप अभिव्यक्त हुआ है।

१- प्रसाद : छाया, " जहाँनारा " ; पृ० ६६ -

अन्य छायावादी कवियों की भाँति प्रसाद ने भी मांसल रूप सौंदर्य के प्रति उपेक्षा भाव और दिव्य सौन्दर्य के प्रति निष्ठा भाव व्यक्त किया है। यद्यपि सौन्दर्य की छवि में प्रसाद ने एक ऐसी पूर्णता देखी है, जो अवगाहन करने से कदापि अपवित्र नहीं होती। वह सौन्दर्य - कूप निश्चित ही नारी के सौन्दर्य का कूप है। यथा -

" ------ मैंने और भी ऐसा कुण्ड देखा है, जिसमें कितने ही जल पियें वह भरा ही रहता है।"

" सचमुच ! कहाँ पर विजय बाबू ? "

" सुन्दरी के रूप का कूप।"[1]

इस रूप कुंड में कुछ ऐसी विलक्षणता है कि इसकी मदिरा अपनी मादकता को निरंतर मुक्त बनाये रखती है। उस मदिरा कुंभ में जो तत्व भरा है, वह रूप की सार्थकता को व्यक्त करते हुए, भी उसे पवित्र करने वाला है। जैसे -

" परिरम्भ - कुम्भ की मदिरा,
निश्वास - मलय के झोंके
मुख - चन्द्र - चाँदनी जल से
मैं उठता था मुंह धो के।"[2]

कहीं कहीं प्रसाद ने इस रूप सौंदर्य को इतना प्रकट कर दिया है कि रूप का रूप में आलोड़न - विलोड़न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। रूपाकर्षण के प्रवाह में एक ऐसी भी स्थिति आती है जब कि पलकें झुक जाती हैं, नासिका की नोक अपनी विशिष्ट भाव भंगिमा व्यक्त करने लगती है, भौंहों का संचार लज्जा का बंध तोड़कर बेरोक कानों तक छूने लगता है, और पुलक के क्षणों में

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० ६१ -
२- प्रसाद : आँसू ; पृ० २७ -

कंठ के बोल गद्‌गद् हो जाते हैं,[1] फिर भी प्रसाद की यह रूपासक्ति अपने आपमें छद्‌य नहीं कही जा सकती। ऐसे वर्णनों में रूप - सौन्दर्य एक साधन मात्र रहा है।

अन्ततोगत्वा यह रूप - सौंदर्य, अरूप - सौंदर्य तक पहुंचने का एक माध्यम बन जाता है। " कवि को यह सदैव स्मरण है कि व्यक्ति-रूप में नर-नारी का सौंदर्य सीमित सौंदर्य है, लेकिन उसी के माध्यम से असीम और दिव्य सौंदर्य का भी प्रत्यक्ष हो सकता है।"[2]

रविबाबू, निराला और पंत इन सभी के समकक्ष ही प्रसाद की अधिकांश सौन्दर्यपरक कविताओं में नारी के रूप - सौंदर्य से ही अरूप सौंदर्य का इंगित मिलता है।[3] इसे विद्वानों ने " मनोमय लोक का सौंदर्य "[4] कहा है। निश्चय ही यह मनोमय सौंदर्य उस भावभूमि को स्पर्श करता हुआ चला है, जहां पहुंचकर रूप, गंध, शब्द, रस और स्पर्श सभी निर्विकार हो गये हैं।

" छायावादी कवि, प्राय: नारी में अरूप सौंदर्य को और अरूप सौंदर्य के निदर्शनों में नारी रूप की मादक झांकी को देख लिया करते हैं, जो एक प्रकार से रूप-तत्व में भाव-तत्व की, और भाव-तत्व में रूप-तत्व की प्रतिष्ठा है।"[5]

१- गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्‌गद बोल।
प्रसाद : कामायनी ; " वासना " ; पृ० १०४ -

२- डा० कुमार विमल : छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन ; पृ० ६६ -
३- वही ,, ,, ; पृ० ६६ -
४- वही ,, ,, ; पृ० ६६ -
५- वही ,, ,, ; पृ० ६७ -

प्रसाद ने भी इसी के समरूप बाह्य रूप में अरूप सौंदर्य का तथा ससीम रूप में असीम सौंदर्य का चित्रण किया है। रूप का यथातथ्य मांसल चित्रण भी अपने भावात्मक रूप में पूर्णतया समाहित हो गया है। यथा -

तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक - छिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते ;
हे लाज भरे सौंदर्य !
बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल - कल ध्वनि की गुंजारों में !
मधु सरिता - सी यह हंसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ? [1]

इसी प्रकार आंसू[2] और लहर[3] में भी ऐसे चित्रण आये हैं जिनमें रूप सौंदर्य का अभिव्यात्मक चित्रण पूर्णतया संकेतात्मक व्यंजना के रूप में प्रकट हुआ है।

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त, " प्रथम अंक " ; पृ० ५४, ५५

२- थी किस अनंग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु छवि-सर की नव लहरी ?
प्रसाद : आंसू ; पृ० २४ -

३- अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये -
तू अब तक सोई है आली !
आंखों में भरे विहाग री !
प्रसाद : लहर ; पृ० ६ -

इसी प्रकार अन्य मांसल सौंदर्य के स्थलों पर भी व्यंजना रूप में अमांसल व्यंजना, ऐन्द्रिक सौंदर्य की पूर्वपीठिका में अतीन्द्रिय सौंदर्य का चित्रण और आलंबन के रूप, परिवेश इत्यादि की अपेक्षा, आश्रय की अनुभूतियों के भावात्मक चित्रण की विशेषतायें प्रसाद की अपनी विशेषतायें हैं। यह ससीम से असीम चित्रण बहुत ही भव्य और व्यापक है। रूप की यह अरूपता हृदय की विशालता के साथ मिलकर प्रकट हुई है। रूप अपनी अरूपता में हृदय की उस विशालता से मिलकर प्रसाद जी के साहित्य में बड़ा ही मौलिक दिखाई पड़ता है। रूप से अरूप और ससीम से असीम की ओर प्रकट होने वाला सौन्दर्य-बोध एक ऐसी सीमा में पहुंच जाता है जहाँ एक मिथ सा प्रतीत होने लगता है। इस सौन्दर्यात्मक मिथ को प्रसाद जी की कल्पनाशक्ति और भी अधिक प्रभावकारी बना देती है। उस चित्रण के बीच नारी का जो चित्र निखरकर सामने आता है वह निश्चय ही बहुत कलात्मक, भाव-प्रवण और आकर्षक है।

चेतन सौन्दर्य -

हिन्दी काव्य के उत्तर - मध्ययुग में नारी के जिस सौन्दर्य का बृहद् वर्णन किया गया है, वह कलात्मक, अतिशयोक्तिपूर्ण और ऊहात्मक अवश्य था, और नारी-सौन्दर्य को उद्दीपन मानकर उसे सजाने का यत्न भी बहुत किया गया था किंतु उसमें कोई जीवन्त तत्व न था, कोई सक्रियता या कोई अस्तित्व प्रफुल्लता न थी। उस काल में नारी केवल उपभोग्या थी, और काम-कारा की श्रृंखलाओं ने उसे जकड़ लिया था। प्रसाद ने नारी के उस मृत सौंदर्य को ग्रहण नहीं किया। उन्होंने अपने साहित्य में एक प्रकार से नारी सौंदर्य को पुनर्जागरण और पुनर्जीवन प्रदान किया, जिसमें नारी का व्यक्तित्व अत्यंत ही परिमार्जित होकर सामने आया।

प्रसाद ने नारी के सौंदर्य को मांसलता के वृत्त से बाहर खींचकर एक मनोमय लोक में उपस्थित किया। उन्होंने सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता की एक नई परिभाषा ही उपस्थित की जो सौन्दर्य के संदर्भ में निहित है। उनके अनुसार " सभ्यता सौन्दर्य

दार्शनिक धरातल पर " चिति " अर्थात् " चेतन शक्ति " मनुष्य की जीवनी शक्ति का आभास देती है। इसीलिए सत्, चित् और आनंद के मूल में " चिति " को ही प्रधानता दी गयी है। " चिति " की शक्ति के द्वारा हम प्रकट जगत की तात्त्विक व्याख्या और विश्लेषण कर पाते हैं। इसके कारण ही हमें मानव जगत और विशाल प्रकृति की सभी सुंदरताओं में किसी दिव्य और अखंड सौंदर्य की झांकी मिलती है। प्रकट सौंदर्य के माध्यम से जब हम अलक्ष्य सौंदर्य का प्रतिबिंब देखने लगते हैं, तो सौन्दर्य की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति होने लगती है। सौन्दर्य की यही रहस्यात्मकता उसकी चेतना की प्रतीक है। इसमें चिन्तन है, गति है, सक्रियता है, जीवनीशक्ति है और सबसे बड़ी बात है - सार्थकता

सौंदर्य को केवल वासनाओं के उद्दीपन का माध्यम मानना समग्र सांस्कृतिक और कलात्मक उत्कर्षों पर पर्दा डाल देना होगा। सौन्दर्य की गतिशीलता उसे एक अखंड दिव्यता की ओर ले जाती है। प्रसाद इसीलिए नारी सौन्दर्य को सचेतन, सक्रिय और गतिशील बनाते हुए उसे दिव्यता की सीमा तक ले गये हैं। यहां तक कि उन्होंने नारी सौंदर्य को प्राकृतिक सौंदर्य का प्रतिरूप माना है और उसके सौंदर्य को दिव्यशिल्पी के कला का अभूतपूर्व कौशल कहा है।[१] प्रकृति-सौंदर्य जितना ही अखंड, जीवित और विकासशील है, नारी सौंदर्य भी उतना ही सचेतन, मनोमय और गतिशील है।

प्रसाद ने संसार के कण-कण में एक चेतन सौंदर्य को विद्यमान माना है। इस सौंदर्य में स्निग्धता, शांति, गंभीरता, आदि के प्रभावकारी गुण दिखायी

१- मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला- कौशल सभी।
प्रसाद : कानन - कुसुम ; पृ० ३६ -

पड़ते हैं।[1] जब विश्वात्मा के कण-कण में आभासित सौंदर्य में इतनी सचेतनता हो सकती है, तो फिर नारी के तरह सौंदर्य में और भी अधिक चेतनता का होना स्वाभाविक है, क्योंकि वह सौंदर्य का साकार विग्रह है।

मनु अपनी आँखों के सामने सौंदर्यमयी चंचल कृतियों को नाचते हुए देखते हैं। उन्हें एक रहस्य का आभास होता है। उन कृतियों का सौंदर्य स्थिर नहीं है। किंतु मनु की आँखें उन्हें देखने में स्थिर हो जाती हैं और वे सोचने लगते हैं - यह सब क्या है? क्या यह सब यथार्थ है अथवा केवल छाया का प्रपंचात्मक विधान है? तब उन्हें समझ में आता है कि यह सुन्दरता केवल भोग्य तत्व नहीं, अपितु इसके परदे में कोई दूसरा धन भी छिपा है, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान स्थूल आँखों से नहीं हो सकता। इस ज्ञान को अवश्य ही अन्तः चेतना की चक्षु से देखना होगा और सूक्ष्म तत्व का अन्वेषण करना होगा -

> सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ
> बनकर रहस्य हैं नाच रहीं,
> मेरी आँखों को रोक वहीं
> आगे बढ़ने में जाँच रही।
> मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी
> वह सब क्या छाया उलझन है?
> सुन्दरता के इस परदे में
> क्या अन्य धरा कोई धन है?[2]

१- स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधा सागर के कण
वे सब बिखरे हैं जग में - विश्वात्म ही सुंदरतम है।
प्रसाद : प्रेमपथिक ; पृ० ३१ -

२- प्रसाद : कामायनी, 'काम' ; पृ० ७६ -

प्रसाद ने नारी के चेतन सौंदर्य में उसके पावन तन की शोभा का अवलोकन करते हुए उसे इस रूप में देखा है मानो बिजली अपनी समग्र गतिशीलता के साथ चंद्रिका पर्व में स्नान करके सामने आगई हो[१]। यहाँ सौंदर्य इतना गतिशील है जितना कि चंचला की आभा हुआ करती है, इतना प्रकाशमान है जितनी विद्युत और विपुल शक्ति का भी प्रतीक है। साथ ही वह सौंदर्य इतना पुनीत और मुग्धकारी है जितना कि धवल चाँदनी में चमकने वाली बिजली हो सकती है। यहाँ सौंदर्य की उज्ज्वलता, पावनता और शक्तिमत्ता साथ - साथ अनुपम रूप में चित्रित हो सकी है।

सौंदर्य के इस चित्रण को हम परंपरागत सौंदर्य विधान का मानसिक परिमार्जन कह सकते हैं।

इस प्रकार प्रसाद ने सौंदर्य को नारी की एक जागरूक शक्ति के रूप में देखा है। वे नारी सौंदर्य को जड़ रूप में देखने के पक्ष में नहीं हैं। उस सौंदर्य को वे स्फुरणा से युक्त मानते हैं। यह सौन्दर्य केवल आवयविक भी नहीं है। वह शरीर - सौंदर्य के माध्यम से मनोगत सौंदर्य और अंतिम रूप में दिव्य सौंदर्य के दर्शन का एक सोपान है। इसीलिए प्रसाद के साहित्य में व्यक्त नारी-सौंदर्य उस चरम सौन्दर्य का प्रतीक है जिसे हम " मानसिक सौन्दर्य " कह सकते हैं। और उस विराट सौंदर्य का अंश है जो प्रकृति के प्रांगण में मुख्य रूप से दो ही रूपों में दिखाई पड़ता है। एक तो प्रकृति में दूसरी नारी की चेतनता में।

<u>सौंदर्य का प्रभावात्मक पक्ष -</u>

प्रसाद ने जिस दिव्य और चेतन - सौंदर्य को नारी - सौंदर्य का प्रतिमान

१- चपला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी।
प्रसाद ; आँसू ; पृ० २४-

माना है, उसका चित्रण उसकी प्रभावात्मकता की दृष्टि से विशिष्ट रूप में किया गया है। पिछले संदर्भ में हम देख चुके हैं, कि प्रसाद नारी सौंदर्य के प्रति एक विशेष धारणा लेकर चले हैं। उनका संवेदनशील मन नारी के उस रूप सौंदर्य पर नहीं रीझता है, जो केवल अपने बाह्य प्रसाधन, और बाह्य सौंदर्य के कारण मन में कामजनित पिपासा का उद्दीपन कर देता है। वे उसे मांसल सौंदर्य की कोटि में नहीं रखते। प्रसाद सौंदर्य के प्रभावात्मक पक्ष के अधिक उपासक हैं। वही सौंदर्य वस्तुत: जीवित सौंदर्य कहा जा सकता है, जो दूसरे में जीवन की विकासशील वृत्तियों का उन्नयन करे।

प्रसाद ने नारी के व्यक्तित्व को शक्ति का प्रतिमान और उसके सौंदर्य को प्रेरणा का प्रतिमान माना है। उन्होंने जीवन की हर परिस्थिति में पुरुष और नारी के साहचर्य को स्वीकार किया है - उद्देश्य केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं रहा है, इन आवश्यकताओं से ऊपर उठकर ही नारी सौंदर्य में जो आकर्षण वृत्ति है, उससे जीवन की समग्रता की सृष्टि हो सकती है।

प्रसाद ने नारी - सौंदर्य को उतना ही मौलिक और प्रभावपूर्ण माना है जितना कि उपवन के सद्य: उत्फुल्ल फूलों का लावण्य और सुरभिमय प्रभाव हुआ करता है। सौंदर्य के साथ ही उसके प्रभाव की अनिवार्यता को मानते हुए उन्होंने यहाँ तक कहा है -

> प्रकृति के यौवन का शृंगार
> करेंगे कभी न बासी फूल ;[1]

यहाँ बासी फूलों से तात्पर्य निर्जीव और सुगन्ध रहित सौंदर्य से है। जीवनरूपी वन की शोभा यथार्थत: ताजे और सुगंधियुक्त फूलों से ही की जा सकती है। नारी का सौंदर्य मानवीय जीवन के लिए इसका अपवाद नहीं हो सकता।

१- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग", पृ० ६५-

प्रसाद ने नारी सौंदर्य का जहाँ कहीं चित्रण किया है, उसमें उन्होंने उसके प्रभाव को अवश्य देखा है। कामायनी इस बात के लिए उज्ज्वलतम उदाहरण है जहाँ मनु की आँखों के सामने एक ऐसा सौंदर्य खड़ा है जिसके कारण वहाँ का पूरा वातावरण ही एक अनिर्वचनीय सुन्दरता से भर गया है। उसे ठीक-ठीक चित्रित करने के लिये कवि कुछ उपमान प्रस्तुत करता है। उस सौंदर्य की मधुरिमा उतनी ही आभा से युक्त है जितनी कि फूलों के वैभव में लता हुआ करती है, या चाँदनी से लिपटा हुआ मेघखंड हुआ करता है -

> और देखा वह सुन्दर दृश्य
>
> नयन का इन्द्रजाल अभिराम
>
> कुसुम - वैभव में लता समान
>
> चँद्रिका से लिपटा घनश्याम।[१]

मनु के पतझड़ से युक्त जीवन में श्रद्धा का आगमन एक नाटकीय ढंग से होता है। उसकी आँखों के सामने श्रद्धा का भव्य सौंदर्य चकाचौंध उत्पन्न कर देता है, किंतु बाहर की आँगिक विशालता मनु के मन में केवल कामनाओं का सृजन नहीं करती[२], अपितु आँगिक विशालता से हृदय की अनुकृति का भी आभास मिल जाता है।

सुंदरता की सीमा केवल रूप - लावण्य में नहीं है। गुण भी सुंदरता के साथ आवश्यक है। श्रद्धा मनु के समक्ष जीवन की जो ललकार प्रस्तुत करती है, उसमें एक विशेष लावण्य है। इसका प्रभाव उतना ही गहन पड़ता है, जितना कि आदिकवि के प्रथम और सुंदर छंद का पड़ा था। मनु इस मधु-गुंजार को

१- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग"; पृ० ५६ -

२- हृदय की अनुकृति बाह्य उदार।

एक लंबी काया, उन्मुक्त ।

ऐसी ही सानंद सुनति हैं मानों कानों में मधुकरी कोई विचित्र रस घोल रही हो।[1]
"श्रद्धा के रूप की मांसलता से अधिक उसके संपूर्ण सौंदर्य का प्रभाव हमारे अन्त:करण पर अंकित हो जाता है।"[2]

प्रसाद के रूप का यह प्रभाव जीवन में चतुर्दिक दिखाई पड़ता है। इसका एकमात्र लक्ष्य काम की प्रेरणा नहीं है। वरन् यह सौंदर्य पुरुष के उद्धत विकारों का शमन बनकर आता है। इस सौंदर्य के दिव्यालोक में उसका अहम् नत हो जाता है और उसका विवेक जागृत होकर जीवन की यथार्थता को ग्रहण करता है। इस सौंदर्य के प्रभावस्वरूप पुरुष की जीवनव्यापी अतृप्ति आनंद में अंतर्भूत हो जाती है; चिंताएं समाप्त हो जाती है, और जीवन की निश्चित दिशा दिखाई पड़ने लगती है। यही कारण है कि पुरुष इस सौंदर्य के संमुख विनत हो जाता है -
"रमणी का रूप - कल्पना का प्रत्यक्ष - सम्भावना की साकारता और दूसरे अतीन्द्रिय रूप लोक, जिसके सामने मानवीय महत् अहम् - भाव लोटने लगता है। जिस पिच्छल भूमि पर स्खलन विवेक बनकर खड़ा होता है। जहाँ प्राण अपनी अतृप्त अभिलाषा का आनंद - निकेतन देखकर पूर्ण वेग से धमनियों में दौड़ने लगता है। जहाँ चिंता विस्मृत होकर विश्राम करने लगती है, वहीं रमणी का तुम्हारा - रूप देखा था - और यह नहीं कह सकता कि मैं झुक नहीं गया।"[3]

प्रसाद ने अपने साहित्य में यह एक प्रश्न उठाया है कि "क्या सौंदर्य

१- सुना यह मनु ने मधु- गुंजार
मधुकरी का - सा जब सानंद,
किये मुख नीचा कमल-समान
प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद;
प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा"; पृ० ५५-
२- डा० कुमार विमल : छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय ; पृ० ८७-८८
३- प्रसाद : कामना, अंक ३, दृश्य २ ; पृ० ६८-

उपभोग के लिए नहीं केवल उपासना के लिए है ?"[1]

इस प्रश्न के समाधान में उन्होंने शारीरिक सौंदर्य को सामाजिक कल्याण में निमग्न होते अधिक सार्थक माना है। यहाँ तक कि क्षुधित जनसमुदाय के पेट की ज्वाला बुझाने के महान उद्देश्य से शरीर सौंदर्य को बेच डालने तक की कल्पना प्रसाद ने अपने नारी पात्रों से कराया है -

" शहर चलूँगी । सुना है कि वहाँ रूप का भी दाम मिलता है। यदि कुछ मिल सके ----"

" तब ? "

" तो इसे भी बेच दूँगी । अनाथ बालकों को इससे कुछ तो सहायता पहुँच सकेगी। क्यों, क्या मेरा रूप बिकने योग्य नहीं है ?"[2]

अजीब समस्या है एक ओर सौंदर्य का पिपासु खड़ा है और दूसरी ओर उसी के हाथों स्वयं सौंदर्य अपने आपको बेचना चाहता है - अपना मूल्य पूछ रहा है। प्रभाव उतना ही तीव्र होता है और सौंदर्य का वही ग्राहक जो एक दिन एक भिल्लनी के रूप पर मरा करता था, सहसा अपने पाप का प्रायश्चित करने को उद्यत हो जाता है।[3]

अत: कहा जा सकता है कि प्रसाद सौंदर्य को सार्थकता के धरातल पर लाकर अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। सौंदर्य के जल से मनु की समस्त कलुषित भावनाओं को धो लेना और फिर जीवन में कर्तव्यचेतना के लिये अनुप्राणित होकर चल पड़ना- स्वयं सौंदर्य का एक नवीन मूल्यांकन है। प्रसाद ने सौंदर्य के इस नवीनीकरण में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।

१- प्रसाद : प्रतिध्वनि " पाप की पराजय " ; पृ० ३२ -

२- प्रसाद : प्रतिध्वनि , " पाप की पराजय " ; पृ० ३५ -

३- प्रसाद : पाप की पराजय - " घनश्याम द्वारा अपने समग्र धन वैभव को अकाल पीड़ितों की सेवा में प्रदान कर देना।

नारी का बाह्य-रूप - विधान और प्रतीकात्मकता -

प्रसाद का सौंदर्य प्रेमी हृदय एक सुकुमार तरुण की भावानुभूतियों से युक्त था। सौंदर्य के अन्वेषण में वे यथार्थवादी सौंदर्य से लेकर छायावादी संवेदनशील सौंदर्य तक बढ़े गये हैं। कहीं उस सौंदर्य को उन्होंने प्रकृति के माध्यम से बादलों के झीने पट से आवृत्त करके देखा है, और कहीं प्रत्यक्ष नारी सौंदर्य में हृदय की उदार अनुभूति को बाहर लाकर खड़ा कर दिया है, कहीं लज्जा से भरी हुई आकृति की लालिमा सलज्ज होकर प्रकट हुई है, और कहीं अनावृत्त अंग सौंदर्य के स्वयं उपमान बनकर सामने आये हैं। कहीं उस सौंदर्य में संकेतात्मक आभास दिया है, और कहीं यथार्थ की सारी सुघराई अपने भोलेपन में ज्यों की त्यों प्रकट होने लगी है। प्रसाद ने नारी रूप-विधान में जहाँ छायावादी प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया है, वहाँ उन्होंने रूप-चित्रण में एक मृदुल छायाभास देकर अपूर्व आकर्षण उत्पन्न कर दिया है।

अतीन्द्रिय तत्व -

हिन्दी में छायावाद के कवियों में प्रसाद का स्थान शीर्ष पर है। छायावादी ध्वनि के अनुसार उनका नारी बाह्य रूप - विधान अतीन्द्रियता से पूर्ण है। प्रसाद की यह अतीन्द्रियता बाह्य सौंदर्य और अन्तःसौंदर्य दोनों रूपों में देखी जा सकती है। बाह्य सौंदर्य का चित्रण करते हुए उन्होंने जो रेखाचित्र तैयार किया है, उसका एक उदाहरण है - टेढ़ी भौंहें, टेढ़े - टेढ़े और घने केश, नीले कमल के समान चंचलता और मद से भरे हुए नेत्र, गोल और अरुणारागरंजित सुन्दर गाल, सुघर नासा और इस रूप सौंदर्य के साथ आकृति पर मुस्कराहट का ऐसे खेलना जैसे कि शरद ऋतु के बादलों के बीच से कौमुदी रंजित होकर

निकल रही है[1]। इतना सब कुछ होते हुये भी उन अंगों में कहीं मदन के बाणों का नाम नहीं आया। इस रूप विधान में चमकीली चंचल चितवन का नाम भी आया, किन्तु उनकी यह चंचलता वैसी ही है, जैसे अथाह सागर में लोल लहरियों का निरंतर का उठना। कवि को रूप के इस विश्लेषण के उपरांत भी इस बात का ध्यान है कि इन अंगों पर किसी की दृष्टि न लग जाय, इसलिए उसे वह एक शालीनता के आवरण में ढक देता है[2] -

बाह्य सौंदर्य के इस विश्लेषण के उपरांत कवि का ध्यान तुरंत हृदय सौंदर्य की ओर चला जाता है, वह उस सौंदर्य की ओर संकेत करता हुआ कहता

१- ये बङ्किम भ्रू, युगल कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र- चपल मद भरे,
अरुण राग रंजित कोमल हिम खण्ड से -
सुन्दर गोल कपोल, सुढर नासा बनी।
धवल स्मित जैसे शारद घन बीच में -
(जो कि कौमुदी से रंजित है हो रहा)
प्रसाद : झरना, ' रूप ' ; पृ० ८ -

२- रूप जलधि में लोल लहरियां उठ रहीं।
मुक्तागण हैं छिपटे कोमल कम्बु में।
चंचल चितवन चमकीली है कर रही -
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता -
सी नाजुक बनकर छिपटी है अंग में।
अन्तस्तल है वह भी ढंकी कौन सा -
अंग, न जिसमें कोई दृष्टि लगी उसे।
प्रसाद : झरना, ' रूप ' ; पृ० ८ -

है -

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौंदर्य ;
चंद्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदुहास ।[1]

आंसू में चित्रित रूप विधान मुख्यत: संकेतात्मक है। इस काव्य में कवि बाह्य सौंदर्य और अन्त:सौंदर्य के बीच एक ऐसे झूले में झूलता है जहां कभी वह बाह्य सौंदर्य को छू लेता है, और कभी अन्त:सौंदर्य को स्पर्श करने लगता है। वह सौंदर्य उसके समक्ष एक छलनारूप लेकर आता है। वेदना के बहुत आंसू गिरा चुकने के उपरांत वह एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है, जहां उसे इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि वह रूप,रूप ही था अथवा उसे धोखा देने का एक उपकरणमात्र था।

वह रूप रूप था केवल।
या हृदय रहा भी उसमें
जड़ता की सब माया थी।
चैतन्य समझ कर मुझमें।।[2]

वेदना के व्यतिरेक से कुछ आश्वस्त होने पर कवि के समक्ष जो रूप सौंदर्य दिखाई पड़ता है, वह बहुत ही भावुक और झीना है। कवि देखता है कि मुख चंद्रमा का है, किंतु वह चंद्रमा स्वच्छंद होकर नहीं, अपितु घूंघट डाले हुए उसके सामने आया है। वह अपने अंचल में दीप छिपाये हुए है और जीवन की गोधूली में कवि के समक्ष कौतूहल ले आ गया है। उसे देखकर कवि की अन्तरात्मा स्तंभित रह जाती है और ऐसा प्रतीत होता है मानों कौतूहल ही उसका रूप बनकर रह गया हो -

---

१- प्रसाद : झरना, "हृदय का सौन्दर्य" ; पृ० ५२ -
२- प्रसाद : आंसू ; पृ० २६ -

शशि मुख पर घूंघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये।[1]

"आंसू" काव्य में कवि ने उस रूप को जहां अधिक समीप से देखा है, वहां भी नारी का रूप बहुत ही मोहक बन पड़ा है। "उसके प्रिय की काली आंखों में यौवन मद की लाली है, आंखें "अतृप्त-जलधि" है और "अंजन रेखा" काले पानी की बेला सी है, बरौनियां हृदय को घायल करनेवाली हैं। अधर और दांत - विद्रुम सीपी संपुट में मोती के दाने से लग रहे हैं। अधरों पर बिखरी मुस्कान से उषा भी पगी सी पड़ जाती है।[2] कानों का वर्णन करते हुये कवि कहता है -

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?[3]

श्रद्धा सर्ग के आरंभ में ही श्रद्धा का जो रूप-विधान कवि ने प्रस्तुत किया है वह संभवत: हिन्दी साहित्य के नारी रूप विधान का उत्कृष्टतम् उदाहरण है।

श्रद्धा मनु के समक्ष खड़ी हुई उनके कानों में मधुकरी की सी गुंजार कर रही है। घोर अवसाद और चिंताओं में लीन मनु आंखें खोलकर जो देखते हैं, तो उन्हें एक अपूर्व ही छटा सामने खड़ी दिखाई पड़ती है -

और वह देखा सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम;

१- प्रसाद : आंसू ; पृ० १६ -
२- प्रसाद : आंसू ; पृ० २१, २२, २३ -
३- वही ,, ; पृ० २३ -

कुसुम वैभव में लता समान ,

चंद्रिका से लिपटा घनश्याम ।

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार ,

एक लंबी काया उन्मुक्त ;

मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु-साल

सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।[1]

मनु ने अभी तक जो कुछ देखा है उसमें " हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लंबी काया उन्मुक्त " ही देखा है , किन्तु श्रद्धा का रूप सौन्दर्य अभी तक पूर्णतः प्रकट नहीं हो पाया । उसे प्रकट करने के लिए कवि ने उसके " नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग " को भी चित्रित किया है यथा :-

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।[2]

अंगों के इन वर्णनों में एक ओर स्वास्थ्य जनित प्राकृतिक चित्रण है , और दूसरी ओर उस वर्णन से अंगों की मसृणता भी झलकती रहती है । प्रसाद की यह श्रद्धा अपने स्वास्थ्य जनित सौंदर्य में हिन्दी काव्य में चित्रित किसी भी नारी बाह्य सौंदर्य की तुलना में अनूठी और अद्वितीया है ।

वस्तुतः प्रसाद ने बाह्य सौंदर्य में नारी के शरीर की मसृणता और सुकुमारता को ही नहीं देखा है , अपितु उसके माध्यम से एक शक्ति का संचार किया है । उसकी कोमलता इन्द्रियपरक न होकर भावपरक है ।

श्रद्धा (कामायनी) मधूलिका (कहानी) इरा (कहानी) देवसेना (स्कंदगुप्त) आदि प्रसाद की ऐसी नारियाँ हैं , जिनमें सुकुमारता के साथ -साथ तेजस्विता , और चंचल भावुकता के साथ -साथ यौवन की पूर्ण प्रगल्भता देखी जा सकती है ।

१- प्रसाद : कामायनी , " श्रद्धा सर्ग " ; पृ० ५६ -

२- वही ,, , " श्रद्धा सर्ग "; पृ० ५६ -

नारी रूपविधान और प्रकृति का तादात्म्य -

छायावादी कवियों की प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने प्रकृति का सरस, सुकोमल और भावुक मानवीयकरण किया है। उन्होंने प्रकृति को एक विविधरूपा, और विविध सौंदर्य-संयुक्त नारी के रूप में माना है। प्रकृति के सौंदर्य में छायावादी कवि इतना अधिक रीझ गया है कि कभी - कभी वे नारी सौंदर्य में भी उस आकर्षण का अनुभव नहीं करता, जो कि प्रकृति के सौंदर्य में उसे दिखाई पड़ता है - यह दृष्टि रीतिकालीन कवियों की उस परंपरा से भिन्न है, जिसमें नायिका सौंदर्य के आगे प्रकृति का सारा सौंदर्य झूठा और निरर्थक प्रतीत होता था[1]।

प्रसाद की सौंदर्यान्वेषणी दृष्टि प्रकृति के स्वरूप पर पूर्णतः रीझी है। उन्हें प्रकृति के प्रांगण में नित्य इस सौंदर्य की झांकी दिखाई पड़ती है। रात्रि के रंजक उपकरण बिखर जाने के बाद पावस ऋतु में जब अरुण की किरणें बिखरने लगती हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी ने घूंघट खोलकर झांका हो और उसकी दृष्टि अरुण से जा टकरायी हो ; तथा वातावरण में एक निष्कलुष हंसी भर गयी हो -

> घूंघट खोल उषा ने झांका और फिर -
> अरुण अपांगों से देखा, कुछ हंस पड़ी[2]।

प्रकृति के आंगन में उषा का घूंघट खोलकर देखना और अरुण का उस सौंदर्य पर रीझ जाना प्रसाद के काव्य में बहुत स्थलों पर देखने को मिलता है।

लहर में कवि की रूपानुभूति भावात्मकता के क्षेत्र में कुछ और आगे बढ़ जाती है। समग्र प्रकृति में कवि उसी रूप - सौंदर्य का आभास पाने लगता है। वह अपनी 'आली' को जगाने का प्रयास करता है, जो आंखों में विहाग लिए

१- मुख मुख ही है, न कमली न चंद्रिहि।
-- केशव।

२- प्रसाद : झरना, 'पावस-प्रभात' ; पृ० ११ -

हुए और अलसायी हुई सो रही है। उषा नागरी तारा रूपी घट को अम्बर रूपी पनघट में डुबोने लग गई है[1]। पनघट में घड़े को डुबोने की क्रिया में उस नागरी के आंचल पत्तों के माध्यम से खिल रहे हैं। उसके अंगों में मधुमास का जो सम्भार है, उसे व्यक्त करने के लिये " लतिका " भी " मधु - मुकुल - नवल रस गागरी " भरकर ले आती है। रूप सौंदर्य का यह वातावरण अपना संपूर्ण आकर्षण लिए चारों ओर फैला है, और इधर " आली " है कि " अधरों में राग अमंद पिये " और " अलकों में मलयज बंद किये " सो रही है। प्रत्यक्षतः अधरों में अमंद राग का होना और अलकों में मलयज का बंद होना उस आली के रात्रि-अभिसार का बोध कराता है[2]। यहां अमंद आलस्य में सोई हुई अभिसारिका आंखों के सामने है। उसका रूप - सौंदर्य अपनी संपूर्ण मादकता लिए बिखरा पड़ा है, किंतु उसे व्यक्त करने के लिए कवि रीतिकालीन नखशिख वर्णन की परंपरा को नहीं अपनाता, और त्रिवली नाभि आदि के स्थूल वर्णन की ओर नहीं पहुंचता। उस रूप का बोध कराने के लिए कवि प्रकृति के माध्यम से एक दूसरा ही भावात्मक रूप - सौंदर्य लाकर सामने खड़ा कर देता है। प्रकृति का नारी - सौंदर्य से यह तादात्म्य प्रसाद ने प्रायः अपनी प्रत्येक रचनाओं में किया है।

१- प्रसाद : लहर ; पृ० ६ -

२- अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये
तू अब तक सोई है आली।
आंखों में भरे विहाग री।
प्रसाद : लहर ; पृ० १६ -

कामायनी के रूप - सौंदर्य में प्रसाद जी ने प्रकृति के रूप-सौंदर्य को इतना तदाकार कर दिया है कि प्रकृति का रूप सौंदर्य कहाँ समाप्त होता है और नारी - रूप -सौंदर्य का आरंभ कहाँ से होता है, इसके बीच की कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी कामायनी में प्रकृति का रूप - सौंदर्य जितनी स्पष्टता से सामने आ सका है, उतनी ही स्पष्टत: से नारी - सौंदर्य भी अभिव्यक्त हुआ है।

कहीं-कहीं प्रसाद ने कामायनी में समग्र प्रकृति को नारी रूप - सुषमा से युक्त देखा है। यहाँ तक कि पूरी पृथ्वी को एक वधू की भाँति संकुचित होकर तथा प्रिय-मिलन के पूर्व की हलचल लिये हुये बैठी देखना नहीं भूले हैं। उसका मान करना और कुछ रूठी-सी होना भी प्रसाद की आँखों के सामने आया है -

सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी - सी ;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी रूठी - सी।[१]

इस रूप - सौंदर्य को कवि आगे चलकर सचेत करना भी नहीं भूलता। प्रकृति के सौंदर्य में भी कवि उसी शालीनता के दर्शन करना चाहता है जो नारी - सौंदर्य में है। उसके लिए नग्न सौंदर्य चाहे नारी का हो, या प्रकृति का शोभाकारक नहीं है। इसीलिए वह प्रकृति प्रेयसी से कहता है :-

---

१- प्रसाद : कामायनी "आशा" ; पृ० २४।

पहना हुआ था नील वसन
  वो यौवन की मतवाली
देख अँकिचन जगत लूटता
  तेरी छवि भोली - भाली ।[1]

रीतिकालीन परंपरा में नारी रूप - विधान की जो स्थिति थी ; प्रसाद ने अपने साहित्य में उसके प्रति एक खुला विद्रोह उपस्थित कर दिया । उन्होंने इस मान्यता को भंग कर दिया कि नारी का सौंदर्य ऐसे विकच पुष्प की भाँति है , जिसे तोड़कर सूंघ लेना और सूंघकर मसलते हुये फेंक देना ही उसका लक्ष्य हो । उन्होंने नारी के रूप - विधान में एक नवीन प्राण-प्रतिष्ठा की । उन्होंने नारी - सौंदर्य की बाह्य मसृणता और सुकुमारता दोनों को देखा तथा उसके साथ ही अन्त:-सौंदर्य की विशालता और आदर्शात्मकता को भी देखा । जिस हृदय में स्नेह, करुणा, सहानुभूति , वात्सल्य , समर्पण आदि के भाव होंगे , उस पात्र की आकृति पर भी और उसके अंगों पर भी हृदय की उस उदारता का प्रभाव अवश्य पड़ेगा । इसीलिए प्रसाद ने अपने साहित्य में नारी का जो बाह्य रूप- विधान प्रस्तुत किया है , वह मसृण होते हुए भी अतीन्द्रिय है और बाह्य सौन्दर्य का परिचायक होते हुए भी अन्त:सौंदर्य का पोषक है ।

१- प्रसाद : कामायनी, ' आशा ' ; पृ० ४० ।

--अध्याय ८

प्रसाद के नारी पात्रों का व्यक्तित्व विश्लेषण

(क) उदात्त

(ख) अनुदात्त

प्रसाद के नारी पात्रों का वर्गीकरण

प्रसाद के नारी पात्रों के व्यक्तित्व का विश्लेषण हम जहां एक ओर व्यक्तिगत मनोविज्ञान की भूमि पर करेंगे, वहां दूसरी ओर सांस्कृतिक परंपराओं की भूमि पर भी देखेंगे। इस दृष्टि से नारी पात्रों को हमने दो उपविभागों में विभाजित किया है - १- उदात्त और २- अनुदात्त। यों तो वर्तमान मनोविश्लेषण विज्ञान की दृष्टि से अनुदात्त कुछ है ही नहीं, वह केवल मनोवृत्तियों का अप्रच्छन्न निष्कपट स्वरूप ही है, जो उदात्त से अधिक यथार्थ है। किंतु प्रसाद आदर्शवादी चिंतक थे। " आदर्श भी कवि की कल्पना की विधायक भावना की सृष्टि है। समाज की निर्माणमुखी प्रेरणाओं को आकार देने के लिए वह अतीत और वर्तमान के यथार्थ की भूमिका में समाज के सुंदर भविष्य का अनुष्ठान करता है। वस्तुत: यथार्थ कोई जड़ और स्थिर प्रत्यय नहीं है, वह जीवन का एक सजीव और गत्यात्मक प्रत्यय है। आदर्श उसकी गति की प्रेरणा और उसका लक्ष्य है।"[१] इसी दृष्टि को लेकर हम प्रसाद के नारी पात्रों में यथार्थ और आदर्श की धाराओं का अनुसंधान कर सकते हैं।

प्रसाद ने सर्वत्र नारी की परिकल्पना भारत की प्राचीन संस्कृति की पीठिका में की, इसीलिए प्रस्तुत प्रकरण में उदात्त और अनुदात्त का विभाजन सार्थक है।

नारी व्यक्तित्व के विश्लेषण में उसकी मनोवृत्तियां कब और कहां एक ऊँची भूमिका स्पर्श करती हुई प्रेम और त्याग के महत् दिशाओं में विश्व का मार्ग दर्शन करती हैं, तथा कब केवल मांसल भूमि पर रहकर पशु-वृत्तियों की सीमाओं में

१- रामानन्द तिवारी : सत्यं शिवं सुन्दरम् ; पृ० ३७७ -

बंधकर अपने को तथा अपने परिवेश को तेजहीन कर देती हैं, यह हमारे विश्लेषण का विषय होगा। वस्तुतः यदि हम मात्र मनोविश्लेषण विज्ञान की भूमि पर व्याख्या करना चाहें तो वह प्रसाद के साथ, उनकी सांस्कृतिक अन्तर्दृष्टि के साथ अन्याय होगा। इसीलिए हमने उदात्त और अनुदात्त विभाजन स्वीकार किया है। " मनुष्य जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्य में प्रकृति और संस्कृति की संधि है, इस संधि - पर्व में प्रकृति के नियमों से शासित मनुष्य अपनी स्वतंत्रता के अभिप्राय और उत्तरदायित्व के प्रति सचेतन हो उठा है।"[१] इस कथन की सार्थकता हमें प्रसाद की नारी - परिकल्पना पर पूर्णतया चरितार्थ होती हुई दीखती है।

व्यक्तित्व विश्लेषण

प्रसाद जी का उद्देश्य साहित्य के माध्यम से केवल इतिहास और पुराणों के महान् आदर्शों को ढूंढकर सामने लाना भी नहीं था। मुख्य उद्देश्य वर्तमान समाज को एक ऐसा आदर्श देना था जिसके आधार पर वह सुदृढ़ हो सके और उज्ज्वलता का निर्माण कर सके। मुंशी प्रेमचन्द और प्रसाद जी दोनों के उद्देश्य एक होते हुए भी दोनों के मार्ग केवल इसलिए भिन्न थे कि प्रसाद जी अतीत के आदर्शों की महानता को सामने रखते हुए समाज के भावी निर्माण की कल्पना करते थे, किंतु प्रेमचन्द वर्तमान की यथातथ्य परिस्थितियों का विवेचन करते हुए समाज को उन परिस्थितियों के सुलझाने का मार्ग दर्शन करते थे।

प्रसाद के साहित्य में जहाँ कुछ नारी - पात्र पौराणिक गाथाओं से लिए गए हैं, कुछ ऐतिहासिक तथ्यों से लिए गए हैं, वहाँ कुछ पात्र वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अंश हैं। ये पात्र यद्यपि प्रसाद जी की कल्पना से प्रसूत हैं,

----

१- रामानन्द तिवारी : सत्यं शिवं सुन्दरम् : अध्याय १४ ; पृ० ३५७ -

किंतु उन्हें हम किसी भी प्रकार से नारी व्यक्तित्व की मिथ्या कल्पना नहीं कह सकते। ये नारी पात्र वर्तमान समाज के विविध पदार्थों के प्रतिनिधि हैं, और उतने ही सजीव और सत्य हैं जितने कि ऐतिहासिक नारी पात्र। अवश्य उनके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे इतिहास के अमुक काल के, अमुक वंश के, अमुक सम्राट के अथवा अमुक ऐतिहासिक प्रमाण के पात्र हैं, किंतु उनके संबंध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे नारी पात्र समाज की गतिविधियों में प्रत्येक स्थल पर पाये जाते हैं, और उतने ही शाश्वत हैं, जितने कि ऐतिहासिक प्रमाणों से लिए गए पात्र, और कुछ तो उतने ही मर्यादा युक्त हैं, जितने कि पौराणिक नारी पात्र रहे हैं। प्रसाद जी के सामाजिक नारी कल्पना में केवल भावुकता प्रधान अथवा कर्तव्यपरायणा, अथवा आत्मविश्वासी नारी ही नहीं है, प्रसाद जी ने इन नारी हृदय का कोना-कोना ढूंढा है। उनके नारी पात्रों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :-

प्रसाद जी के नारी - पात्रों का व्यक्तित्व विश्लेषण -
उदात्त
अनुदात्त
हृदय तत्व
बौद्धिक चेतना
रोमांटिक कल्पना-
भावुक प्रेम
प्रौढ़ प्रेम
वात्सल्य
वेदना
करुणा
कल्याण भावना
कला चेतना
स्वाभिमान
कर्त्तव्यचेतना
देशप्रेम
विश्वप्रेम
कारयत्री प्रतिभा
ऐन्द्रिक वासना
कुण्ठापूर्ण प्रेम और अतृप्ति
अहंकार
भौतिक लालसाएं और महत्वाकांक्षाएं
हिंसा और क्रूरता -
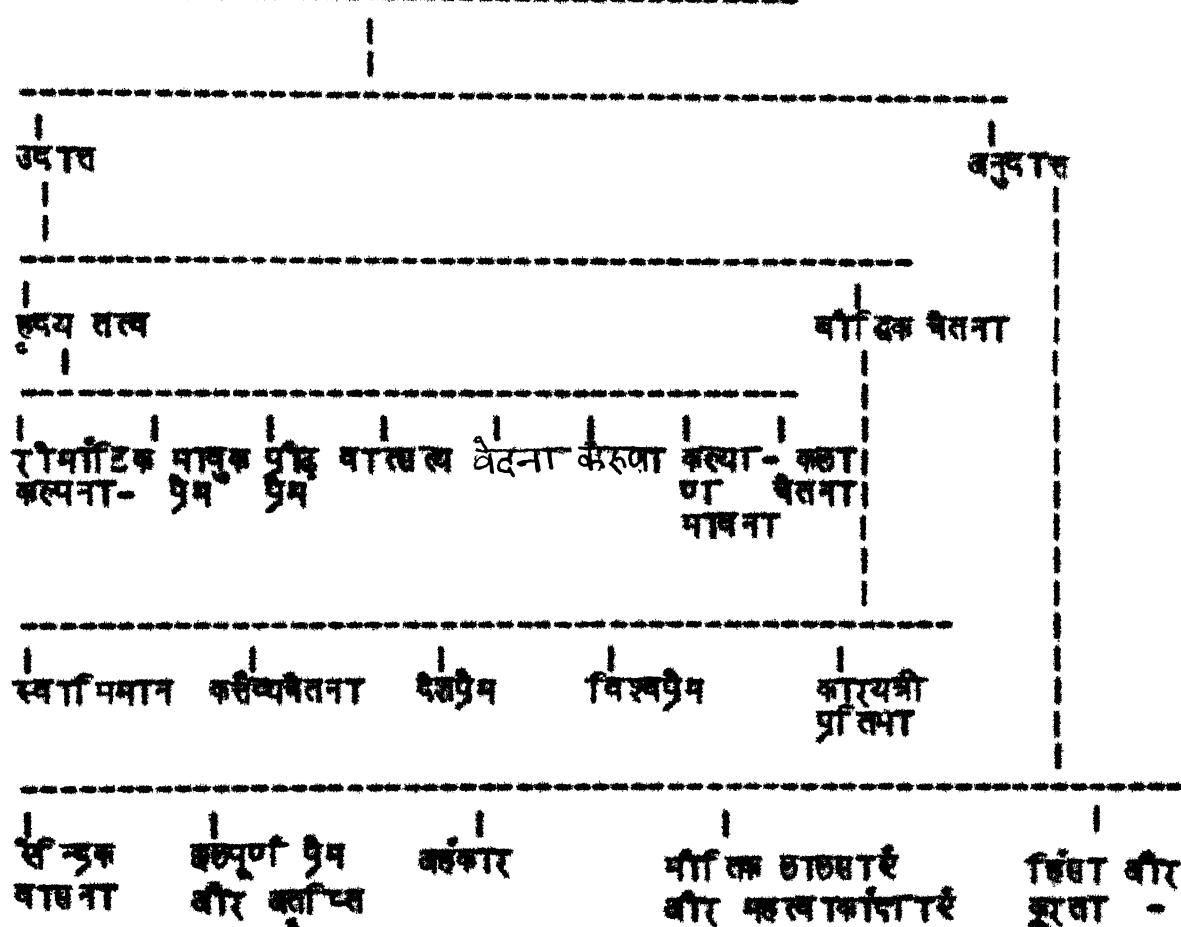
(क) उदात्त

(क) प्रसाद जी के उदात्त नारी - पात्र

इमैनुअल कान्ट ने अपनी पुस्तक में उदात्त की परिभाषा देते हुए लिखा है - " उदात्त उस वस्तु को प्रदान की जाने वाली संज्ञा है जो निरपेक्षत: महान् है। . . . उदात्त वह है जिसकी तुलना में अन्य सब कुछ स्वल्प है . . . उदात्त चिंतन की वह शक्ति मात्र है जो इन्द्रिय के प्रत्येक मापदंड का अतिक्रमण करने वाली मन: शक्ति का साक्ष्य देती है या सिद्ध करती है।"[१]

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर प्रसाद जी की ऐसी नारियों को जो हृदय की सात्विक भावनाओं से युक्त हैं, उदात्त की कोटि के अंतर्गत रखा जा सकता है, किंतु जो दुर्बलताओं से अभिशप्त होकर मिथ्याभिमान, स्वार्थ-परायणता, ईर्ष्या आदि से युक्त हैं, वे अनुदात्त वृत्तियों की पराकोटि को प्राप्त होती हैं, किन्तु प्रसाद जी की विशेषता यह है कि वे अनुदात्त नारी-पात्रों में भी संपर्क के प्रभाव से अंत में सद्वृत्तियों का प्रस्फुटन करा देते हैं। उनकी परिभाषा में नारी में स्वत: ऐसा कोई तत्व नहीं है, जो कि शिवतत्व का विरोधी है। उनके अनुसार नारी स्वयं कल्याणी वृत्ति की है। यदि कुछ विकार कहीं से आ गये हैं, तो वे स्थायी नहीं हैं, और परिस्थितियों की अनुकूलता में उनका परिष्कार होना अवश्यंभावी है। इसीलिए अपने अनुदात्त नारी पात्रों को भी प्रसाद ने अन्त में लाकर उदात्तता और कल्याण के पथ पर अग्रसर कर दिया है।

प्रसाद जी की उदात्त नारियों को मुख्यत: दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। ऐसी नारियाँ जो स्वभावत: हृदय की सात्विक भावनाओं से युक्त हैं, और दूसरी ऐसी नारियाँ, जिनमें हृदय की भावनात्मक प्रवृत्ति उतनी नहीं देखी जाती, जितनी कि बौद्धिक चेतना की प्रबलता। इनमें से प्रत्येक वर्ग को गुण

१- इमैनुअल कान्ट : सौन्दर्य मीमांसा, पृ० ६२ -

धर्म के अनुसार आगे व्याख्यायित किया जायेगा ।

हृदय तत्व प्रधान नारी -

प्रसाद जी की उदात्त वर्ग में आनेवाली नारियों को उनके गुण-धर्म के अनुसार भावुक प्रेममयी, तर्कातीत, भावावेगमयी, एकनिष्ठ प्रेममयी, कर्तव्यनिष्ठा से युक्त, मननशील, करुणामयी, कल्याणी आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि प्रसाद ने अपने नारी पात्रों को इतने विषद और व्यापक गुणों से सशक्त कर रखा है, कि निश्चित रूप में उन्हें एक कोटि में रखना संभव नहीं है। फिर भी व्यक्तित्व में प्रबलता से पाये जाने वाले गुण धर्म के अनुसार उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। सुवासिनी में भावुक प्रेम की स्निग्धता के साथ - साथ तर्कातीत भावावेग, प्रेमानुभूति की अनन्यता, एकनिष्ठ प्रेम, कर्तव्यनिष्ठा, सहानुभूति आदि गुणों का समाहार पाते हैं। वाजिरा मननशील किंतु प्रेम से युक्त नारी पात्र है जिसमें करुणा का सहज उद्रेक देखा जा सकता है। इसी प्रकार कोमा भावुक प्रेम से युक्त एक ऐसी नारी है जो प्रेम की ज्योति में अपने आपको जलाती दिखायी पड़ती है। इसी प्रकार राजकुमारी का कल्याणी रूप, इला का भावुकता से ओतप्रोत अनन्य आत्मसमर्पण अपने ढंग का अनूठा आदर्श उपस्थित करता है। अतः प्रसाद जी के कुछ प्रमुख उदात्त नारी पात्रों का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

रोमांटिक कल्पना -

प्रसाद जी हिन्दी के छायावादी कवियों में से प्रथम कोटि में आते हैं। इनके साहित्य में जिस सीमा तक छायावाद आ सका है, उसी के समानान्तर आधुनिक रोमानी भावनाओं का भी चित्रण हुआ है। तद्नुरूप उनके साहित्य में रोमांटिक कल्पना प्रधान नारी पात्रों का सृजन हुआ है। प्रेम ही जिनकी प्रकृति है, और प्रेम ही जिनका लक्ष्य है। प्रेम जिनके जीवन में अनजाने ही अल्हड़भाव से आ जाता है।

प्रसाद जी का हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अवतरण ऐसे युग में हुआ था,

जब कि युग व्यापी निराशाओं से संघर्षरित था। परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत ही तीव्रगति से युग को आगे को बढ़ने की प्रेरणा दे रही थी, किंतु उसे युग से पनपी हुई कुंठा उस परिवर्तन की प्रक्रिया को पीछे हटने के लिए धक्का दे रही थी। अनेक प्रकार की विषमताएँ पनपी हुई थीं, जिनमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और जातीय सभी प्रकार की थीं। व्यक्ति का जीवन इन कुंठाओं में ग्रस्त होने के कारण मुखरित होने का अवसर नहीं प्राप्त कर पाता था। जीवन में उल्लास और सुखों की मात्र कल्पना की जा सकती थी। यह कल्पना व्यक्ति को क्षण भर के लिए, यदि यथार्थतः नहीं, तो भावात्मक रूप में तृप्त कर सकने में एक प्रबल साधन सिद्ध हो रही थी। इन्हीं निराशाओं और कुंठाओं के बीच पाश्चात्य साहित्य में रोमांटिक प्रवृत्ति का उद्भव हो चुका था। इसका प्रभाव हिन्दी के युवक कवि के मानस पर भी पड़ना स्वाभाविक था। प्रसाद जी ने अपने साहित्य में यत्र - तत्र इस रोमांटिक प्रवृत्ति का समावेश किया है। उनके कुछ नारी - पात्र पूर्णतः रोमानी धरातल पर सफल रूप में चित्रित दिखाई पड़ते हैं।

युग की परिवर्तनशील और विषम व्यवस्था में प्रसाद जी के कुछ नारी-पात्र जीवन की कुंठाओं, विषमताओं और कठोर परंपराओं का खुला विरोध करते दिखायी पड़ते हैं। मुख्यतः प्रसाद जी की कहानियों में ऐसी नारियाँ विशेष रूप से दिखायी पड़ी हैं। प्रसाद जी की रमला एक ऐसी युवती है जो नारी सुलभ हर लज्जा और संकोच की सामाजिक परंपरा को अपनी रोमानी अल्हड़ प्रकृति में तोड़ देती है, और समाज के किसी भी युवक के साथ हिल-मिलकर उनकी टोली में सम्मिलित होना, किसी भी युवक की पीठ पर धमकी लगा देना और यहाँतक कि पहाड़ की चोटियों से नीचे गिरकर कौतूहली युवक के साथ जल संतरण करने में कोई बाधा स्वीकार नहीं करती। जीवन के अभावों और निराशाओं ने उसे रोमानी धरातल पर पूर्णतया स्वच्छंद बना दिया है। प्रसाद जी की कुछ नारियाँ अत्यंत ही भावुक और प्रेमोन्मादिनी हैं। यद्यपि सामाजिक प्रतिबंध स्थूल अस्तित्व

की सीमाओं में उन्हें अपने प्रेमी को नहीं प्राप्त करने देते, किन्तु मन ही मन में उनका आत्मसमर्पण बहुत ही विदग्ध और भावुक है। शीरीं एक ऐसी ही नारी है जो अपने पति के समक्ष अपने दूर से लौटकर आये हुए बुलबुल को देखती है, और भावनाओं ही भावनाओं में आत्मसमर्पण कर देती है।

रोमानी धरातल पर वास्तविक सुख की प्राप्ति की अपेक्षा काल्पनिक सुख का उल्लास और इन्द्रियजन्य सहवास के स्थान पर अतीन्द्रिय मिलन की भावुक पिपासा इन नारियों की एक विशेष प्रवृत्ति है। प्रसाद जी की वनलता एक ऐसी ही नारी पात्र है जो प्रसाद जी के शब्दों में बालिका, सुंदरी सुकुमारी है, किंतु उसे अपने जीवन के गंतव्य का स्वतः ज्ञान नहीं है, और ज्योतिष्मती प्राप्त करने में उसका भोला मन क्षण भर को हाथ पकड़ कर साथ - साथ चलने वाले युवक को पूर्णतः आत्मसमर्पण कर प्रणय के अनन्त उल्लास का अनुभव करता है। अल्हड़ उल्लास और प्रेम की टीस इन किशोरियों का परिचय है।

रोमानी प्रकृति में प्रेम पक्ष में प्रगल्भता, भावप्रवणता, वासनाजन्य उद्दाम तृप्ति की लालसा, भावाकुल समर्पण आदि प्रमुख रूप में पाये जाते हैं। प्रसाद की कामिनी ऐसी ही स्वच्छंद प्रेम के विविध रूपों का प्रतिनिधित्व करती है और तरुण मन के लिए वस्तुतः एक कुरंगकुमारी के रूप में सामने आती है। इन पात्रों में कल्पना के रूप बल पर जिन सुखों की सर्जना हुई है, वे क्षणिक होते हुए भी मौलिक और मांसल हैं तथा प्रकृति के भिन्न - भिन्न अवयवों में संपृक्त हैं। रोमानी भावनाओं ने नारी को एक विशिष्ट, भावुक, कल्पनाशील, तरल और स्वच्छंद रेखाओं में अंकित किया है। उसका प्रभाव कवियों के हृदय से उत्पन्न होकर बाह्य जगत में बहुत दूर तक फैला हुआ संमोहन दिखाई पड़ता है। प्रसाद के नारी पात्रों में भी ऐसे रोमानी नारी चरित्र दिखाई पड़ते हैं। ये चरित्र बहुत ही प्रेमाकुल, भावुक, कल्पनामयी और अतिशय संवेदनशील हैं, विशेष रूप से ऐसी नारियों की उस सुकोमल और सर्जनात्मक कल्पना में लिप्त हैं, जहाँ नारी का वनकुरंग सा भोला, सरल, और भीरु रूप अवतरित हुआ है। प्रसाद जी के ऐसे चित्रों में स्वच्छंद से तरल प्रवाह की ओर बहने वाली रोमांटिक कल्पना की

प्रधानता है। ये नारियाँ अपनी संवेदनशीलता में भावुक और सरल भी हैं, और दूसरी ओर मानसिक तनावों के द्वंद्व में उलझी हुई भी दिखाई पड़ती हैं। प्राय: इन नारियों और व्याप्त प्रकृति के सुकोमल रूपों में तादात्म्य भी देखा गया है। इन नारियों में से कुछ प्रमुख का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

भिखारी की शीरी अत्यंत ही भावुक और रोमांटिक कल्पनाशील नारी है। बचपन का भोलापन और कौमार्य उसके व्यक्तित्व में अत्यंत ही सरल होकर झलकता है। उसके भावुक हृदय संतरण की भाँति ही प्रकृति का रोमांचकारी वातावरण है - " वसंत का सुंदर समीर उसे (शैलमाला को) आलिंगन करके, फूलों के सौरभ से उसके झोपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम शीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध- संगीत निरंतर चला करता है, जिसके भीतर बुलबुलों का कलनाद, कंप और लहर उत्पन्न करता है। ---- शीरीं उसी के नीचे शिलाखंड पर बैठी हुई सामने गुलाबों के झुरमुट देख रही थी, जिसमें बहुत- से बुलबुल चहचहा रहे थे, वे समीरण के साथ छूल-छुलैया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुंजरित कर रहे थे। शीरी ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी, गुलाबों के दल में शीरी का मुख राजा के समान सुशोभित था।"[1]

प्रकृति के इस तादात्म्य में शीरीं स्वत: भी प्रकृति के सरल और स्वाभाविक प्रकृति के एक अवयव के समान है। जुलेखा उसकी भावुकता को कुरेदती हुई उससे पूछती है " शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर आकर बैठ जानेवाला बुलबुल, आजकल नहीं दिखलाई देता ?"[2] इस पर अत्यंत ही सरलता से शीरीं एक बहुत ही दूर की बात कह जाती है। यद्यपि उसकी बात सीधी और सरल है, किंतु उसके हृदय को आक्रांत कर लेने वाली किसी निराशा से कितनी लिप्त है,

---

१- प्रसाद : "आकाशदीप", "भिखारी"; पृ० ९८१ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ९८२ -

इसका उदाहरण उसके इस कथन से मिल जाता है - " कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसंत तो आगया पर वह नहीं लौट आया।"[1] शीरीं अपनी सरलता में ही उस स्वच्छंदता को व्यंजित कर देती है जो रोमांटिक अल्हड़ता की परिचायिका है। वह अपने प्रिय बुलबुल के लिए जुलेखा से कहती है - " हाँ प्यारी ! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतंत्रता-प्रिय है।"[2]

कुछ समय बाद शीरीं का दूर गया हुआ बुलबुल किसी दूसरे देश में उसकी आँखों के समक्ष आ जाता है। उसे देखकर शीरीं के रोमानी मनोभाव इस प्रकार व्यक्त होते हैं :- " शीरीं चुपचाप थी। उसके हृदय - कानन में कलरवों का क्रन्दन हो रहा था।"[3] और " गहरी चोट और निर्मम व्यथा को वहन करते, कलेजा हाथ से पकड़े हुए, शीरीं गुलाब की झाड़ियों की ओर देखने लगी। परंतु उसकी आँसू भरी आँखों को कुछ न सूझता था।"[4] अंत में सरदार के पूछने पर वह केवल इतना कह पाती है " एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिंदोस्तान की ओर चला गया था। वह लौट कर आज सवेरे दिखाई पड़ा, पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा तो वह उधर कोहकाफ की ओर भाग गया।"[5]

इस प्रकार संयम भरे स्वर में, किंतु बहुत ही सरल शब्दों में शीरीं ने यह तो व्यक्त कर दिया कि जिसे वह बुलबुल कहती है वह उड़कर कहीं अन्यत्र जाने वाला बुलबुल नहीं अपितु पीठ पर गट्ठर लादकर आने वाला वही युवक था, शीरीं की प्रेमोन्मत्त भावाकुलता बहुत ही गहरी और समर्पणमयी है, किंतु इस प्रेम प्रदर्शन से शीरीं के यथार्थ जीवन निर्वाह में कोई व्यवधान नहीं आने पाता। प्रेम

१- प्रसाद : आकाशदीप, " बिसाती " ; पृ० ८२

२- प्रसाद : बिसाती ; पृ० ८२ -

३- वही ,, ; पृ० ८४ -

४- वही ,, ; पृ० ८४ -

५- वही ,, ; पृ० ८४ -

प्रेम रोमांटिक धरातल[1] पर एक मर्मस्पर्शी भावाकुलता उत्पन्न कर रह जाता है।

रमला कहानी की " रमला " एक रोमानी प्रकृति की अल्हड़ और स्वच्छंद युवती है। जीवन की यथार्थवादी परिस्थितियों ने आकर रमला के व्यक्तित्व को बोझिल नहीं किया है। वह स्वच्छंद प्रकृति की है, और समवयस्क युवकों के बीच घूमने-मिलने में, खेलने-खिझाने आदि में उसे कोई संकोच नहीं है। वयःप्राप्त नारी सुलभ लज्जा और संकोच की दीवारों ने अभी उसे बिल्कुल ही घेरा नहीं है। उसका परिचय देते हुए कहानीकार स्वयं कहता है - " रमला। भी बड़ी ढीठ थी, वह गांव भर में सबसे चंचल लड़की थी। लड़की क्यों। वह युवती हो चली थी। उसका ब्याह नहीं हुआ था। ---- उसमें सबसे बड़ा दोष यह था, कि वह बड़े बड़े लड़कों को भी उनकी ढिठाई पर चपत लगाकर हंस दिया करती थी ----"[2]

खेल ही खेल में मंगल रमला को पहाड़ी की चोटी से धक्का दे देता है, और रमला नीचे झील के तल तक लुढ़कती चली जाती है। वहां भी दुःख की कोई यथार्थवादी छाया, रमला को आकर नहीं घेरती। साजन देखता है कि " एक किशोरी जल में पैर लटकाये बैठी है।"[3]

कहानीकार स्वयं रमला को " किशोरी " शब्द से संबोधित करता है। रमला प्रथम परिचय में ही साजन से कुछ सिखाने का किशोर सुलभ प्रस्ताव करती है, और बिना किसी संकोच भाव के उसके साथ चलने को तत्पर हो जाती है। झील के जल में उसका कूद पड़ना तथा राजहंसी के समान तैरने लगना, युवक साजन के लिए कुतूहल का कारण बन जाता है। जैसे प्रकृति का कोई बहुत बड़ा महोत्सव उसकी आंखों के सामने अपना माधुर्य फैलाने लगा हो।

अपनी फटी हुई साड़ियों में लिपटी रमला और वल्कल बांधे हुए साजन

१- प्रसाद : आकाशदीप, रमला ; पृ० १७१ -

२- वही ,, ,, ; पृ० १७२

३- वही ,, ,, ; पृ० १७३ -

पहाड़ी की ओर जा रहे थे। इसी बीच रमला का साक्षात्कार मंगल से हो जाता है। फिर वही कौतूहल, अल्हड़, आकर्षण और स्मृतियों की मीठी टीस उत्पन्न हो जाती है। मंगल और साजन के बीच रमला बेबस सी निश्चय नहीं कर पाती कि उसके पैर मंगल की ओर बढ़ें अथवा साजन की ओर। यह एक ऐसी विलक्षण स्थिति थी, जिसमें रमला का भावुक मन किसे छोड़े अथवा किसे ग्रहण करे, इसका कोई त्वरित उत्तर न दे सका। निर्णय की यह अनिश्चितता रोमानी प्रकृति के नारी पात्रों की अपनी विशिष्ट प्रकृति है।

वनलता[१] ज्योतिष्मती कहानी की अकेली नारी पात्र है। प्रसाद जी ने उसे "बालिका", "सुंदरी" "सुकुमारी बालिका" आदि नामों से संबोधित किया है। वनलता एक ऐसी किशोरी है जो अभी अपने जीवन का गंतव्य नहीं प्राप्त कर सकी है। प्रेम की तरल तरंगों में जिसका अवगाहन न हुआ हो, वह उस स्वच्छंद हिरणी के समान शैल पथ पर स्वच्छंद विचरण करती हुयी दिखायी पड़ती है।

कहानीकार के अनुसार " एक बालिका, सूक्ष्म अंचलवासिनी, सुंदरी बालिका चारों ओर देखती हुई चुपचाप चली जा रही थी। विराट हिमगिरि की गोद में वह शिशु के समान खेल रही थी। बिखरे हुए बालों को संभाल कर वह बार-बार हटा देती थी और बढ़ती हुई चली जा रही थी। वह एक क्रीड़ा सी थी। परंतु सुप्त हिमाचल उसका चुंबन न ले सकता था। ---- बालिका न जाने क्या सोचती चली जाती थी।[२]

यद्यपि वनलता अपने वृद्ध पिता की आंखों के लिए ज्योतिष्मती ढूंढने निकली है, किंतु वह स्वयं इस रूप में प्रकट होती है, मानो - " संभवत: वह स्वयं खो गयी है "[३]

१- आकाशदीप कहानी संग्रह की " ज्योतिष्मती " कहानी की नारी-पात्र -

२- प्रसाद : आकाशदीप, " ज्योतिष्मती " ; पृ०१६५, १६६ -

३- वही ,, ,, ; पृ० १६६-

जीवन पथ पर अबाध गति से बिना किसी गंतव्य के चलते जाना रोमानी प्रकृति का द्योतक है और किसी गंतव्य को ढूंढने में स्वयं खो जाना स्वच्छंदतावादी अभिव्यक्ति का ही एक प्रतीक है। इतना ही नहीं वनलता सार्त्विक दस्यु के संपर्क में आती है, जो कि उसके पिता का भयंकर शत्रु रहा है। निस्संकोच ढंग से वह उसका भी साथ कर लेती है, और ज्योतिष्मती को ढूंढ लेती है। सार्त्विक दस्यु मार्ग में उसका हाथ पकड़ लेता है, किंतु वनलता को किसी संकोच का अनुभव नहीं होता। ज्योतिष्मती को सामने पाकर वनलता को सहसा स्मरण हो आता है, कि ज्योतिष्मती को वही छू सकता है, जिसने किसी से पवित्र प्रेम किया हो। वह साथी युवक से पूछती है - "--तुमने किसी को प्यार किया है।"[1] दस्यु, जो अभी तक तटस्थ रूप में हाथ पकड़े बढ़ा आ रहा था, बहुत ही भोलेपन में कह देता है - "क्यों ? तुम्हीं को।"[2]

इतनी त्वरित प्रेमाभिव्यक्ति वनलता को ठीक - ठीक समझने का अवसर भी नहीं देती कि दस्यु उससे प्रेम करने लगा है, या कि दस्यु अपने प्रेम की पवित्रता पर मानों पूर्ण विश्वास रखते हुए ज्योतिष्मती को छूने के लिए आगे बढ़ जाता है। वनलता उसे रोकती है। तब तक प्रकृति का सारा वातावरण यह प्रमाणित करने के लिए आकुल हो उठता है कि दोनों के बीच का प्रेम भले ही प्रासंगिक हो, किंतु उसकी गहराई में पूर्ण समर्पण के भाव निहित थे - ऐसा समर्पण जिसमें शरीरजन्य वासना भी निर्लिप्त वातावरण में निष्कलुष होकर प्रकट होने लगी।

बनमालिका[3], जिसका कि वास्तविक नाम 'कामिनी' था एक अत्यंत ही प्रगल्भ, प्रेमपूर्ण और स्वच्छंद नारी है। उसके व्यक्तित्व में प्रसाद जी ने प्रेम के भावाकुल समर्पण की पराकाष्ठा चित्रित करने का यत्न किया है। कामिनी

१- प्रसाद : आकाशदीप, 'ज्योतिष्मती' ; पृ० १६७-

२- वही ,, ,, ; पृ० १६८-

३- अपराधी शीर्षक कहानी की मुख्य नारीपात्र -

मालिन है और कहानीकार के शब्दों में," मालिन वैसुध थी , वह फंदा बनाती जाती थी और फूलों को फंसाती जाती थी ।"[1] फूलों को फंसाने वाली इस ' कुरंग-कुमारी '[2] ने राजकुमार को कामिनी की माला खरीदने के लिए फांसा ही लिया -" दूरागत कोकिल की पुकार-सा वह स्वर उसके कान में पड़ा । वह लौट आई ।"[3]

राजकुमार को उस अपरिचिता से इतने समीप के अपनत्व की आशा न थी । राजकुमार ने भी अपना कौशेय उष्णीष खोलकर मालिन के ऊपर फेंक दिया । यही उष्णीष उस अपरिचिता के जीवन का चिरस्थायी कौशेय वसन बन गया । राजकुमार ने उसी दिन से उसको स्वच्छंद प्रकृति की युवती का नया नामकरण कर दिया -" आज से तुम इस कुसुमकानन की वन-पालिका हुई हो ----।"[4]

वनपालिका के जीवन की यह एक दाण की घटना उसके अन्तराल में भावनाओं के एक बहुत बड़े संसार का सृजन करने का कारण बन गयी । राजकुमार किसी रात्रि अपराधी वेश में वनपालिका के यहाँ शरण याचना के लिए आया । राजकुमार अभी अपरिचित ही था , उसका स्वर भी पूर्णत: स्पष्ट नहीं था, किंतु उसने वनपालिका के हाथों को पकड़ लिया । उसका यह स्पर्श किसी आश्रय के अन्वेषी किसी दीनहीन का स्पर्श नहीं, अपितु एक उन्मादकारी स्पर्श था । वनपालिका इस बात का आभास पाते ही कि अपराधी रूप में आया हुआ आगंतुक उसका एक बार का परिचित राजकुमार है , उसकी समर्पणमयी आकांक्षा भावातुर हो उठती है , और वह अपने हाथों को आगंतुक युवक के कंठ में डाल देती है --" पागल - प्रकृति पर्णकुटी को घेरकर अपनी हंसी में फूटी पड़ती थी ।

१- प्रसाद : आकाशदीप , ' अपराधी ' ; पृ० १२७ -
२- वही ,, ,, ; पृ० १२८ -
३- वही ,, ,, ; पृ० १२९ -
४- वही ,, ,, ; पृ० १२९ -

वह कर - स्पर्श उन्मादकारी था। कामिनी की धमनियों में बाहर के बरसाती नालों के समान रक्त दौड़ रहा था। युवक के स्वर में परिचय था, परंतु युवती की वासना के कुतूहल ने भय का बहाना सोच लिया। बाहर करकापात के साथ ही बिजली कड़की। वनमालिका ने दूसरा हाथ युवक के कंठ में डाल दिया।"[1]

इन दो परिचित हृदयों के जीवन का क्रम वास्तविक क्षेत्र में भिन्न दिशाओं की ओर मुड़ जाता है। राजकुमार विवाहित होकर राजा बन जाता है और मालिन बहेलिये की पत्नी बनकर जीवन निर्वाह करने लगती है। राजा का पुत्र राजसुख भोगता है, और मालिन का पुत्र बहेलिया बनकर वन-वन घूमता है। एक बार राजा के पुत्र के हठ को न स्वीकार करते हुए मालिन के पुत्र ने अपना प्रिय कुरंग उसे नहीं दिया। कुरंग भाग जाता है, इस पर राजा के आरक्षी किशोर को बेंतों से पीटकर उसके अंगों को क्षत-विक्षत कर देते हैं। वनमालिका अपने घायल पुत्र को वापस लेने के लिए आती है, और राजा सामने से निकल जाते हैं। राजा के मन में किशोर के प्रति दया की भावना उत्पन्न होती है, किंतु रानी के सामने उस दया का प्रदर्शन भी नहीं कर पाते। वनमालिका भी अपने पुत्र के घावों को आँसुओं से धोती हुई केवल इतना कहकर लौट जाती है -"आह! वे कितने निर्दयी हैं।"

वनमालिका और राजा दोनों का जीवन-चक्र जीवन भर एक दूसरे के विपरीत दिशा में चलता है, किंतु दोनों के बीच पलने वाला चिरंतन प्रेमसूत्र अपना अस्तित्व ज्यों का त्यों बनाये रखता है। यहाँ तक कि अंतिम घटना के समय दोनों का एक दूसरे से साक्षात्कार बड़ी ही विभीषिका-पूर्ण स्थिति में होता है। किशोर के बाणों से राजकुमार आहत हो जाता है, और राजा के आरक्षी किशोर को मार डालते हैं। वनमालिका राजा का आगमन सुनकर अपनी पूर्व परिचित परिभाषा में राजा के लिए माला बनाने में लगी हुई थी। वह कामिनी पुष्प के अभाव में मधूक और दूर्वा का माला बनाकर राजा को पहिनाने के लिए आती है। एक ओर उसका मरा हुआ पुत्र सामने पड़ा है, और दूसरी

१- प्रसाद : आकाशदीप, "अपराधी"; पृ० १५७ -

और उसकी आँखों के सामने राजा खड़ा है। राजा की भी ठीक ऐसी ही विषम स्थिति है। एक ओर राजकुमार बाणों से बिंधा हुआ सामने है और दूसरी ओर उसकी चिरपरिचिता वनपालिका, उसके द्वारा दिया गया कौशेय वस्त्र धारण किए हुए, उसे पहनाने के लिए हाथों में माला लेकर खड़ी है।

इस विषम और भयावह परिस्थिति में भी राजा और वनपालिका के हृदयों का भाव-प्रवण अनुराग अपनी पूरी मधुरता के साथ जाग उठता है और दुर्घटना की भयंकर विभीषिका एक दूसरे के प्रति ममत्व के माधुर्य में परिणत हो जाती है।

प्रसाद जी की यह कल्पना रोमानी धरातल पर बहुत ही दुर्बल, किंतु बहुत ही कोमल है। इस कहानी में वनपालिका के माध्यम से प्रसाद जी ने जिस चरित्र को सींचा है उसमें निराशाओं के बीच आशा का बिन्दु तथा जीवन की कठिन जुगुप्साओं के बीच स्वच्छंद प्रेम युक्त भावुकता की आदर्शमयी सुरसता ही सकी है वनपालिका का आदर्श वह आदर्श है, जो मृत्यु की विडंबनाओं के बीच भी प्रेम के उन्मादकारी समर्पण को सजीव और सार्थक बनाये रखता है।

रोमानी धरातल पर प्रेम की व्यंजना में क्षणिक प्राप्ति और दीर्घकालीन अवसाद एवं निराशा बहुत ही घनीभूत होकर प्रकट होती है। प्रेम की इस पद्धति में प्रेम पात्र की प्राप्ति का कोई निश्चित लक्ष्य न होते हुए भी उसकी क्षणिक अनुभूति में जीवन व्यापी तृप्ति का भी आभास प्रसाद जी ने दिखाया है। बनजारा में प्रसाद जी ने व्यापारी युवक नन्दू और कोलकुमारी मोनी के बीच ऐसी ही प्रेम का स्फुरण चित्रित किया है। एक ओर नन्दू में एक कसक है कि वह चाहे अपनी सारी पूँजी लगा दे, किंतु कोलकुमारी का सब कुछ क्रय नहीं कर सकता उसे इस बात की गहरी निराशा है कि किसी दिन जब वह बहुत धनी होकर लौटेगा तब भी इस कोलकुमारी के साथ अपने को रंक ही पायेगा।

" मैं बार-बार लाभ की आशा से लादने आता हूं, परन्तु हे उस जंगल की हरियाली में अपने यौवन को छिपानेवाली कोल-कुमारी! तुम्हारी वस्तु बड़ी

महंगी है। मेरी सब पूंजी भी उसको क्रय करने के लिए पर्याप्त नहीं।"[1]

मोनी नंदू को, शरण देती है। चौकीदार को आशंका होती है कि मोनीका घायल अतिथि डाकुओं में से एक है। वह मोनी को बहुत पीटता है, किंतु मोनी कुछ भी बतलाने से इंकार करती है। चौकीदार मोनी की ओर लोलुप दृष्टि से धन दौलत की अपेक्षा कुछ और चाहने की आकांक्षा करता है, किंतु मोनी उसके सामने नहीं झुकती। नंदू के आग्रह पर मोनी छोड़ दी जाती है, यहीं से मोनी और नंदू के जीवन का अलगाव आरंभ हो जाता है। नंदू अपने व्यापार में लग जाता है, और मोनी प्याज - मेवा का व्यापार करना बंद कर देती है।

एक युवक और एक युवती का कुछ दिनों का प्याज - मेवा का यह संबंध पारस्परिक प्रेम के क्षणिक आदान- प्रदान के उपरांत जीवन भर के लिए समाप्त हो जाता है। नंदू के आग्रह पर भी मोनी प्याज - मेवा का व्यापार पुनः आरंभ नहीं करती। कुछ निराशा भरे शब्दों में वह कहती है - " अब मैं समझती हूं कि सब लोग न तो व्यापार कर सकते हैं और न तो सब वस्तु बाजार में बेची जा सकती है।"[2]

मोनी के इस निराशा भरे उत्तर पर ऐसा प्रतीत होता है मानो नंदू का बहुत कुछ छूट गया हो। अत्यंत ही दीनता भरे शब्दों में वह कहता है - " मैं लादना छोड़ दूंगा मोनी।"[3]

मोनी चौकीदार द्वारा किये गये व्यंग बाणों से दूर बचने के कारण नंदू के साथ प्याज - मेवा का व्यवसाय बंद कर देती है, किंतु भीतरी हृदय से वह नहीं चाहती कि नंदू जो कि बनजारा है, और जिसका कि काम देश की

१- प्रसाद : आकाशदीप, " बनजारा " ; पृ० १२० -

२- वही ,, ,, ; पृ० १२३ -

३- वही ,, ,, ; पृ० १२३ -

पीठ पर सामान लादकर व्यवसाय करना है, वह व्यवसाय छोड़ दे। वह तो पहाड़ी पर निस्तब्ध प्रात की बेला में बैलों के कंठों में बंधी घंटियों के मधुर स्वर की आशा में घंटों से अनमनी बैठी रह जाती है। उसकी मानसिक तृप्ति केवल इस से हो जाती है कि वह मंदू के बैलों की घंटी की आवाज दूर से सुनकर अपने आप को तृप्त कर ले। प्रेम की इस विकलता में दूर से ही मिलन का आभास करके भावात्मक तृप्ति का बोध कर लेना रोमानी प्रेम का एक अद्भुत नमूना है।

प्रणय चिन्ह[1] नामक कहानी में जमींदार की पुत्री रोमानी धरातल पर बहुत ही स्वच्छंद प्रकृति की और प्रेम की उन्मत्तता से युक्त एक सुंदरी है। उसका प्रेमी उसके प्रेम में निष्फल होने के कारण तीन वर्ष से स्कांतवास का सेवन कर रहा है। खजूरकुंज में वह इस प्रत्याशा में ठहरा हुआ है कि उसकी प्रियतमा कभी न कभी उसे आकर प्रणय चिन्ह दे जायेगी। प्रतीक्षा करते करते वह ऊब जाता है, और अज्ञात विदेश को जाने का निश्चय करता है। अतः वह अपनी प्रियतमा को संदेश भिजवाता है - " तीन वर्ष से तुम्हारा जो प्रेमी निर्वासित है वह खजूर कुंज में विश्राम कर रहा है। तुमसे एक चिन्ह पाने की प्रत्याशा में ठहरा है। अब की बार वह अज्ञात विदेश में जायेगा। फिर लौटने की आशा नहीं है।"[2]

संध्या का समय था, और सेवक की नाव पर जमींदार की कन्या आकर बैठ जाती है, और उसे उस पार ले चलने को कहती है।

सेवक जमींदार की कन्या को पहचान लेता है, और वह मंत्रमुग्ध होकर नौका खेना भूल जाता है, और उस सुंदरी की ओर देखता रह जाता है। जमींदार कन्या में नारी सुलभ वह लज्जाशीलता नहीं है कि नाविक के इस स्कटक देखने से छुईमुई की भांति लज्जा से गड़ जाय। वह नाविक के अस्फुट भावों को समझ जाती है और पूछती है - " सेवक तुम मुझे देखते रहोगे कि खेना आरंभ करोगे।"[3] नाविक

१- प्रसाद : आकाशदीप, 'प्रणय-चिन्ह' ; पृ० १४७ -

२- वही ,, ,, ; पृ० १४८ -

३- वही ,, ,, ; पृ० १५१ -

भी विचलित नहीं होता। जैसे वह अपने किसी निकटतम आत्मीय के समक्ष अपने मनोभावों को व्यक्त कर देता है - " मैं देखता चलूंगा, खेता चलूंगा। बिना देखे भी कोई खे सकता है।"[1]

जमींदार कन्या दो विकल्प के बीच में पड़ जाती है। एक ओर उसका प्रेमी उसके विरह में तीन वर्ष से निर्वासित होकर प्रणय-चिन्ह पाने के लिए आतुर बैठा है और दूसरी ओर उसकी ही आंखों के समक्ष घने अंधकार में भी भाव-विभोर होकर उसकी ओर मूक दृष्टि से देखता हुआ है वह सेवक, जो प्रथमतः तो उसके प्रेमी का उसे संदेश पहुंचाता है और दूसरे अब अपनी भावनाओं को बिल्कुल ही न प्रकट किये हुए उसे उसके प्रेमी के पास पहुंचा रहा है। एक प्रणयचिन्ह पाने का हठ किये हुए है और दूसरा मूकभाव से उसकी सेवा कर रहा है। एक ओर प्रेम का हठपूर्ण आग्रह है और दूसरी ओर है बिना किसी स्वार्थ के सेवा का प्रकृत आदान।

नौका किनारे पहुंच जाती है। जमींदार की कन्या का भावुक मन खिल जाता है। संभवतः नदी के उस पार तक पहुंचते-पहुंचते युवती के मन का द्वंद किसी भावात्मक निष्कर्ष तक पहुंच जाता है। और वह भावुकता भरे शब्दों में सेवक से पूछती है - " तुमने मुझे ठीक समय से पहुंचाया। परंतु मेरे पास क्या है जो तुम्हें पुरस्कार दूं।"[2] युवक सेवक कुछ बोलता नहीं, चुपचाप उसका मुंह देखता रह जाता है रमणी पता नहीं भूलवश, कृतज्ञतावश, अथवा किसी आंतरिक आग्रह के प्रतिदानस्वरूप अपनी उस अंगूठी को, जिसे अपने प्रेमी को देने के लिए जा रही थी, उस सेवक को ही दे देती है। सेवक को यह आशा नहीं थी कि जमींदार की कन्या अपने उस प्रणयचिन्ह को उसे दे देगी। वह पूछता है - " और तुम अपने प्रियतम को क्या चिन्ह दोगी ?"[3]

१- प्रसाद : आकाशदीप, " प्रणय-चिन्ह " ; पृ० १५१ -
२- वही ,, ,, ; पृ० १५१ -
३- वही ,, ,, ; पृ० १५२-

पूर्ण निश्चय भरे शब्दों में युवती कह देती है - " अपने को स्वयं दे दूँगी। लौटना व्यर्थ है ----- "[१] इन शब्दों को कहती हुई वह युवती भावावेश में तीव्र वेग से चली जाती है। उसका लेखक से रूठे शब्दों में यह कहना कि प्रेमी को प्रणय चिन्ह देने के बदले अपने आपको दे दूँगी , और फिर तीव्र वेग से वहाँ से चली जाना युवती के मानस में होनेवाले किसी प्रबल हलचल का घोतक करता है।

प्रसाद जी प्रेम के भावुक पक्ष के समर्थक थे। प्रेम हृदय का सूक्ष्मतम तत्व है। उसका संबंध भीतर की अनन्यतम भावनाओं से होता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रेमी प्रियतमा को अथवा प्रेयसी प्रियतम को स्थूल रूप में पाकर ही प्रेम की पूर्णता माने। आत्मसमर्पण से बढ़कर संभवतः प्रेम की और कोई दूसरी परिभाषा नहीं हो सकती। इस कहानी में वर्णित प्रेयसी अपने उस आत्मसमर्पण द्वारा प्रेमी के प्रेम की पवित्रता को कसौटी पर कसना चाहती है, किंतु प्रेमी बहुत हठी है। उसे प्रेमिका का आत्मसमर्पण नहीं - प्रणयचिन्ह चाहिये। यह प्रणयचिन्ह प्रेम की स्थूलता का घोतक है - सांसारिक वासनाओं का घोतक है। यही निष्कर्ष लिए हुए युवती घर लौटती है तो लेखक से निराशा भरे शब्दों में कहती है -" मैंने तुम्हें कुछ पुरस्कार दिया था वह मेरा प्रणयचिन्ह था। मेरा प्रिय मुझे नहीं लेगा, उसी चिन्ह को लेगा। इसलिए तुमसे बिनती करती हूँ कि उस चिन्ह को दे दो।"[२]

युवती को यह पूरा भरोसा हो कि भावात्मक प्रेम का आग्रही लेखक उस अंगूठी के प्रति मोह का प्रदर्शन नहीं करेगा। उस प्रणयचिन्ह के स्थान पर उसका स्वयं उसके सामने आना उसके लिए कहीं अधिक रुचिकर होगा, इसीलिए वह लेखक से निस्संकोच भाव से कह देती है -" तुमने तो उसे लौटा देने के लिए ही रख छोड़ा है। वह देखो तुम्हारी उंगली में चमक रहा है, क्यों नहीं दे देते ? "[३]

१- प्रसाद : आकाशदीप , " प्रणय-चिन्ह " ; पृ० १५२ -
२- वही, ,, ,, ; पृ० १५३ -
३- वही ,, ,, ; पृ० १५३ -

तथा कथित प्रेमी और वह युवती दोनों नाव पर बैठ जाते हैं। नाव धारा में बह चलती है। नौका बह चली है। रमणी को फिर पुरानी बात याद आ जाती है और वह नाविक से पूछती है - " केवल देखोगे या लेओगे भी "?[1] युवक बहुत ही भावुक उत्तर देता है और संभवत: जीवन में पहली बार या अंतिम बार वह अपने आपको प्रकट करता है, और कहता है - " नाव स्वयं बहेगी, मैं केवल देखूँगा ही।" लेखक ने जैसे साधिकार समझ लिया हो कि अपने प्रेमी के साथ नौका में बैठी हुई युवती शरीर रूप में भले ही अपने प्रियतम की हो, किंतु भावुक रूप में वह स्वयं उसकी है और उसका प्रणय-चिन्ह भी उसी के लिए है।

इस कहानी में प्रसाद जी ने प्रेम की भावात्मकता और स्वच्छंदता का बहुत ही सुंदर ढंग से निर्वाह किया है। जमींदार की कन्या अपने प्रेमी को भले ही संसार की स्थूलता की ओर खींच ले जाय, किंतु उसका उस लेखक के प्रति अस्पृष्ट प्रेम क्षणिक होते हुए भी स्थायी है, परोक्ष होते हुए भी प्रभावोत्पादक है और है अभावों में भी तृप्ति का अनुभव करने का एक अद्भुत कारण।

धीवरबाला[2] समुद्र के किनारे मछली पकड़ती हुयी एक स्वच्छंद स्वभाव की सुंदरी है। राजकुमार सुदर्शन उसे " सुंदरी " नाम से ही संबोधित करता है। उसकी आँखों के सामने उसके तन और मन का यौवन मानो संपृक्त होकर एक साथ बिछलता दिखायी पड़ता है। यथा - " सुदर्शन बैठा था किसी की प्रतीक्षा में। उसे न देखते हुए मछली फँसाने का जाल लिए एक धीवर-कुमारी समुद्र-तट के कगारों पर चढ़ रही थी, जैसे पंख फैलाए तितली। नील भ्रमरी - सी उसकी दृष्टि एक क्षण के लिए कहीं नहीं ठहरती थी।"[3]

धीवरबाला कहने को तो धीवरों की लड़की है, किंतु प्रसाद जी की कल्पना में वह बहुत ही उन्मुक्त और प्रांजल स्वभाव की, एक निस्संकोच तरुणी है, जो किसी अपरिचित राजकुमार द्वारा ' सुंदरी ' नाम से पुकारे जाने पर संकोच,

---

१- प्रसाद : प्रणयचिन्ह ; पृ० १५५ -
२- " समुद्र- संतरण " कहानी की मुख्य नारी पात्र -
३- प्रसाद : आकाशदीप " समुद्र-संतरण " ; पृ० १०६ -

पुरुष से विनयावनत नहीं हो जाती, अपितु अत्यंत ही प्रगल्भता भरे शब्दों में पूछती है - " क्या कह कर पुकारा ? ---- क्यों मुझमें क्या सौंदर्य है ? और है भी कुछ तो क्या तुमसे विशेष ? ------ आज अकस्मात यह सौंदर्य विवेक तुम्हारे हृदय में कहां से आया ?"[1]

राजकुमार का उत्तर बहुत ही उन्मादक है और साधारणतया कोई भी युवती अल्पपरिचय वाले युवक से इस उत्तर को सुनकर क्षण भर को अवश्य विचलित हो जाती । उत्तर था - " तुम्हें देखकर मेरी सोयी हुई सौंदर्य तृष्णा जाग गई ।"[2] किंतु धीवर बाला बड़ी ही सरलता से इस उत्तर के अर्थ को टाल जाती है । और उसी के समान सौंदर्य का आरोपण स्वयं राजकुमार में करती हुई कहती है - " परंतु भाषा में जिसे सौंदर्य कहते हैं वह तो तुममें पूर्ण है ।"[3]

धीवर बाला कहने को तो धीवरों की लड़की है, किंतु उसमें स्वभावजनित ऐसी स्वच्छंदता और स्पष्टता अभिव्यक्त होती है, जो प्राय: भारतीय लज्जासुलभ ललनाओं के तुल्य में ही, पाश्चात्य स्वच्छंदता सुलभ तरुणियों के ही तुल्य में है ।

राजकुमार के इस आश्वासन पर " धीवरबाला " मछलियों को समुद्र में फेंक देती है, कि जिस राजकुमार के विवाह के उत्सव के लिए वह मछलियां पकड़ रही है, वह परिणय नहीं होगा । वह भावविभोर होकर राजकुमार के मुख की ओर देखने लगती है और कहती है कि - " तब तो मैं इन निरीह जीवों को छोड़ देती हूं ।"[4] उसके स्वभाव का यह भोलापन रोमानी धरातल पर बहुत ही मोहक है । सुदर्शन स्वयं धीवरबाला के संबंध में स्वीकार करता है, " तुम केवल सुंदरी

१- १- प्रसाद : आकाशदीप , "समुद्र-संतरण" ; पृ० १०६ -
२- वही ,, ,, ; पृ० १०६ -
३- वही ,, ,, ; पृ० १०६ -
४- वही ,, ,, ; पृ० १०६ -

ही नहीं, सरल भी हो "।[1] बदले में धीवरबाला अपने और भी भोले स्वभाव का प्रदर्शन करती हुई कह देती है " और तुम वंचक हो।"[2]

रोमानी प्रेम के अंतर्गत क्षणिक परिचय, क्षणिक भावोन्मेष, और आत्मीयता की क्षणिक अभिव्यक्ति को जिस सार्थकता और पूर्णता के साथ देखा जाता है उसका पूरा निर्वाह धीवरबाला में हुआ है। साथ ही उस साहसिक कौतुक के लिए भी कहानीकार ने स्थिति उत्पन्न कर दी है, जो अपने प्रभाव में बहुत ही संमोहक और भावभीनी है। यथा - समुद्र की लहरों के बीच मछली पकड़ने वाली नाव में स्वयं लहरें लेती हुई धीवरबाला अपनी अल्हड़ मस्ती में वंशी बजा रही है। राजकुमार सुदर्शन लहरों में संतरण करता हुआ नौका के समीप आ जाता है। राजकुमार को अपनी ओर से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होती। धीवरबाला स्वतः आह्वान करती हुई कहती है - " आओगे " प्रश्न होता है - " कहां ले चलोगी " धीवरबाला उस रोमानी स्वच्छंदता की अभिव्यक्ति करती हुई कहती है - " पृथ्वी से दूर जल-राज्य में ; जहां कठोरता नहीं केवल शीतल, कोमल और तरल आलिंगन है :, प्रवंचना नहीं सीधा आत्मविश्वास है, वैभव नहीं सरल सौंदर्य है।"[3] इस स्वच्छंदतापूर्ण आह्वान में प्रसाद जी की कल्पना बहुत ही भावुक और तरल हो गयी है। ऐसे प्रेमाकर्षण में प्रसाद जी भावनाओं के किसी अवरोध का प्रतिबंध स्वीकार नहीं करते। धीवरबाला के प्रकरण में प्रसाद जी ने इस उन्मुक्तता को और भी अधिक प्रखर रूप में चित्रित किया है। समुद्र की लहरों का संतरण करने वाला राज कुमार धीवरबाला की नौका में स्वतः नहीं आ जाता, अपितु धीवरबाला स्वतः हाथ पकड़कर सुदर्शन को नाव पर खींच लेती है।

व्यवहारों का यह निर्भीक और अप्रतिबंधित आदान-प्रदान समाज में फैली हुई अनेक कुंठाओं का प्रतिकारस्वरूप है। प्रसाद की कल्पना प्रेमाभिव्यक्ति के अवसरों पर प्रतिबंधों की मर्यादा तोड़कर ऐसे ही पात्रों के माध्यम से स्वच्छंद

१- प्रसाद : समुद्र संतरण ; पृ० १०८
२- प्रसाद : समुद्र संतरण ; पृ० १०८
३- वही ,, ; पृ० १०६ -

वह निकली है। जहाँ ऐसा प्रेमपुलक आलिंगन होगा, वहाँ की प्रकृति अवश्य ही उस मानवीय भावनाओं के आलिंगन में विह्वल होकर दिखाई पड़ती है। प्रसाद जी भी तद्नुरूप धीवरबाला और राजकुमार के इस भावभीने मिलन पर चंद्रमा और जलनिधि को प्रणयाकुल युगल के साथ हंसते हुए दिखाने से नहीं चूकते। प्रकृति के अंगों में मानवीय भावनाओं की यह पुलक प्रसाद जी की अभिव्यक्ति की अपनी विशेषता है।

प्रसाद ने हृदय में उत्पन्न होनेवाले प्रेम को - चाहे वह क्षणिक हो अथवा स्थायी, वासना मूलक हो अथवा नैसर्गिक, इन्द्रियजनित हो अथवा भावात्मक, एक शाश्वत तत्व माना है। वे प्रेम पात्र की प्राप्ति में भी प्रणय की पूर्ति मानते थे और उस प्रेम-पात्र के चिर-विरह में भी भावनाजगत के माध्यम से प्रणय की पूर्ति मानते थे। वह प्रेम जो हृदय में एक तीव्र आलोक लेकर उत्पन्न हुआ है, उल्लासवर्द्धक भी हो सकता है, और अवसादग्रसित भी हो सकता है। हंसी के पुष्प और आंसू के कण; दोनों प्रेम के परिचायक हैं और दोनों में प्रेम की मधुरता विद्यमान है। रोमांटिक परंपरा में प्रेम के इस पक्ष का पूरा समावेश है, और प्रसाद जी ने इन्द्रजाल की 'बेला'[१] में रोमानी प्रेम की इस विशेषता का परिपाक व्यक्त किया है।

रोमानी प्रेम शरीरगत बंधनों को स्वीकार नहीं करता। समाजगत बंधन भी इस प्रेम के मार्ग में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं कर सकते। यही तथ्य बेला में भी पूर्णत: चरितार्थ हुआ है। वह प्रथमत: सामाजिक मान्यता के अंतर्गत भूरे की पत्नी मानी जाती है। कालांतर में भैरू के जाल में पड़कर वह ठाकुर साहब की कोठी में उनकी कला पिपासा को शांत करनेवाली नर्तकी और ठाकुर साहब की एकमात्र प्रेयसी मानी जाती है, किंतु गोली के प्रति उसके हृदय में बैठा हुआ प्रेम अपनी अनन्यता की उपाधि नहीं छोड़ता। जीवन की विषम परिस्थितियों को ज्यों का त्यों स्वीकार करती हुई भी बेला गोली को अपनी भावनाओं का आराध्य

१- इन्द्रजाल कहानी की मुख्य नारी-पात्र -

बनाये रखती है। यहाँ तक कि भूरे की पत्नी बनने के उपरांत, जब कि गोली से मिलने की कोई आशा नहीं रह जाती, वह उसके विरह में, एकांत में गीत गा गाकर उसे पा लेने का एक असफल, किंतु भावात्मक रूप में सार्थक बहाना ढूंढ निकालती है। यथा - " बेला की आँखों में गोली का और उसके परिवर्धमान प्रेमांकुर का चित्र था, जो उसके हट जाने पर विरह-जल से हरा - भरा हो उठा था। बेला पलाश के जंगल में अपने बिछुड़े हुए प्रियतम के उद्देश्य से दो - चार विरह-वेदना की तानों की प्रतिध्वनि छोड़ आने का काल्पनिक सुख नहीं छोड़ सकती थी[1]। उस निर्जन वन के गहन अंधकार में गोली की याद में बैठकर नित्य कुछ समय के लिए गाना बेला की भावुक साधना थी, जिसके मूल में थी गोली को न प्राप्त कर सकने की निराशा और थी भावात्मक रूप में उसे प्राप्त कर सकने की एक मधुर कल्पना। गाना समाप्त कर जब वह चलने लगती तो ऐसा मालूम पड़ता था मानो-" गोली उस अंधकार में अपरिचित की तरह मुंह फिराकर चला जा रहा है। बेला की मनोवेदना को पहिचानने की क्षमता उसने ही दी है। बेला का एकांत में विरह निवेदन उसकी भाव प्रवणता को और भी उद्वेलित करता था।[2]

ठाकुर साहब की हवेली में बेला को जीवन के सभी सुख और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, किंतु ऐश्वर्य की रेशमी डोरियों को तोड़कर वह अपने भावात्मक पति, इंद्रजालिक गोली के साथ भाग निकलती है। यहाँ प्रसाद जी ने प्रेम की उस स्वच्छंदता की अभिव्यंजना की है जो रोमानी उमंग में संसार के किसी भी प्रतिबंध को अपने आप पर आरोपित नहीं मानता।

इतना होते हुए भी बेला के व्यक्तित्व में एक भोलापन है, एक स्निग्धता है और है भावुक प्रेम की तरलता। उसकी यह विशेषताएँ रोमानी कल्पना की परिचायक हैं। यह रोमानी कल्पना और स्निग्धता उसके अंग अंग से फूटी पड़ती है। - " बेला के सुंदर अंग की मेघ-माला प्रेमराशि की रजत-रेखा से उद्भासित हो

१- प्रसाद : इंद्रजाल ; पृ० ७ -
२- वही ,, ; पृ० ७ -

उठी थी । -----उसके हृदय में बसन्त का विकास था । उमंग में मलयानिल की गति थी । कंठ में वनस्थली की काकली थी । आँखों में कुसुमोत्सव था और प्रत्येक आंदोलन में परिमल का उद्गार था । उसकी मादकता बरसाती नदी की तरह वेगवती थी ।"[1] इस प्रकार प्रसाद जी की ऐसी नारियाँ जिन्हें रोमानी रूप में दिखाया गया है, स्वभाव से भोली, कल्पनामयी, मधुर, अस्थिर, वेगवती और भावुक हैं । उनके प्रेम में स्वच्छंदता और स्निग्धता है और उस स्निग्धता में उनका भावात्मक और वासनात्मक दोनों प्रतिदान बहुत ही मधुर और स्वाभाविक बन सका है । ऐसी प्रसाद जी की प्रत्येक नारी शरीर से अल्हड़, वसंत के कुसुम की भाँति यौवन विकच तथा शारीरिक आकर्षण से युक्त है । किशोरावस्था का चांचल्य उनके अंगों में भरा है; और प्रेम के पथ में वे समाजगत रूढ़ियों को कुचलती हुयी आगे को बढ़ी है । यह उनकी साहसी प्रकृति का द्योतक है । उनके उन्माद में भी तरलता है, उनके अवसाद में भी भावात्मक उमंग की छाया है, और उनकी निराशा में भी आशा की मधुर वंशी बजती रहती है । प्रेम की उमंग में वे भावात्मक और वासनात्मक दोनों प्रकार के आत्मसमर्पण से नहीं हिचकती । रोमानी धरातल का यह काल्पनिक सुख शाश्वत सुख बनकर प्रकट हुआ है ।

रोमांटिक और भावुक नारियों में विभेद -

बहुधा रोमांटिकता (या रोमांस) और भावुकता (या संवेदनशीलता) को समानार्थी मान लिया जाता है । किंतु साहित्य की नवीन गतिविधि में ये दोनों तत्व जिस प्रकार से आये हैं, उनके आधार पर दोनों पृथक- पृथक तत्व माने जाने चाहिये । किंतु यह सच है कि दोनों में बहुत ही सूक्ष्म अंतर है । प्रसाद ने अपने नारी पात्रों के सृजन में इस सूक्ष्म अंतर को प्रदर्शित माना है ।

१- प्रसाद : कंकाल ; पृ० ६ -

रोमांटिक और भावुक दोनों प्रकार की नारियों में कल्पना की प्रधानता है। किंतु रोमांटिक किशोरियों में अल्हड़ता अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण वे अधिक कल्पनाशील हैं। उनके समक्ष जीवन की कोई यथार्थ योजना न होने के कारण उनमें उत्फुल्लता और एक स्वप्निल संसार के प्रति आकर्षण दिखाई पड़ता है। यद्यपि उनका समूचा परिवेश सामाजिक है, और समाज की पुरातन मान्यताओं को तोड़कर स्वच्छंद रूप में प्रेम के क्षेत्र में आगे आना, उनकी अपनी विशेषता है, फिर भी यथार्थ जीवन के स्थूल अस्तित्व की ओर उनमें एक उपेक्षा भाव दिखाई पड़ता है, इसके ठीक विपरीत भावुक प्रेममयी नारियां स्पष्टतः समाज की मान्यताओं का विरोध न करती हुई भी अपने हृदयों में भावाकुल प्रेम संजोये रहती हैं, और भावात्मक रूप में आत्मसमर्पण के लिए प्रस्तुत रहती है। उम्र में भी अपेक्षाकृत वे उतनी अल्हड़ नहीं हैं, जितनी कि रोमांटिक नारियां हैं। भावुक प्रेममयी नारियां यथार्थ जीवन की समस्याओं के प्रति भी जागरूक हैं। इसीलिए वे कल्पनाशील होती हुई भी सचेतन हैं। रोमांटिक किशोरियों में प्रेम की एक उन्मादयुक्त आंधी दिखाई पड़ती है जिसमें लक्ष्य के प्रति कोई निश्चित कामना या योजना नहीं है। इसकी तुलना में भावुकप्रेममयी नारियां अपेक्षाकृत अधिक स्थिरचित्त, संवेदनशील तथा फल की कामना से युक्त दिखाई पड़ती हैं। उनके प्रेम का लक्ष्य सामने है और पूर्णतया स्थिर और स्पष्ट है।

भावुक प्रेम -

प्रसाद जी ऐसा मानते हैं कि नारी स्वभाव से प्रेममयी है। भावुकता उसकी अपनी निधि है।

पुरुष समाज ने नारी के इस भावुक प्रेम का युग-युग से दुरुपयोग किया है, और भावनाओं की तरंगों पर जिस नारी को बहुत निर्मल रूप में स्वच्छ वारिधारा के रूप में प्रेम की प्रखर ज्योति लिए दीप्त होना चाहिये था, वह पुरुष वर्ग की वासनाओं की कुंठा में ग्रस्त हो गयी। नारी का भावुक प्रेम अपने सच्चे अर्थों में पुरुष के लिए अमित प्रेरणाओं का कारण बन सकता है। यही कारण है कि प्रसाद ने अपने साहित्य में नारी जाति के एक ऐसे वर्ग को प्रस्तुत किया है जो भावुक है,

है , सरल है , प्रेम ही जिसका दर्शन है , समर्पण ही जिसका सिद्धांत है । ऐसी नारियों में सुवासिनी , वाजिरा, कोमा , कल्याणी , ऐला आदि नारियों का नाम उल्लेखनीय है , जिनका क्रमानुसार विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

सुवासिनी[1] -

सुवासिनी एक भावुक प्रेममयी नारी है ।

चंचल किशोर मन के उत्तरीय को जब प्रेम की भावुकता आकर पकड़ लेती है तो प्रेम की अनुभूति एक रहस्यमयी -सी , कुछ अपरिचित सी, कुछ मीठी सी वेदना उत्पन्न कर जाया करती है । सुवासिनी के हृदय में वह अपरिचित, किंतु मीठी प्रेममयी वेदना उत्पन्न हो चुकी है और बाह्य जगत में प्रेम की जो कुछ भी अनुभूति है , वह सब कुछ उसके लिए एक रहस्य बन गया है । उसके गाने में स्वर लहरी का स्पंदन उसके भावुक प्रेम का ही स्पंदन है । वह ऐसा अनुभव करती है कि जैसे उसका कोई प्रेमी , उससे कुछ दूर - दूर , उसकी ही आंखों के सामने स्वर्णिम रश्मियों के मायाजाल से संभवतः छुपा छुपकर उसे देख रहा है । उसमें यौवन है , यौवन का दर्प है, सौंदर्य है , सौंदर्य से युक्त लज्जा है , वह बहुत ही आकर्षक है, किंतु न जाने कौन सा रहस्य है कि वह मौन है , कुछ बोलता नहीं , अपनी मीठी गुंजार और मधुमय हंसी अपने ही होठों में पीती जाती है । प्रेम की भावुकता उसे अपने आपको प्रकट नहीं करने देती । दिन बीत चला विभ्रम में घूमते-घूमते सूर्य अस्तांचल को चला गया , रजनीगंधा की कली खिलने लगी । संध्या का मलय पवन अब आकुल होकर किसी प्रेममयी वेदना को व्यक्त करने लगा , किंतु एक प्रश्न है , वह प्रियतम इस मधुमय बेला में भी इधर-उधर किनारों के बीच छिपता क्यों जा रहा है । सामने आकर अपने प्रेमजनित उद्गारों को व्यक्त क्यों नहीं कर देता । इसी भावुकता की विभोरावस्था में सुवासिनी गाती है -

---

१- चंद्रगुप्त नाटक के नारी-पात्र -

तुम कनक-किरण के अंतराल में
लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस-कन ढरते।
हे लाज भरे सौंदर्य !
बता दो मौन बने रहते क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में।
मधुसरिता-सी यह हंसी
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?
बेला विभ्रम की बीत चली
रजनीगंधा की कली खिली -
अब सान्ध्य मलय-आकुलित
दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?[1]

तर्कातीत भावावेग :-

सुवासिनी की भावुकता नंद के विलास कानन की सामग्री बनकर सीमित रहने को प्रस्तुत नहीं है। उसमें वसंत रानी बनने का दर्प नहीं है। वह राक्षस से प्रेम करती है। भावनाओं के प्रवाह में बहकर वह उसे आत्मसमर्पण कर देती है, और प्रेम की भावाकुलता में कह उठती है - "फिर भी मैं तुम्हारी हूं मुझे विश्वास है कि दुराचारी सदाचार के द्वारा शुद्ध हो सकता है और बौद्ध मत इसका समर्थन करता है, सबको शरण देता है, हम दोनों उपासक होकर सुखी बनेंगे --- नहीं प्रिय ! मैं तुम्हारी अनुचरी हूं। मैं नंद की विलास लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती।"[2]

प्रेमानुभूति का यह चंचल प्रलाप राक्षस को आत्मविभोर कर देता है। वह

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त, "प्रथम अंक" ; पृ० ५४- ५५ -
२- वही ,, पृ० ६० -

सुवासिनी को "स्वर्गीय कुसुम" कहता है। एक भावुक प्रेमी की भाँति सुवासिनी को "विश्वास" दिलाता है - " . . . परंतु जीवन वृथा है। मेरी विद्या, मेरा परिष्कृत विचार सब व्यर्थ है। सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है। वह अमृत है, उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा।"[1]

प्रसाद जी ने सुवासिनी और राक्षस के प्रसंग में प्रेम की भावुकतामयी उस स्थिति की भी कल्पना की है जब राक्षस सुवासिनी के सौंदर्य, प्रेम और समर्पण की सराहना करता है, मानों भोला शिशु सराहनाभरी सहानुभूति पाकर पूर्णतः संतुष्ट हो जाता है, और अब उसे कोई शिकायत नहीं रह जाती, और अब वह पूर्ण समर्पण के लिए उद्यत हो जाता है।

एकनिष्ठ प्रेम के शाश्वतरूप की कल्पना -

यह समर्पण भावनाओं का समर्पण है, इस समर्पण में विकारों की प्रधानता नहीं, इस समर्पण को वासनाओं के अनेक प्रलोभन डिगा नहीं सकते। प्रेम की अपनी एक लकीर है। प्रेमी उस लकीर को छोड़ नहीं सकता। मृत्यु उसके मार्ग में बाधक नहीं बन सकती। प्रेम यदि इस जन्म में न भी प्राप्त हुआ तो कोई चिंता नहीं, प्रेम की भावुकता उसे अगले जन्म में प्राप्त कर लेने की साधना रत रह सकती है। नंद मगध का सम्राट है। सुवासिनी एक वैतनभोगी नर्तकी है, किंतु प्रेम के क्षेत्र में उसके लिए राक्षस एक लकीर बन गया है। वह मगध सम्राट नंद को नृत्य दिखाकर अनुरंजित कर सकती है, किंतु प्रलोभनों में पड़कर उसकी वासनाओं के समक्ष झुकने को कदापि तैयार नहीं।

कर्तव्य के प्रति जागरूकता -

सुवासिनी भावुक प्रेम से पूर्णतः युक्त है। उसमें कर्तव्यपरायणता और सामाजिक बंधनों के प्रति आस्था भी है। वह राक्षस के प्रेम को स्वीकार करती है,

---

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० ६१ -

अपने आत्मसमर्पण की भावना को भी स्वीकार करती है किंतु विवाह के प्रसंग में पिता की ही राय को अंतिम राय मानती है। उसमें पितृभक्ति के साथ ही साथ नारी के स्त्रीत्व के प्रति अकाट्य अभिमान भी है। वह राक्षस से दृढ़ शब्दों में कहती है - " अमात्य ! मैं अनाथ थी जीविका के लिए मैंने चाहे कुछ भी किया हो ; पर स्त्रीत्व नहीं बेचा। "[१]

इस प्रकार सुवासिनी यद्यपि एक भावुक प्रेम से युक्त नारी के रूप में सामने आती है, किंतु उस भावुकता में वह केवल हृदय का समर्पण करती है, शरीर बेचना उसे किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं है। परिस्थितियों की विडंबना में वह नर्तकी के रूप में कार्य करती है, और नंद की वासनाओं का शिकार बनने से अपने को बचाती रहती है। राक्षस के प्रति उसका प्रेम एक यौवनजनित भावुक उन्माद का प्रेम है, किंतु इस भावुक उन्माद को जब यथार्थ कर्तव्य-चेतना की ठोकर लगती है, तब वह उस भावुकता को छोड़कर चाणक्य से विवाह करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

किंतु वही चाणक्य जब सुवासिनी को इस बात का ज्ञान कराता है कि उसके प्रति उसका शैशव से ही प्रेम केवल हृदय की स्निग्धता है, और प्रयत्न करके हृदय की उस स्निग्धता को विस्मृत किया जा सकता है, और चाणक्य का भटका हुआ प्रेम पुनः ठीक मार्ग पर वापस आ सकता है तो सुवासिनी पुनः राक्षस के प्रति अपने हृदय में प्रेम के भावों का उद्गार पाने लगती है। चाणक्य उससे कहता है - " सुवासिनी ! तुम्हारा प्रणय स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ, और शैशव का वह सब केवल हृदय की स्निग्धता थी। आज किसी कारण से राक्षस का प्रणय द्वेष में बदल रहा है, परंतु काल पाकर वह अंकुर हरा-भरा और सफल हो सकता है। < < < तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती हो, क्रमशः उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है। और मैं

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १६१ -

अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूं। यही मेरे लिए अच्छा होगा। मानव हृदय में यह भावसृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का रहस्य है ----"[1]।

सुवासिनी यदि चाणक्य से प्रेम करती है तो वह केवल बौद्धिक आकर्षण है। वास्तविक रूप में उसका प्रेम राक्षस के प्रति है, जब वह राक्षस को प्राप्त कर लेती है तो मानो उसकी साधना सिद्धि के दरवाजे तक पहुंच जाती है। वह इस बात में विश्वास करती है कि प्रेम अंधा होता है, वह कुछ पाना नहीं चाहता, अपितु खोकर ही अपने आपको तृप्त समझता है। प्रेम के बदले बड़ा त्याग किया जा सकता है। यही कारण है कि वह राक्षस को पाने के लिए स्वर्ग तक जाने की कल्पना करती है, और चाणक्य के सर्वस्व समर्पण को भी सहजभाव से स्वीकार कर लेती है।

सुवासिनी के जो उद्गार राक्षस तथा चाणक्य के प्रसंग में प्रकट होते हैं उतने ही महत्त्वपूर्ण उद्गार उसके कार्नेलिया के साथ भी प्रकट होते हैं। विवाहिता स्त्रियों की परिभाषा देते हुए वह कार्नेलिया से जो कुछ कहती है, वह एक भावुक हृदय से निकली हुई ऐसी परिभाषा है जिसे यथार्थवादी जीवन की कसौटी पर भले ही खरा न कहा जा सके किंतु उल्लासमयी स्वच्छंद दुनियां के लिए सुंदर अवश्य कहा जा सकता है। उसमें यथार्थता से दूरी का इस सीमा तक समावेश किया गया है कि वह एक विवाहिता स्त्री को "धनियों के प्रमोद का कटा छटा हुआ शोभावृक्ष", मानती है। शोभावृक्ष को उसी तरह से पनपना पड़ता है, जिस प्रकार माली उसे आकृति देना चाहता है। सुवासिनी की परिभाषा में विवाहिता स्त्री एक ऐसे ही शोभावृक्ष के समान है, जो अपने अस्तित्व में सुंदर होकर भी स्वच्छंद नहीं है, और जिसकी प्रत्येक गतिविधि पर पति का अंकुश लगा हुआ होता है।[2]

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १८१ -
२- "धनियों के प्रमोद का कटा-छटा हुआ शोभावृक्ष। कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गयी। माली के मन से संवरे हुए गोल - मटोल खड़े रहो।" प्रसाद : चंद्रगुप्त, "चतुर्थ अंक" ; पृ० १८८ -

इसी प्रकार सुवासिनी कार्नेलिया को यौवन और प्रेम की परिभाषा समझाती है। जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखने वाले लोग यौवन को मनुष्य के जीवन के प्रबल पुरुषार्थ की अवस्था मानते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रेम एकनिष्ठ नहीं हुआ करता, अपितु विश्वजनीन होता है, और प्रौढ़ प्रेम के अंतर्गत समूचा विश्व आ जाता है, किंतु भावुकता इस यथार्थवादी दृष्टिकोण से बहुत ही भिन्न और अंतर्मुख है। भावुकता यौवन को एक मधुमय उन्माद के रूप में मानती है, जो शाश्वत रूप में विद्यमान नहीं है, अपितु वह जीवन में उसी प्रकार से अपना माधुर्य लेकर घुस आता है जिस प्रकार से किसी उद्यान में मधुमय बसंत के आगमन का सहसा आभास होने लगता है। बसंत की मधुरिमा में कोयल सौंदर्य से मतवाली होकर "कौन - कौन" कहकर कुछ पूछने लगती है, इसी कौन की पुकार में हृदय में जो पुष्प खिलते हैं वे ही प्रेम के पुष्प हैं। प्रेमरूपी पुष्प में आंसू भरी स्मृतियाँ[१] कभी हंसाती हैं, कभी रुलाती हैं, कभी आत्मविभोर कर दिया करती हैं।

कार्नेलिया सुवासिनी के हृदय में तरंगित होने वाले भावुक प्रेम को पहचान लेती है। स्त्री - यौवन और प्रेम इन सबकी एक ऐसी परिभाषा सुनकर वह सुवासिनी के प्रति और भी अनुरागवती हो जाती है जिसमें कि स्वच्छंदतावादी और रोमांटिक प्रेम की झलक है। सुवासिनी प्रेम को हृदय की ऐसी वृत्ति मानती है जिसमें ऐहिक विलास का सुख नहीं, अपितु स्मृतियों का एक भावुक सुख छिपा है जिसमें एक टीस उठती है और विलास और पीड़ा की अद्भुत अनुभूति - यही सब तो प्रेम का वास्तविक संवेदन है। सुवासिनी स्पष्टत: कहती है कि प्रेम का यह अंकुरण प्रत्येक कुमारी के हृदय में हुआ करता है, किंतु कुछ ही ऐसी होती हैं जिन्हें कब उस प्रेमतत्व का मार्मिक अनुभव हुआ करता है, किंतु वह मार्मिक अनुभव ही स्त्री जीवन का वास्तविक सत्य है। हृदय में कामदेव के स्वरों की गुंजार उस प्रेमानुभूति के आधार पर हुआ करती है, और " यही काम-संगीत की तान सौंदर्य

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १८८ -

की रंगीन लहर बनकर, युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"[1] इस प्रकार प्रसाद जी ने प्रेम के सौंदर्यवर्धक दोनों तत्वों, अर्थात् प्रेम और शारीरिक रूप दोनों का समावेश किया है और प्रेम की आधार-शिला में दोनों तत्व निहित माने हैं।

वाजिरा[2] -

वाजिरा को प्रसाद जी ने प्रेममयी किंतु एक मनस्वी बाला के रूप में चित्रित किया है।

एक दार्शनिक की भाँति वाजिरा प्रकृति और विप्लव का विश्लेषण करती है। उसके अनुसार प्राकृतिक जीवन ही भव्य और अनुकरणीय जीवन है। मनुष्य नये साधनों का जितना ही अधिक अन्वेषण करता जाता है, वह उतना ही अधिक प्रकृति से दूर होता जाता है, किंतु प्राकृतिक जीवन से दूर भागकर सत्य का मार्ग छूट जाता है और पथ अज्ञान के अँधेरे में आवृत हो जाता है। अंतरात्मा की सुख शाँति तभी संभव है जब मनुष्य कृत्रिम साधनों को छोड़कर प्राकृतिक जीवन का सहारा ले, छीना झपटी बंद हो, स्वार्थ साधन की प्रतियोगितायें स्थगित की जांय, भाई से भाई का विद्रोह, पुत्र का पिता से विद्रोह, स्त्री का पति से विद्रोह यह सब ऐसा संघर्ष है जो मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है, वह कहती है - " क्या विप्लव हो रहा है। प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिए कितना प्रयास होता है। अंधी जनता अँधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना- झपटी, इतना स्वार्थ - साधन कि सहज - प्राप्य अंतरात्मा की सुख-शाँति को भी लोग खो बैठते हैं। भाई - भाई से लड़ रहा है, पुत्र पिता से विद्रोह कर रहा है, स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं, किंतु शासन करना चाहती हैं।"[3]

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० ८८६।
२- अजातशत्रु नाटक की एक नारी-पात्र।
३- प्रसाद : अजातशत्रु ," तीसरा अंक ", पृ० ८०७ -

मानव जीवन में द्वंद्व बढ़ते जा रहे हैं। शस्त्रों का निरंतर निर्माण मनुष्य को सदैव अमर्ष की ओर ले जाता है। वजिरा अजातशत्रु को बंदीगृह में पड़ा देखकर कहती है - " मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है, और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं। ---- राज मंदिर बंदीगृह में बदल गये हैं। कभी सौहार्द से जिसका आतिथ्य कर सकते थे, उसे बंदी बनाकर रखा है।"[१]

करुणा-प्रेम का सहज उद्रेक -

वाजिरा के अंतःकरण में एक स्त्री की सहज सुकुमारिता और प्रेमानुभूति का सहज उद्रेक है। सुंदर राजकुमार को देखकर वह उस पर मुग्ध हो जाती है, उसे ऐसा आभास होता है मानो वह प्रथम दर्शन में ही अजातशत्रु से प्रेम करने लगी है। वह कहती है - " सुंदर राजकुमार! कितनी सरलता और निर्भीकता इस विशाल भाल पर अंकित है! अहा! जीवन धन्य हो गया है। अन्तःकरण में एक नवीन स्फूर्ति आ गई है। एक नवीन संसार इसमें बन गया है। यही यदि प्रेम है, तो अवश्य स्पृहणीय है, जीवन की सार्थकता है। कितनी सहानुभूति, कितनी कोमलता का आनंद मिलने लगा है।"[२]

वाजिरा अपने आप यह निश्चय कर लेती है कि एक दिन वह अपने पिताजी का पैर पकड़कर प्रार्थना करेगी कि उस बंदी को छोड़ दिया जाय। वह राजकुमार को किसी राष्ट्र का शासक होने के बदले अपने प्रेम के शासन में रखना चाहती है। वह कहती है - " एक दिन पिता जी का पैर पकड़कर प्रार्थना करूंगी कि इस बंदी को छोड़ दो। किसी राष्ट्र का शासक होने के बदले इसे प्रेम के शासन में रहने से मैं प्रसन्न रहूंगी। मनोरम सुकुमार वृत्तियों का छायापूर्ण हृदय में आविर्भाव-तिरोभाव होते देखूंगी और आंख बंद कर लूंगी।"[३]

१- प्रसाद : अजातशत्रु, " तीसरा अंक " ; पृ० १०७ -
२- वही ,, ,, ; पृ० १०७, १०८ -
३- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १०८ -

अजातशत्रु वाजिरा के वासना - विहीन प्रेम से अभिभूत हो जाता है। वाजिरा भी क्षण - भर के लिए विद्रोहिणी बन जाती है। प्रेम की निःस्वार्थ अनुभूति उसे कृत्रिम राजकीय बंधनों को तोड़ देने को उकसाती है। बंदीगृह का जँगला खोलकर वह कहती है -

" अब तुम जा सकते हो। पिता की सारी भिड़कियाँ मैं सुन लूँगी। उनका समस्त क्रोध मैं अपने पर वहन करूँगी। राजकुमार, अब तुम मुक्त हो, जाओ! "[१]

वाजिरा निःसंकोच भाव से कारायण के समक्ष स्वीकार करती है कि मैं बंदी के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुकी हूं। वह बंदी की इस महानता को स्वीकार करती है कि बंदीगृह से खोल दिये जाने के बाद भी न तो वह भागा और न उसने भागने की कोई चेष्टा ही की। यहाँ प्रसाद ने पुरुष को इस रूप में चित्रित किया है, जहाँ कि वह अपनी जंगली वृत्ति के अनुरोध को छोड़कर पवित्र और शान्त होकर दिखाई पड़ता है।

प्रसाद प्रेम के कोमल सरल एवं भावुक पक्ष के समर्थक थे। उन्हें यह भी आदर्श स्वीकार्य था कि प्रेम हृदय के भीतर उत्पन्न होकर हृदय को कोमल भावनाओं से सुवासित करता रहे, किंतु उसकी कोई प्रकट उपलब्धि जीवन में साकार होकर सामने न आवे। वाजिरा उनकी इसी भावाकुल प्रणयधारा से उत्पन्न एक नारी-पात्र है। यद्यपि वाजिरा के प्रणय समर्पण को आलोचनात्मक ढँग से उसका एक क्षणिक और भावुक समर्पण कहा जा सकता है, या असफल तथा निराशाजन्य प्रेम की संज्ञा भी जा सकती है, किंतु प्रसाद जी की प्रणयधारणा इस आलोचना से अपने को संकुचित नहीं पाती। सच्चा प्रेम कुछ प्राप्त करना नहीं चाहता। प्रेम तो एक अनुभूति ही है, जो प्रेमी को जीवन-पर्यन्त आत्मविभोर बना देने के लिए पर्याप्त है। इस अनुभूति की गहराई में क्या पाना और क्या खोना? वाजिरा प्रसाद द्वारा समर्थित ऐसे ही भावप्रवण और हृदय-सिक्त भावाकुल प्रेम का प्रतिनिधित्व करती है।

१- प्रसाद : अजातशत्रु, " तीसरा अंक " ; पृ० १०६ -

कोमा[१]

कोमा आचार्य मिहिरदेव की प्रतिपालिता कन्या है। वह यौवन के स्पर्श से कुसुम कलिका की भाँति कोमल भावनाओं से ओतप्रोत है। पौधों को देखते हुए वह कहती है - " इन्हें सींचना पड़ता है, नहीं तो इनकी रुखाई और मलिनता सौंदर्य पर आवरण डाल देती है। (देखकर) आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नहीं हैं। इनमें फूल जैसे मुकुलित होकर ही रह गये हैं ------ सब जैसे रस के प्यासे। प्राण लेने और देने में पागल। वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है।"[२] कोमा की आँखों में प्रणय का तीव्र आलोक है वह मानती है कि - " प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझकर चलना, दोनों बराबर है।"[३]

प्रेमपूर्ण भावुकता कोमा के चरित्र की सबसे बड़ी विभूति है। उसकी भावुकता में दार्शनिकता का योग है। वह मानती है कि " मानव शक्ति से परे एक महाशक्ति है।"[४] अभावमयी लघुता के बीच मनुष्य जो अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करता है कोमा को अच्छा नहीं लगता। वह शकराज को समझाने का प्रयत्न करती है, किंतु शकराज इस शिक्षा से चिढ़ जाता है।

कोमा ने शकराज की " स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों "[५] पर उसने आत्मसमर्पण तो अवश्य कर दिया है, फिर भी प्रेम में सर्वथा मतवाली और अंधी नहीं हुई है। प्रेम की भावाकुलता में भी उसकी विवेक बुद्धि सजग है। इसी बल पर वह शकराज के राजनीतिक प्रतिशोध का स्पष्ट विरोध

१- "ध्रुवस्वामिनी " नाटक की एक नारी-पात्र -

२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ३० -

३- वही ,, ; पृ० ३० -

४- वही ,, ; पृ० ४३ -

५- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी , " द्वितीय अंक " ;पृ० ४३ -

करती है। वह अपने ही समान एक कुलीन नारी का ऐसा पाशविक अपमान वह नहीं सहन कर सकती। उसमें प्रेम के तरलभावों के साथ ही सहानुभूति और उदारता के भाव भी विद्यमान हैं।

यही स्थल कोमा के व्यक्तित्व का चरम् उत्कर्ष है। उसके जीवन में विवेक और मोह का कठोर संघर्ष उठ खड़ा होता है। मिहिरदेव इस मोहबंधन को तोड़कर मुक्त होने का आदेश देता है। इस पर कोमा व्यथित हो कह उठती है - " तोड़ डालूं पिता जी ! मैंने जिसे अपने आंसुओं से सींचा, वही दुलारभरी वल्लरी, मेरे आंख बंद कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूं एक झटका - उसकी हरी - हरी पत्तियां कुचल जायं और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे ? न, ऐसी कठोर आज्ञा न दो ! "[1]

शकराज के वध के उपरांत पुन: उसके स्त्रीत्व का शाश्वत रूप प्रकट होता है। शव का शव मांगने के लिए वह जिस विश्वास और दैन्य के साथ ध्रुवदेवी के पास जाती है, वह उसके कोमल व्यक्तित्व की दृढ़ता और विशालता का प्रतीक है। इस स्थल पर संपूर्ण दार्शनिकता को पराजित करता हुआ उसका अखंड नारीत्व जागता दिखाई पड़ता है। उसकी भावुकता मानो उसके हृदय पर विजय प्राप्त करती हुई बोल उठती है - " ---- किंतु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय- हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिये। "[2]

भारतीय नारी का यह आदर्श उसे शकराज से विलग नहीं होने देता। प्रेम के नाम पर घोर यंत्रणा सहने के उपरांत भी वह शकराज से संबंध तोड़ नहीं सकती।

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ३५ -

२- वही ,, ; पृ० ६५।

कल्याणी[1]

जयशंकर प्रसाद ने मगध की राजकुमारी कल्याणी के रूप में भी एक भावुक, कोमलहृदया प्रणयिनी का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। कल्याणी चंद्रगुप्त को प्यार करती है, किंतु अपने सच्चे प्यार का आभास तक उसे नहीं होने देती। " उसके जीवन का स्वप्न था दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र- विलास-सी चंद्रगुप्त की छवि को प्राप्त करना। परंतु जब वह उसे प्राप्त नहीं कर सकी, तो पर्वतेश्वर से अपमानित इस सती ने पहले अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए, उसके संकटकाल में वीरवेश धारणकर उसकी सहायता की, चारों ओर यवन-सेना से घिरे पर्वतेश्वर का उद्धार किया और कुछ समय बाद अपने सतीत्व की रक्षा के लिए पर्वतेश्वर को मारकर स्वयं आत्माहुति की ओर अग्रसर हो गई।[2]

कल्याणी एक सरल एवं उत्सर्गमयी प्रेमिका है। वह कोमल, भावुक और प्रेम की वेदी पर बलिदान हो जाने वाली एक रमणी है। वह प्रणय के उदात्त स्वरूप की रक्षा के लिए अपनी समस्त सुख, आशा तथा आकांक्षा का होम कर देती है।

चंद्रगुप्त के प्रति उसका अपार प्रेम तब स्पष्ट होता है जब पर्वतेश्वर उसके कौमार्य को अपमानित करने आता है। पशु के समान विलासी पर्वतेश्वर उस पर बलात्कार करने की चेष्टा करता है। उसका भावुक प्रेम उसे हत्या करने के लिए विवश कर देता है। उसका प्रबल नारीत्व हुंकार कर उठता है : " यह भी होना था। चंद्रगुप्त। यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था - मुझे भ्रष्ट करके अपनी संगिनी बनाकर पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परंतु मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को - वह था चंद्रगुप्त।"[3]

प्रसाद जी ने कल्याणी के चरित्र में नारी की कुंठाओं और वर्जनाओं

१- चंद्रगुप्त नाटक की एक नारी - पात्र -

२- डा० शांतिस्वरूप गुप्त : हिंदी साहित्य : प्रकीर्ण विचार, पृ० ७८ -

३- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १४० -

का सफल निर्वाह किया है। नारी स्वयं को जिस पुरुष के लिए समर्पण करने की इच्छुक है, वह उसे माँगने पर भी नहीं मिल पाता। यह सामाजिक कुंठाएं हैं, जो उसे ऐसा नहीं करने देती। यह नारी पात्र जयशंकर प्रसाद का द्विधात्मक प्रकृति का है। एक ओर चंद्रगुप्त उसके पिता का विरोधी है, दूसरी ओर उसने प्रणय किया है, केवल एक पुरुष से। इसी विरोधात्मक प्रकृति के बीच वह झूलती रहती है, कुछ भी निश्चय नहीं कर पाती।

ईला[1] -

ईला भावुकता से ओत-प्रोत प्रसाद जी की एक प्रेममयी नारी-पात्र है। ईला के माध्यम से प्रसाद जी ने नारी के प्रेम, एकांत समर्पणभाव और दुखांत कथा प्रस्तुत की है।

वह रामेश्वर से प्रेम करती है। यद्यपि रामेश्वर बार- बार यही कहता है - ' घर में मेरी स्त्री है, तीन - तीन बच्चे हैं, उन सबों के लिए मुझे ---- काम करना पड़ता है ------ तुम स्वतंत्र वन-विहंगिनी और मैं एक हिन्दू गृहस्थ; अनेकों रुकावटें, बीसों बन्धन। सब असंभव है। तुम भूल जाओ जो स्वप्न तुम देख रही हो ---- तुमको खरीदना अपने को बेचना है। इसीलिए मुझसे प्रेम करने की भूल तुम मत करो।'[2] सब कुछ जानते हुए भी उसका प्रेम रामेश्वर को विस्मृत नहीं कर पाता। श्री नाथ से यह सुनकर कि रामेश्वर उसे प्यार करता है, उसकी आँखों में स्वर्ग हँसने लगता है। वह जैसे अर्द्धशयनावस्था में कोई स्वप्न देखकर मुस्करा रही हो।

कुछ दिनों पश्चात् श्री नाथ उस गोपनीय रहस्य को ईला को बता देता है। यह ज्ञात होने पर कि रामेश्वर उसे प्यार नहीं करता, ईला की प्रतिहिंसा जागृत हो जाती है। वह आँधी से भी अधिक वेगवती और भयानक हो जाती

१- आँधी कहानी संग्रह -
२- प्रसाद : आँधी ; पृ० १३ -

है " वही जो तेज हवा चलती है, जिसमें बिजली चमकती है, बरफ गिरती है, जो बड़े - बड़े पेड़ों को तोड़ डालती है। ---- हम लोगों के घरों को उड़ा ले जाती है।"[1] इस प्रकार वह अपनी कुटी की तरफ देखती हुई, दांत पीसती रह जाती है। क्षण में ही उसकी यह प्रतिहिंसा सहानुभूति का रूप ले लेती है। यहीं से उसका प्रेम आत्मत्याग और बलिदान की भावना से युक्त हो जाता है।

कलेजे पर पत्थर रखकर उसका हृदय पुन: एक बार अपने प्रिय से मिलने के लिए आतुर हो जाता है। रामेश्वर को अपने प्रति इतना निष्ठुर जानते हुए भी वह मिलती है, किन्तु कोई अनिष्ट की भावना से प्रेरित होकर नहीं। वरन् इससे वह अपनी विशाल हृदयता का परिचय देती है। यद्यपि उसके हृदय की वेदना, उसके अंतरतम में समायी हुई है, किन्तु फिर भी प्रिय से मिलने के लिए उसमें अपूर्व क्षमता है। उसका यही धैर्य और साहस उस समय और अधिक व्यापक रूप ले लेता है जब वह जानते हुए भी कि रामेश्वर उससे प्यार नहीं करता, अपनी मूंगे की माला तथा बहुमूल्य बारयारी उसे समर्पित करती है। उसका आंतरिक प्रेम उसे विक्षिप्त सा बना देता है। इस प्रकार वह वेदना के अपूर्व सागर को अपने अंतस् में ही संजाये हुए वापस चली जाती है। उसका भावुक प्रेम अधिक उज्ज्वल और भावपूर्ण बनकर अधिक संवेदनापूर्ण बन जाता है। प्रसाद जी ने प्रशासारथि के शब्दों में लैला के अगाध संयम के संबंध में कहलवाया है -

" ----- आज लैला का वह मन का संयम क्या किसी महानदी की प्रखर धारा के अचल बांध से कम था -----"[2]

लैला की सरल और स्वछंद भावुक प्रवृत्ति को लक्ष्य करते हुए डा० हरदेव बाहरी ने भी अपने साहित्य-कोष में लिखा है - " सरल, स्वतंत्र और साहसिकता से भरी रमणी। उसकी सुरमीली आंखों में नशा है। वह अबाध गति से बहने वाली एक निर्झरिणी है। पश्चिम के सरोंटे से भरी हुई वायुतरंग माला है। प्रेम की वेदी पर वह अपना सर्वस्व, अपना जीवन, धन तक उत्सर्ग कर देती है।"[3]

१- प्रसाद : आंधी ; पृ० ३१ -
२- वही ,, ; पृ० ३० ।
३-डा० हरदेव बाहरी : प्रसाद साहित्य कोष ; पृ० ३५७ -

प्रौढ़ प्रेममयी नारी

नारी सृष्टि-कर्ता के हाथों की एक ऐसी विविधतामयी कृति है जो स्वयं सृष्टि का संदेश लेकर अवतरित हुई है। वह प्रेरणा भी है, शक्ति भी है, और जागरण की अग्रदूत भी है। कहीं वह माँ बनकर जीवन प्रदान करती है, तो कहीं बहन बनकर भावाकुलता का सृजन करती है। कहीं वह सहचरी बनकर जीवन का पाथेय संकलित करती है तो कहीं प्राण-दायिनी शक्ति बनकर उद्बोधन का स्वर गुंजरित करती है। कहीं वह सुहृद बनकर सहृदय की तरह गंगा प्रवाहित करती है, तो कहीं पुत्री बनकर हृदय को वात्सल्य के रंगों से रंजित कर दिया करती है। नारी के ये अनेक रूप प्रसाद साहित्य में बिखरे पड़े हैं। यहाँ हम उसके प्रौढ़ प्रेममय व्यक्तित्व की विवेचना करेंगे। जो कि रीतिकालीन प्रौढ़ा से सर्वथा भिन्न है। अर्थात् उसके लिए पत्नीत्व कोई अनिवार्य शर्त नहीं है।

श्रद्धा -

कामायनी की श्रद्धा प्रौढ़ प्रेम के लिए एक उत्कृष्टतम् उदाहरण है। श्रद्धा मनु के जीवन में मधुऋतु[1] का सा गुंजार लेकर आती है और जीवन का नूतन संगीत सुनाती है। उसका मनु के जीवन में आना ऐसा ही हुआ है, जैसे घोर तिमिर के बीच अरुण का स्वच्छ विकास हुआ हो। निराशाओं के मायाजाल में पड़े हुए मनु को वह समर्पण, त्याग, ममता, दया, माया, मधुरिमा, विश्वास आदि सभी कुछ समर्पित करती है और मनु को संसृति के मूल रहस्य के

१- प्रसाद ; कामायनी " श्रद्धा " ; पृ० ४६-

रूप में विकसित होने की चुनौती देती है।[१]

श्रद्धा की परिभाषा करते हुए काम ने मनु से स्पष्टत: कहा है कि तुम्हारे सामने सृष्टि की जो नई लीला विकसित हो रही है, उसकी मूल शक्ति प्रेम कला है। उसी प्रेम कला का एक पावन संदेश कहने के लिए श्रद्धा ने जन्म लिया है। यथा -

यह लीला जिसकी विकस चली
  वह मूल शक्ति थी प्रेम - कला ;
उसका संदेश सुनाने को
  संसृति में आई वह अमला।[२]

प्रेम उसकी व्यक्तिगत अनुभूति मात्र नहीं है। उसके आनंद और वेदना का विषय मात्र नहीं है, वरन् उसमें रचना करने की शक्ति निहित है, वह दूसरों को कुछ देने का संबल लेकर चलती है।

प्रेम की यह अमला मूर्ति एक निश्चित संदेश लेकर अवतरित हुई है। जीवन के समग्र अवसादों को वह दूर करती ; जड़ और चेतन के बीच बंधी हुई गांठ को वह खोलती, जीवन की तपन के बीच शीतलता का संचार करती और उष्णा

१- दया, माया, ममता लो आज,
  मधुरिमा लो अगाध विश्वास ;
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ
  तुम्हारे लिए खुला है पास।
बनो संसृति के मूल रहस्य
  तुम्हीं से फैलेगी वह बेल ;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
  सुमन के खेलो सुन्दर खेल।
प्रसाद : कामायनी "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ५७ -

२- प्रसाद : कामायनी, "काम" ; पृ० ८६ -

द्वंद्वात्मक विचारों के बीच वह एक शांति की सरिता प्रवाहित करती है -

> जड़ - चेतनता की गाँठ वही
>
> सुलझन है भूल - सुधारों की ।
>
> वह शीतलता है शांतिमयी
>
> जीवन के उष्ण विचारों की ।[१]

प्रसाद के नारी पात्रों को इस प्रस्तुत वर्ग में लेकर विश्लेषण करेंगे ।

श्रद्धा मनु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करती है । यह समर्पण कामजनित किसी ऐन्द्रिक लालसा से नहीं है । नारी के हृदय में अनुराग के पवित्र पुष्पों का खिलना उसकी नारी अमित शोभा की बात है । मनु के साहचर्य में श्रद्धा उस स्वच्छंद आह्लाद का अनुभव करती है जो किसी उच्छृंखल वासना का प्रतिफल नहीं, अपितु जीवन के निश्छल कर्तव्यराग का द्योतक है । मानो किसी स्वप्नपथ पर स्नेह और संबल का साथ हो गया हो -

> " सृष्टि हंसने लगी आँखों में खिला अनुराग ;
>
> राग - रंजित चंद्रिका थी , उड़ा सुमन-पराग
>
> और हंसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ
>
> चले दोनों , स्वप्न-पथ में , स्नेह-संबल साथ ।"[२]

साहचर्य के इस संवेदनशील क्षणों में मनु कुछ भावातुर होकर श्रद्धा के बाह्य सौंदर्य की ओर आतुर होकर देखने लगते हैं । वे कहते हैं, -" हे अतिथि ! तुम्हें कितनी ही बार देखा है , किंतु आज कुछ विचित्र सी बात है कि छवि के भार से कितने दबे हुए तुम आज दिखाई पड़ रहे हो , मैंने वैसा कभी देखा नहीं । मुझे आज न जाने क्यों तुम्हारी इस छवि को देखकर देवों की सृष्टि के वे अतीत और मधुर चित्र याद आने लगे हैं , क्योंकि मंदिर मन में वासना के गीत गूंजते रहते

१- प्रसाद : कामायनी " काम " ; पृ०७७ -

२- वही ,, " वासना " ; पृ० ८८ -

थ।[१]

श्रद्धा का मन इस स्तुति से विचलित नहीं होता। प्रिय द्वारा प्राप्त प्रशंसा के आसव में वह डूबने उतराने नहीं लगती। वह बहुत ही शांत शब्दों में कहती है -

" यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभयुत उन्माद,
सखे! तुमुल तरंग-सा उच्छ्वासमय संवाद।
मत कहो, पूछो न कुछ, देखो न कैसी मौन;
विमल राका मूर्ति बनकर स्तब्ध बैठा कौन![२] .

समर्पण के उन्मादपूर्ण क्षणों में श्रद्धा मन और तन दोनों से मनु की हो जाती है। दोनों रसमग्नता की स्थिति में तदाकार हो जाते हैं, किंतु इस भावुक क्षण में भी श्रद्धा में किसी कोने से वासना के भाव अंकुरित नहीं होते। यह समर्पण वास्तव में दया, माया, ममता और विश्वास का ही समर्पण है। कृतज्ञता पूर्ण शब्दों में वह मनु से पूछती है - " हे देव आज का यह समर्पण क्या हम दोनों का युग-युग तक का एक चिरबंध बन जायेगा? क्या नारी हृदय के लिए यह चिरबंध युग-युग तक एक अवलंब दे सकेगा? देव! इस महानतम दान को क्या मैं एक दुर्बल नारी संभाल सकूँगी? प्रेम के इस पावनतम दान का उपभोग करने में मेरे प्राण आज इतने विकल क्यों हो रहे हैं?[३] "

१- प्रसाद : कामायनी " वासना " ; पृ० ८६ -

२- ,, ,, ,, ; पृ० ६१ -

३- " क्या समर्पण आज का है देव!
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान!
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हो प्राण? "

प्रसाद : कामायनी " वासना " ; पृ० ६४ -

अनुराग के इस वृत्तांत का पूर्ण परिपाक उस समय होता है, जब श्रद्धा में मातृत्व का संभार विकसित होने लगता है। एक ओर अपने ही रक्त में पनपने वाले नव-शिशु के प्रति नवीन ममता का विकास और दूसरी ओर प्रिय का उसकी ओर से विरक्ति का भाव। इसी उलझन में वह एक नीड़ बना लेती है, किंतु मनु का मन उस नीड़ में प्रफुल्लित नहीं होता। वह अपने प्रेमाधिकार को बंटा हुआ देखकर बहुत ही अधीर हो उठता है। श्रद्धा कहती रह जाती है, " मैंने तो एक बनाया है, चलकर देखो मेरा कुटीर।"[1] किंतु मनु वहाँ से भाग निकलते हैं और श्रद्धा व्याकुल होकर कहती रह जाती है, " रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही।"[2]

प्रसूतावस्था में निष्ठुर रूप में छोड़कर जाने वाले उस सुखाभिलाषी मनु के प्रति श्रद्धा के मन में कभी भी वितृष्णा नहीं जागृत होती। बच्चे (मानव) को वह इसी आशा में पाल पोसकर बड़ा बनाती है कि प्रिय लौटकर आयेगा और वह अपनी यह अकिंचन भेंट उसके चरणों में समर्पित कर देगी। किंतु स्वप्न में वह मनु के ऊपर आने वाले भीषण संघात को देखकर मनु की रक्षा के लिए ठीक उस प्रकार निकल पड़ती है मानो सिंहनी अपने भटके हुए शावक को आश्रय देने के लिए कूद पड़ी हो। घोर अवसाद के क्षणों में वह पुन: मनु से आकर मिलती है। एक बार फिर श्रद्धा का अवलंब पाकर मनु का हृदय कृतज्ञता से भर आता है, आतुर होकर मनु कहते हैं :- " श्रद्धे! मुझे यहाँ से कहीं दूर ले चल। अंधकार से भरे हुए इस भयावह वातावरण में मुझे भय है कि तुम्हें फिर न कहीं खो दूं।"[3]

१- प्रसाद : कामायनी " ईर्ष्या " ; पृ०१५३ -

२- वही ,, ,, ; पृ० १५५ -

३- आँख बन्द कर लिया क्षोभ से,
  "दूर-दूर " ले चल मुझको,
 इस भयावने अंधकार में
  खो दूं कहीं न फिर तुझको।

 प्रसाद : कामायनी " निर्वेद " ; पृ० २१८ -

श्रद्धा का दृढ़ प्रेम इस द्वंद्वात्मक परिस्थिति में भी विचलित नहीं होता और वह प्रौढ़ ममतामयी नारी के रूप में कहती है -

" तुम मेरे हो, अब क्यों कोई व्यथा हो ? "[1]

इस प्रकार प्रसाद ने कामायनी की श्रद्धा में एक ऐसी प्रौढ़ प्रेममयी नारी को चित्रित किया है, जिसमें जीवन की समूची साध एक साथ ही समा गयी है।

देवसेना -[2]

स्कंदगुप्त नाटक की देवसेना प्रेम की प्रतिष्ठापना में एक आदर्शमयी नारी है। स्कंद के प्रति उसका प्रेम अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ है। उसे अपने प्रेम पर विश्वास है, अपने प्रणयी पर भरोसा भी है। प्रिय की आदर्श-मूर्ति जो उसके अंदर समायी हुई है, वह अत्यंत ही महान् है। विजया से वह कहती है - " परंतु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल - किंतु कोमल - स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।"[3] देवसेना के पुनः विजया के चंचल मन को किसी की ओर आकर्षित होने की बात पूछने पर विजया कहती है - " हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ।"[4] यह कथन भी देवसेना के मन को सहसा विचलित नहीं कर देता, वह तो विजया को उस स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए और अधिक उत्साहित करती रहती है। कितना महान् है देवसेना का यह त्यागपूर्ण प्रेम! जो अपने हृदय की अभिलाषित वस्तु पर दूसरे का अधिकार होते देखकर भी ईर्ष्या से भर नहीं जाती! वरन् उसे समय - समय पर एक सखी के नाते उस प्रेम के अनुसरण की प्रेरणा दिया करती है। उसकी " हारी होड़ में भी उसकी विजय है, वेदना तो उसको प्रिय है,

----

१- प्रसाद : कामायनी " निर्वेद " ; पृ० २१८ -

२- स्कंदगुप्त की नारी पात्र -

३- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " द्वितीय अंक " ; पृ० ५५ -

४- वही ,, ,, ,, ; पृ० ५६ -

दाशणिक सुखों से वह दूर है।"[1] स्कंदगुप्त स्वयं उसकी विजय स्वीकार करता है।

देवसेना का प्रेम दृढ़ आधार पर टिका हुआ है। वह एक प्रौढ़ प्रेममयी नारी के रूप में अपने को प्रकट करती है। उसकी दृष्टि में प्रेम कोई क्रय करने की वस्तु नहीं हुआ करती, वह तो हृदय की आंतरिक अनुभूति होती है, जो स्वत: ही उत्पन्न हो जाती है। विजया को अपने ऐश्वर्य का दंभ है। विजया पर व्यंग्य करती हुई देवसेना कहती है कि - " धनवानों के हाथ में माप एक है; वह विद्या, सौंदर्य, बल, पवित्रता और तो क्या, हृदय भी उसी से मापते हैं। वह माप है - उनका ऐश्वर्य।"[2] किंतु देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं खरीदना चाहती, उसका आत्मसम्मान उसे उसकी मान-मर्यादा से नहीं डिगने देता।

प्रेम के परिपाक के साथ ही अपने कर्तव्य का निर्वाह करने की एक दृढ़ता भी उसके व्यक्तित्व में विद्यमान है, जो कि उसे उसके आदर्श से नहीं गिरने देती। देवसेना अपने हृदय की प्रेमर्जानत उन कोमल कल्पनाओं को भुलाने का प्रयत्न करती है। वह कहती है - " हृदय की कोमल कल्पना! सो जा! जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा - सबसे मैं विदा लेती हूं।"[3] कितनी श्रेष्ठ उसकी यह विरक्ति भावना है, जो उसके व्यक्तित्व को अंत में और अधिक महान् बना देती है।

मालविका -[4]

मालविका का व्यक्तित्व अत्यंत संवेदनशील एवं आकर्षकरूप में हमारे संमुख आया है। वह चंद्रगुप्त से प्रेम करती है। उसका यह प्रणय व्यापार उसके

१- सतीशबहादुर वर्मा : जयशंकर प्रसाद नाट्यशिल्प और कृतियों का मूल्यांकन; पृ० १५२

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त " द्वितीय अंक " ; पृ० ५८ -

३- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " पंचम अंक " ; पृ० १५७ -

४- चंद्रगुप्त की नारीपात्र -

अपने ही भीतर पलता रहता है, और प्रकट होकर उद्घोष नहीं करने लगता। चंद्रगुप्त भी उससे प्रेम करता है, वह मालविका को अपना आत्मीय मानकर उससे अपने हृदय की निराशामूलक एवं क्षुब्ध भावनायें प्रकट कर देता है - " मैं सबसे विभिन्न, एक भय प्रदर्शन- सा बन गया हूं। कोई मेरा अन्तरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट् कहकर पुकारती हो।"[1]

मालविका अपने अन्तस्तल के प्रेमजनित विराग को अपने गीतों के माध्यम से व्यक्त करती है। वह जानती है कि भारतीय साम्राज्य के निरापद करने की समस्या का हल सिल्यूकस कन्या कार्नेलिया से चंद्रगुप्त के परिणय द्वारा ही हो सकता है। यही कारण है प्रसाद ने मालविका को एक निर्लिप्त प्रेम से युक्त प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है। निरीह कुसुमों के माध्यम से वह अपने विचार व्यक्त करती हुई कहती है कि भौंरे पुष्पों के रस का पान करते हैं तो इसमें पुष्पों का कोई दोष नहीं है, क्योंकि पुष्पों का काम तो अपने सौरभ को बिखेरना है, यह उसका मुक्तदान है। " ---- निरीह कुसुमों पर दोषारोपण क्यों ? उनका काम है सौरभ बिखेरना, यह उनका मुक्तदान है। उसे चाहे भ्रमर ले या पवन।"[2]

मालविका अपने जीवन के चरमोत्कर्ष की स्थिति में एक निःस्वार्थ प्रेम का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती है, और अपने प्रेमी (चंद्रगुप्त) के जीवन की रक्षा के निमित्त चंद्रगुप्त के स्थान पर स्वयं चंद्रगुप्त की शैय्या पर सोने का उपक्रम करती है। प्रेम में आत्मबलिदान करना ही उसने अपने जीवन का परमलक्ष्य मान लिया है। प्रेम का वस्तुतः आदर्शात्मक रूप संयोग- सुख की प्राप्ति नहीं, अपितु वियोग जनित त्याग में ही निखरकर सामने आता है। मालविका प्रेम के इस त्यागपरता का सर्वांगपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह कहती है - " जाओ

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त " चतुर्थ अंक " ; पृ० १६७-

२- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १६७ -

प्रियतम ! सुखी जीवन बिताने के लिए, और मैं रहती हूं चिर-दुखी जीवन का अंत करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है, और मरण है उसका अटल उत्तर।"[1] वह घटनाओं की विभीषिका से अपने प्रिय को बचाने के उद्देश्य से उसकी शय्या पर सो जाती है और परिणाम वही होता है जिसकी कल्पना उसने की थी। मृत्यु के पश्चात् चंद्रगुप्त के हृदय की वेदना " आह मालविका " कहकर रह जाती है। मालविका के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि व्यक्त करता हुआ वह कहता है -

" पिता गये, - गुरुदेव गये, कंधे से कंधा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर सहचर सिंहरण गया ! तो भी चंद्रगुप्त को रहना पड़ेगा, और रहेगा ; परंतु मालविका ! आह, वह स्वर्गीय कुसुम !"[2]

राज्यश्री[3]

राज्यश्री में भी हम एक प्रौढ़ प्रेममयी नारी का दर्शन करते हैं। प्रसाद जी ने इतिहास की राज्यश्री में एक नवीन प्राण प्रतिष्ठा की है। प्रथमतः वह एक आदर्श हिन्दू पत्नी के रूप में सामने आती है। वह सधवा अवस्था में जितनी महान् है, वैधव्यावस्था में भी उसकी महानता उसी मर्यादा तक व्यक्त हुई है। दोनों अवस्थाओं में राज्यश्री का चरित्र अपने में पूर्ण और हिमालय की तरह अडिग बना रहता है।

नाटक में राज्यश्री के व्यक्तित्व का विकास सर्वप्रथम दांपत्य सुख के वातावरण में हुआ है। उसका पति गृहवर्मा चिंतित है। वह कहता है - " ---- मेरा चित्त आज न जाने क्यों उदासीन हो रहा है ---- अनेक भावनायें हृदय में उठ रही हैं, जो निर्मूल होने पर भी उसे उद्विग्न कर रही हैं।"[4] राज्यश्री परिस्थितियों की विडंबनाओं को जानती हुई भी एक वीर-बाला की भाँति कहती है -" वीर पुरुषों को ---- क्या मानसिक व्याधियां हिला या गला सकती हैं।"[5]

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त, " चतुर्थ-अंक " ; पृ० १९६ -
२- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १७२ -
३- राज्यश्री नाटक की नारी-पात्र -
४- प्रसाद : राज्यश्री " प्रथम अंक " ; पृ० १४ -
५- वही ,, ,, ; पृ० १४ -

राज्यश्री एक प्रौढ़ प्रेममयी नारी है, प्रेम ने उसे चिर-वियोग की आग में तपाकर कुंदन कर दिया और अब उस पर किसी अन्य छाया का प्रभाव नहीं पड़ सकता। वह एक ऐसे कगार पर खड़ी है, जहां एक ओर तो कठोर वैधव्य का अनवरत हाहाकार कर रहा है और दूसरी ओर उसके व्यक्तित्व की सरस सलिला जीवन का संचार करती हुई बह रही है। उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी अद्भुत सरलता है कि यदि किसी ने उसकी ओर कामुक दृष्टि से भी देखा है तो उसकी कामुकता आत्मग्लानि के गह्वर में प्रत्यावर्तित हो गयी है। उदाहरण के लिए देवगुप्त उसके अनुपम सौंदर्य पर कामुक दृष्टि से आसक्त है। वह उसे " सुंदरी " कहकर, ऐंद्रिक लालसाओं की तृप्ति के उद्देश्य से प्राप्त करना चाहता है। वह देवगुप्त को फटकार देती है। इतना ही नहीं लोलुप दृष्टि से देखने वाले शांतिदेव के समक्ष लज्जा अथवा भावातिरेक में वह डूब नहीं जाती, न ही क्षोभ अथवा रोष के विकंप में उतावली सी हो जाती है। उसे इस बात का ज्ञान है कि वह रूपवती है और युवा है, उसे यह भी विदित है कि काषाय धारण करके प्रत्येक भिक्षु के हृदय में पूर्ण सात्विकता का होना आवश्यक नहीं है, यही कारण है कि जब वह भिक्षु शांतिदेव को अपनी ओर टकटकी लगाए हुए देखती है तो विचलित नहीं हो जाती। वह मृदु और निर्णायक शब्दों में शांतिदेव को उपदेश करती है - " हां तुम! भिक्षु! तुम्हें शील संपदा नहीं मिली, जो सर्वप्रथम मिलनी चाहिए।"[1] राज्यश्री के ऊपर यदि किसी का प्रभाव पड़ सकता है, तो है भगवान बुद्ध की असीम करुणा, दया, सहानुभूति और शांति का।

पद्मावती[2] -

पद्मावती एक पति-परायणा और प्रौढ़ प्रेममयी नारी है, अपने पति में प्राण-पण से अनुराग होते हुए भी सात्विक भाव से वह भगवान् बुद्ध के प्रति आस्थावान है। इससे उसके पति, उदयन, को उसके चरित्र पर आशंका हो जाती है। इस आशंका की शिकार होते हुए भी न तो वह अपने पति की ओर से

१- प्रसाद : राज्यश्री " प्रथम अंक " ; पृ० २१ -
२- अजातशत्रु नाटक के नारी पात्र -

विलुब्ध होती है, और न भगवान् बुद्ध के प्रति ही उसका अनुराग कम होता है। भगवान् बुद्ध के प्रस्थान पर, वह उनके पुण्यमय दर्शन की कामना से आती है। सदैव भरे शब्दों में उसका पति उसे प्रताड़ित करता है - " पापीयसी, देख ले, यह तेरे हृदय का विष - तेरी वासना का निष्कर्ष आ रहा है।"[1]

पद्मावती एक सती और पति में सच्चे अनुराग से युक्त है। वह उदयन का प्रतिकार नहीं करती। उदयन के प्रति उसके हृदय में असीम ममत्व और प्रेम है। उसका पति के प्रति यह समर्पण भाव बड़े ही विनीत शब्दों में प्रकट होता है - " प्रभु! स्वामी! क्षमा हो! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं है, किंतु अमृत है। नाथ! जिसके रूप पर आपकी भी असीम भक्ति है, - शान्ति के सहचर, करुणा के स्वामी - उन बुद्ध को, मांसपिंडों की कभी आवश्यकता नहीं।"[2]

वह अपने स्वामी के कर कमलों से मिले दंड को अपने लिए सौभाग्य समझती है - " मेरे नाथ! इसजन्म के सर्वस्व! और परजन्म के स्वर्ग! तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो, जब तुम्हीं समक्ष हो तो प्रार्थना किसकी करूं? मैं प्रस्तुत हूं।"[3]

पद्मावती की यह आदर्शात्मक पतिपरायणता उसे हिन्दू गृहिणी के प्रौढ़तम पतिप्रेम की कोटि में उपस्थित कर देती है। वह प्रेममयी होने के साथ ही साथ आस्थामयी भी है, और चारित्रिक क्षेत्र में वह उदयन के प्रति जितनी निष्ठावान है, धार्मिक क्षेत्र में उतनी ही निष्ठावान वह भगवान् बुद्ध के प्रति भी है। वह प्रेम को हृदय की पवित्र वृत्ति मानती है। उदयन जब भगवान् बुद्ध के प्रति उसकी आस्था को शंका की दृष्टि से देखता है, तब वह पति की शंका का कारण समझ जाती है और स्पष्टत: कहती है कि भगवान् बुद्ध को मांसपिंड की आवश्यकता नहीं, अर्थात् वह प्रकारांतर से अपने पति को यह बतला देना चाहती है कि, पति

१- प्रसाद : राज्यश्री, ' प्रथम अंक ' ; पृ० ५६ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ५६ -
३- वही ,, ,, ; पृ० ५७ -

ने प्रेम की पूर्ति हड्डी और मांस के बने शरीर में माना है, जब कि भगवान् बुद्ध इन एषणाओं से सर्वथा निर्लिप्त हैं। अस्तु उनके प्रति यदि हृदय में प्रेम है तो वह इस शरीरजन्य प्रेम से अवश्य ही महान् और ऊँचा है।

वात्सल्य -

वात्सल्य नारी के व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण और अभिन्न पक्ष है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने नारी के पर्याय के रूप में भीरुता को माना है किंतु भारत की स्नेहिल धरित्री के अंचल में पत्नी, नारी (जाया) मूलत: भीरुता की नहीं, स्नेह और वात्सल्य की एक करुणामयी मूर्ति है। कोमल शिशु के लिए उसके अंचल में उत्पन्न हो जाने वाला दूध उसकी वात्सल्यता का महत्म् प्रतीक है। नारी अन्तरात्मा और शारीरिक बनावट दोनों से वात्सल्य प्रधान होती है। मातृत्व उसका एक ऐसा स्वत्व है जिसकी समता किसी भी व्यक्तित्व का कोई दूसरा पक्ष नहीं कर सकता। गुप्त जी ने तो नारी के समग्र व्यक्तित्व को करुणा और वात्सल्य के बीच में विभाजित कर दिया है -

" अबला जीवन हाय तेरी यह करुण कहानी
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।।"[१]

यहाँ नारी के दो रूप सामने आते हैं। पहला रूप वात्सल्य प्रधान है। जीवन के सम और विषम अनेक झंझावातों को सहती हुयी भी भारतीय नारी अपने दुधमुंहे बच्चे को छाती से चिपकाये रहती है। उसका बच्चा उसके लिए एक ऐसी संपत्ति है जिसे पाने के लिए उसने अपना सर्वस्व दान कर दिया है। जीवन के थपेड़े उसे अन्य किसी भी क्षेत्र में विचलित कर दें, किंतु अपने बच्चे की रक्षा में वह सदैव सिंहनी के समान तत्पर और पुरुषार्थमयी बनी रहती है। उसकी आंखों का पानी जीवन की दु:खमयी परिस्थितियों का द्योतक है लेकिन आंखों से निरंतर पानी बरसाती हुई भी, आंसुओं के उस क्षारिमय को अपने पार्थिव कंकाल के लिए सुरक्षित कर लेती है, और सूखी हुई हड्डियों से निचोड़-निचोड़ कर उसके शरीर में

१- गुप्तजी : यशोधरा ; पृ० ५८ -

जो दूध बनता है, उसे वह अपने बच्चे के लिए सहेज कर रख लेती है।

नारी के वात्सल्य के लिए उसका मातृत्व रूप और भगिनी रूप मुख्य रूप से विचारणीय है। " नारी का शिवतमा रूप उसके मातृत्व में ही प्रकट होता है ---- माता पृथ्वी से भी महान् होती है। साहित्य में माता को भव्य वंदनीय माना है। मातृत्व नारी जाति का नैसर्गिक स्वरूप है, वह अपरिवर्तनीय है। नारी के उत्कर्ष, उसके गौरव का कारण एकमात्र उसका मातृत्व ही है।"[१]

प्रसाद ने नारी के व्यापक व्यक्तित्व में जहाँ अन्य गुणों की कल्पना की है वहाँ वात्सल्य को उसकी एक ऐसी विभूति के रूप में माना है जो उसके शिवत्व को प्रस्थापित करता है। उनके काव्य में नारी के वात्सल्य के प्रस्फुरण के लिए केवल कामायनी में एक स्थल आया है जहाँ श्रद्धा अपने पुत्र मानव को जन्म देकर एक नये और स्नेह परिप्लावित वातावरण का सृजन करती है।[२]

प्रसाद के काव्य में अन्य स्थलों पर चूँकि भावाकुलता, विरह-विदग्धता, रहस्यात्मकता और छायावादी ध्वन्यात्मकता की प्रधानता होने के कारण जीवन का वह धरातल सामने नहीं आ सका है, जहाँ माता का स्नेह संवलित प्यार उमड़कर सामने आता हो, किंतु नाटकों में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं, जहाँ माँ का स्नेह छलकता हुआ बच्चे को स्नात कर देता है।

स्कंदगुप्त की देवकी अपने व्यक्तित्व के बहिरंग और अन्तरंग दोनों से एक आदर्श और ममतामयी माँ है। उसमें माँ की सजल ममता भी है, किंतु वह

१- सरला दुआ : आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी ; पृ० ३१-

२- " झूले पर उसे झुलाऊँगी
 दुलरा कर लूँगी बदन चूम ;
 मेरी छाती से लिपटा इस
 घाटी में लेगा सहज घूम।"

प्रसाद : कामायनी, " ईर्ष्या सर्ग " ; पृ० १५२ -

किसी कुपुत्र पर द्रवीभूत होना नहीं जानती । आदर्श उसके मातृत्व का एक अभिन्न अंग है इसलिए वह कुपुत्र को अपना पुत्र तक कहते लज्जित होती है । उसे संकोच होता है कि जो देश-द्रोही हो , राष्ट्र को कलंकित करता हो उसे वह पुत्र कहे । वह तो तभी गौरव का अनुभव करती है जब उसका पुत्र राष्ट्र की सेवा तन, मन से करे । प्रसाद के नाटकों में आदर्श माता के स्वरूप की अच्छी झाँकी मिलती है । देवकी अपने पुत्र के भविष्य के प्रति कामना करती हुई कहती है - " ---- तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन दंड क्षमा के संकेत पर चला करे ।"[१]

स्कंदगुप्त नाटक की कमला भटार्क की माता है । उसके हृदय में त्याग और उदारता का महान् आदर्श है । पुत्र के लिए सतत् उत्थान की मंगलकामनाओं से युक्त उसका हृदय अत्यंत विशाल है । उसका स्नेहिल हृदय सदैव अपने पुत्र की मंगल कामनायें किया करता है । वह कहती है - " भटार्क ! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा , म्लेच्छों से पददलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा ------"[२] किंतु उसकी आशाएं निराशाओं में बदलती जा रही हैं । उसका पुत्र भटार्क अनंतदेवी की कुमंत्रणा में फँसकर राज्य-विद्रोही बन जाता है । कमला इसे एक नैतिक दुराचरण मानती है, और उसे अपने बेटे का यह विपरीत आचरण कदापि सह्य नहीं होता । वह कर्तव्य विमुख पुत्र को सदैव सत्पथ पर आया हुआ देखने की कामना करती है । उसमें कर्तव्यनिष्ठा और देश-भक्ति की भावना विद्यमान है । यह वास्तव में राष्ट्रीय आंदोलन का ही प्रभाव रहा है । पुत्र को दुराचरण के मार्ग पर अग्रसर होते देखकर उसका अंतर्मन विद्रोह कर उठता है । वह ग्लानि और पश्चाताप भरे शब्दों में भटार्क को धिक्कारती हुई कहती है - " ---- परंतु मुझे तुमको पुत्र कहने में संकोच होता है , लज्जा से गड़ी जा रही हूं । जिस जननी की संतान - जिसका अभागा पुत्र - ऐसा देशद्रोही

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ८८ -

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ६६ -

हो , उसको क्या मुँह दिखाना चाहिये ?[1]

वह अपने सुपुत्र को जब वांछित मार्ग पर लाने में असफल हो जाती है, तब एक असफल मातृत्व अपनी अंतरात्मा में छिपाये अंत में समस्त ऐश्वर्य त्याग कर भिक्षा ग्रहण कर जीवन व्यतीत करती है।

वही माँ जो पुत्र को कभी अपरिमित स्नेह के चुम्बनों से भर देती है, उसी पुत्र को असत् के मार्ग का अनुसरण करते हुए देखकर, एक कठोर अंकुश के रूप में भी परिवर्तित हो जाती है। दोनों विरोधी भाव परिस्थिति के अनुकूल उसके हृदय में आते जाते रहते हैं। किंतु इनके कारण उसके मातृत्व के आदर्श का ह्रास नहीं होता।

अन्त में गोविन्दगुप्त के शब्दों में मानो प्रसाद जी कह रहे हों - " धन्य हो देवी ! तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्यराष्ट्र का विनाश असंभव है।"[2]

नारी चरित्र की रहस्यमयी विवेचना -

नारी के हृदय के उपर्युक्त दो विरोधी भावों को प्रसाद जी ने अन्य स्थलों पर भी व्यक्त किया है। उनका कहना है कि क्षमा और प्रतिशोध नारी जीवन के दो विशिष्ट अंग हैं। कोमल होते हुए भी कठोर, और कठोर होते हुए भी कोमल - नारी हृदय, और उसके व्यक्तित्व का रहस्य है। दोनों में ही वह महान् और महिमामयी है।

नारी चरित्र की एक रहस्यमयी विवेचना प्रसाद जी ने " रमणी हृदय " में इस प्रकार व्यक्त किया है -

> परन्तु की है बार, हृदय वामा का जैसे
> कड़ा ऊपर, भीतर स्नेह सरोवर जैसे।
> स्वच्छ, स्नेह, अंतर्निहित, परन्तु सदृश किसी समय,

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " चतुर्थ अंक " पृ० १०८, १०९ -
२- वही ,, , " द्वितीय अंक " पृ० ७१ -

छोड़कर एक भिखारिणी की भाँति कहती है - "मेरा कुणीक मुझे दे दो मैं भीख माँगती हूं। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग में इतनी करुणा, इतना स्नेह संतान के लिए इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वाँग न करती।"[1] प्रसाद जी ने नारी के उस वात्सल्य को भी देखा है, जब वह शिशु स्नेह की तरलता में अपने दैहिक अहंकारों को छोड़कर यहां तक कि भिखारिणी रूप भी धारण करना स्वीकार कर लेती है।

कंकाल उपन्यास में सरला विजय की मातृ हृदय की अन्तःअनुभूति का स्मरण कराते हुए कहती है कि तुम माँ को छोड़कर इधर उधर मारे - मारे क्यों फिर रहे हो - " विजय कलेजा रोने लगता है, हृदय कचोटने लगता है, आँखे छटपटाकर उसे देखने के लिए बाहर निकलने लगती हैं, उत्कंठा साँस बनकर दौड़ने लगती है। पुत्र का स्नेह बड़ा पागल स्नेह है। विजय! स्त्रियाँ ही इस स्नेह की विचारक हैं ---- अहा, तुम निष्ठुर लड़के क्या जानोगे! लौट जाओ मेरे बच्चे! अपनी माँ की सूनी गोद में लौट जाओ।[2]

आतुरता -

यहाँ एक माँ के मुख से प्रसाद जी ने नारी हृदय के एक ऐसे यथार्थ को निरूपित किया है जो संसार की किसी भी ऐसी नारी के लिए सत्य कहा जा सकता है, जिसने कभी भी मातृ-वत्सलता का अनुभव किया हो। गुप्त जी ने साकेत में कैकेयी के मुख से " रहे कुमाता माता! " कहलाकर मानों किसी भी माँ के ग्लानि भरे हृदय को स्पष्टरूप में चित्रित किया है, किंतु प्रसाद जी ने माँ के हृदय की वत्सलता को और भी गहराई से देखने का प्रयत्न किया है। मातृ-वत्सलता उसकी एक ऐसी विभूति है, जिसकी पुकार पर माँ, केवल अपने बच्चे के प्रति ही नहीं

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० १०६ -

२- प्रसाद : कंकाल ; पृ० १२५ -

दौड़ पड़ती , वरन् असंख्य - दुखी माताओं के हृदय की पीड़ा का भी आभास होने लगता है। सारंगा के मुख से उच्चरित उक्त वाक्य इसी तथ्य की व्यंजना करता है।

माता के वात्सल्य की अद्भुत और सजीव झाँकी देखने को मिलती है, कामायनी की श्रद्धा में, अपने नवजात शिशु मानव के प्रति।

मनु जिस नवागत शिशु को देखकर मन में वितृष्णा और प्रतिस्पर्धा का अनुभव करते हैं, श्रद्धा उसी को अपनी गोद में पाकर विह्वल हो उठती है। मानो उसके जीवन की समग्र सार्थकता साकार होकर उसकी आँखों के सामने आनंद की लहरें उछालने लगती है। मानो उसकी युग - युग की साधना एक अभिमत सिद्धि का रूप लेकर किलकारी भरने लगती है। यहाँ तक कि उस शिशु के आगमन पर उसके जीवन का जो मधुर आलाप आरंभ होता है, उसमें वह क्षण भर को इस बात को भूलने-सी लगती है, कि इस शिशु के आगमन के कारण उसके प्रिय पात्र के मन में जो क्षोभ उठा है, वह कभी एक भयंकर तूफान का रूप लेकर उसे झकझोर देगा। माँ की ममता बच्चे को पाकर जीवन की समूची विषमताओं को भूल जाती है। उसका हृदय वात्सल्य और ममता का मानो आगार है। पक्षियों के भरी पूरी नीड़ों की ओर संकेत करती हुई वह मनु से एक बहुत ही भोला-सा प्रश्न करती है -

> उनके घर में कोलाहल है
>
> मेरा सूना है गुफा द्वार
>
> तुमको क्या ऐसी कमी रहेगी
>
> जिसके हित जाते अन्य द्वार ।।[१]

श्रद्धा एक छोटा - सा नीड़ बनाती है। माँ स्वयं पत्थरों पर सोती

१- प्रसाद : कामायनी ; पृ० १४४-

हो, घासों और कांटों पर लेटी रह जाती हो, किंतु आने वाले बच्चे के लिए कोमल बिछौनों की आवश्यकता है। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में पुआलों के छाजन, कोमल लतिकाओं की डालों से बनाये हुए सघन कुंज, उसमें कटे हुए सुरम्य वातायन, बेतसी लता के हिंडोले, धरातल पर सुमनों के पराग के सुरभितपूर्ण आदि सभी की आवश्यकता है। श्रद्धा इन सबका साज बहुत ही अभिलाषाओं सहित सजाती है। उसका मन स्वप्निल और मौलिक भावी कल्पनाओं से भर जाता है -

> झूले पर उसे झुलाऊंगी
> दुलरा कर लूंगी बदन चूम;
> मेरी छाती से लिपटा वह
> घाटी में लेगा सहज घूम ।।[१]

मनु का लोलुप मन पहले तो श्रद्धा के उस मातृत्व को देखकर एक उलझन और ईर्ष्या का अनुभव करता है। वह उसे छोड़कर चल देते हैं, किंतु इड़ा के वैभव पूर्ण साम्राज्य से ठोकर खाकर जब पुन: श्रद्धा से मिलते हैं; उस समय वे श्रद्धा के विमल मातृत्व का निष्कपट नेत्रों से दर्शन करते हैं, और उसे सर्वमंगला मातेश्वरी के रूप में देखने लगते हैं :-

> " तुम देवी ! आह कितनी उदार,
> यह मातृमूर्ति है निर्विकार ;
> हे सर्वमंगले ! तुम महती,
> सबका दुख अपने पर सहती,
> कल्याणमयी वाणी कहती ;
> तुम क्षमा निलय में ही रहती

१- प्रसाद : कामायनी ; पृ० १३२ -

मैं भूला हूँ तुमको निहार
नारी सा ही वह लघु विचार ।।[१]

मातृरूप में त्याग है, सेवा है, और है निश्छल प्रेम। मातृरूप में नारी का सिर हिमालय से भी ऊँचा है; उसका चित्रण करते हुए प्रसाद जी कहते हैं :-

कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर

< < < < <

मनु ने देखा कितना विचित्र
वह मातृ-मूर्ति थी विश्व-मित्र।
बोले - रमणी तुम नहीं आह।
जिसके मन में हो भरी चाह;
तुमने अपना सब कुछ खोकर,
वंचिते! जिसे पाया रोकर
मैं भगा प्राण जिनसे लेकर
उसको भी, उन सबको देकर।[२]

" नर की नारीरूपोपासना का चरम लक्ष्य है इसी मातृत्व की खोज, और यह मातृत्व नारी मात्र में देखा जा सकता है। इसीलिए भारतीय संस्कृति 'स्त्रिय: समस्ता: सकला जगत्सु' कहकर कन्या पूजन का विधान करके रमणीत्व पर मातृत्व की विजय स्थापित करने का प्रयत्न करती है। गांधी जी तो 'ब्रह्मचर्य' पर लिखते हुए, स्वभार्या में भी मातृत्व की उपासना करने का उपदेश करते हैं। रामकृष्ण परमहंस ने तो अपनी नवोढ़ा पत्नी की -- भी

१- प्रसाद : कामायनी ; पृ० १८८ -
२- वही ,, ; पृ० १८८ -

मातृरूप में पूजा की थी। कामायनी के मनु भी जब कहीं हुष्ठी होते हैं, तो वह श्रद्धा के मातृरूप के सामने नतमस्तक हो जाते हैं।[१]

प्रसाद ने नारी के मातृरूप को अत्यंत ही उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। वह सबका कल्याण करने वाली क्षमा का आगार, उदारहृदया और ममता की निर्विकार मूर्ति है। प्रसाद की नारी में मुख्यतः भारतीय नारी की स्नेह पुलकता का एक आदर्श मूर्तिमान हो उठा है।

नारी के प्रेम और अस्तित्व का प्रतीक उसकी संतान ही हुआ करती है। वह उसकी समस्त आशाओं, अभिलाषाओं और कल्पनाओं का संबल है। प्रसाद जी ने नारी के इस व्यक्तित्व को जहाँ सामने रखा है, वहाँ वे इस तथ्य को भी पूर्णतया स्वीकार नहीं करते कि मातृत्व रूप के अतिरिक्त नारी का दूसरा कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। प्रसाद जी ने नारी के व्यक्तित्व को बहुगुण संपन्न माना है। उनकी मान्यताओं में सही नारी एक विकासशील और उन्नतमुखी नारी है। वह अपने परंपरागत मूल रूप को भी नहीं छोड़ सकती, किंतु केवल वह मातृत्व की श्रृंखलाओं में जकड़ी रहकर अपने अस्तित्व को सर्वथा लुप्त कर देनेवाली नारी नहीं है। शिशु वात्सल्य उसकी विभूति है, उसके व्यक्तित्व की शालीनता है, परंपरागत श्रृंखला नहीं, वैयक्तिक नैराश्यजनक विवशता नहीं। इसीलिए प्रसाद जी के नारी पात्रों में ऐसा कोई भी पात्र नहीं है, जिसे हम अन्ध-शिशुवात्सल्य का शिकार कह सकें।

वेदना - व्यक्तिनिष्ठ -

प्रसाद जी के भावुक व्यक्तित्व का विकास हृदय में बसी हुई घनी वेदनाओं के बीच हुआ था।[२] लेखक या कवि अपनी रचनाओं में कहीं न कहीं प्रत्यक्षतः

१- डा० फतेहसिंह : कामायनी सौंदर्य ; पृ० २०३ -
२- प्रसाद : आँसू ; पृ० ५ -

अपने आपको लाकर उपस्थित न कर दे, किंतु उसकी अनुभूतियों का उसके द्वारा सृजित साहित्य पर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है।

यथाप्रसंग कहा जा चुका है, कि प्रसाद जी के व्यक्तित्व को विकसित होने में कुछ तो पूज्य भाव से विशिष्ट नारियों से मिली हुई करुणा का हाथ रहा है, और कुछ अनजाने में ही हृदय के किसी भीतरी प्रकोष्ठ में गहरी पीड़ा छोड़ जाने वाली ऐसी छायामूर्ति का प्रभाव रहा है, जिसे प्रसाद ने जीवन भर अपने हृदय के भीतर ही अमूल्य निधि की भाँति छिपा रखा, कभी प्रकट न होने दिया।[१] यही कारण है वेदनामयी नारी को प्रस्तुत करने में प्रसाद का एक मृदु हृदय रहा है। दुख की अनुभूति मानव मन की क्रूरता, कठोरता को उदात्त कर देती है।

आंसू काव्य में संपूर्णत: और लहर और झरना के कुछ गीतों में यत्र-तत्र कवि की अपनी वेदना प्रकट होने लगी है, किंतु वाह्य संकोच के कारण फिर वह अंतर्मुखी हो उठी और किसी न किसी का माध्यम लेकर व्यक्त होने लगी। नारी के व्यक्तित्व में भी प्रसाद ने वेदनामय रूप की कल्पना की है। कभी तो वह वेदना व्यक्तिनिष्ठ[२] होकर रह गई है, कभी उसका प्रसार विश्व वेदना[३] या विश्व करुणा में हो गया है। यद्यपि रोमांटिक स्वच्छंदतावाद में आत्मपीड़ा की व्यंजना के लिए निश्चित रूप से उपक्रम रचे जाते हैं, किंतु उस पीड़ा और प्रसाद जी के नारी पात्रों में व्यक्त पीड़ा में व्यक्तित्व और दृष्टिकोण का अंतर है।

प्रसाद ने जहाँ कहीं वेदना की अभिव्यक्ति प्रदान की है, वहाँ मुख्यत: पात्रों की गहरी अनुभूतिमयी आत्मवेदना की है। उनके नारी पात्रों में जीवन का एक अंतर्द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। इस अंतर्द्वन्द्व में एक अभाव परिलक्षित होता है। यह

१- मूक वेदना -

२- विरह के रूप में -

३- प्रौढ़ रूप में -

अभाव हृदय के भीतर ही भीतर एक कसक उत्पन्न कर देता है। इस कसक में प्रेम की टीस है। यह टीस उनके साहित्य में जहाँ कहीं भी व्यक्त हुई है, बहुत गहन और भावाकुलता युक्त है।

वेदनामयी नारी के अंतर्गत प्रसाद की मंदाकिनी, चंद्रलेखा, देवसेना, राज्यश्री, रोहिणी, विंदो आदि नारियाँ आती हैं। जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

मंदाकिनी[1]

मन्दाकिनी का व्यक्तित्व भीतर ही भीतर बहनेवाली वेदना की मंदाकिनी के समान है। वह विर-व्यथा की मारी किसी अपने छलकते हुए प्रेम को हृदय के कोने - कोने में भरती हुई अपनी गाथा न कहकर भी कहना चाहती है। यह सच है कि कुमार चंद्रगुप्त के प्रति अपने प्रेम के उमड़ते हुए वेग को उसने कर्तव्य की चट्टान से ढक दिया है, और उसे इस दुखिया वसुधा पर करुणा की शीतल वारि के समान फैला देना चाहती है, किंतु इस वाक्य में उसकी गहरी वेदना अपने - आप प्रकट हो जाती है। अपनी वेदनाओं की गहराई में पहुंचकर पूरी वसुधा को ही दुखिया मान लेना पीड़ा की व्यापकता का एक अनुपम उदाहरण है। हृदय की भावुकता पर वह कर्तव्य और स्वाभिमान का पर्दा डाल देती है, और उसे कोई पीड़ा हो, उसे अंतरालमें छिपे हुए अपनी कसक से अपने आप में ही कह उठती है :-

> यह प्रेम छलक कोने कोने
> अपनी नीरव गाथा कह जा।
> करुणा बन दुखिया वसुधा पर
> शीतलता फैलाता बह जा।[2]

----

[1]- ध्रुवस्वामिनी नाटक की प्रमुख नारी पात्री -
[2]- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी " प्रथम अंक " ; पृ० २१ -

चंद्रलेखा[1]

चंद्रलेखा प्रसाद की वेदनामयी नारियों में महत्वपूर्ण है। नाटक के आरंभ में ही जब कि वह सेम की फलियाँ तोड़ने के लिए मलिन वेश में खेत में प्रवेश करती है, उसकी दरिद्रता का करुणापूर्ण वर्णन करते हुए विशाख कहता है - " ---- विधाता की लीला। ठीक भी है, रत्न मिट्टियों में से ही निकलते हैं। स्वर्ण से जड़ी हुई मंजूषाओं ने तो कभी एक भी रत्न नहीं उत्पन्न किया। इनकी दरिद्रता ने इन्हें सेम की फलियों पर ही निर्वाह करने का आदेश किया है।"[2]

चंद्रलेखा को प्रसाद ने जिस रूप में चित्रित किया है, उसके जीवन में सुख क्या है, उसका उसे तनिक भी आभास नहीं है। उसका सारा जीवन विषाद भरे वातावरण में व्यतीत हुआ है। वह जो गीत गाती है उसमें उसके अंतर्मन की तीव्र वेदना छिपी हुई है -

करुणा, कान्त कल्पना है बस, दया न पड़ी दिखाई।
निर्दय जगत, कठोर हृदय है, और कहीं वह रहती॥
सखी री! सुख किसको हैं कहते?[3]

चंद्रलेखा करुणासिंधु भगवान् से भी सदैव यही प्रार्थना करती है :-
"मेरा वसंतमय जीवन है। प्रभो! इसमें पतझड़ न आने पावे। मेरा कोमल हृदय छोटे सुख से संतुष्ट है, फिर बड़े सुख आकर उसमें क्यों व्याघात डालते हैं ----"[4]
यहाँ वेदना में अभिलाषा है, सुख है तथा त्याग भी है।

१- विशाख।
२- प्रसाद : विशाख ; पृ० १२।
३- प्रसाद : विशाख "प्रथम अंक" ; पृ० १३ -
४- प्रसाद : विशाख ; पृ० ४७-

देवसेना[1]

प्रेम देवसेना के हृदय की महानतम् विभूति है । वह उसे अपने भीतर ही छिपाये रखना चाहती है, और उसे प्रकट नहीं होने देती । संगीत के माध्यम से वह उस वेदना को किंचित व्यक्त करती है । स्वयं उसकी सखी जयमाला उसके हृदय के विषाद को व्यक्त करती हुई कहती है -

" जब तू गाती है तब मेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हंसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है ।"[2]

देवसेना के प्रेम में एकनिष्ठता है । स्कंद को न प्राप्त कर पाने पर भी उसकी एकनिष्ठता में कोई अंतर नहीं आ पाता । अंतिम समय में भी वह स्कंद की स्मृति को अपने अंतस् में संजोये रखती है ।

राज्यश्री[3]

राज्यश्री का व्यक्तित्व सतीत्व, पवित्रता, कर्त्तव्यनिष्ठा, किन्तु साथ ही वेदना के बीच विकसित हुआ है । जीवन की विषम परिस्थितियों ने राज्यश्री को स्वयं एक करुणा-मूर्ति के रूप में ढाल दिया है -

" अधखिली वसंत की कली को जलती हुई धूल में गिराकर भीषण अंधड़ चिल्ला कर कहता है - " तुम स्वच्छ हो ।" शांत सरोवर की कुमुदिनी को पैरों से कुचल-कर उन्मत्त गज, उसे सहलाना चाहता है ।"[4]

1- स्कंदगुप्त नाटक -

2- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " तृतीय अंक " ; पृ० ६१ ।

3- राज्यश्री नाटक ।

4- प्रसाद : राज्यश्री, द्वितीय अंक ; पृ० ३०, ३८ -

यद्यपि राज्यश्री का गंभीर व्यक्तित्व अपने आप पर आसन्न रूप में आये हुए दुर्धर्ष संकट को धैर्यपूर्वक सह लेता है। फिर भी, उसे कहना ही पड़ता है - "वेदना रोम-रोम में सही है विकलता। चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचार और इस छोटे-से जीवन पर संसार के दिये हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है।"[1]

राज्यश्री एक अनाथिनी विधवा बन जाती है, और उसके पास केवल दुखों की ही संपत्ति शेष बच रहती है। दस्यु उससे धन चाहते हैं। आत्मनिष्ठा और चरित्र की संपत्ति दस्युओं को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं। ऐसी स्थिति में भी वह किंचित भी विचलित नहीं होती; कहती है - "मैं दुखी हूं, दस्यु! ----- इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन? आह! जितनी सांसें चलती हैं, वे तो चलकर ही रुकेंगी। तुम मनुष्य होकर हिंस्र पशुओं को क्यों लज्जित कर रहे हो; इस श्मशान को कुरेद कर जली हुई हड्डियों के टुकड़ों के अतिरिक्त मिलेगा क्या?"[2]

दुख ही उसके जीवन का चिर सहचर है: - "दुखों को छोड़कर और कोई न मुझसे मिला मेरा चिर सहचर! परंतु अब उसे भी छोड़ूंगी। आर्य, मुझे आज्ञा दीजिए। स्त्रियों का पवित्र कर्तव्य पालन करती हुई इस क्षणभंगुर संसार से बिदाई हूं - चिता की ज्वाला से, यह चिंता की ज्वाला प्राण बचावे।"[3] यहां उसके भीतर के नारीत्व की कोमलता व्यक्त होती है।

<u>रोहिणी</u>[4]

ग्रामगीत की विधवा रोहिणी भी करुणा की मूर्ति है। जीवनसिंह का प्रेम न पा सकने के कारण उन्मादिनी सी हो जाती है, और अंत में प्रेम की

१- प्रसाद : राज्यश्री, द्वितीय अंक; पृ० ३० -
२- प्रसाद : राज्यश्री, 'तृतीय अंक'; पृ० ५४, ५५ -
३- प्रसाद : राज्यश्री, 'तृतीय अंक'; पृ० ६३-
४- ग्रामगीत : आंधी कहानी संग्रह -

वेदी पर अपना ही बलिदान कर देती है। प्रसाद जी ने उसका रूप चित्रण करते हुए उसके अंतरतम की व्यथा को इस प्रकार चित्रित किया है :-

" वह उसके यौवन का प्रभात था, ----- उसकी झुकी हुई पलकों से काली बरौनियाँ छितरा रही थीं और उन बरौनियों से जैसे करुणा की अदृश्य सरस्वती कितनी ही धाराओं में बह रही थी।"[1]

रोहिणी के माध्यम से प्रसाद जी ने एक असफल प्रेम की दुखांत कथा व्यक्त की है। अंत में वह विरह गीत की स्मृतियों से व्यथित होकर गंगा में कूद कर आत्महत्या कर लेती है।

बिंदो[2]

घीसू कहानी की बिन्दो अत्यंत ही दयनीय और निर्धन विधवा है। विधवा जीवन की विडंबनाओं से आक्रांत उसका जीवन कठोर यातनाओं को सहने का प्रयत्न करता जा रहा है। एक प्रौढ़ व्यक्ति द्वारा एक स्त्री पर बलात्कार का शब्द सुनकर घीसू का अंतरतम व्यथित हो उठता है। " ------पाजी ------दुष्ट----- भाग नहीं तो छुरा भोंक दूंगा।" वह कहने लगी -" छुरा भोंकेगा! मार डाल हत्यारे! मैं आज अपनी और तेरी जान दूंगी और लूंगी ------"[3]। बिन्दो के कहे हुए शब्द अचानक घीसू के कानों में पड़ने लगते हैं। घीसू उसकी रक्षा के लिए अंदर घुस जाता है। बिन्दो उस पुरुष को छोड़कर घीसू के साथ चली जाती है। घीसू बिन्दो के दरिद्र जीवन का आश्रय बनकर आता है, स्वयं अन्यत्र निवास करता है।

एक दिन ज्वराक्रांत होकर घीसू बड़ बकता है। बिन्दो अपने करुणापूर्ण,

---

१- प्रसाद : ग्रामगीत ; पृ० १०६ -
२- प्रसाद : आंधी कहानी संग्रह -
३- प्रसाद : आंधी, " घीसू " ; पृ० ७२ -

और अत्यंत दरिद्रतापूर्ण जीवन को लिए हुए जीती रहती है। आज उसका समस्त यौवन समाप्त हो गया है, किंतु पहाड़ से दिन काटने के लिए, पेट की रक्षार्थ के लिए, वह घीसू की दुकान चलाने का प्रयत्न करती है। विधवा के दरिद्र, निर्धन जीवन की विडंबना का कितना यथार्थ चित्रण प्रसाद जी ने किया है।

बिन्दो का यथार्थ चित्रण करते हुए डा० हरदेव बाहरी का कहना है " एक यथार्थवादी वृत्तान्त कहानी है ---- बिन्दो काशी की विधवा है और उसका अपराध है यौवन और रूप की संपत्ति।"[१]

उपर्युक्त विभाजन में प्रसाद के नारी पात्रों में जहाँ करुणा के भाव देखे गए हैं, वहाँ हृदय की सहानुभूतिमयी वृत्तियाँ दूसरे के दुख और पीड़ा को न सह सकने के कारण व्यक्त हुई हैं। इसीलिए उनकी प्रकृति बहिर्मुखी है। जहाँ वेदना की अनुभूति हुई है, वहाँ विशेष रूप से अनुभूतियों की तीव्रता के कारण नारी-पात्र अंतर्मुखी हो गये हैं। आत्मवेदना की अनुभूति छायावादी प्रभाव के ही कारण हैं। अतः प्रसाद की अंतर्मुखी वेदना के समान ही इन नारी पात्रों की वेदना का भी अंतर्मुखी हो जाना स्वाभाविक ही था।

करुणा -

वेदनामयी नारी का एक दूसरा रूप जो अधिक प्रौढ़ और समुन्नत कहा जा सकता है - वह करुणा में विकसित होता है, जहाँ व्यक्तिनिष्ठ वेदना करुणा में विकसित हो जाती है।

प्रसाद की करुणामूलक उत्प्रेरणाएँ -

करुणा नारी का सहज स्वाभाविक गुण है। प्रसाद जी ने नारी के सरल, करुणामय, भावुक और कोमल स्वभाव के चित्र अंकित किये हैं। उनके

१- डा० हरदेव बाहरी : प्रसाद साहित्य कोश ; पृ० १२८, २८८ -

साहित्य में स्थल - स्थल पर बौद्ध दर्शन की करुणा बिखरी दिखाई देती है। विशेषतौर से नारी पात्रों में उनके जिस निसर्ग करुणा का स्रोत प्रवाहित होता हुआ मिलता है, उसका चित्रण बहुत ही मनोरम और मार्मिक बन पड़ा है।

सारनाथ के भव्य चित्रों[1] में से एक चित्र जिसमें भगवान् बुद्ध उपदेश की मुद्रा में अंकित हैं, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उससे जो करुणा और विशाल हृदयता आभासित होती है, उसे प्रसाद जी ने, विशेषतौर से अपने नारी पात्रों में मूर्त करने का यत्न किया है।

" वास्तव में करुणा मानव जीवन का दिव्य वरदान है, जो व्यक्तियों के जीवन का पाथेय है, दुखियों के संतोष का संबल है। मानव के अन्तस् को द्रवित करके उसे प्रेम की पावन धारा में परिवर्तित करके विश्वमैत्री के सागर में विलीन करनेवाली करुणा ही तो है।"[2] इसीलिए प्रसाद साहित्य में स्थान-स्थान पर करुणा का संदेश मिलता है।

पद्मावती -[3]

पद्मावती समग्र सृष्टि को ही करुणा की प्रतिमूर्ति मानती है। कोमलता और दयार्द्रता उसके व्यक्तित्व की प्रथम विशेषता है। हिंसा करना हिंसक पशुओं का काम है, और दया करना मनुष्यों का है। पद्मावती कुणीक की निष्ठुरता को उद्घाटित करते हुए कहती है - " मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशु-जगत में क्या कम है ?"[4] यह क्रूरता को

१- Joseph Compbell : The Art of Indian Asia Plate No. 102.

२- चन्द्रपाल सिंह : अजातशत्रु में काव्य एवं दर्शन," प्रसाद अंक " पृ० २५२ -

३- अजातशत्रु की नारीपात्र -

४- प्रसाद : अजातशत्रु," पहला अंक " ; पृ० २४ -

पुरुषार्थ का परिचायक नहीं मानती । वह कर्तव्यों का ज्ञान कुणिक को भी कराती है और इतना ही कहती है - " माँ, क्षमा करो। मेरी समझ में तो मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।"[1]

पद्मावती राज्य के शासन के प्रसंग में भी दया, अहिंसा और करुणा को महत्त्वपूर्ण बताती है। यहाँ तक कि वह कठोर, और क्रूर कार्यों से राज्य का संचालन होना एक विषवृक्ष के लगाने के समान समझती है। वह बच्चों को हिंसा का पाठ पढ़ाने का समर्थन नहीं करती। वह बच्चों के हृदय को एक कोमल थाला के रूप में मानती है, जिसमें यदि हम चाहें तो कोमल फूल भी लगा सकते हैं, यदि चाहें तो कँटीली झाड़ी भी लगा सकते हैं। दोनों का परिणाम अपने- अपने स्थान पर भिन्न होगा। वह इतना ही कहती है - " माँ, क्या कठोर और क्रूर कार्यों से ही राज्य सुशासित होता है? ऐसा विषवृक्ष लगाना क्या ठीक होगा? अभी कुणिक किशोर है, यही समय सुशिक्षा का है। बच्चों का हृदय कोमल थाला है, चाहे इसमें कँटीली झाड़ी लगा दो, चाहे फूल के पौधे।"[2]

श्रद्धा[3]

प्रसाद ने करुणा को नारी जीवन की उज्ज्वल एवं महानतम् उपलब्धि माना है। आदि नारी श्रद्धा के मन में अवसाद से ग्रसित मनु के प्रति सर्वप्रथम करुणा के भाव ही उत्पन्न होते हैं, जिनके वशीभूत होकर वह मनु को एक नयी सृष्टि के संचार के लिए प्रेरित करती है।

श्रद्धा मनु के माध्यम से जिस सृष्टि का संचार करना चाहती है वह बहुत

१- प्रसाद : अजातशत्रु, ' पहला अंक ' ; पृ० २४ -

२- वही ,, ,, ; पृ० २५ -

३- कामायनी -

ही उदार, व्यापक, और सहिष्णु सृष्टि है।[1] वह सभी जीवों को जीने और अपने जीवन को सुखमय बनाने का अधिकार देना चाहती है। उसने एक मृग पाल रखा है, जो उसके स्नेह और उसकी करुणा का उतना ही अधिकारी है, जितना कि स्वयं मनु।

काम की प्रेरणा से मनु के मन में वासना उत्पन्न होती है और वासना के परिणामस्वरूप जीवन के विभिन्न हिंसामय कर्मकांडों का आरम्भ हो जाता है। इस पर श्रद्धा के हृदय का सम्यक्करुणा-भाव जागृत होकर मनु की इस प्रपंचात्मक कार्यपद्धति का विरोध कर उठता है। वह मनु का मन हिंसात्मक कार्यों के विरुद्ध खींचना चाहती है और कहती है :-

कह ही यदि परिवर्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा ;
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा।

और किसी की फिर बलि होगी
किसी देव के नाते ;
कितना धोखा ! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते।[2]

१- विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण ;
पटें सागर, बिखरे ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियां हों चूर्ण।
प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ५८ -

२- प्रसाद : कामायनी, "कर्म" ; पृ० १३६ -

तब मनु से स्पष्ट शब्दों में कहती है - इस धरती पर जितने भी प्राणी बचे हुए हैं, क्या उनके अधिकार कुछ शेष नहीं है। हे मनु! क्या दूसरों का सब कुछ ले लेना ही तुम्हारी नई मानवता का आदर्श होगा यदि ऐसा है तो तुम्हारी मानवता और शवता में क्या अंतर रह गया।[1]

इतने पर भी मनु का मृगया के पीछे भटकना बंद नहीं होता। श्रद्धा, फिर भी प्रयत्न करती है कि मनु की यह हिंसा वृत्ति बंद हो जाय। पहले वह प्यार भरे शब्दों में पूछती है - " दिन भर थे कहां भटकते तुम "[2] इस पर भी मनु का नृशंस मन जब सामान्य धरातल की ओर नहीं लौटता, तब वह कहती है -

" यह हिंसा इतनी है प्यारी
जो भुलवाती है देह - गेह!

मैं यहाँ अकेली देख रही
पथ, सुनती - सी पद-ध्वनि नितांत,

१- ये प्राणी जो बचे हुए हैं,
इस अचला जगती के;
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके!

मनु! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत! बची क्या शवता!

प्रसाद : कामायनी, " कर्म " ; पृ० १२९, १३०।

२- प्रसाद : कामायनी, " ईर्ष्या " ; पृ० १४४ -

कानन में जब तुम दौड़ रहे
किसी मृग के पीछे बनकर अशांत ।

ढल गया दिवस पीला - पीला
तुम रक्तारुण वन रहे घूम ;
देखो नीड़ों में विहग युगल
अपने शिशुओं को रहे चूम ।[1]

श्रद्धा मनु के हिंसात्मक क्रियाकलापों से खिन्न होकर न केवल मधुर प्रताड़ना करती है, वरन् आदेश भी देती है :-

औरों को हंसते देखो मनु
हंसो और सुख पाओ ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ ।[2]

उपर्युक्त पदों में श्रद्धा के जो करुणा भाव व्यंजित हुए हैं, बहुत ही व्यापक हैं, और उनसे श्रद्धा की करुणामयी मूर्ति के दर्शन होते हैं ।

मल्लिका[3]

मल्लिका का तो समस्त चरित्र ही करुणा की भावभूमि पर सृजित हुआ है । करुणा उसे वैधव्य की वेदना को वहन करने की शक्ति देती है, आतिथ्य के कर्तव्य की प्रेरणा देती है, पीड़ितों की सेवा का धैर्य देती है, और विरोधियों को भी अपने स्नेहांचल की छाया देने का बल देती है । करुणा की उस मूर्ति के संपर्क में आते ही निष्ठुरतम् मानव का कलुष भी धुल जाता है ।[4]

१- प्रसाद : कामायनी, `ईर्ष्या`, पृ० १४४ -
२- प्रसाद : कामायनी, `कर्म`; पृ० १३२ -
३- अजातशत्रु -
४- प्रो० [illegible] सिंह : अजातशत्रु में काव्य एवं दर्शन, `पताका अंक`; पृ० २५२-

उसके मन में भगवान् गौतम बुद्ध के प्रति अगाध आस्था है। वह जीवन का अंतिम लक्ष्य एक ऐसा आनंद प्राप्त कर लेना मानती है, जिसे पा लेने के बाद संसार की कोई पीड़ा, संसार की कोई वेदना और संसार का कोई आतंक उसे दुखी न बना सके।

सेनापति बंधुल के वध के पश्चात् उसने त्याग, करुणा तथा संतोष को अपना धर्म मान लिया है। उसे सारिपुत्र मौद्गलायन के प्रति श्रद्धा है। वह कहती है :- " ---- तथागत! तुम धन्य हो! तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है। तुमने संसार को दुःखमय बतलाया और उससे छूटने का उपाय भी सिखाया। कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की ; अपवित्रों को अपनाया, दुखियों को गले लगाया, अपनी दिव्य करुणा की वर्षा से विश्व को आप्लावित किया - अमिताभ, तुम्हारी जय हो।"[1] मल्लिका के व्यवहार से प्रसन्न हो सारिपुत्र को भी कहना पड़ता है - " मूर्तिमती करुणे"! तुम्हारी विजय हो "[2]। उसकी करुणा का विस्तार कितना अधिक है, जहाँ प्रतिहिंसा का नाम भी नहीं रह जाता।

मणिमाला[3]

मणिमाला करुणामयी नारी है। वह स्वीकार करती है कि -
" ----- हम लोगों के कोमल प्राणों में एक बड़ी करुणामयी मूर्च्छना होती है। संसार को उसी सुंदर भाव में डुबा दूं, उसी का रंग चढ़ा दूं, अही यही मेरी परम् कामना है।"[4] अपने स्वभाव में भी वह उतनी ही करुण है। आस्तिक से वह सांसारिक छल प्रपंचपूर्ण व्यवहारों की चर्चा करती हुई कहती है कि जिससे हमारा इस संसार में कोई संबंध नहीं है, वह तो भगवान के समान साधारण

१- प्रसाद : अजातशत्रु, " दूसरा अंक " ; पृ० ७८ -
२- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० ८२ -
३- " जनमेजय का नागयज्ञ " -
४- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, " दूसरा अंक " ; पहला दृश्य ; पृ० ४२ -

मनुष्यता का व्यवहार कर सकता है, जिससे कुछ संपर्क है, वही इससे घृणा करता है, हमारे प्रति द्वेष को अपने हृदय में गोपनीय रत्न के समान छिपाये रखता है। इसी कारण : " भाई, इसी से कहती हूं कि माँ की गोद में सिर रखकर रोने को जी चाहता है। मैं स्त्री हूं, प्रकट में रो सकूँगी ----।"[1]

सुजाता[2]

सुजाता के चरित्र में करुणा का अजस्त्र स्त्रोत प्रवाहित होता हुआ दिखाई पड़ता है। भैरवी होने के कारण वह आर्यमित्र से विवाह करने में असमर्थ है। वह कहती है कि आर्यमित्र मैं अपनी सारी लांछना तुम्हारे साथ बाँटकर जीवन संगिनी नहीं बनना चाहती। क्योंकि -" मेरी वेदना रजनी से भी काली है और दुःख, समुद्र से भी विस्तृत है। स्मरण है? इसी महोदधि के तट पर बैठकर, सिकता में हम लोग अपना नाम साथ - ही - साथ लिखते थे। चिर-रोदनकारी निष्ठुर समुद्र अपनी लहरों की उंगली से उसे मिटा देता था। मिट जाने दो हृदय की सिकता से प्रेम का नाम। आर्य मित्र, इस रजनी के अंधकार में उसे विलीन हो जाने दो।"[3] सुजाता की करुण वेदना की गहराई असीम है, उसे स्थूल भावों में कहां तक बांधा जाय?

ममता[4]

ममता कहानी की ' ममता ' एक ऐसी ही करुणा - प्रधान विधवा नारी है। जिसका जीवन परिस्थितियों की विडंबनाओं में उलझकर दारुण हो गया है। प्रसाद जी ने उसके कारुणिक जीवन का जो चित्र खींचा है -" मन में वेदना, मस्तक में आंधी, आंखों में पानी की बरसात"[5] वास्तव में उसके अंतु

१- प्रसाद: जनमेजय का नागयज्ञ, ' दूसरा अंक ' : पहला दृश्य ; पृ० ४३ -
२- देवरथ कहानी।
३- प्रसाद : देवरथ कहानी ; पृ० १०६ -
४- आकाशदीप कहानी संग्रह की ममता कहानी की नारी पात्र -
५- प्रसाद : आकाशदीप, ' ममता ' ; पृ० २५ -

की वेदना को व्यक्त करता है। जिसके मन में वेदना ने अपना स्थायी निवास बना लिया हो, और आँखों से सदैव सावन, भादों की झड़ी लगी रहती हो, उसका कहना ही क्या ?

ममता विधवा थी, विधवा जीवन की दारुण व्यथाओं और वेदनाओं से उसका जीवन निराश होता जा रहा है। प्रसाद जी का कहना है - " हिन्दू विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है - तब उसकी विडंबना का कहाँ अंत था।"[१] बाद में उसके एकमात्र सहायक पिता की भी हत्या हो जाती है। महल छोड़कर भोंपड़ी की शरण लेती है और अंत में विश्वजनीन करुणा से मर जाती है। उसकी मृत्यु के उपरांत अतिथि सेवा के परिणामस्वरूप जो विशाल अष्टकोण मंदिर बनकर तैयार होता है, वह अपनी विशालता में भी इस गहनतम करुणा का परिचायक है कि उसकी प्रशस्ति में सब कुछ लिखा जाता है, किंतु उसमें ममता का कहीं नाम नहीं रहता।

जहाँनारा[२]

जहाँनारा का चरित्र अत्यंत करुणा पूर्ण ढंग से चित्रित हुआ है। प्रसाद जी ने उसे 'मूर्तिमती करुणा' कहा है, जब कि इतिहास जहाँनारा में किसी ऐसे विशिष्ट करुणा-प्रधान व्यक्तित्व को चित्रित करने में मौन ही रह जाता है। अन्य नाटकों की करुण मूर्तियों की तरह जहाँनारा भी क्रूर औरंगजेब का हृदय परिवर्तन करने में समर्थ होती है।[३] कहानी का अंतिम चित्र सचमुच उसके हृदय की वेदना को स्पष्ट करता है।

१- प्रसाद : आकाशदीप, ' ममता ' ; पृ० २५ -

२- जहाँनारा : छाया कहानी संग्रह -

३- " एक पुरानी पलंग पर, जीर्ण बिछौने पर, जहाँनारा पड़ी थी और केवल एक धीमी साँस चल रही थी। औरंगजेब ने देखा कि यह वही जहाँनारा है, जिसके लिए भारतवर्ष की कोई वस्तु अलभ्य नहीं थी, ---- वह इस तरह एक कोने में पड़ी है।"
प्रसाद : जहाँनारा ; पृ० ७० -

मीना[1]

मीना करुणा को ही जीवन का स्वर मानती है। सेनापति विक्रम प्रांत का शासक बन जाता है, किंतु मीना उन्हीं स्वर्ग के खंडहरों में उन्मुक्त घूमा करती है। वह व्यथित होकर कहती है :-

" मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूं। मुझे किसी टूटी डाल पर अंधकार बिता लेने दो। इस रजनी विश्राम का मूल्य - अंतिम तान सुनाकर जाऊंगी।"[2]

फिरोजा[3] -

फिरोजा एक तुर्कबाला थी। उसके हृदय की असीम करुणा सर्वप्रथम बलराज को गजनी नदी के किनारे कछार में छुरा भोंक कर अपने आप मरने से बचा लेती है। यद्यपि बलराज तुर्कों से जिहून के किनारे लड़ने गया था। फिरोजा के स्नेह की सीमा में तुर्क और हिंदू का कोई भेद नहीं है। वह बलराज को एक प्रकार से उलाहना देती हुई कहती है कि जीवन जीने के लिए है, बेकार में मरने के लिए नहीं, मरना ही है तो कोई महान् कार्य करते हुए मरा जाय, तब वह मृत्यु बहुत ही स्पृहणीय हो जाती है। परंतु सुख-दुख के व्यक्तिगत कारणों पर मृत्यु की शरण जाना एक कायरता है। बलराज से वह कहती है - " सुख जीने में है बलराज। देखो हरी - भरी दुनिया, फूल- बेलों से सजे हुए नदियों के सुंदर किनारे, सुनहला सवेरा, चांदी की रातें। इन सबों से मुंह मोड़कर आंखें बन्द कर लेना। कभी नहीं। इससे बढ़कर तो इसमें हम लोगों की उछल- कूद का तमाशा है। मैं तुम्हें मरने न दूंगी।"[4]

अभी नहीं जब उसे पता चलता है कि बलराज ने किसी युवती को यह आश्वासन दे रखा है कि, जब वह अमीर हो जायेगा तो उससे शादी करने के लिए

१- स्वर्ग में खंडहर कहानी की नारी पात्र -
२- प्रसाद : " स्वर्ग के खंडहर " ; पृ० ७८ -
३- आंधी कहानी संग्रह की "दासी" कहानी की नारी -
४- प्रसाद : आंधी , "दासी " ; पृ० ९५ -

आयेगा। तो उस युवती के लिए उसके हृदय में एक स्नेहातुर करुणाभाव उत्पन्न हो जाता है, और नारी हृदय की समानुभूति व्यक्त करती हुई वह कहती है कि तुम्हारा समृद्ध होना उस युवती के लिए संभवत: इतना महत्वपूर्ण न होता जितना कि उससे यों ही प्रेमवश एक बार मिलने के लिए चला आना। बलराज से कुछ तुनकती हुई वह कहती है :- " तब भी मरने जा रहे थे। लाहौर से लौट कर उससे भेंट करने की, उसे एक बार देख लेने की, तुम्हारी इच्छा नहीं हुई। तुम बड़े पाजी हो। जाओ, मरो या जिओ, मैं तुम्हें न बोलूँगी।"[1]

यद्यपि फिरोजा स्वयं बलराज के व्यक्तित्व पर मुग्ध है, परंतु यह जान लेने के उपरांत कि बलराज को चाहने वाली कोई एक और भी है, उसकी करुणा का स्रोत उस अज्ञात बाला की ओर प्रवाहित होने लगता है। उसकी अपनी विवशता है कि, " बलराज! न जाने क्यों मैं तुम्हें मरने देना नहीं चाहती।" किंतु उसी समय आत्मानुभूति दूसरे के सुख में विगलित हो उठती है, और वह करुणाभाव से कहती है - " वह तुम्हारी राह देखती हुई कहीं जा रही हो तब! आह! कभी उसे देख पाती तो उसका मुख चूम लेती, कितना प्यार होगा उसके छोटे से हृदय में। लो, ये पाँच दिरम, मुझे कल राजा साहब ने इनाम के दिए हैं। इन्हें लेते जाओ। देखो, उससे जाकर भेंट करना।"[2]

फिरोजा परम दुखी होकर बलराज को भेज देती है। उसे यह संदेश भी देती है कि " कहीं तुम्हारी वह मिल जाये तो किसी झोपड़ी में ही काट लेना, न सही अमीरी, किसी तरह तो कटेगी। जितने दिन जीने के हों इन पर भरोसा रखना।"[3] किंतु उसे मालूम है कि वह किस अमूल्य धन को अपने पास से दूर किसी दूसरे के हित में वापस लौटा रही है। यह करुणापूर्ण त्याग उसे महानता की कसौटी पर ला खड़ा करता है, और स्वाभाविक ही था कि,

---

१- प्रसाद : आँधी, " दासी " ; पृ० ५६-
२- वही ,, ,, ; पृ० ५७ -
३- वही ,, ,, ; पृ० ५७, ५८ -
४- वही ,, ,, ; पृ० ५७ -

" पिरोजा की आँखों में आँसू भरे थे, तब भी वह जैसे हँस रही थी।"[1]

जौहरी पिरोजा का अपमान करता है। नियाल्तगीन उसे मार डालना चाहता है, किंतु पिरोजा उसे मारने से मना कर देती है। यह भी उसकी व्यापक करुणार्द्रता का उदाहरण है।

पिरोजा में करुणा, प्रेम, सहृदयता और त्याग का एक अद्भुत समन्वय हो गया है। बलराज से प्रेम करती हुई भी वह इरावती के हित में स्वयं अपने प्रेम को कभी प्रकट नहीं करती। वह इरावती और बलराज दोनों के प्राणों की रक्षा करती है। अंत में बलराज जाटों का सरदार बन जाता है और इरावती वहाँ की रानी। जनाब का प्रांत महारानी इरावती की करुणा से हरा-भरा हो जाता है, किंतु उसके मूल में पिरोजा की करुणा ही आभासित होती हुई दिखाई पड़ती है। उसी के त्याग और उसी की महानता का परिणाम था कि इरावती को यह पद मिला, किंतु बदले में पिरोजा को क्या मिला, यह स्वयं ही बहुत करुण है - " पिरोजा की प्रसन्नता की वह वहीं समाधि बन गई - और वहीं वह झाड़ू देती, फूल चढ़ाती, और दीप जलाती रही। उस समाज की वह आजीवन दासी बनी रही।"[2] एक युवती का स्वयं अपने प्रेम को दूसरी युवती के हित करुणाप्लावित होकर इस प्रकार न्यौछावर कर देना, और अपने लिए सेवावृत्ति के अतिरिक्त किसी बात की कामना न करना, पिरोजा के व्यक्तित्व की वह महानता है, जिसकी तुलना में संसार की बहुत कम नारियों को लिया जा सकता है।

दुखिया[3]

'दुखिया' के माध्यम से भी प्रसाद जी ने गरीब के जीवन की करुण-कथा का चित्रण किया है। दुखिया अपने बूढ़े बाप का पेट पालने के लिए घास छीलकर

१- प्रसाद : आंधी, ' दासी ' ; पृ० ५८ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ७५ -
३- प्रतिध्वनि कहानी संग्रह की ' दुखिया ' कहानी की नारी -

जमींदार के अन्तःपुर में पहुंचाने का काम करती है, किंतु उसके हृदय में बसनेवाली करुणा उसे जीवन की विवशताओं और बाध्यताओं को भी भुला देती है। जमींदार के कुमार मोहनसिंह के घोड़े पर से गिर जाने पर अपने इसी भाव से प्रेरित होकर उनकी सहायता पहुंचाती है। कुछ देर के लिए इस बात को भूल जाती है कि घास की गट्ठर भी उसे समय से भीतर पहुंचाना है। यहां तक कि इसके परिणामस्वरूप उसे डांट का शिकार भी बनना पड़ता है। ग्राम जीवन का कितना यथार्थ और करुण चित्रण विधवा दुखिया की दयनीय स्थिति के माध्यम से प्रसाद जी ने किया है।

नारी के व्यक्तित्व में प्रसाद ने समाज की सुरक्षा के तत्व के रूप में करुणा को निहित किया है। नारी न केवल स्रष्टा है, वरन् विश्व की संरक्षक भी है, और वह अपने करुणा के भाव को लेकर ही।

कल्याण-भावना

नारी के व्यक्तित्व में प्रसाद ने जिस प्रेम, समर्पण, सेवा, त्याग और करुणा के तत्वों का विधान किया है, उसकी चरम परिणति है, उसका कल्याणी रूप। प्रसाद की यह दृष्टि अद्भुत है, अपूर्व है, जिसमें उन्होंने नारी के चिरमंगल स्वरूप का सृजन किया है।

नारी के संबंध में प्रसाद की अपनी कुछ निश्चित धारणायें थीं। वे नारी में मानवत्व गुणों के तत्वदर्शी थे। नारी को उन्होंने जीवन की पूर्णता का प्रतीक माना है। सत्य कठोर होता है। सौंदर्य में कल्पना का पुट होने के नाते यथार्थ नहीं होता। सत्य के यथार्थ और सौंदर्य के कल्पनामूलक तत्वों को परस्पर सामंजस्य में लाने का काम "शिवत्व" किया करता है। यह शिवत्व एक ऐसा उत्कृष्ट गुण है, जो यथार्थता की उलझनों और सौंदर्य की काल्पनिक उड़ानों को परस्पर मिलाकर जीवन के कल्याणमय सृजन का वातावरण प्रस्तुत करता है। जीवन की पूर्णता के लिए शिव तत्व का होना नितान्त आवश्यक है। प्रसादने नारी को इसी शिव तत्व का प्रतिरूप माना है।

प्रसाद ने अपने जीवन में जो पाया,वह था अन्त: और बाह्य का एक अभाव का संसार।

मनु के मुख से मानों वे स्वयं बोल पड़ेंगे -

" चिंता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख की ;
उतनी ही अनंत में बनती
जाती रेखायें दुख की"।[1]

इसमें शाँति नहीं ; तृप्ति नहीं।

प्रसाद ने यह भी देखा कि पुरुष तत्व का सारा संकल्प - विकल्प और प्रयास केवल जीवन की कठोरताएं और अवसाद उत्पन्न करता है। इस अवसाद के बीच आशा की किरण बनकर फूट पड़ने वाली नारी है, जिसके मंजुल आभास को पाकर पुरुष अपने आपमें जीवन के संचार का अनुभव करने लगता है। नारी की सहृदयता, स्नेह - स्निग्धता, और करुणा, उसे जीवन के सत् कर्त्तव्य की ओर ले जाती है।[2] निश्चेष्ट और संज्ञाशून्य पुरुष तत्व के लिए नारी की

१- प्रसाद : " चिंता सर्ग " ; पृ० ६ -
२- " तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद ;
तरल आकांक्षा से है भरा,
सो रहा आशा का आह्लाद।"
प्रसाद : कामायनी, " श्रद्धा सर्ग " ; पृ० ५५ -

यह उत्प्रेरणा बहुत ही जीवनदायिनी सिद्ध होती है।[१] मानो मधुकरी की मादक गुंजार उसे सोते से जगा देती है, और उसमें यह अनुभव होने लगता है कि वह मैं भी कुछ हूं ; मुझमें भी कुछ जीवन है ; मुझे भी जीवन पथ के निर्माण की ओर अग्रसर होना है ; मेरे ही अस्तित्व के कारण जीवन की बेलि फिर से पल्लवित होकर फैल सकती है।[२]

केवल कामायनी में ही क्यों, अपनी अन्य सभी रचनाओं में प्रसाद ने नारी में शिव तत्व के दर्शन किये हैं। शैव दर्शन में नारी शक्ति की प्रतीक है। बौद्ध दर्शन में नारी करुणा की प्रतिमूर्ति है। प्रसाद जी ने अपनी नारी परिकल्पना में शक्ति और करुणा का समावेश कर दिया है। इसीलिए उन्होंने नारी को जहां एक ओर शक्ति की प्रेरणा के रूप में चित्रित किया है, वहीं उसमें अगाध करुणा भी लाकर भर दिया है। उसकी यह करुणा जीवन में समरसता का संचार करती है, और आनंद की प्राप्ति में सहायक बनती है। कामायनी का तो महाकाव्य ही इसी तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए सृजित किया गया है।[३]

१- " दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलंब ;
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊं मैं बिना अवलंब ? "
प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा सर्ग' ; पृ० ५६ -

२- " बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय,
सुमन के खेलो सुंदर खेल।"
प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा सर्ग' ; पृ० ५७ -

३- कृपया कामायनी के आनंद सर्ग को देखें।

इसके ठीक विपरीत प्रसाद ने पुरुष को अधिकार, ऐश्वर्य, शौर्य पराक्रम, और सृष्टि का उन्नायक माना है। वह मूलतः बुद्धि प्रधान होता है, बुद्धि के ताने - बाने अलकों की तरह बिखरे रहते हैं।[1] वह बुद्धि का आश्रय लेकर बुद्धिवादी हो जाता है। भौतिकवाद उसे प्रलोभनों, अधिकारलिप्साओं और कुवासनाओं की ओर घसीटता है। इसी का परिणाम है कि वह पतन की ओर जाता है और अपनी ही सृष्टि के भीतर अपने आपके विरुद्ध अतृप्ति, असंतोष, दौर्मन और वितृष्णा की ज्वाला धधका दिया करता है।[2] यदि वह निरंतर बुद्धि का सहारा लेकर बढ़ता रहा तो परिणाम एक विध्वंस के रूप में होता है। प्रसाद को यह विध्वंस कदापि प्रिय नहीं है। वे सरस सृष्टि के रागात्मक कवि हैं। इसीलिए उनकी कल्पना की नारी पुरुष की उस विशृंखल सृष्टि में जीवन की समरसता का अलौकिक्य पीयूष लेकर आती है, और मर्मकथाओं में विधाविता और कलांत पुरुष के जीवन में एक नवीन आह्लाद का सृजन कर देती है।[3]

प्रसाद की नारी जीवन के धरातल पर एक अखंड यौवना की भाँति एक हाथ में जीवन की ललकार और दूसरे हाथ में अक्षय करुणा का कुंभ लिए खड़ी है। वह पुरुष के हेतु कर्तव्य पथ का निर्माण करती तथा अगाध श्रद्धा, विश्वास, सेवा, त्याग और समर्पण के द्वारा उसकी अतृप्तियों की पूर्ति करती है, और जीवन का एक पाथेय तैयार करती है।

नारी की त्यागमयी मूर्ति और उसका कल्याणी रूप प्रसाद जी की भावनाओं में इतना भर गया है कि बार- बार चित्रण करने के बाद भी उन्हें संतोष नहीं होता, और क्या नाटक, क्या कहानी, क्या उपन्यास, और क्या कविता सभी चीजों में वे नारी के उसी पावन और उदात्त कल्याण-प्रद रूप

१- बिखरी अलकें ज्यों तर्क - जाल

प्रसाद : कामायनी, "इड़ासर्ग" ; पृ० १६८ -

२- कृपया कामायनी का इड़ा सर्ग देखिये।

३- आनंद सर्ग देखिए।

को उपस्थित करते जाते हैं।[१-४]

प्रसाद जी का नारी के प्रति यह दृष्टिकोण एक दृढ़ स्वस्थ और उन्नत संस्कृति के निर्माण का परिचायक है तथा रीतिकाल की लंबी परंपरा में नारी के नाम पर जो कुत्सित और व्यभिचारपूर्ण भावनायें घर कर गयी थीं, उनके विरोध में एक महत्वपूर्ण क्रांति का उद्घोषक है।

प्रसाद नारी में कलात्मक गुणों की कल्पना करते हैं, किन्तु यह कलात्मक गुण किसी वासना के उद्दीपन के रूप में नहीं, जीवन की आदर्श और कल्याणप्रद प्रतिस्थापना के आलंबन के रूप में है। प्रसाद नारी में भौतिकवाद और बुद्धिवाद के निरंतर पनपते जाने के विरोधी हैं। उन्हें स्वयं अपने जीवन में विशिष्ट नारियों की करुणा मिली थी। उस करुणा का प्रसाद ही था कि उनके मरूभूमि जैसे हाहाकार करते हुए हृदय में किसी विकल रागिनी का बजना आरंभ हुआ।[५] आंसू काव्य में अवश्य प्रसाद ने उस नारी के करुणा रूप को चित्रित किया, जिसने आ-आकर उनकी स्मृतियों के वातायन में हाहाकार मचा दिया था। यहाँ तक कवि आत्मवादी रहा, किंतु आगे चलकर प्रत्येक रचना में कवि का वह गंभीर व्यक्तित्व मुखरित हुआ, जिसने नारी जीवन को एक नूतन निर्माण का संदेश दिया, और जिसने युग-युग से उपेक्षिता नारी को एक महान अस्तित्व प्रदान किया।

प्रसाद ने नारी के विविध रूपात्मक व्यक्तित्व को चित्रित करते हुए भी

१- कविता ई
२- कहानी ई
३- उपन्यास ई
४- नाटक ई
५- इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?
प्रसाद : आंसू ; पृ० ७ -

प्रसाद ने नारी के विविध रूपा व्यक्तित्व को चित्रित करते हुए भी उसके शाश्वत और चिरंतन रूप की भी कल्पना की है। उनके विचारों से नारी मूल रूप में जीवन के अशांत प्रभंजन का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह शांति, स्नेह सहानुभूति, ममत्व, त्याग, समर्पण, विश्वास, श्रद्धा आदि गुणों की सात्विक-रूप में प्रतिष्ठा करती है। इसे प्रसाद जी ने " समरसता " की संज्ञा दी है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया अर्थात् पूर्ण मनोवेग से समाज के कल्याण और नूतन निर्माण की प्रेरणा देना ही नारी जीवन का मुख्य लक्ष्य है। " कामायनी " इस लक्ष्य का उद्घोष करने वाला उत्कृष्टतम् महाकाव्य है। प्रसाद ने अपनी अन्य रचनाओं में नारी को सबल अभिव्यक्ति देने के लिए जिस किसी भी पात्र को चुना है, उसमें अन्ततः उसका कल्याणी रूप ही सबसे अधिक शाश्वत और वरणीय माना है। यही कारण है कि उनकी प्रत्येक नारियों के संपर्क में ऐसे पुरुष पात्र आते हैं, जो नारी की प्रेरणा से ही मंगल का पथ - प्रदर्शन करते हैं। उदात्त प्रकृति के नारी पात्र भी अनुदात्त नारियों को कभी पथभ्रष्ट नहीं होने देती, उन्हें उचित मार्ग दर्शन प्रदान कर जीवन के उच्चतम धरातल पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती हैं।[१]

प्रसाद जी नारी में उदात्त गुणों के उपासक थे, और नारी के उदात्त गुण जीवन की समरसता के परिचायक हैं, इसीलिए प्रसाद द्वारा चित्रित नारी का कल्याणी रूप अत्यंत ही भव्य और पावन है।

१- (क) जैसे इड़ा को श्रद्धा द्वारा मार्गनिर्देशन -
   (ख) कल्पना को मालती द्वारा मार्गनिर्देशन -
   (ग) विजया को देवसेना द्वारा मार्गनिर्देशन -

कला - चेतना -

ललित कलायें जीवन की स्निग्धता और हृदय की वृत्तियों के उदात्ती-करण की परिचायक हैं। प्रसाद जी जीवन की इस स्निग्धता और संवेदनशीलता के पोषक थे। उनके समस्त साहित्य से इस बात का परिचय मिलता है जो मानव के कोमल अंश का परिचायक है। किसी भी देश की बाह्य समृद्धि वहाँ के स्थूल शिल्पों और उद्योगों के विकास पर निर्भर करती है, किंतु किसी भी देश की आभ्यांतरिक और सांस्कृतिक समृद्धि का सर्वाधिक प्रबल मापदंड वहाँ की ललित कलायें ही प्रस्तुत किया करती हैं। प्रसाद जी ने अपने साहित्य में बाह्य समृद्धि के भौतिक शिल्पों, उद्योगों और व्यवसायों का जहाँ चित्रण किया है, वहीं वे भारतीय संस्कृति की प्रमुख आधार-स्तंभ ललित कलाओं का भी स्थान - स्थान पर गौरव गान करते हैं। इन कलाओं के गौरव गान के साथ ही उन्होंने वैदिक काल से लेकर मुगल काल तक की कलाओं के प्रस्फुटन के लिए अनुकूल पात्र भी ढूंढ निकाले हैं।

स्थूल उद्योगों का प्रतीक आदि परंपरा से पुरुष हैं। सूक्ष्म ललित कलाओं को निरंतर प्रस्फुटित करने वाली नारियाँ हैं, जो स्वभाव से कोमल, संवेदनशील और कलाप्रिय होती हैं। भारतीय संस्कृति में कलाओं के संरक्षण और प्रस्फुटन का दायित्व प्राचीन काल से ही यहाँ की नारियों के ऊपर रहा है। प्रसाद जी ने अपने साहित्य में इस तथ्य को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है और विभिन्न नारी पात्रों में विभिन्न कलाओं के प्रति रुचि और कुशलता अभिव्यक्त की है। "आधुनिक कवि ने नारी के ललित रूप में कला का समन्वय देखा है।"[१] अपने नारी पात्रों में भी प्रसाद जी ने जिन कलाओं की अभिव्यक्ति की है, उनमें मुख्यतः संगीत, नृत्य, चित्रकला, युद्ध-संचालन आदि हैं। आगे हम विभिन्न नारी पात्रों में पाई जाने वाली कलात्मक निपुणता का परिचय देंगे।

१- डा० शैलकुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना ; पृ० १०० -

संगीत

श्रद्धा ललित कलाओं के प्रति अत्यंत ही आस्थावान है। किशोरावस्था से ही उसमें ललित कलाओं को सीखने की एक तीव्र अभिलाषा है। अपनी इसी अभिलाषा से वह गंधर्वों के देश अर्थात् मरतखंड की ओर घूमती हुई चली आयी थी। भारत के रम्य वातावरण में कलाओं के विकास का सहज संभाव्य प्रसाधन उपलब्ध है। यहाँ की संस्कृति में एक अतीन्द्रिय मधुरिमा है, और उस मधुरिमा में एक महान् संदेश सोया हुआ है। उसी महान् संदेश को ढूंढती हुई वह इधर को निकली है :-

भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान[1]

< < < <

कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुंदर सत्य।[2]

< < < <

मधुरिमा में अपने ही मौन,
एक सोया संदेश महान।[3]

इस प्रकार ललित कलाओं की आतुर जिज्ञासा लिए श्रद्धा का मन और उसके पैर बढ़ते चले आये, और झलमालाओं के इस पार उसने जो सौंदर्य देखा, वह वास्तव में उसी तृप्ति का एक रूप है जो ललित - कलाओं की अभिव्यक्तियों द्वारा हुआ करता है -

" आंख की भूख मिटी यह देख
आह कितना सुंदर संभार।[4]

१- प्रसाद : कामायनी, " श्रद्धा " ; पृ० ५१ -
२- वही ,, ,, : पृ० ५१ -
३- वही ,, ,, ; पृ० ५१ -
४- वही ,, ,, ; पृ० ५१ -

मातृत्व भार से विधक्त श्रद्धा ऐसे समय में संगीत का सहारा लेती है। जब मनु मृगया के लिए चले जाते हैं, श्रद्धा बाट जोहती - जोहती थक जाती है और एकाकीपन में हाथ में तकली घुमाती हुई जीवन का यथार्थ राग दोहराती जाती है। उसके संगीत में जीवन के नूतन निर्माण की एक प्रेरणा है :-

चल री तकली धीरे - धीरे
   प्रिय गये खेलने को अहेर
जीवन का कोमल तंतु बढ़े,
   तेरी ही मंजुलता समान;
चिर-नग्न प्राण उनमें लिपटें
   सुंदरता का कुछ बढ़े मान।
किरनों - सी तू बुन दे उज्ज्वल
   मेरे मधु जीवन का प्रभात,
जिसमें निर्वसना प्रकृति सरल
   ढंक ले प्रकाश से नवल गात।[1]

तकली स्वयं जीवन की सक्रियता की द्योतक है। तकली से जो धागे निकलते हैं, उनसे वस्त्र बनता है। वस्त्र तन की लज्जा ढकने के काम आता है। शरीर के लिए वस्त्र वही काम करता है जो सत्यम् और शिवम् के लिए सुन्दरम् किया करता है। सौन्दर्य की स्निग्ध छाया में यदि सत्य और कल्याण को परिवेष्ठित नहीं कर दिया जायेगा, तो सत्य कोरा सत्य अर्थात् नंगा सत्य रह जायेगा। नंगा सत्य जीवन की कठोरता का द्योतक है। प्राणों को सौंदर्य के स्निग्ध और स्नेहिल वातावरण में ले जाने का काम संगीत द्वारा हो सकता है। अत: तकली तन की लज्जा को ढकने का काम करे, और संगीत युग-युग से आकुल प्राण के लिए एक स्नेहिल वातावरण तैयार करे, तभी जीवन का यथार्थ, कल्याणमय और सुंदर हो सकेगा। श्रद्धा का यह गीत वस्तुत: जीवन की सार्थकता का

१- प्रसाद : कामायनी, 'श्रद्धा' ; पृ० १५१ -

संगीत है।

नारी न केवल कलाकृति और कलाकार है, वरन् कला की मूल प्रेरणा भी है। कला की अभिव्यक्ति सुंदर अर्थात् सौन्दर्यबोध का कारण है। भारतीय संस्कृति में सत्यम् एवं शिवम् को सुन्दरम् के स्निग्ध आवरण में प्रस्तुत किया जाता है। सुंदरम् की इस पिपासा की तृप्ति में कला - सौंदर्य और संगीत का अपना विशेष स्थान है। भारतीय संगीत में वह शक्ति है, जो दुखों के घोर गह्वर में भी सुखों की ओर निराशा के विकट बादलों के बीच भी आशा की सौदामिनी चमत्कृत कर देता है। प्रसाद के संगीत में भी जीवन की उसी अभिव्यक्ति का आभास है।

देवसेना[1] संगीत के प्रति अपूर्व अनुराग से युक्त है। देवसेना विजया से कहती है - " नये ढंग के आभूषण, सुंदर वसन, भरा हुआ यौवन - यह सब तो चाहिए ही; परंतु एक वस्तु और चाहिए ----- और फिर दो बूंद गरम-गरम आँसू, और उसके बाद एक तान वागीश्वरी की - करुणा - कोमल तान। बिना उसके सब रंग फीका।"[2]

विजया कौतूहल भरे शब्दों में देवसेना से पूछती है कि क्या ऐसे समय में भी वह गायन पसंद करेगी? इस पर देवसेना संगीत की एक बहुत व्यापक परिभाषा प्रस्तुत करती है - " बिना गान के कोई कार्य[3] नहीं, विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल है। अहा! तुमने सुना नहीं? ---"

विजया संगीत की सार्थकता पर एक शंका प्रकट करती है, और गायन को भी एक रोग बतलाती है। यद्यपि स्पष्ट शब्दों में वह संगीत का विरोध करती है, किंतु उसके विरोध में भी यह स्पष्टरूप में आभासित होता है कि उसे संगीत का पूरा ज्ञान है। उसका संगीत के प्रति विरोध भाव एक प्रासंगिक कथन है -

---

१- स्कंदगुप्त।

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " द्वितीय अंक "; पृ० ५८, ५९ -

३- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " द्वितीय अंक "; पृ० ५९ -

" राजकुमारी ! गाने का भी रोग होता है क्या ? हाथ को ऊँचे, नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर सिर को ओर से हिला देना, जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई।"[1]

वास्तव में संगीत सृष्टि का एक व्यापक अर्थ है। सृष्टि में ही एक लय है। देवसेना दो प्रकार के संगीत का संदर्भ देती है - (१) वह संगीत जो मुखर होकर दूसरों को प्रभावित करता है (२) वह संगीत जो मूक होता है और अपने ही हृदय के भीतर अपने आपको अभिभूत करता रहता है। दोनों की परिभाषा वह इस प्रकार देती है -

(१) <u>मुखर संगीत</u> (जैसे पक्षियों का)

" विश्व का प्रत्येक परमाणु, के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता।"[2]

(२) <u>मौन संगीत</u> (जैसे पारिजात वृक्ष का)

उसका (पारिजात) स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण-पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर ताली बजाकर झूम-झूमकर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत वह स्वयं देखता है - सुनता है। उसके अन्तर में जीवन शक्ति वीणा बजाती है ----"[3]।

देवसेना एकांत टीले पर उपवन के सुंदर प्रभात में फूलों से लदे हुये पारिजात में जो मौन संगीत छिपा हुआ है, उसका उद्घोष करती हुई कहती है, " इस घने वृक्ष के नीचे एक अपूर्व प्रेम का आकर्षण है, संसार में दुखों की ज्वाला से जो भी दग्ध हुए हों, वे आकर इस वृक्ष की शीतल छाया में बैठें।

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त, ' द्वितीय अंक ' ; पृ० ५८ -

२- प्रसाद : ,, ,, ; पृ० ५८ -

३- वही ,, ,, ; पृ० ५८ -

विश्वास की छाया श्रद्धा की सरिता और आँसुओं से सींची गई परागमय धूल - यहाँ सभी कुछ हृदय की पवित्रताओं का ही वातावरण है। यहाँ कोई ऐसा नहीं है जो किसी को छल सके। यहाँ की मधुर-छाया में हवा के संघात से जब फूल चू पड़ते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि हृदय का घाव स्नेह और शीतलता के मरहम से भर गया। यह वृक्ष छवि रस की माधुरी छलका रहा है, जो जितना पीना चाहे पी ले, और अपनी जीवन - बेलि सींचकर सुख का अनुभव करे; स्नेह से गले मिले।"[1]

अजातशत्रु के तीन नारी पात्र संगीत कला में निपुण दिखाये गये हैं। श्यामा संगीत और नृत्य का व्यवसाय करती है। उसकी संगीत निपुणता के साथ ही अन्य दो नारियाँ वाजिरा और मल्लिका भी संगीत में कुशल हैं। मागन्धी के संगीत में हृदय की अन्तर्वेदना मुखरित हो उठी है। वह अपने प्रिय को हृदय में

१- घने प्रेम - तरु तले,
बैठ छाँह लो भव - आतप से तापित और जले
छाया है विश्वास की श्रद्धा- सरिता - कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले।
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा - भरी बैठो सुनते जाव,
कहाँ जा रहे चले।
पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन- बेल,
जी लो सुख से आयु - भर यह माया का खेल
मिलो स्नेह से गले।
घने प्रेम - तरु - तले।
प्रसाद : स्कंदगुप्त, "द्वितीय अंक"; पृ० ५० -

बधा लेना चाहती है, जिससे उसके शरीर और उसके मन की प्यास बुझ जाये :-

आओ हिये में अहो प्राण प्यारे !
नैन भये निर्मोही, नहीं अब देखे बिना रहते हैं तुम्हारे ।
सबको छोड़ तुम्हें पाया है, देखूँ कि तुम होते हो हमारे
तपन बुझे तन की और मन की, हाँ हम - तुम पल एक न न्यारे,[1]
आओ हिये में अहो प्राण प्यारे !

इसी तरह गुप्त जी की उर्मिला को हम एक दक्ष चित्रकार के रूप में पाते हैं।[2] शुक्ल जी की दमयंती चित्रकला, हस्तकला, गानविद्या आदि में निपुण है।[3] "अस्तु आधुनिक कवि ने नारी में कला का सफल समन्वय पाया है। व्यापक रूप से उसकी भाव प्रवणता, स्नेह और ममता में, सेवा और त्याग की क्षमता में, तथा सृजन - पालन और संहार की शक्ति में, और संकीर्ण रूप से ललित कलाओं के ज्ञान में है।"[4]

ध्रुवस्वामिनी की मंदाकिनी के संगीत में जीवन की गहनतम वेदनाओं की रागिनी गुंजरित हो रही है। वह वेदना भरे हृदय से अपने आँसुओं को ही संबोधित करती हुई कहती है :-

यह कसक अरे आँसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने - कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा।

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त "पहला अंक" ; पृ० ५२ -
२- गुप्त : साकेत "सर्ग एक" पृ० १८-२१
सर्ग नौ, पृ० २५१ -
३- शिवरत्न शुक्ल : नल नरेश ; पृ० १७ -
४- डा० शैल कुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना ; पृ० १०१ -

करुणा बन दुखिया वसुधा पर,
शीतलता फैलाता बह जा ।।[1]

वही मंदाकिनी जब सामंत कुमारों के आगे जाने लगती है तो उसके शब्दों में वातावरण के अनुकूल जीवन की चंचलता आकर थिरकने लगती है -

"पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत - शत झरने बेमेल चलें।[2]

कोमा अपने आप में एक संगीत है। वह अपने आप में सोचती है कि प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझकर चलना दोनों बराबर है। वह अंतर्मुखी होकर उन मधुर अनुभूतियों के क्षण को बचना चाहती है, जिसे उसका यौवन लेकर आया है। यौवन जो प्याले में मद बनकर छलकने लगा है, और जो जीवन वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराने लगा है, वह अवश्य ही उतना ही स्पृहणीय होगा, जितना कि कोमा का स्वयं संगीत है -

यौवन! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूंट भर पी लूं जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया!
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया।
पल भर रुकने वाले! कह तू पथिक! कहां से आया?[3]

'ध्रुवस्वामिनी' में राज दरबार में गाने और नृत्य करने वाली नर्तकियों का भी प्रसंग आया है। जिनके संगीत में मदिरा की मादकता छलकती दिखाई पड़ती है।

प्रसाद जी नारी हृदय के लिए संगीत को एक महत्वपूर्ण तत्व मानते थे। उनकी कल्पना में संगीत सहृदयता से उद्भूत होता है, और जिस नारी के हृदय में

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी, "प्रथम अंक" ; पृ० २१ -
२- प्रसाद : ,, ,, ; पृ० ३४ -
३- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी, "द्वितीय अंक" ; पृ० ३० -

संगीत का पूरक अंग है वाद्य। प्रसाद जी ने नारी की कलाप्रियता में जहाँ संगीत को लिया है वहीं वाद्य को भी। उनकी कुछ विशिष्ट नारियाँ जैसे पद्मावती, वासवदत्ता आदि वीणा बजाती हुई भी दिखाई गई हैं। इस प्रकार प्रसाद जी ने नारियों के माध्यम से कला के संरक्षण की आत्मपूरित अभिव्यक्ति दी है।

नृत्य -

जीवन की सरसता को मुखरित करने वाली कला संगीत में है, और जीवन की सुखानुभूतियों की मधुर अभिव्यक्ति नृत्य में हुआ करती है। आह्लाद के भावातिरेक में हाव - भाव प्रदर्शित करते हुए आवर्तन करने लगना दूसरी सीढ़ी है। जो भाव स्वर लहरियों से नहीं व्यक्त हो पाते, नृत्य के माध्यम से व्यक्त हो जाया करते हैं। इसीलिए संगीत और नृत्य का अटूट संबंध है।

भारत में प्राचीन काल से ही संगीत और नृत्य को संस्कृति का एक अंग माना गया है। प्रारंभ में इन दो विद्याओं में निपुण महिलाओं को बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। सबसे अधिक कलाप्रवीणा[1] नारी को नगरवधू के सम्मानित पद पर विभूषित किया जाता था। आगे चलकर यह प्रथा दूषित हो गई। कला की जीवन से ज्यों - ज्यों घनिष्टता कम होती गई, त्यों, त्यों जीवन निर्वाह के लिए नगरवधुएँ वासना की तृप्ति का व्यवसाय अपनाती गईं, और आगे चलकर इसी प्रवृत्ति ने व्यापक रूप में प्रचलित वेश्यावृत्ति को जन्म दिया। फिर भी कला का सानिध्य उनका न छूटा। इसीलिए प्रसाद जी ने दो प्रकार की ऐसी नारियों का चित्रण किया है, जो संगीत और नृत्य में कुशल हैं। एक तो कला को विशुद्ध रूप में जीवन की एक प्रेरणा मानती हैं[2], और दूसरी वे हैं, जो कलात्मकता और वेश्यावृत्ति दोनों साथ लेकर चलती हैं[3]।

१- अम्बपाली।

२- [illegible] -

३- छलना, मागन्धी -

प्रसाद जी ने कलात्मकता में किसी प्रकार के विकार के सामंजस्य की कल्पना नहीं की है। कलाप्रवीणा नारियां यदि परिस्थितियों के मायाजाल में वेश्यावृत्ति अपना लेती हैं, तो यह उनकी कलात्मकता का स्खलन है। प्रसाद जी इस स्खलन को भी स्वीकार करते हैं, किंतु जिस प्रकार से अन्य नारी समाज सभ्य और सुसंस्कृत बन सकता है, उसी प्रकार से पथ से विचलित इन नारियों के हृदयों में छिपे हुए मानवीय गुणों का परिष्कार संभव है। इस परिष्कार का सबसे बड़ा संबल है कला। यदि हम उन नारियों में शुद्ध कलात्मकता का विकास करें, तो विकार और वासना अपने आप ही दूर हो जायेगी। इसीलिए प्रसाद जी ने जिन नारी पात्रों में संगीतात्मकता के गुण का आरोप किया है, उनमें से अधिकांश ऐसी हैं, जो मावालिरेक में नृत्य करती हैं, किंतु स्थान - स्थान पर ऐसी नर्तकियां भी सामने आती हैं, जिनका नृत्य करना भी व्यवसाय है।

युद्ध संचालन -

कला का जीवन के साथ पूर्ण सामंजस्य है। कला जहां आत्मा की प्यास को एक मधुर तृप्ति प्रदान करती है, वहीं कलाप्रियता अपने चरमोत्कर्ष पर व्यक्ति समाज और राष्ट्र की प्रतिरक्षा का संबल भी प्रदान करती है। प्रसाद जी ने नारी हृदय में मुख्यत: कोमलता का आरोप किया है और तद्नुरूप संगीत, नृत्य आदि कलाओं के प्रति नारियों में विशेष आकर्षण व्यक्त किया है। किंतु कलात्मकता का दूसरा पक्ष अर्थात् प्रतिरक्षा की भावना भी प्रसाद जी से छूटी नहीं है। उन्होंने जहां नारी में कोमलता और कोमल कलाओं का आगार देखा है, वहीं उन्होंने उसका सिंहनी रूप भी देखा है जब कि वह कटार[1] या कृपाण[2] लेकर युद्ध क्षेत्र में उतर आती है। युद्ध कला के प्रति भी नारियों का यह प्रेम

१- चंपा -

२- ध्रुवस्वामिनी -

प्रसाद जी की जीवनव्यापिनी दृष्टि का परिचायक है । वस्तुत: प्रसाद ने नारी के अन्त: से बाह्य तक के सभी गुणों का सूक्ष्म परीक्षण करते हुए उसकी पूरी प्रतिमा को अपने साहित्य में उतार देने की चेष्टा की है , नि:संदेह अपने इस प्रयत्न में वे सफल रहे हैं ।

बौद्धिक चेतना -

साधारणतया प्रसाद ने पुरुष को बुद्धि प्रधान और स्त्री को हृदय-प्रधान माना है , किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने किसी भी प्रकार से नारी में बुद्धिहीनता या पुरुष में हृदयहीनता का समर्थन किया हो । वे पूर्ण समन्वयवादी थे , और जीवन के विकट मार्ग में बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष के सम्यक् समन्वय द्वारा ही मानव सृष्टि के संचार और मानव जीवन में आनंद की स्थापना करना चाहते थे । श्रद्धा के मुख से वे इसी समन्वय को नवीन मानवता [1] की परिभाषा के रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

प्रसाद की आरंभिक रचनाओं में नारी के उस रूप का दर्शन हुआ है , जो भावुकता प्रधान है । ज्यों ज्यों रचनाकाल की प्रौढ़ता हुई है , त्यों - त्यों हृदय पक्ष के साथ बुद्धिपक्ष का भी विकास हुआ । उस बुद्धिपक्ष का स्वरूप हिंसा संहार नहीं वरन् निम्नलिखित रूपों में नारी में विकसित हुआ है ।

प्रसाद की कल्पनाओं की आदर्शमयी नारी हृदय - पक्ष और बुद्धिपक्ष दोनों से युक्त है । कुछ नारियाँ तो सर्वथा बुद्धिपक्ष का ही आश्रय लेतीं और जीवन के विकास का एक स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रस्तुतकरती हैं , किंतु इन अतिवादी नारियों को छोड़कर शेष अन्य नारियों में प्रसाद ने जहाँ बुद्धिपक्ष का आश्रय लिया है , वहाँ उनमें व्यक्तित्व के गंभीर गुणों जैसे स्वाभिमान, आत्माभिमान,

---

१- श्रद्धा -

कर्तव्यप्रेम, देशप्रेम, विश्वप्रेम आदि से युक्त देखा है।

वस्तुत: प्रसाद जीवन में किसी भी प्रकार की अतिशयवादिता के विरोधी हैं। न वे हृदयपक्ष को उस सीमा तक महत्व देते हैं, कि जीवन की समग्र स्थूलता कृत्रिमता के पर्दे में ढक जाय और जीवन कोरा काल्पनिक बन जाय ; न वे बुद्धि-पक्ष को इतनी दूर तक प्रधानता देते हैं कि जीवन के समग्र सरसता ही धू - धू करती हुई उड़ने लगे और जीवन एक नीरस मरुभूमि के रूप में परिणत हो जाय, इसीलिए प्रसाद ने जिन नारियों में बुद्धिपक्ष की कल्पना की है, उन्हें वे भौतिकवाद और पार्थिव विकास के मायाजाल में उलझाना भी नहीं भूले हैं। अंत में उन सबके लिए एक ही राजमार्ग तैयार किया है, और वह है जीवन की समरसता का मार्ग। नारी के व्यक्तित्व में बुद्धिपक्ष के विकास को प्रसाद ने इन तत्वों जैसे (स्वाभिमान, कर्तव्यचेतना, देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम) के रूप में अभिव्यक्त होता हुआ देखा है।

स्वाभिमान -

स्वाभिमान व्यक्तित्व का एक महानतम गुण है। पुरुष और नारी दोनों के व्यक्तित्व को प्रौढ़ता और पूर्णता प्रदान करने वाला यही गुण है। जिस देश के नागरिकों में स्वाभिमान न होगा, वह देश या वह जाति कभी भी पुष्ट और आत्मनिर्भर नहीं हो सकती।

भारतीय नारी प्राचीन काल में अवश्य स्वाभिमान से पूर्ण थी। इसीलिए उसका प्राचीन गौरव अधिक स्पृहणीय है। परिस्थितियों की विडंबना ने, यद्यपि उसमें निरंतर अपने सतीत्व और पतिव्रत्य की रक्षा की, फिर भी उसके स्वाभिमान को प्रकट रूप में प्रस्फुटित होने का अवसर न मिल सका। रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने तो उसके स्वाभिमान को बिल्कुल ही वासना के आवरण से ढक दिया। यहाँ तक कि लगभग तीन सौ वर्षों तक शिक्षित समाज में नारी को केवल नायिका मुग्धा, नवोढ़ा, खंडिता, ~~प्रौढ़ा~~,

प्रोषितपतिका, अभिसारिका, स्वकीया, परकीया सजैस्नाता, कामपीड़िता, संयोग-उद्वेलिता, वियोग-विह्वला, अनुकूलरति-अभिलाषिणी, विपरीत-केलिक्रीड़िता आदि रूपों में ही पहचाना जाता था। यहाँ तक कि मानिनी और खंडिता, रूपगर्विता और प्रेमगर्विता का स्वाभिमान भी कामजनित ही था।

प्रसाद ने युग-युग से सोये हुए नारी के उस स्वाभिमान को कुरेद-कुरेद कर उजागर किया। उन्होंने उसे अपने साहित्य के माध्यम से जीवन की यथार्थता के सुचिक्कण और स्निग्ध मार्ग की ओर प्रेरित किया। वैदिक काल से लेकर राजपूत काल तक, मुख्यत: बौद्ध और गुप्त काल में पाये जानेवाले महान् नारी पात्रों को उन्होंने सुषुप्ति के गह्वर से बाहर निकाला, और अपनी कल्याणमयी कल्पना के पुट से उन पात्रों में उन्होंने स्वाभिमान का सृजन किया। निश्चय ही यह नारी स्वाभिमान भारतीय नारी जीवन और संस्कृति की पूर्णता का पोषक है।

स्वाभिमान के भाव की अभिव्यक्ति करने वाले मुख्य नारी पात्र राज्यश्री, मधूलिका, देवसेना, मंदाकिनी, ध्रुवस्वामिनी, मल्लिका, कल्याणी, अंधा भिखारिन बालिका, दुर्बल बुढ़िया, तितली आदि हैं।

स्वाभिमान नारी की परमोज्ज्वल विशेषता है। "राज्यश्री" नाटक की उदात्त नारी पात्री राज्यश्री में हमें नारी स्वाभिमान के दर्शन होते हैं। वैधव्य उसके नारी स्वाभिमान को जागृत करने का आधार स्तंभ बन जाता है। भिक्षु शांतिदेव उसको प्राप्त करना चाहता है। वह उसकी लोलुप लालसाओं के चक्र से अपने आपको बचाती हुई परिस्थितियों का स्वाभिमान पूर्वक सामना करती है। सर्वप्रथम तो वह शांतिदेव को सीधे रास्ते पर लाना चाहती है। बड़ी ही दृढ़ और निर्णायक [illegible] टोकती हुई कहती है -[1] "भिक्षु तुमने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है, किंतु तुम्हारा हृदय अभी ----"।

१- प्रसाद : राज्यश्री ; पृ० २१ -

राज्यश्री का स्वाभिमान भी समानांतर रूप में दृढ़ होता जाता है। वह देवगुप्त को फटकार भरे शब्दों में कहती है - " तुम देवगुप्त? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो - मैं तुम्हारी दासी नहीं हूं। एक निकृष्ट प्रवंचक का इतना साहस!"[1]

उसका स्वाभिमान फुंकारते हुए नाग की भांति जग पड़ता है। वह कहती है - " बस मैं सचेत हूं देवगुप्त! मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है। मैं तुम्हारा वध न कर सकी, तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती?"[2]

स्वाभिमान जीवन और मरण में भेद नहीं करता। वह प्राणों को अपनी हथेली पर लेकर चलता है, और मरण भी उसके लिए एक त्योहार बनकर आता है। वह कहती है :- " अस्त होते हुए अभिमानी भास्कर से पूछो - वह समुद्र में गिरने को कितना बड़ा उत्सुक है। पतंग - सदृश निरीह हृदय से पूछो कि जल जाने में वह अपना सौभाग्य समझता है या नहीं। और तुम तो सैनिक हो, मरने ही का वेतन पाते हो।"[3] इन पंक्तियों में राज्यश्री के एक ऐसे निर्भीक व्यक्तित्व का चित्र उभरकर सामने आता है, जो कि उसे एक सामान्य नारी से कहीं पृथक - दूर कहीं वीर क्षत्राणी की कोटि में बैठा देता है।

मधूलिका[4] में आत्मसम्मान का तत्व अत्यंत व्यापक रूप में दिखाई पड़ता है। उसे अपनी धरती पर अभिमान है। धरती बेचकर वह राजा से किसी प्रकार का अनुदान नहीं ग्रहण करना चाहती। धरती के प्रेम के आगे अपने व्यक्तिगत प्रेम को भी ठुकरा देना उसके लिए एक क्रीड़ा मात्र है।

धरती के छीने जाने का विषाद मधूलिका के हृदय पर बहुत ही गहरा

१- प्रसाद : राज्यश्री, द्वितीय अंक ; पृ० [illegible] -
२- वही ,, ,, ,, ; पृ० [illegible] -
३- प्रसाद : राज्यश्री ; पृ० ७० -
४- आकाशदीप ।

पड़ता है और वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के नीचे चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रह जाती है। यहाँ तक कि रात्रि के उस निस्पंद वातावरण में जब वह अपने पास मगध के राजकुमार अरुण को प्रणय निवेदन करती हुयी पाती है, तो प्रथम दृष्ट्या उसका प्रणय उसे भावविह्वल नहीं करता, अपितु उसका स्वाभिमान उसे ठोकर मारता है, और वह राजकुमार के प्रणय निवेदन को अपने हृदय के घाव पर नमक छिड़कने के समान मानती है। मधूलिका को अपने पूर्वजों से प्राप्त धरती के उस खंड पर अभिमान है, जो राज्योत्सव के लिए चुना गया। किन्तु इससे भी अधिक स्वाभिमान उसे इस बात का है कि वह एक कृषक बालिका है और युग-युग से धरती को वह अपनी माँ समझती रही है, और उस माँ का किसी भी मूल्य पर सौदा नहीं करना चाहती - " राजकुमार! मैं कृषक- बालिका हूं, आप नंदन विहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है! मैं दुख से विकल हूं; मेरा उपहास न करो।"[१] अंत में सोने के टुकड़ों को जमीन पर फेंक देना, उसके वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति है, जिसे प्रसाद ने अंकित किया है।

देवसेना[२] में स्वाभिमान अपनी पराकाष्ठा पर है। वह स्कंदगुप्त से हृदय से प्यार करती है, किन्तु उस प्यार का प्रतिदान किसी भी रूप में नहीं ग्रहण करना चाहती। वह अपने प्रेम के बदले पूर्ण रूप से आत्मत्याग कर सकती है, किंतु स्वाभिमान नहीं छोड़ सकती। यहाँ तक कि वह अपने मोह के पाश में फँसा-कर अपने प्रेमी को अकर्मण्य नहीं बनाना चाहती। वह अपने एकनिष्ठ प्रणय का मूल्य देकर अपने सही आत्मसम्मान की रक्षा करती है।

१- प्रसाद : पुरस्कार ; पृ० १६७ -
२- स्कंदगुप्त -

वह सहृदया नारी होने के नाते प्रेममयी है, किंतु उसका प्रेम किसी आकांक्षा की भावभूमि पर नहीं खड़ा है। प्रेम की तीव्र अनुभूतियों ने एक ओर उसमें त्याग की भावना उत्पन्न कर दी है, और उसके स्वाभिमान को जगा दिया है। स्कंदगुप्त के प्रणय निवेदन करने पर और फिर कभी न अलग होने की प्रार्थना करने पर उसका स्वाभिमानी व्यक्तित्व बोल पड़ता है - " परंतु क्षमा हो सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे ; अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूँगी । मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी ; परंतु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी ।"[१]

कितना निःस्वार्थ और निष्कलुष है उसका प्रेम तथा कितना दृढ़ और अविचल है उसका आत्मसम्मान !

स्कंदगुप्त का प्रेम उससे कभी विलग नहीं किया जा सकता। उसके त्याग में, उसके स्वाभिमान में उसकी विजय है, स्कंदगुप्त भी उसकी विजय स्वीकार करता है।[२]

रीतिकालीन मानिनी नायिका का मुख्य भाव असूया (ईर्ष्या) होता था, किंतु देवसेना के प्रेम में ईर्ष्या का भाव नहीं है। यही कारण है कि उसका स्वाभिमान उसके प्रेम को पराजित करता हुआ आगे निकल जाता है। वह स्कंद से वैवाहिक संबंध स्थापित करके अपने दिवंगत भाई का अपमान नहीं करना चाहती क्योंकि वह जानती है कि उसके भाई बंधुवर्मा ने स्कंदगुप्त को मालव का राज्य समर्पित किया था, उसके अनुग्रह में वह किसी प्रकार के प्रतिदान की कामना नहीं करती। वह कहती है कि - " लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।"[३]

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; " पंचम अंक " ; पृ० १३५-

२- हरीशबहादुर वर्मा : जयशंकर प्रसाद नाट्यशिल्प और कृतियों का मूल्यांकन, पृष्ठ १३९ -

३- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ६१ -

नारी स्वाभिमान का एक जीता जागता चित्र भिखारिन कहानी की भिखारिन बालिका[१] में देखने को मिलता है। वह दरिद्र है, भीख मांगकर उदर पूर्ति करना ही उसका काम है, किंतु उसमें आत्मसम्मान की ज्योति सदैव विद्यमान रहती है। उसका यही आत्मसम्मान उसे सदैव ऊपर उठाये रहता है। यहाँ तक कि निर्मल द्वारा प्रस्ताव किये जाने पर वह उसे धिक्कारती है। उसे स्मरण आता है, कि दो दिन तक याचना करने पर उसे कुछ भी नहीं प्राप्त हो सका था और आज विवाह का प्रस्ताव उसे निर्दय वाक्यों के प्रहारों ने उसके कोमल हृदय को बहुत ही चोट पहुंचायी है। यद्यपि उसे अपनी दरिद्रता का स्मरण है, किंतु उसके बीच भी उसे चैतन्यता का प्रकाश अपने हृदय में दिखाई पड़ता है। यही चैतन्यता ही उसे जागृति का संदेश देकर नीचे नहीं गिरने देती। निर्मल को फटकार बताती हुई वह कहती है - " दो दिन मांगने पर भी तुम लोगों से एक पैसा तो देते नहीं बना, फिर गाली क्यों देते हो बाबू ? ब्याह करके निभाना तो बड़ी दूर की बात है।"[२]

प्रसाद जी की विशेषता है कि वह नारी की दयनीय से दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए भी उसके हृदय में निरंतर जलती हुई स्वाभिमान की ज्योति देखते हैं, ज्वालामुखी के रूप में, जो दाहक, संहारक तो नहीं है, लेकिन अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा करती है। उसे पददलित होने से बचाती है।

नारी स्वाभिमान का यही रूप " गुदड़ी में लाल " कहानी की दुर्बल बुढ़िया के चरित्र में दिखाई पड़ता है। यद्यपि वह शरीर से कृशकाय, शक्तिहीन तथा निर्बल है, किंतु किसी की भी सहायता लेना उसे स्वीकार नहीं है। अपने परिश्रम द्वारा पेट भरने में ही उसे आत्मिक शांति का अनुभव होता है।

परिश्रम करते - करते उसका दुर्बल शरीर अचानक एक दिन मूर्छित हो

१- " आकाशदीप " कहानी संग्रह की भिखारिन कहानी।

२- प्रसाद : आकाशदीप " भिखारिन " ; पृ० ७० -

जाता है। रमानाथ गंभीर रूप से उसकी दशा पर सोचकर उसे पेन्शन देने की चेष्टा करते हैं। किन्तु बुढ़िया का स्वाभिमान इस अनुग्रह को उसे ग्रहण नहीं करने देता। जीवन भर के संचित अभिमान धन को एक मुट्ठी अन्न की भिक्षा पर बेच देना उसके लिए असह्य था। उसके इस अभिमान ने ही उसके हृदय को पराजित नहीं होने दिया। वह दुखों को झेलती हुई, प्रसन्न मुद्रा में मृत्यु के अंक में चली गयी, किंतु उसने अपने आत्माभिमान पर समाज के अयाचित अनुग्रहों की छाया न पड़ने दी।[1]

तितली नारी आदर्शों से युक्त एक गरिमामयी भारतीय नारी है। उसके जीवन साथी मधुबन के चले जाने पर उसे विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और वह उन परिस्थितियों में एक विजयिनी नारी की भाँति खरी उतरती है। किसी के संमुख अपनी तुच्छता प्रदर्शन उसे लेशमात्र भी पसंद नहीं - " ------ मुझे दूसरों के महत्त्व-प्रदर्शन के सामने अपनी तुच्छता न दिखानी चाहिए। मैं अपने भाग्य के विधान में पिसती जा रही हूं। फिर उसमें तुमको ---- घसीटकर, क्यों अपने दुख का दृश्य देखने के लिए बाध्य करूं? मुझे अपनी झाँकियों पर अवलंब करके भयानक संसार से लड़ना अच्छा लगा। जितनी सुविधा उसने दी है, उसी की सीमा में मैं लडूँगी, अपने अस्तित्व के लिए।"[2] उसका यही आत्मसम्मान उसके जीवन का पथ प्रदर्शन करता हुआ चलता है। वह मधुबन के वियोग में, जीवन का बोझ भार ढोते हुए भी इंद्रदेव की सहायता लेना स्वीकार नहीं करती। अपने इसी अभिमान के कारण, वह समाज के संमुख अपने पैरों पर खड़ी होकर, अंत तक जीवन के समस्त दुख-सुख को झेलते हुए अपनी कर्मनिष्ठा का परिचय देती है।

" प्रसाद जी तितली उपन्यास में भारतीय आदर्शों तथा संस्कृति से सम्पन्न तितली का गौरवमय चरित्र उपस्थित करते हैं।"[3]

१- तितली उपन्यास की नारी पात्र -

२- प्रसाद : तितली ; पृ० २३३-

३- डा० चंडीप्रसाद जोशी : " हिन्दी उपन्यास : समाज शास्त्रीय विवेचन" पृ० [illegible]

तितली वास्तव में एक कर्मठ और स्वाभिमानिनी नारी है। उसे हिन्दू संस्कृति पर अभिमान है। हिन्दू संस्कृति के कुछ आधारभूत मूल तत्व हैं, जिनको ग्रहण करके ही भारतीय नारी अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकती है। उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विश्लेषण इस वाक्य में हो जाता है : "तितली वास्तव में मनस्विनी है, गरिमामयी है शैला। वह अपने लिए सब कुछ कर लेगी। स्वावलंब हाँ वह उसे भी पूरा कर लेगी।"[1]

स्वाभिमान की चरम् पराकाष्ठा ध्रुवस्वामिनी[2] में दृष्टिगत होती है। वह समाज में नारी जाति की कुंठाओं की एक प्रतिक्रिया लेकर उपस्थित होती है।

उसका आरंभिक जीवन अंतर्द्वन्द्वों के अंतर्द्वन्द्व में उलझा हुआ है। एक और वह रानी होने के नाते अपने रानीपन का स्वत्व चाहती है, दूसरे नारी होने के नाते वह अपने पति की ओर से सहज स्वाभाविक पत्नीत्व अधिकार की माँग करती है, तीसरे वह समाज की ओर से नारी जीवन पर थोपे गये अमानुषिक बंधनों का प्रतिकार करना चाहती है, और चौथा नारी जीवन के बंधनयुक्त और अंधकारमय प्रकरण पर एक पटाक्षेप करना चाहती है।

रामगुप्त की कापुरुषता, क्लीवता एवं स्वार्थान्धता को अमर्यादित रूप से बढ़ते हुए देखकर उसका स्त्रीत्व विद्रोह कर उठता है। भेड़ प्रतीक है उसका जो, व्यक्तित्वहीन होकर पीड़ा कर सके। किन्तु प्रसाद की नारी विकलांग नहीं है। वह एक भेड़ का सा तुच्छ जीवन जीने की अपेक्षा जीवन को समाप्त कर देना अधिक श्रेयस्कर समझती है। उसका यह आत्मसम्मान उस समय और भी उद्दीप्त हो उठता है, जब कि रामगुप्त को यह पता चलता है कि शकराज उससे युद्ध स्थगित करने को तत्पर है, किंतु उसका मूल्य वह ध्रुवस्वामिनी के सतीत्व से आँक रहा है। और रामगुप्त किसी प्रकार का प्रतिरोध न व्यक्त करते हुए

1- प्रसाद : तितली ; पृ० २३७ -

2- 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की नारी पात्र -

ध्रुवस्वामिनी को उसकी भावनाओं के क्वाठे कर देना चाहता है। वह गरजकर कह उठती है - "निर्लज्ज ! मद्यप ! ! क्लीब !!! ओह ; तो मेरा कोई रक्षक नहीं ? नहीं मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी । मैं उपहार में देने की वस्तु शीतल मणि नहीं हूं, मुझ में रक्त की लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूंगी ।"[१] उसका यह स्वाभिमान अन्तत: उसके सतीत्व की रक्षा करता, और उसमें वह बल प्रदान करता है कि ध्रुवस्वामिनी एक विध्वंसकारिणी नारी बन सके, और एक भीषण राजनीतिक षड्यंत्र का साहस के साथ सामना कर सके। ध्रुवस्वामिनी के भीतर बैठी हुई नारी एक बार अवश्य विचलित होती दिखाई पड़ती है, किन्तु परिस्थितियों के मायाजाल में पुन: उसका क्षत्राणी रूप उभड़कर सामने आता है, और अभी तक जो अपने नारीत्व की रक्षा के लिए याचना कर रही थी, रामगुप्त के क्लीब शासन का अंत करती तथा कुमार चंद्रगुप्त के पौरुषयुक्त शासन की स्थापना करती है।

प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व में नारीगत स्वाभिमान और क्रांति की एक पराकाष्ठा प्रस्तुत की है। ध्रुवस्वामिनी अपने आप में ही एक प्रश्न और उसका समाधान नहीं है। वह पूरे हिन्दू समाज के लिए एक चुनौती है। उसने समाज की रूढ़ियों के ढूह कगरे में क्रांति की एक ऐसी स्फुलिंग विकीर्ण की है, जो निश्चय ही इन रूढ़ियों को भस्म करने और समाज में पुन: एक स्वस्थ दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। प्रसाद ने नारी संबंधी यह उद्घोष तब किया था, जब नारी के वैधव्य जीवन को एक कलंक माना जाता था और उसके पुनर्लग्न की कदापि कल्पना नहीं की जाती थी।

प्रसाद ने स्वाभिमान को नारी का आवश्यक आभूषण माना है। यह प्रसाद की क्रांतिकारी दृष्टि थी, जो मध्ययुगीन धारणा से सर्वथा भिन्न थी।

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० २८ -

मंदाकिनी[१] रूप आभूषण से पूर्ण एक शीलविनययुक्त नारी है। वह सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करती हुई पुरोहित से कहती है -" आर्य ! आप बोलते क्यों नहीं ? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म - बंधन में बाँधकर उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई संरक्षण - कोई प्रतिकार नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलंब माँग सकें ? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप संतुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते हैं ? "[२]

मंदाकिनी को स्त्री जाति पर अभिमान है। वह सदैव स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन करती, तथा स्त्रियों को सामाजिक सम्मान प्रदान करने की बात करती है।

मंदाकिनी पुरुषार्थ का प्रदर्शन, और अबला पर अत्याचार नहीं सह सकती। उसका स्वाभिमान उसे स्पष्ट विरोध करने के लिए प्रेरित करता है। वह स्वतंत्र विचारों की एक उद्बुद्ध नारी है, उसमें अधर्म और अन्याय का विरोध करने का अदम्य साहस है। सत्य कहने से उसे कोई रोक नहीं सकता। वह रामगुप्त से कहती है -" राजा का भय, मंदा का गला नहीं घोंट सकता, तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती, तो इस अपनी कुल-मर्यादा, नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते।"[३] वह नारी के अधिकारों का प्रतिनिधित्व करती हुई कहती है कि " भगवान् ने स्त्रियों को उत्पन्न करके ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है, किंतु

१- ध्रुवस्वामिनी की नारी पात्र -
२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ५४ -
३- वही " ; पृ० ६० -

तुम लोगों की पशु वृत्ति ने उन्हें लूटा है -----"[1]

इतना ही नहीं वह वीरता भरे हुए शब्दों में उद्घोष करती है कि तुम्हारी प्रवंचनाओं ने जिस नरक की सृष्टि की है उसका अंत समीप है।"[2]

मल्लिका में भी वीर क्षत्राणी और एक स्वाभिमानिनी नारी के दर्शन होते हैं। वह पति प्रेम की वासना की जंजीरों से जकड़कर अपनी लालसाओं का कैदी नहीं बनाना चाहती। उसे अपने पति पर अभिमान है। वह उनका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व स्वीकार करती है। मल्लिका पति की साहसी तथा वीरत्व मूर्ति की पुजारिन है। आदर्श नारी की भाँति वह कहती है - "वीर - हृदय युद्ध का नाम सुनकर ही नाच उठता है। शक्तिशाली भुजदंड फड़कने लगते हैं। भला वे रोकने से से रुक सकते थे।"[3]

पति की मृत्यु के पश्चात् भी उसका साहसी और विवेकी व्यक्तित्व उसे उसके स्वाभिमान से नहीं गिरने देता।

कल्याणी अपने नाम और गुण धर्म के अनुसार एक वीर क्षत्राणी और स्वाभिमान युक्त नारी है। वह स्कंद को प्यार करती है, किंतु उसका त्याग और संयम उसके प्रेम को भावुकता में परिणत नहीं होने देता। चंद्रगुप्त उसका प्रेमी उसके पिता का विरोधी है। वह अपने प्रेम की तनिक भी चिंता न करके, आत्म-सम्मान के अंकुश उसे ठुकरा देती है। चंद्रगुप्त से वह कहती है - "परंतु मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को - वह था चंद्रगुप्त।" ---- "परंतु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को - प्रेम की पीड़ा को - मैं पैरों से कुचलकर, दबा कर खड़ी रही। अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा, पिता! लो मैं भी आती हूँ।"[4] वह छुरी मारकर अपनी आत्म-हत्या कर लेती है, किन्तु अपने व्यक्तित्व और सम्मान को तनिक भी नहीं ठेस पहुंचने देती।

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ४२-
२- वही ,, ; पृ० ६२ -
३- प्रसाद : "अजातशत्रु," दूसरा अंक" ; पृ० ७० -
४- प्रसाद : "चंद्रगुप्त," चतुर्थ अंक" ; पृ० १६० -

आकाशदीप की चंपा स्वाभिमान की वेदी पर प्रेम का भी बलिदान कर देती है। वह प्रेमांध होकर बुद्धगुप्त का वरण नहीं कर लेती। उसके हृदय में इस बात की आशंका है, कि बुद्धगुप्त (उसका प्रेमी) उसके पिता का हत्यारा है। यही कारण है कि स्वाभिमानी नारी चंपा स्वाभिमान से युक्त होकर अपने प्रेम का बलिदान कर देती है।[1]

ममता एक स्वाभिमानी नारी है। वह रोहतास दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता विधवा है - हिन्दू संसार की सबसे तुच्छ और निराश्रय प्राणी। उसकी हित चिंता में लीन उसके पिता म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लेते हैं। अपूर्व स्वर्णराशि की दमक ममता की आंखों को चकाचौंध में नहीं डाल देती। वह अपने पिता का भी विरोध करती हुई कहती है -

" तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया? पिता जी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये। पिता जी। हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे?"[2]

पिता चूड़ामणि सामंत वंश का अंत समीप और शेरशाह के प्रकोप को अवश्यंभावी मानता हुआ कहता है - " ---- उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिए बेटी।"[3] ममता की कर्तव्यबुद्धि और उसका स्वाभिमान जागृत हो उठता है और वह कहती है - " हे भगवान् तब के लिए। विपद के लिए। इतना आयोजन परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस। पिता जी, क्या भीख न मिलेगी? क्या कोई हिन्दू भू - पृष्ठ पर न बचा रह जायेगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके? यह असंभव है। फेर दीजिए पिता जी, मैं कांप रही हूं - इसकी चमक आंखों को अंधा बना रही है।"[4] कितना दृढ़ और अटल स्वाभिमान है हिन्दू विधवा का, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

१- आकाशदीप कहानी संग्रह की ममता कहानी।
२- प्रसाद :"आकाशदीप" ,"ममता" ; पृ० २६ -
३- वही ,, ,, ; पृ० २६ -
४- प्रसाद : ममता ; पृ० २६ -

प्रसाद की नारी का स्वाभिमान अहंकार नहीं है। स्वाभिमान नारी चरित्र को दृढ़ता देता है, शक्ति देता है, सामर्थ्य देता है, और संपर्क में आये हुए लोगों को भी संभालने का गौरव देता है।

कर्तव्य चेतना

बौद्धिक चेतना का प्रत्यक्ष परिणाम विवेक बुद्धि का उत्पन्न होना है। विवेक बुद्धि कर्तव्याकर्तव्य की विश्लेषण बुद्धि देती है। नारी में बौद्धिक चेतना इस सिद्धांत का अपवाद नहीं हो सकती। तुलसी की कौशल्या में वात्सल्य पर कर्तव्यभाव ही विजय पाता है। प्रसाद जी ने भी ऐसे उदात्त नारी चरित्रों की सृष्टि की है, जो कर्तव्य पालन ही अपना श्रेष्ठ धर्म मानती हैं।

प्रसाद जी का विश्वास था कि नारी के सत्कर्तव्य और त्याग सार्थक तभी होंगे, जब वह पूर्ण मनोयोग के साथ उस कर्तव्य को स्वेच्छया अपनाये, जिसे वह कर रही है, और उस पर समाज का कोई बंधन न हो कि उसे उस कर्तव्य का पालन उसी रूप में करना है। तथा वह इस सत्य को जानती हो कि वह जो कुछ कर रही है, उसका क्या महत्व है? और समाज में उसकी मान्यता क्या है, तभी उन कर्तव्यों का वास्तविक पालन कहा जायेगा। प्रसाद ने अपने साहित्य में ऐसे अनेक नारी पात्रों का सृजन किया है, जिनमें कर्तव्यचेतना का जागरण हो चुका है, और जो अपने कर्तव्यपथ का स्वयं चुनाव करतीं, आदर्श स्थिर करतीं और पूर्ण मनोयोग के साथ उस आदर्श के अनुगमन में चल पड़ती हैं। प्रसाद के समकालीन लेखक स्वर्गीय प्रेमचंद ने भी अपने उपन्यासों और कहानियों में कर्तव्यचेतना प्रधान नारी पात्रों का चित्रण किया है। इन दोनों लेखकों ने समाज की नारीगत मान्यताओं के संबंध में एक अद्भुत क्रांति उपस्थित कर दी। यहाँ हम प्रसाद की कर्तव्यचेतना प्रधान कुछ नारियों का विवेचन करेंगे।

मल्लिका[१] हमारे समक्ष एक कर्तव्यचेतना प्रधान नारी के रूप में आती है।

१- अजातशत्रु -

उसका संपूर्ण जीवन ही कर्तव्यपरायणता की दिव्य भावनाओं से संजोया हुआ है। बड़े से बड़े संकटकाल में वह अपने कर्तव्यमार्ग से तनिक भी विचलित नहीं होती।

उसका प्रेम वासनामूलक नहीं है, उसमें कर्तव्य की दृढ़ भावना विद्यमान है। महामाया के माध्यम से मल्लिका को यह ज्ञात हो जाता है कि उसके पति को मार डालने का षड्यंत्र चल रहा है, किंतु वह महामाया से स्पष्ट रूप से कहती है कि वह अपने पति को किसी भी स्थिति में कर्तव्य से नीचे नहीं गिरा सकती। वीर पुरुषों का कार्य ही युद्ध के लिए हर क्षण तत्पर होना है। वह कहती है -" रानी! बस करो! मैं प्राणनाथ को अपने कर्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुंब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा।"[1]

वह अपने लिए केवल स्त्री सुलभ सौजन्य, संवेदना तथा कर्तव्य और धैर्य संरक्षित करती है।[2] कर्तव्य उसकी भावनाओं में इतना कूट - कूट कर भरा हुआ है कि असहाय टूट पड़नेवाला वैधव्य भी उसके विवेक-बल को विचलित नहीं करने पाता। यद्यपि उसमें नारी सुलभ वैधव्य वेदना का दर्शन होता है, फिर भी उसकी यह आसन्न वेदना उसके मनोबल को क्षीण नहीं करती। उसकी वेदना उसे उसके कर्तव्यों का ज्ञान कराती है और उसका आत्मविश्वास पुनः जागृत हो जाता है। वह ईश्वर से बल प्राप्ति के लिए प्रार्थना करती है और कहती है कि -" मुझे विश्वास दो कि तुम्हारी शरण आने पर कोई भय नहीं रहता, विपत्ति और दुख उस आनंद के दास बन जाते हैं, फिर सांसारिक आतंक उसे डरा नहीं सकते हैं ------"[3]

सामाजिक रूप में भी वह सतत इसी बात का प्रयत्न करती है, कि उसका व्यक्तिगत दुख उसके सामाजिक धर्म में किसी भी प्रकार व्यवधान न बन जाय। वह हृदय में एक भीषण हाहाकार और मर्मस्थलों में एक भयंकर वज्राघात लिए हुए भी

१- प्रसाद : अजातशत्रु, " दूसरा अंक " ; पृ० ७२ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ७३-
३- वही ,, ,, ; पृ० ७८-

अपने कर्तव्य का निर्वाह " आतिथ्य धर्म का पालन " करने में किंचित भी नहीं चूकती । वह सरला से कहती है - " ---- आतिथ्य परम धर्म है । मैं भी नारी हूं , नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है , वह मैं अनुभव कर रही हूं । शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं । जी रो उठता है ; तब भी कर्तव्य करना ही होगा । "[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मल्लिका अपने जीवन से संतुष्ट एक पतिपरायणा आदर्श नारी है । जीवन में भी साथ , और मरण में भी साथ , उसका यह आदर्श उसे सामान्य नारी धरातल से बहुत ऊँचा उठा देता है । यहाँ तक कि उसके व्यक्तित्व को , उसका वैधव्य और भी उदात्त गुणों से संपन्न कर देता है । सारिपुत्र भी उसकी कर्तव्यनिष्ठा से अत्यंत ही प्रभावित होते हैं । उन्हें कहना पड़ता है - " उठो ! तुम्हें मैं क्या उपदेश करूं ? तुम्हारा चरित्र , धैर्य का - कर्तव्य का - स्वयं आदर्श है । तुम्हारे हृदय में अखंड शांति है । "[2]

पद्मावती स्वयं तो कर्तव्यनिष्ठ है ही , अजातशत्रु को भी कर्तव्यनिष्ठा का ज्ञान कराती है ।

वह अजातशत्रु को अगाध भगिनि स्नेह प्रदान करती है । वह सदैव प्रयत्न करती है कि अजात को अभिशापों से बचाये , और उसे सद्गुणों का ज्ञान कराकर कर्तव्यमार्ग पर ले आये । विमाता छलना के यह कहने पर कि छोटी - छोटी बातों पर कुणीक का हृदय तोड़ देना क्या तुम्हारे लिए अच्छी बात है , वह निर्भीकता पूर्वक उत्तर देती है - " माँ यह क्या कह रही हो ! कुणीक मेरा भाई है , मेरे पुत्रों की आशा है , मैं उसे कर्तव्य क्यों न बताऊं ? क्या उसे चाटुकारों की बाढ़ में बहने दूं और कुछ न कहूं । "[3]

वह जानती है कि बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा उनके भावी-चरित्र का

१-प्रसाद : अजातशत्रु ; दूसरा अंक ; पृ० ७८ -

२- ,, ,, ,, ; पृ० ८१ -

३- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० २४ -

निर्माण करती है। " बच्चों का हृदय कोमल थाला है, चाहे उसमें कंटीली फाड़ी लगा दो, चाहे पुष्प के पौधे "।[1] यही कारण है कि अजात भले ही विमाता का पुत्र हो, किन्तु अपना कर्तव्य समझ कर समय - समय पर उसे शिक्षा देती रहती है।

मंदाकिनी का व्यक्तित्व नाटक में इतना दृढ़ है, उसकी कर्तव्यनिष्ठा इतनी सजग है, कि वह ध्रुवस्वामिनी को भी कर्तव्यपथ पर लाने के लिए मेरुदंड का काम करती है।

यद्यपि चंद्रगुप्त के प्रति उसके हृदय में प्रेम की गहरी भावनायें उत्पन्न हो गई है, किंतु वह भावों के प्रवाह में बहने की अपेक्षा अपने कठोर कर्तव्य पथ पर चलना अधिक श्रेयस्कर समझती है। वह कर्तव्यपथ का चुनाव अवश्य करती है, किंतु अपने भावुक हृदय के प्रति उसे इतना कठोर बनना पड़ता है, कि उसके हृदय में एक अजीब सी कसक उत्पन्न हो जाती है। जब कभी वह अकेले में होती है, कर्तव्यबुद्धि का ताना - बाना धुंधला हो जाता है और भावनाओं का पट सामने आ जाता है। आंसू निकलकर हृदय की व्यथा को कहना चाहते हैं, किंतु वह उन्हें रोक लेती है। और स्वयं उन आंसुओं से अपने अस्तित्व का मार्ग पूंछने लगती है :—

" यह कसक अरे आंसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।[2]

मंदाकिनी का व्यक्तित्व अपने में महान् है। हृदय की भावुकता पर वह कर्तव्य और स्वाभिमान का पर्दा डाल देती है। ऐसे समय में जब कि कुमार चंद्रगुप्त राजा बनने से इंकार करते हैं, रामगुप्त अपनी क्लीवता की पराकाष्ठा में राष्ट्र की मर्यादा ध्रुवस्वामिनी को भेज देना चाहता है, और ध्रुवस्वामिनी चलते कर्तव्यपथ का अनुसरण करने की अपेक्षा जीवनमुक्ति का मार्ग वरण करती है,

---

१- प्रसाद : अजातशत्रु ; पृ० २१ -
२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ०२१ -

मंदाकिनी एक सच्ची राष्ट्र-हितैषिणी की भाँति उद्वेगपूर्ण शब्दों में कहती है - " राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने में असमर्थ है, तब भी उस राजा की रक्षा होनी ही चाहिए। अमात्य, यह कैसी विवशता है। तुम मृत्युदंड के लिए उत्सुक। महादेवी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत। फिर यह हिचक क्यों? एक बार अंतिम बल से परीक्षा कर देखो। बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश।"[1]

मंदाकिनी की यह कर्तव्य प्रेरणा ध्रुवस्वामिनी और कुमार चंद्रगुप्त के लिए बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध होती है।

सामंतकुमारों के आगे - आगे मंदाकिनी गाती हुई चलती है और उसके गंभीर स्वर में पुनः कर्तव्य आदर्शों की गूंज के समान गूंजता रहता है - हमें आगे-आगे बढ़ना है। पैर इतनी तीव्र गति से आगे को बढ़ाना है कि बादल उसकी गति की तुलना में मंद पड़ जांय। पैर चलते रहें, नीचे बादल घुमड़ते रहें, किंतु पैरों को आगे बढ़ना है। कगारें संकीर्ण हों, कोई चिंता नहीं, उन संकीर्ण कगारों के भीतर ही सैकड़ों झरने बहते रहें, जीवन सरिता बहती रहे। विपन्नताओं में यहाँ तक कि पवन विकल हो जाय, स्तब्ध हो जाय और बड़े - बड़े वृक्ष तूफान के वेग के कारण धराशायी हो जांय, फिर भी पर्वत पर ऊंचे की ओर चढ़ने वाले राही के लिए रास्ते में विश्रांति कहाँ? उसे तो सब कुछ झेलते हुए आगे बढ़ना है।[2]

१- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ३१ -

२- " पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत- शत झरने बेमेल चलें
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे
तब भी गिरि-पथ का अथक पथिक, ऊपर ऊंचे सब झेल रहे।"
प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ३४ -

कर्तव्य की यह प्रेरणा मंदाकिनी में बहुत ही प्रबल है।" वह स्वयं नीलकंठ बनकर किस प्रकार व्यापक कल्याण के लिए गरल की कटुता का अनुभव करती जा रही है।"[1]

आगे चलकर जब कि चंद्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी से विवाह करने के प्रसंग में हिचकता है, किंतु मंदाकिनी उसका पथप्रदर्शन करती है, तथा उसमें कर्तव्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न करती है। वह आदेशात्मक स्वर में कुमार से कहती है - "हृदय में नैतिक साहस-वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए, तो कुमार, कि अब आपको क्या करना चाहिए?"[2]

इस प्रकार वह स्वयं कर्तव्य चेतनामयी है, और दूसरों में भी उसी कर्तव्यचेतना का प्रवाह प्रवाहित करती है।

कर्तव्य और प्रेम के बीच एक अद्भुत समन्वय तथा कर्तव्य मार्ग के प्रति प्रेम के अभूतपूर्व बलिदान का दृष्टांत उपस्थित करती है - मधूलिका। अरुण मधूलिका के हृदय का स्वामी है। उससे मधूलिका को ऐसे समय में सहानुभूति मिली है, जबकि वह अपने प्यारे खेत के छिन जाने की पीड़ा में संतप्त थी। वह हृदय से उसका वरण करती है, किंतु उसका यह प्रेम थोड़े समय बाद ही कर्तव्यपालन की कसौटी पर आ टकराता है। एक ओर प्रेमी का निश्छल प्रेम है, और दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम का तकाजा है। दोनों के बीच मधूलिका किसे अपनाये और किसे छोड़े, यह एक विकट प्रश्न है?

१- अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नीलकंठ की छाप लिए,
विश्राम शांति को शाप दिये, ऊपर ऊंचे सब झेल चले।

२- प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी ; पृ० ५७ -

प्रथमतः मधूलिका प्रेमी की आकांक्षाओं के प्रति मौन रहती है। वह प्रतिहिंसा की आग में जलता हुआ मधूलिका के स्वदेश पर आक्रमण करना चाहता है। सारी तैयारियां भी कर लेता है। बस आक्रमण करना ही शेष है।

मधूलिका के भीतर बैठी हुई कर्त्तव्यचेतना उसे उद्वेलित कर देती है। व्यक्तिगत प्रेम और स्वदेश प्रेम के संघर्ष में स्वदेश प्रेम विजयी होता है। घटना घटित होने के पूर्व मधूलिका मानो अपने प्रेमी को विश्वासघात देती हुई सम्राट् के सामने जाकर षड्यंत्र का रहस्योद्घाटन कर देती है। उसका प्रेमी अरुण पकड़ा जाता है। उसके सारे मंसूबे ढह जाते हैं। उसे राजा की ओर से षड्यंत्र के बदले में मृत्युदंड मिलता है। मधूलिका से पुरस्कार मांगने की बात कही जाती है।

यहाँ मधूलिका की कर्त्तव्यचेतना फिर उसे ठोकर मारती है। देश के प्रति भक्ति के कर्त्तव्य पूरे हो जाने के बाद अपने प्रेमी के प्रति भी कर्तव्यनिष्ठा प्रदर्शित करना आवश्यक था। मधूलिका अवसर के अनुकूल अपने लिए पुरस्कार मांगती है और वह पुरस्कार है प्रेमी के साथ अपने आप के लिए मृत्युदंड।

इस प्रकार मधूलिका कर्त्तव्य और प्रेम के कोमल धागे को परीक्षा की कसौटी पर अखंड और अविच्छिन्न प्रदर्शित करती है। कर्त्तव्यपालन की यह प्रतिष्ठा प्रसाद के नारी पात्रों में ही मिलनी संभव थी।

कर्त्तव्य की यह जागृति ममता[१] को धर्म-पालन की ओर प्रेरित करती है। पिता शेरशाह के सैनिकों के हाथों मारे जाते हैं, और ममता को काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार के खंडहर में आश्रय लेना पड़ता है।

रात्रि का समय है। एक विपन्न मुगल - हुमायूं - रात भर ठहरने के लिए शरण मांगता है। ममता को पिछले दिनों की याद आती है, और वह सोचती है कि यह मुगल भी शेरशाह के सैनिकों जैसा ही क्रूर होगा। वह एक बार कह देती है-

" परंतु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास ,

१- 'आकाशदीप' कहानीसंग्रह की ममता कहानी की नारी पात्र।

वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब, तुम्हारे मुख पर भी है। सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।"[१] संकल्प और विकल्प में पड़ी हुई हिन्दू नारी अतिथि को शरण दे देती है और स्वयं पीछे की ओर से आत्मरक्षा हेतु निकल जाती है।

ममता अपने पूरे जीवन को गाँव की हित - साधना में लगा देती है। वह अपने पूरे जीवन को दुखों और कठिनाइयों से पूर्ण रखती हुई भी प्रसन्न है। उसने कर्तव्यों के पालन के आगे अपने समूचे जीवन का दान कर दिया है। न उसने युवाकाल में प्राप्त स्वर्णराशि की ओर कोई आकर्षण व्यक्त किया, और न मरने के समय अपने नाम पर बनाये जाने वाले अष्टकोण मंदिर के प्रति भी कोई पूर्ण अनुराग व्यक्त किया। मूक कर्तव्यपालन की अविकल चेतना ममता जैसी नारियों में ही संभव है, और उनके सृजन का गौरव प्रसाद की लेखनी को प्राप्त है।

राष्ट्रप्रेम -

प्रसाद जी व्यक्तिगत जीवन में जितने ही स्वाभिमान के पोषक थे, राष्ट्रीय जीवन में उतने ही राष्ट्र के भी उन्नायक थे। क्योंकि व राष्ट्र की तुलना में उन्होंने कभी भी व्यक्ति को अधिक महत्व नहीं दिया। जहाँ इन दोनों के बीच चुनाव का प्रश्न आया है, वहाँ प्रसाद ने प्रथम चुनाव राष्ट्र प्रेम को दिया है। उनके नाटकों और कविताओं में यह राष्ट्र-प्रेम स्थल - स्थल पर मुक्त स्वरों में प्रस्फुटित हुआ है। प्रसाद जी राष्ट्र प्रेम के क्षेत्र में पुरुष और स्त्री के बीच कोई विभेद नहीं करते। पुरुष और स्त्री दोनों राष्ट्र के दायित्वपूर्ण नागरिक हैं, और दोनों के कंधों पर राष्ट्र की रक्षा का भार है।

प्रसाद का रचनाकाल ही वह युग है जब देश में राष्ट्रीय आंदोलन पूरे

१- प्रसाद : ममता ; पृ० ३८ -

वेग से गतिशील था। गांधी की दृष्टि को प्रसाद ने साकार किया। यही कारण है कि वह पुरुष पात्रों की भाँति ही अपने नारी पात्रों के मुख से इस राष्ट्र-प्रेम को स्थल-स्थल पर व्यक्त कराते हैं। देश-प्रेम का भाव नारी के व्यक्तित्व में वीरत्व, शौर्य, और साहस का संचार करता है। उनमें से कुछ का विवेचन हम नीचे कर रहे हैं।

मनसा[1] में आत्माभिमान का अपूर्व आदर्श देखा गया है। वह सरमा से कहती है - " ---- क्या तुमने यही समझ रखा था कि नाग-जाति सदैव से इसी गिरी अवस्था में है? क्या इस विश्व के रंगमंच पर नागों ने कोई स्पृहणीय अभिनय नहीं किया? क्या उनका अतीत भी उनके वर्तमान की भाँति अंधकारपूर्ण था! सरमा, ऐसा न समझो! आर्यों के सदृश उनका भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक संस्कृति थी।"[2]

नागबाला मनसा अपनी जाति के लुप्त गौरव, विस्तृत राज्य, प्रशस्त संस्कृति और अतुल शौर्य-वीर्य की गाथा गा-गाकर समस्त नाग-जाति में उत्साह की लहर दौड़ाना चाहती है। उसका आत्माभिमान उसके गाये हुए गीत द्वारा प्रकट होता है -

धिक्कार और अवहेला की अधिकारी
सचमुच तुम सब हो पुरुष या कि हो नारी।
वह आय दासता की न कहीं यह छलना
देखो तुम्हारे शक्ति की कुछ - छलना।।
जातीय चीज में क्यस तुम बीज बोते हो
क्यों निज स्वतंत्रता की हत्या होते हो?[3]

मनसा को अपने देश से प्यार है। वह यह नहीं देख सकती कि उसकी ही जाति का कोई पुरुष कायरता प्रदर्शित करे, भले ही वह उसका भाई हो। वह-

---

१- "जनमेजय का नागयज्ञ" की नारी पात्र -
२- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० ६ -
३- वही ,, ,, ; पृ० ७५ -

वह अपने भाई वासुकि की कायरता पर व्यंग करती है, और उसे ताण्डव की ज्वाला के समान जलने के लिए उत्तेजित करती है, चाहे उसमें आर्य भस्म हो जांय। वह कहती है - " रमणियों के आंचलमें मुंह छिपाकर आर्यों के समान वीर्यशाली जाति पर शासन चलाना चाहते हो। अब मुझसे यह सहन न होगा। मैं यह पाखंड नहीं देख सकती। ताण्डव की ज्वाला के समान जल उठो। चाहे उसमें आर्य भस्म हों, और चाहे तुम।"[1]

मणिमाला[2] आर्य संस्कृति से प्रभावित एक नागकन्या है। उसके हृदय में जातीय उत्साह की भावना है, और कि राष्ट्रीय भावना का भी प्रतिरूप है। युद्धोत्साह तथा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक भावनाओं को लेकर ही वह जनमेजय के प्रणय में बंधती है।

जयमाला[3] वीर क्षत्राणी है। देश के प्रति असीम निष्ठा की भावना उसमें समायी हुई है। तेज, बल, और साहस उसके अस्त्र हैं। क्षात्र तेज से आलोकित नारी जीवन का गौरवपूर्ण चित्र विजया से कहे हुए शब्दों से व्यक्त होता है :- " भोली कन्ये! हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता से हम लोगों का चिर स्नेह है।"[4]

जयमाला युद्ध की विभीषिकाओं से नहीं घबराती। युद्ध का डटकर सामना करती है। विजया के पूछने पर कि युद्ध के समय क्या गान होना चाहिए? वह चौंक पड़ती है, और आग की चिनगारी की तरह अपने अपूर्व साहस का प्रदर्शन करती हुई वह कहती है - " युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद भैरवी का ताण्डव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आंखों से देखना जीवन रहस्य के चरम सौन्दर्य

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ ; पृ० ९६ -
२- " जनमेजय का नागयज्ञ " की नारीपात्र -
३- स्कंदगुप्त की नारीपात्र -
४- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ४२ -

की नग्न, और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य सुंदर संगीत का समारम्भ होता है।"[1]

इतना ही नहीं उसे अपनी छुरी पर भी विश्वास है। सेनापति के द्वार तोड़कर घुस आने पर वह भीमवर्मा को युद्ध के लिए उकसाती है, क्षात्रधर्म का उपदेश देती हुई शत्रु का हृदय कंपा देने के लिए उनमें प्रेरणा का संचार करती हुई वह कहती है - " एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के श्रृंगी नाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु हृदय कंपा दो। वीर! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण - सूर्य के समान - आगे पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे।"[2]

उसका त्याग उसे उस समय और अधिक महान् बना देता है, जब कि देश के कल्याण के लिए अपने समस्त राज्य का वह त्याग कर देती है। विशाल कर्त्तव्यभाव को लेकर वह स्कंदगुप्त को सिंहासन पर बैठालती है। पतिदेव से क्षमा माँगती हुई वह कहती है - " आज हमने जो राज्य पाया है, वह विश्व साम्राज्य से भी महान् है - ऊँचा है। मेरे स्वामी और ऐसे महान्! धन्य हूं मैं ----"।[3]

उसका आत्मसमर्पण और उत्साह उसको महान् बना देता है। वह निर्भीक, स्वावलंबी, स्वाभिमानिनी तथा वीर नारी है।

देवसेना[4] में आत्मसम्मान की भावना के साथ - साथ देशप्रेम की भावना भी है। इस भावना से प्रेरित होकर वह स्कंदगुप्त के उस प्रणय प्रस्ताव का विरोध करती है, जिसमें उसने " किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ४२ -
२- वही ,, ; पृ० ४४ -
३- वही ,, ; पृ० ६८ -
४- स्कंदगुप्त ।

करूंगा " की इच्छा प्रकट की थी ।[१]

वह स्कंद को दुर्बल नहीं बनाना चाहती । वह जानती है कि उसके प्रणय में बंध जाने के पश्चात् स्कंद अपने उत्तरदायित्व का पूर्णतः निर्वाह नहीं कर सकेगा । अतः वह अपने प्रणयी स्कंद की उपासना निष्काम भाव से अपने हृदय में ही करना चाहती है । कामना के भंवर में फंसाकर उसे कलुषित नहीं करना चाहती है । स्कंदगुप्त को कर्तव्य की प्रेरणा देती हुई वह कहती है - " मालव का महत्व तो रहेगा ही , परंतु उसका उद्देश्य भी स्पष्ट होना चाहिये । आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी । सम्राट क्षमा हो ।[२]

देशसेवा के लिए अपने समस्त राज्य का निर्मोहतापूर्वक त्याग कर देती है । राजमहलों में भी सुखवासिनी देवसेना स्वदेश की रक्षा के लिए गली -गली भीख मांगती है । अपने देश की रक्षा की दशा पर हुए वह गीत गाती है -

> " देश की दुर्दशा निहारोगे ,
> डूबते को कभी उबारोगे ।
> हारते ही रहे , न है कुछ अब,
> दांव पर आपको न हारोगे ।"[३]

विजया[४] का चरित्र यद्यपि प्रारंभ में वासनात्मक प्रकृति का दिखाया गया है , किंतु अंत में जब उसे अपनी प्रकृति का आभास होने लगता है तो उसमें भी राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन होते हैं । शर्वनाग के परामर्श पर वह देश के प्रत्येक बच्चे , बूढ़े और युवक को देश की भलाई में लगाने के लिए कटिबद्ध हो जाती है, और उसके साथ भटार्क के विरुद्ध देशरक्षा के लिए वह पढ़ती है ।

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ," पंचम अंक " , पृ० १३४ -
२- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० १३४ - १३५
३- वही ,, पृ० १३० -
४- स्कंदगुप्त -

विजया का वही हृदय जो पहले कलुषित वासनाओं का आगार था, आगे चलकर इतना परिवर्तित हो जाता है कि वह मातृगुप्त को शहनाई के स्थान भैरवी गाने के लिए उद्बोधित करती है, जो उसे जन - जन की समस्याओं से - अवगत कराकर देशसेवा के लिए कटिबद्ध करे। वह कहती है - " सुकवि - शिरोमणि ! गा चुके मिलन - संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े ? एक बार वह उद्बोधन गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जांय।"[1]

विजया क्रांति की सूत्रधारिणी बनकर उद्बोधन की रागिनी गाने को और भारतवासियों को मुचकुन्द की मोहनिद्रा से जगाने का व्रत लेती है और यहाँ तक कि देश की रक्षा के लिए " एक नहीं, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जांय --- और सकुच कांप कर रह जाय ; अंगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोहनिद्रा से भारतवासी जाग पड़ें। हम-तुम, गली - गली, कोने - कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे।"[2]

अलका[3] राष्ट्र प्रेम की एक सजीव मूर्ति है। " उसके (अलका के) देशप्रेम में वर्तमान राजनीतिक आंदोलन का व्यावहारिक प्रतिनिधित्व दिखाई पड़ता है।"[4] वह एक जनप्रेमी के रूप में हमारे सामने आती है, और उसके द्वारा गाया हुआ प्रयाण गान भारतीय जन-आंदोलन की मूलधारा को व्यक्त करता है -

" हिमाद्रि तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती -
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला, स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़- प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है - बढ़े चलो बढ़े - चलो "।[5]

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; चतुर्थ अंक ; पृ० १२१ -
२- वही ,, ,, ; पृ० १२१ -
३- चंद्रगुप्त की नारी पात्र -
४- श्री दुर्गाप्रसाद झाला : चंद्रगुप्त नाटक में राष्ट्रीय चेतना " प्रसाद अंक ; पृ०२३५-
५- चंद्रगुप्त ; पृ० १७७ -

प्रसाद का यह गीत उनकी राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध गीत है।[1]

अलका के हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध आस्था का भाव है। वह राष्ट्र के लिए अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलांजलि देकर अपने प्राणों की आहुति के लिए सदैव तत्पर रहती है। इस प्रकार वह भारतीय संस्कृति और स्वतंत्रता की क्रांति की अग्रदूती बनकर सम्मुख आती है।

वह देश के प्रति असीम अनुराग रखती है। देश के कण-कण से प्यार करती है। अपने देश, अपने पहाड़ों, अपनी नदियों आदि के प्रति उसके हृदय में असीम अपनत्व है। राष्ट्र-प्रेम के पालन में वह एक निर्भीक नारी है। सिल्यूकस के यह कहने पर कि "तुम कहाँ, सुंदरी राजकुमारी -" - निर्भीकतापूर्वक कहती है "मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक - एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं। फिर मैं और कहाँ जाऊँगी यवन?"[1]

वह वीर क्षत्राणी है। मालव दुर्ग पर सिकंदर के आक्रमण करने पर दुर्ग रक्षा का भार अपने कंधे पर लेकर एक सैनिक की भाँति तत्पर दिखाई पड़ती है। द्वितीय बार सिल्यूकस के आक्रमण करने पर वह तक्षशिला की जनता के मध्य राष्ट्रीय गीत गाती है और[2] आर्यपताका हाथ में लेकर देशभक्ति की लहर समस्त नर-नारियों में फैला देती है।

देशप्रेम अलका के जीवन की सर्वप्रथम साधना है। देशोद्धार के प्रयत्न में ही वह बंदी बनाई जाती है। वह तक्षशिला के नागरिकों के हृदय में देशप्रेम की प्रेरणा का मंत्र फूंकती हुई उन मातृभूमि के सपूतों को शूर और साहसी बनने के लिए उत्साहित

१- प्रसाद : चंद्रगुप्त, "प्रथम अंक" ; पृ० ८१ -

२- देखिये चंद्रगुप्त ; पृ० १७७ -

करती है।[1]

जिस अलका ने देशद्रोही भाई आंभीक का विरोध किया था, वही अपने त्याग के द्वारा अंत में उसका हृदय भी परिवर्तित कर देती है। आंभीक अब उसे गांधार के राजवंश का पुष्प उज्ज्वल करने वाली मानता है, और स्वयं को एक देशद्रोही सिद्ध करता है।

उसके स्वदेशानुराग की प्रशंसा करते हुए अंत में चाणक्य को भी कहना पड़ता है - " यह मैं कैसे कहूं? मेरी लक्ष्मी अलका ने आर्य - गौरव के लिए क्या - क्या कष्ट नहीं उठाये।"[2]

कार्नेलिया[3] विदेशी होते हुए भी भारत के गौरव पर अभिमान करती है। " वह यवन बाला सिर से पैर तक आर्य संस्कृति में पगी है।" उसके गाये हुए गीत से स्पष्ट है कि वह भारतीय संस्कृति के प्रति कितनी आस्था रखती है। भारत के प्राकृतिक वातावरण, राजनीतियों एवं ज्ञान वैभव से वह बहुत अधिक प्रभावित है। भारतीयता के प्रति सघन अनुराग उसके इन शब्दों से व्यक्त होता है -

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुंच - अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

१- असंख्य कीर्ति -रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी
सपूत मातृभूमि के -
रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिंधु में - सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो, बढ़े चलो बढ़े चलो!
प्रसाद : चंद्रगुप्त, " चतुर्थ अंक " ; पृ० १७७ -

२- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० १७७ -

३- " चंद्रगुप्त " नाटक की नारी पात्र -

सरस तामरस गर्भ विभा पर - नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर - मंगल कुंकुम सारा।[1]

वह भारतभूमि से अपनी जन्मभूमि के समान स्नेह करती है। भारत की महत्ता से अभिभूत होकर वह चंद्रगुप्त से कहती है - " ----- मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल - श्रेणी, हरी - भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीत-काल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक - बालिकायें, बाल्य-काल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि - भारतभूमि क्या भुलाई जा सकती है? ---- अन्य देश मनुष्यों की जन्म-भूमि हैं; यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।"[2]

वह चंद्रगुप्त और अपने पिता के बीच युद्ध होने की सूचना पाकर दुखी होती है। वह शस्य श्यामला भारतभूमि को रक्त-रंजित बनते हुए नहीं देख सकती। वह अपनी सखी से कहती है - " वही भारतवर्ष। वही निर्मल ज्योति का देश, पवित्र भूमि, अब हत्या और लूट से वीभत्स बनाई जायेगी -ग्रीक सैनिक इस शस्य-श्यामला पृथ्वी को रक्त-रंजित बनावेंगे।"[3]

उपर्युक्त नारी पात्रों की राष्ट्रीयता पर दृष्टिपात करते हुए कहा जा सकता है कि " ---- चंद्रगुप्त नाटक में प्रसाद जी ने इतिहास का सुदृढ़ आधार लेकर पाठकों के हृदय में तत्कालीन परतंत्रता के प्रति विद्रोह की भावना जागृत की और देश की हीनता के कारणों की ओर संकेत करते हुए राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित करने का सफल प्रयास किया है।"[4]

१- प्रसाद:चंद्रगुप्त, " द्वितीय अंक " ; पृ० ८१ -
२- प्रसाद : चंद्रगुप्त, " तृतीय अंक " ; पृ० १३१ -
३- प्रसाद : चंद्रगुप्त ; पृ० ८२ -
४- डा०शान्तिस्वरूप गुप्त : हिन्दी साहित्य : प्रकीर्ण विचार ; पृ० ५६ -

विश्व-प्रेम

प्रेम की सच्ची कसौटी व्यक्ति प्रेम से लेकर राष्ट्रप्रेम और फिर विश्व-प्रेम तक व्यापक होना है। प्रेम अपनी व्यापकता में जब पूरी मानवता को आबद्ध कर ले, तभी सच्चा प्रेम कहा जायेगा। जिस मानव प्रेम की स्थापना प्रसाद जी करना चाहते हैं, उसका एक आदर्श उन्होंने श्रद्धा के मुख से कहलवाया है -

" शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"[1]

प्रसाद जी के समान ही गुप्त जी ने भी मानवता प्रेम के मानदंड स्थिर किये हैं - " वही मनुष्य है जो मनुष्य के लिए मरे " में समस्त मानवता के प्रति एक जागृति का संदेश है। यहाँ हम प्रसाद जी के नारी पात्रों में पायी जाने वाली विश्व-प्रेम की भावना पर विचार करेंगे।

चंपा प्रसाद की ऐसी नारी सृष्टि का प्रतीक है, जो समष्टि के संमुख अपने प्रेम का बलिदान कर देती है।

उसके हृदय में बुद्धगुप्त के प्रति अगाध प्रेम होते हुए भी वह उस प्रेम व्यापार को संकीर्ण धरातल पर नहीं ले जाती। इसीलिए वह व्यक्तिजनित प्रेम की तुलना में समाजजनित और अन्ततः मानवताजनित प्रेम को अधिक प्रश्रय देती है। वह चंपा द्वीप में ही रह जाती है और भारत भूमि लौटकर नहीं आती। उसकी दृष्टि में समस्त भूमि बराबर है, चंपा द्वीप में ही रहकर वह दीन दुखियों की सेवा में जीवन व्यतीत करती है। बुद्धगुप्त से वह कहती है - " बुद्धगुप्त मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है, कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि

1- प्रसाद : कामायनी ; पृ० ५८ -

के समान प्रज्वलित नहीं है।"[1]

प्रसाद ने तितली उपन्यास में विश्वबंधुत्व की इस भावना को बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। शैला एक पाश्चात्य नारी है, वहाँ के वातावरण तथा वहाँ की शिक्षा का उसके ऊपर पूरा प्रभाव पड़ा है :
" ----- लंदन की भीड़ से दबी हुई मनुष्यता से मैं ऊब चुकी हूं, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मैं दुख भी उठा चुकी हूं ----- "। फिर भी उसके उपेक्षित जीवन में यदि कहीं से उसे सहानुभूति मिलती है तो वह एक भारतीय इंद्रदेव से। इसी कारण वह इंद्रदेव के साथ भारत चली आती है।

शैला को गरीब किसानों के साथ रहकर, उनसे बातचीत कर बड़ी ही सुख और शांति का अनुभव होता है। उसकी यही उदात्त भावना समस्त मानव समूह के साथ सहानुभूति की दृष्टि रखने लगती है। मिस अनवरी के प्रश्न का उत्तर देती हुई शैला कहती है -" ओ मुझे तो इसके पास जीवन का सच्चा स्वरूप मिलता है, जिसमें ठोस मेहनत, अटूट विश्वास और संतोष से भरी शांति हंसती खेलती है, ----- दुखी के साथ दुखी की सहानुभूति होना स्वाभाविक है। आपको यदि इस जीवन में सुख ही सुख मिला है तो -----"[2]

" दुखी के साथ दुखी की सहानुभूति यही मानवतावाद तथा विश्व-बंधुत्व की भावना का आधार है। शैला की माता जेन की करुण स्मृतियाँ, मधुबन का स्नेह संबंध मानवता की धारा को प्रवाहित करता है।"[3]

शैला भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। भारतीय भूमि को देखकर उसे यह विश्वास हो जाता है कि -" ----- यही उसका जन्म - जन्म का आवास है, आज तक वह जो कुछ देख रही थी वह सब विदेश यात्रा थी। आँखों के सामने दो बड़ी के मनोरंजन करने वाले दृश्य, सो भी उसमें करुता की मात्रा ही अधिक

१- प्रसाद : तितली ; पृ० ३६ -
२- वही ,, ; पृ० ३६, ३८ -
३- डा० चंडीप्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ३१०

अधिक थी ---- आज उसे वास्तविक विश्राम मिला।"[1]

शैला में जो भारतीयता के प्रति प्रेम की भावना है, वह विश्वप्रेम का द्योतन करती है। अंग्रेज शासकों में काले गोरे का विभेद था, उस विभेद के होते हुए भी भारतियों को अपना समझना उसके व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। शैला को विश्वास हो जाता है कि भारतीय हृदयों में सदैव कोमलता का निवास रहता है। वहाँ सहानुभूति तथा सहायता की विस्तृत आशाएँ, वहाँ की संस्कृति के कारण ही बलवती रहती हैं। भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर वह दीक्षा लेना प्रारंभ करती है। प्रसाद जी द्वारा किया गया शैला के विशाल व्यक्तित्व का चित्रण इस प्रकार है - "शैला के चारों ओर भारतीय वायुमंडल हवन, धूप, पुष्पों और हरियाली की सुगन्ध से स्निग्ध हो रहा था, उसने वाट्सन के हृदय पर से विरोध का आवरण हटा दिया था, उसके सौंदर्य में वह श्रद्धा और मित्रता की आकांक्षा करने लगा।"[2]

कार्यश्री प्रतिभा

प्रसाद ने नारी में एक विशेष प्रतिभा के दर्शन किये हैं जिसे कार्यश्री प्रतिभा की संज्ञा दी जा सकती है। मनुष्य का जीवन कर्ममय है। जीवन के प्रत्येक पग पर कर्म अपनी ओर आवाहन करता हुआ दिखायी पड़ता है। कर्म करते रहने की अंतश्चेतना ही वह प्रतिभा है जो व्यक्ति को आगे बढ़ते रहने को उकसाती है। निष्क्रियता अथवा अकर्मण्यता का दूसरा नाम मृत्यु है। नारी अपवाद नहीं है

युग व्यापी परंपरा से[3] स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निर्बल और पुरुषार्थहीन माना गया था। इसका एकमात्र कारण यह कहा जाता था कि शारीरिक बनावट और बौद्धिक विकास की दृष्टि से स्त्रियाँ भिन्न होती हैं।

१- प्रसाद : तितली ; पृ० ७०,७१ -

२- वही ,, ; पृ० ११५ -

३- पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने,
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।
मनुस्मृति, श्लोक ३ ; पृ० ३०५-

प्रसाद ने इस मान्यता को एक चुनौती सी दी । उन्होंने देखा कि ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि स्त्रियाँ बौद्धिक चेतना और सृजनात्मक प्रतिभा में पुरुषों की अपेक्षा पीछे हों । उन्होंने ऐसे नारी पात्रों का सृजन किया, जिनमें स्वाभाविक गतिशील प्रेरणा और जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण, रचनात्मक कल्पना निहित है । वे कर्मपथ पर पुरुषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर अग्रसर ही होना नहीं जानतीं, अपितु, स्वयं कर्मपथ पर आगे-आगे भी बढ़ती दिखाई पड़ती हैं, और पुरुष उनका अनुगमन करता हुआ सा है । जीवन के कंटकाकीर्ण मार्गों पर नारी पाथेय लेकर उपस्थित होती है । पुरुष उस पाथेय की उत्प्रेरणा में एक नई संजीवनी शक्ति प्राप्त करता है । इतना ही नहीं, नारी जीवन के घोर अवसादजनित तमस में आशा और उत्साह का दीपक लेकर सामने आती है, और पुरुष उस दीपक के आलोक में अपने लिए मार्ग ढूंढने को उद्यत होता है । नारी का पुरुष के जीवन में यह दीपक लेकर आना कभी बौद्धिक चेतना का संकेत लेकर कर्मपथ का सृजन करता है, और वही नारी जब उसी दीप को अंचल में छिपाकर आती और गोधूलि में उसके जीवन में समाविष्ट हो जाती है, तो एक बहुत ही मधुर और भावुक संसार का सृजन हो जाता है । अपने इन दोनों रूपों में नारी की प्रतिभा श्लाघ्य है ।

कामायनी के दोनों नारी पात्र अर्थात् श्रद्धा और इड़ा अपने-अपने क्षेत्र में अपूर्व सृजनात्मक शक्ति और बौद्धिक चेतना से पूर्ण हैं । श्रद्धा मनु को अवसाद के घने आच्छादन से खींचकर बाहर लाती और कर्म का प्रशस्त मार्ग दिखलाती है । वह मनु से स्नेह भरे शब्दों में कहती है कि यह आश्चर्य है कि तुम इतने अधीर क्यों हो उठे ? तुमने अपनी इस अधीरता में जीवन का यह दाँव खो दिया जिसे मरकर भी वीर पुरुष जीतने की आकांक्षा करता है । वह मनु को समझाती है कि तुम्हारी यह तपस्या सत्य नहीं अपितु यह जीवन ही सत्य है -

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद ;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद ।[1]

वह मनु को, उनकी कायरता पर फटकारती भी है और कहती है कि जीवन में अज्ञात दुखों की कल्पना कर तुम डर गए हो और भविष्य की जटिलताओं का अनुमान कर तुमने अपने कर्तव्यों से मुख मोड़ लिया है -

दु:ख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान ।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा में वह उत्साह और साहस है कि वह मनु जैसे तपस्वी के अवसाद को अपनी युक्तियों से चीर सके तथा प्रस्तर के समान जड़ीभूत हुए उनके हृदय में आकांक्षाओं का तरल विलास और आशाओं का सुखद आह्लाद भर सके।

श्रद्धा स्वयं कर्मशील है। वह मनु को केवल उपदेश देना ही नहीं जानती, अपितु वह मनु के जीवन के मार्ग का स्वरूप निश्चित करती है। वह जीवन-पथ पर प्रेरणा की शक्ति बनकर आगे - आगे चलना भी जानती है। वह देखती है कि

१- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा" ; पृ० ४५-

२- प्रसाद : कामायनी, "श्रद्धा सर्ग" ; पृ० ४२-

आशाओं से हीन तपस्वी अपने ही बोझ से दबता जा रहा है, और जीवन का अवलंब ढूँढ़ने का किंचित भी यत्न नहीं कर रहा है। ऐसी स्थिति में श्रद्धा स्वयं सहचर बनने का प्रस्ताव उसके समक्ष रखती है, और पूर्ण समर्पण के आश्वासन सहित नौका की पतवार मनु के हाथों में निक्षेपित कर देती है।[1]

इस प्रकार श्रद्धा एक ऐसी नारी है जो पुरुष का अनुगमन करने में ही अपने जीवन का लक्ष्य नहीं मानती। वह आवश्यकता पड़ने पर एक सजग विधायी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। यहाँ तक कि जब मनु यज्ञ आदि के दर्प में श्रद्धा के स्नेहिल संसार से भागते हुए दिखाई पड़ते हैं, तो भी वह अपने भावी संतति की रक्षा के लिए गुफा में गृह का निर्माण करती और तकली के आवर्तन में जीवन की समस्त सक्रियता को आयोजित करती है -

" मैंने तो एक बनाया है
चलकर देखो मेरा कुटीर।"

< < <

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्तन में स्वर-विभोर -
चल री तकली धीरे - धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।[2]

इड़ा बौद्धिक चेतना प्रधान नारी है। उसके वातावरण का समूचा

1- समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद - तल में विगत- विकार।
प्रसाद : कामायनी, " श्रद्धा-सर्ग " ; पृ० ६०-

2- प्रसाद : कामायनी, " ईर्ष्या-सर्ग " ; पृ० १६१, १६२ -

जीवनयापन के लिए तितली को पाठशाला चलानी पड़ती है।[1] पाठशाला का संचालन भी वह केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु समाज के कल्याण की भावना से करती है। राजो, मलिया तथा तीन छोटी - छोटी अनाथ लड़कियां जो कुछ महीने से भी उम्र में कम हैं और जेल से छूटकर आया हुआ अनाथ रामजस जिसके लिए न एक बित्ता भूमि है और न एक दाना अन्न - यही उसके परिवार के अंग हैं। यह तीन लड़कियां जिनका वह पालन पोषण कर रही है समाज के घिनौने कृत्यों की परिणाम हैं, जिन्हें उनकी मातायें तक समाज के समक्ष छूने में अपने आपको असमर्थ पाती हैं। तितली उन्हें संरक्षण प्रदान करती है, जिन्हें संसार व्यभिचार की संतान कहता है। शैला जब उन तीन लड़कियों का तितली से परिचय पूछती है तो मानों तितली की सहानुभूति व्यंग्य भरे शब्दों में बोल पड़ती है -

" संसार - भर में परम अछूत। समाज की निर्दय महत्ता के काल्पनिक दम्भ का निदर्शन। छिपाकर उत्पन्न किये जाने योग्य सृष्टि के बहुमूल्य प्राणी, जिन्हें उनकी मातायें भी छूने में पाप समझती हैं। व्यभिचार की सन्तान।"[2]

तितली एक ऐसी नारी है जो जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण से युक्त है। यहां तक कि समाज के पतित कहे जाने वाले लोगों का कल्याण करती हुई भी वह प्रशंसा की भूखी नहीं है। तितली में आत्मबल और कर्तव्यनिष्ठा इस सीमा तक आकर केंद्रीभूत हो गयी है कि वह समाज के कृत्रिम विधानों की किंचित भी परवाह नहीं करती और उसे इस बात का पूरा विश्वास है कि उसके पाठशाला संचालन में समाज सहयोग नहीं प्रदान करता तब भी वह अपने बल पर पाठशाला चला लेगी - " मैं तो कहती हूं कि यदि सब लड़कियां पढ़ना बंद कर दें, तो मैं साल भर में ही ऐसी कितनी छोटी - छोटी, बड़ी अनाथ लड़कियां इकट्ठा कर लूंगी, जिनसे मेरी पाठशाला और ऐसी बारी बराबर चलती रहेगी। मैं इसे कन्या - गुरुकुल बना दूंगी।"[2]

१- प्रसाद : तितली ; पृ० २३३-
२- वही ,, ; पृ० २३३, २३४-

प्रसाद ने नारी पात्रों के माध्यम से नारी की गतिशीलता का जो परिचय दिया है, उसके साथ ही उन्होंने नारी व्यक्तित्व के प्रति कहीं - कहीं अपने उद्गार भी व्यक्त किये हैं। " रमणी - हृदय " में कवि नारी को बाड़वाग्नि के रूप में मानता है। जैसे समुद्र में चारों ओर जल ही जल लहराता रहता है, किंतु भीतर ही भीतर प्रबल आग भी जलती रहती है, ठीक उसी प्रकार नारी का व्यक्तित्व भी है। लहरों की यह तरलता नारी के कोमल व्यक्तित्व का द्योतक है और भीतर की यह बाड़वाग्नि उसकी सृजनात्मक शक्ति की प्रबल अग्नि के समान है।

(ख) अनुदात्त

(ख) प्रसाद जी के अनुदात्त नारी - पात्र

प्रसाद जी के साहित्य में नारी - पात्रों में उपर्युक्त उदात्त और आदर्श व्यक्तित्वों के साथ ही ऐसे भी नारी पात्रों का सृजन मिलता है, जिनमें मुख्यत: अनुदात्त प्रकृति परिलक्षित होती है।

मानव स्वभाव में सत् और असत् दो पक्ष हैं। जहाँ उसके सत् पक्ष में सेवा, त्याग, परोपकार आदि वृत्तियों का विकास पाया जाता है, वहाँ असत् पक्ष में स्वार्थ, क्रोध, हिंसा, अहंकार आदि का विस्तार भी मिलता है। सत् और असत् के मध्य अपना मार्ग निर्णय करके जो सत् को अपना लेते हैं, वे अंत में प्रसाद के आदर्श की स्थापना करते हैं, और जो कुप्रवृत्तियों के झंझावात में भटकते रहते हैं, भटकते - भटकते कभी किनारे को पहुंच जाते हैं, उन्हें हमने अनुदात्त प्रवृत्तियों के अवलंब नारी - पात्रों के रूप में देखा है। प्रसाद वस्तुत: इसको नारी की भटकन के ही रूप में स्वीकार करते हैं, उसकी मूल प्रवृत्ति के रूप में नहीं। इसीलिए उनके सभी अनुदात्त वर्ग में आने वाली नारी पात्र अपनी चरम स्थिति में उदात्त प्रकाश से आलोकित होते दिखाई पड़ते हैं।

प्रसाद के साहित्य में इस प्रकार के पात्र बहुत अधिक नहीं हैं। मागन्धी, अनंतदेवी, बुड़ीयाली, छलना, विजया, शक्तिमती, कमला और सरला आदि कुछ ही ऐसे पात्र हैं, जिनमें हम अनुदात्त प्रकृति का विस्तार पाते हैं। इन नारी पात्रों में अपने ही ढंग का एक प्रबल वेग है; अदम्य और विशिष्ट व्यक्तित्व है, जो प्रभावशाली है।

अनुदात्त प्रकृति का विश्लेषण करते हुए हम देखते हैं कि इन नारी पात्रों के व्यक्तित्व में मुख्यत: निम्नलिखित तत्व पाये जाते हैं :-

(क) ऐन्द्रिक वासना,

(ख) छल पूर्ण प्रेम और असफलता ;

(ग) अहंकार ;

(घ) भौतिक लालसाएँ और महत्वाकांक्षाएँ ; और

(ङ) हिंसा और क्रूरता।

वस्तुत: इन सभी प्रवृत्तियों के मूल में एक ही तत्व है - काम और अहम्।

मनोवैज्ञानिक आधार -

मनोवैज्ञानिक आधार पर काम एक मूलप्रवृत्ति[1] है। इससे संबंधित संवेग कामपिपासा[2] या यौनप्रवृत्ति है। इसे पुत्र कामना की मूल प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। जहाँ तक इस प्रवृत्ति का संबंध है केवल संतानोत्पत्ति की कामना से है, वहाँ तक अन्य मूल प्रवृत्तियों की भाँति यह प्रवृत्ति भी सहजात है। किंतु इस प्रवृत्ति के प्रकट होने की तीव्रता या बहुलता जिनमें अधिक होती है, उन्हें स्वाभाविक कोटि के व्यक्ति न कहकर एक विशेष कोटि का व्यक्ति मानना होगा। इन व्यक्तियों का अधिकांश झुकाव यौनाचरण की ओर होता है। नारी इस संबंध में अपवाद नहीं है।

भारतीय संस्कृति में काम की मूल प्रवृत्ति और तज्जनित यौनाचरण के लिए बहुत कुछ प्रतिबंध प्रस्थापित किये गये हैं। किंतु यह मूल प्रवृत्ति अन्य मूल प्रवृत्तियों की ही भाँति व्यक्ति के लिए आवश्यक और उपयोगी है। इस प्रवृत्ति को बलात् दबा देने से व्यक्तित्व में अनेक प्रकार की कुंठायें, हीन भावनायें और भावना - ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। अत: इस प्रवृत्ति को प्रकट होने के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।

फ्रायड ने सभी मूल प्रवृत्तियों में दो मूल प्रवृत्तियों को मूलभूत प्रवृत्ति के रूप में माना है, और वे हैं - आत्मसंरक्षण[3] और जाति संरक्षण[4]। आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति के बल पर व्यक्ति वे कार्य करता है, जिससे वह संसार की अनेक बाधाओं का सामना करते हुए अपने को संरक्षित बनाये रख सके। इस भावना

१- Instinct.

२- Sexual lust

३- self preservation.

४- Race preservation.

के बल पर उसमें " स्व[१] " या " अहम् " की प्रवृत्ति जागती है।

जाति संरक्षण का दूसरा नाम यौनप्रवृत्ति भी है। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप व्यक्ति में विजाम लिंगी आकर्षण उत्पन्न होते हैं, और इस आकर्षण के परिणामस्वरूप ऐन्द्रिक-वासना[२] जागृत होती है तथा लैंगिक यौनाचरण की क्रिया होती है। मूलत: यह क्रिया हर प्राणी में अपनी - अपनी जाति की परंपरा बनाये रखने के उद्देश्य से होती है, और मनुष्य को छोड़कर शेष सभी प्राणियों में इसका संबंध केवल संतानोत्पत्ति तक रहता है। मनुष्यों में इस मूल प्रवृत्ति का उपयोग आत्मतुष्टि या भोगजनित आनंद के उद्देश्य से भी किया जाता है।

फ्रायड का तो यहाँ तक कहना है कि जाति संरक्षण की प्रवृत्ति बचपन से ही पायी जाती है, और इसी का परिणाम है, कि जन्म से ही नर शिशु अपनी माँ की ओर, और मादा शिशु अपने पिता की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। फ्रायड ने इस प्रकरण में तीन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है, वे हैं -

१- इड[३] - प्रेरक,

२- ईगो[४] - अहंता या अहंभाव

३- सुपर-ईगो[५] - नैतिक विवेक

इसका वर्णन फ्रायड ने इस प्रकार किया है, " इन मानस - प्रांतों अथवा साधनों में जो सबसे पुरातनतम है उसे हम इड का नाम देते हैं। इसमें वह सब समाविष्ट है जो पैतृकता से मिलता है, जन्म के समय विद्यमान होता है, और जो शारीरिक संरचना में बद्धीभूत है। और उसमें सर्वोपरि है शारीरिक संगठन से उद्भूत

१- Self

२- Sex instinct.

३- Id

४- Ego

५- Super Ego

मूलप्रवृत्तियाँ (प्रेरक), जिसकी प्रथम मानसिक अभिव्यक्ति इड में, हमारे लिए अज्ञात रूपों में, होती है।"[1]

फ्रायड के सिद्धांत के अनुसार उपर्युक्त " इड " की माँगें निरंतर चलती रहती हैं, और उनको आनंदवाद[2] अर्थात् जिन व्यापारों से शारीरिक तनाव दूर होकर सुख प्राप्त होता है, उनको चाहते रहने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है।

मनोविज्ञानिकों का यह भी कथन है " जो लोग मनुष्य में कामवासना को प्रबलतम प्रेरणा मानते हैं उनकी धारणा का मुख्य आधार यह है कि मानवीय कुसमा-योजनों में अधिकांश का आधार यौन होता है। किंतु कामवासना और सभ्य जीवन की दशाओं में पर्याप्त समायोजन न कर पाने में संबंध, केवल काम-वासना की शारीरिक विवशता से ही उत्पन्न नहीं होता। उसकी उत्पत्ति मुख्यतया इस तथ्य से होती है कि मनुष्य के सभी प्रेरकों में से कामवासना ही सबसे अधिक कठोरतापूर्वक नियंत्रित है। यदि यह स्थिति पलट दी जाए और भूख की तृप्ति पर भी उतने ही कठोर विधि-निषेध लगा दिये जाएं, जैसे कि काम-वासना के साथ हैं, और कामवासना की तृप्ति उतनी ही आसानी से होने लगे, जितनी कि भूख की होती है, तब हम अपेक्षा कर सकते हैं कि ऐसे कुसमायोजन का उत्स कामवासना न रहकर भूख हो जायगी।"[3]

मनोविज्ञानिकों का यह भी निष्कर्ष है कि - " यद्यपि यौन न्यासर्ग (Sex hormones) बचपन में मौजूद रहते हैं, तो भी किशोरावस्था में उनमें वृद्धि होती है। ये यौन - रुचि के विकास के लिए निश्चयात्मक रूप से आवश्यक होते हैं। जहाँ तक व्यक्तित्व के लक्षणों का प्रश्न है, कुछ व्यक्तियों में काम-वासना अत्यधिक होती है और कुछ में अत्यंत कम। इन विभिन्नताओं का कारण न्यासर्गों को माना जा सकता है। परंतु इसके

१- नारमन एल० मन : मनोविज्ञान ; पृ० १२७, १२८ -

२- Pleasure principles-

३- नारमन एल० मन : मनोविज्ञान ; पृ० १२५-

प्रमाण अभी बहुत कम मिल सके हैं। कुछ लोगों की रतिक्रिया में औसत लोगों से बहुत कम रुचि होती है। ऐसे लोग प्राय: अपने मित्रों की आलोचना का विषय बने रहते हैं। इसकी प्रतिक्रिया उन पर इस रूप में होती है कि वे कुछ विचित्र प्रकार की यौन - चेष्टाओं में संलग्न हो जाते हैं। अन्य सामान्य व्यवहारों वाले व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण की विचित्रताओं और दूसरी रुचियों के यौन रुचि के प्रतिद्वन्द्वी या उससे संयुक्त हो जाने के कारण एक खास तरह की यौन - अभिव्यक्ति ग्रहण कर लेते हैं।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यौन भावना मनुष्य की एक जन्मजात भावना है किंतु इसके संवेगों को प्रकट होने के लिए समाज की सभ्यता और परंपरा के अनुसार प्रतिबंधित रहना पड़ता है। विशेष रूप में भारतीय नारी समाज को इन कुंठाओं को अधिक सहना पड़ा है, यह प्रवृत्ति जितनी ही दबायी जाती है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती है। प्रसाद ने अपने साहित्य में नारी - सृजन के प्रकरण में इन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भी दृष्टि में रखा है। यही कारण है कि कुछ नारी पात्र अत्यधिक यौनाकर्षण[2] के संवेग से युक्त दिखायी पड़ती हैं।

प्राय: देखा जाता है कि यौनजनित मूलप्रवृत्ति को प्रकट होने के लिए समुचित अवसर न मिला तो निराशा, उत्साह, क्रूरता, हिंसा वृत्ति आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो सकते हैं। तद्नुरूप प्रसाद ने जहाँ काम या यौन-भावना की तीव्रता प्रतिबिंबित किया है, वहाँ इन कुंठाग्रस्त परिस्थितियों को भी भूले नहीं हैं। जिन नारी पात्रों में इन भावनाओं की प्रधानता देखी गयी है, उनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

1- मुल्क्स और मार्क्विस : मनोविज्ञान ; पृ० १२५ -

2- मागंधी, कमला, सरमा आदि।

(क) ऐंद्रिकवासना -

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में नारी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी शोभा है इन्द्रियसंयम। भारतीय मान्यताओं के अंतर्गत नारी का रूप गुण, सौंदर्य .. सभी कुछ इसीलिए आकर्षक नहीं माना गया है, कि उनसे वासनाओं का उद्रेक होता है, अपितु नारी शक्ति के स्रोत के रूप में है, जो पुरुष तत्व को कर्मपथ की ओर प्रेरणा देती है। नारी - सौंदर्य का एक उन्मुक्त प्रयोग यौनाकर्षण और ऐंद्रिक लालसाओं की पूर्ति हेतु किया जाता है। प्रसाद की नारी के सौंदर्य में जहां सात्विक आकर्षण के तत्व पाते हैं, वहीं ऐसी भी नारियां उनकी आंखों से ओझल नहीं हो पाई हैं, जिनका रूप उनके मानस का अभिशाप है ; उनके स्खलन का मार्ग है। उनमें संयम का अभाव है।

ऐसी नारियां जिनमें प्रसाद ने ऐन्द्रिक वासना की प्रधानता देखी है, वे प्राय: परिस्थितिजन्य या मूल प्रवृत्यात्मक हैं। कुछ नारियां सामाजिक वातावरण के अनुरूप ऐन्द्रिक लालसाओं से युक्त दिखाई पड़ती हैं, और कुछ ऐसी हैं, जिनमें वासनाजन्य मूल प्रवृत्तियां अधिक प्रखर रूप में कार्य कर रही हैं। कुछ भी हो, प्रसाद ने उन्हें त्याज्य मानकर अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा है। वे इन चरित्रों में भी मानवता के उदात्त गुणों को अंतर्निहित मानते हैं, किंतु वे उदात्त गुण परिस्थितिमूलक प्रभावकारी कारणवश कुप्रवृत्तियों के प्रबल आच्छादन से ढके रहते हैं। ऐन्द्रिक वासना की आंधी शांत हो जाने के उपरांत चरित्र का निर्मल रूप सामने आता है। नारी के इस निर्मल रूप को अंत में शाश्वत माना गया है। फिर भी, ऐंद्रिक वासना - प्रधान नारी पात्रों में निम्नलिखित को गिना जा सकता है - मागन्धी, सरमा, कुटीपाली, इरावती, पद्मा।

यौन- वासना प्रधान नारियों के चित्रण में प्रसाद जी के ऐसे नारी पात्रों का वर्णन किया जा चुका है[१], जिनमें वासना अपनी अदम्य स्थिति में

१- अध्याय ६, " सामाजिक परिवेश और प्रसाद के नारी-पात्र "

विद्यमान है। मागन्धी ऐसी ही नारी पात्रों में से एक है। उसमें ऐन्द्रिक लालसाओं की ज्वाला अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई पड़ती है। वासना के आवेग में यहाँ तक कि वह गौतम को "दरिद्र भिक्षु" तक कह जाती है। उसकी ऐन्द्रिक लालसाएँ गौतम की ओर विफल होकर प्रतिहिंसा का रूप ले लेती हैं, और वह उदयन की ओर मुड़ पड़ती है। वासना की वेगवती लहरें उदयन के संपर्क में भी शांत नहीं होतीं। अंत में वह जीवन का समग्र असंतोष, प्रतिहिंसा और अहंकार अपने-आपमें समेट अंतर्मुखी हो जाती है और परास्त हिरनी की भाँति गौतम के चरणों में आत्मार्पित कर देती है। अपरिमित ऐंद्रिक लालसाओं का वेग अंत में शीतल वारि-स्रोत बनकर आध्यात्मिक अनुभूत गौतम के चरणों का प्रक्षालन करने लगता है, और यही उसका निष्कर्ष रूप प्रसाद जी को अभीप्सित भी था।

चूड़ीवाली[1] अपने शारीरिक सौंदर्य में जितना ही "शैशव का अल्हड़पन[2] लिए हुए है" यौवन की तरावट[3]" भी उसमें उतना ही विकसित है। वह घूम-घूमकर चूड़ी बेचने के लिए जाती है, लेकिन वह स्वयं स्वीकार करती है कि घूम-घूमकर चूड़ी बेचने में उसका आशय चूड़ी बेचने का कम, और ग्राहक खरीदने का अधिक होता है। वह सरकार की बहू से कहती है - "बहूजी आजकल खरीदने[4] की धुन में हूं, बेचती हूं कम।"

चूड़ीवाली ऐसे व्यवसाय को ग्रहण कर लेती है, जिसमें कलात्मकता के नाम पर शरीर विक्रय और ऐन्द्रिक लालसाओं की पूर्ति होती है। प्रसाद जी ने उसके वासनाजन्य स्वभाव का चित्रण करते हुए कहा है - "विलास और प्रमोद

१- 'चूड़ीवाली' आकाशदीप कहानी संग्रह की -
२- प्रसाद : आकाशदीप ; पृ० १२७ -
३- वही ,, ,, 126 -
४- वही ,, ,, ; पृ० १२८ -

का पर्याप्त संभार मिलने पर भी उसे संतोष न था। हृदय में कोई अभाव खटकता था -----।"[१]

अंत में उद्दाम लालसाएं, आकाश की उड़ान छोड़कर धरती की यथार्थता पर उतर आती हैं; और दांपत्य सुख की स्वर्गिक आकांक्षाएं उसके हृदय में खेलने लगती हैं। प्रेम के क्रय - विक्रय की दुकान से खींचकर चूड़ीवाली को दांपत्य सुख की ओर ले आने की कल्पना प्रसाद जी की अपनी नारी जनित मौलिक भावना थी। अतः यहां भी ऐन्द्रिक अतृप्ति के प्रभाव के हट जाने पर प्रसाद ने चूड़ीवाली को गृहधर्म की ओर लौट आते दिखलाया है।

प्रसाद अपने जीवनकाल में कुछ ऐसी नारियों के संपर्क में आये थे, जिनका व्यवसाय ही कला का विक्रय करना था। उनमें से कुछ परिस्थिति मूलक थीं, और समाज की विडंबनाओं से ग्रसित होने के कारण उन्हें ऐन्द्रिक-विलास का जीवन बिताना पड़ा था। उनका प्रतिनिधित्व करती है पद्मा।[२] ऐसी नारियां अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ऐन्द्रिक वासना प्रधान नहीं हैं, और उनमें सामान्य नारियों की भांति गार्हस्थ्य धर्म अपनाने तथा किसी पुरुष का पवित्र प्रेम पाने की लालसा विद्यमान है। इसके ठीक विपरीत प्रसाद जी ने कुछ ऐसी भी प्रगल्भ नारियों को देखा था, जिनका जीवन ही वासनामय था और ऐंद्रिक विलास के वातावरण को उन्होंने अपनी अंतर्निहित लालसा के परिणामस्वरूप ग्रहण किया था। मागन्धी और चूड़ीवाली ऐसी ही नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रसाद जी ने इन नारियों के प्रति भी सहानुभूति की दृष्टि डाली है, यद्यपि वासनामय जीवन का अंत सरलता से पवित्रता की ओर नहीं वापस आता और इसीलिए प्रसाद जी ने जिन नारी पात्रों को वासनाप्रधान माना है, उन्हें दूर तक वासना के उतार - चढ़ाव में झूलते हुए दिखाया है, किंतु वासना भी चूंकि मानवीय स्वभाव का एक अनिवार्य अंग है, -

----

१- प्रसाद : चूड़ीवाली ; पृ० १२८ -

२- देवदासी कहानी की नारी-पात्र -

इसलिए प्रसाद जी ने वासना-प्रधान पात्रों को भी हेय दृष्टि से नहीं देखा है, और उनके हृदयों में भी सहज, स्वाभाविक मनुष्यता के गुणों की खोज निकाला है। इसीलिए प्रसाद जी के वासनाप्रधान नारी-पात्र भी ऐन्द्रिक लालसाओं के वातावरण में चित्रित होकर भी अपना प्रभाव बनाये रखते हैं, और उनके चरित्र का अंतिम मोड़ बिल्कुल भी अस्वाभाविक नहीं लगता।

(ख) <u>असम्पूर्ण प्रेम और अतृप्ति</u>

प्रेम नारी हृदय की पवित्रतम विभूति है। प्रेम की सच्ची अनुभूति ही उसे गरिमामयी बना देती है। किंतु प्रेम जब केवल भौतिक प्रणाली, और भौतिक लक्ष्य तक ही सीमित रह जाता है, तब उसका रूप भिन्न होता है। उसका परिणाम है - अतृप्ति और चंचलता।

प्रेम की एकनिष्ठता में नारी का जो गंभीर व्यक्तित्व आभासित होता है, उसका लक्ष्य ही एक प्रकार से प्रेम के नाम पर[1] दैहिक लालसाओं की पूर्ति करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विजया दूर - दूर भटकती है, और भिन्न - भिन्न आश्रय ग्रहण करती है, किंतु उसे संतोष या तृप्ति कहीं भी नहीं मिल पाती।

यौवन के प्रथम उन्माद में वह स्कंदगुप्त की ओर आकर्षित होती है। स्कंद के प्रति उसका प्रेम, आंतरिक हृदय से उत्पन्न होने वाला सच्चा प्रेम नहीं है उसके आकर्षण का केन्द्र-बिंदु स्कंद का राजकीय ऐश्वर्य है। वही ऐश्वर्य उसके स्वप्नों का स्वर्ग है। किंतु स्कंद को अधिकारों की ओर से विरक्त और उदासीन देखकर उसका चंचल मन स्कंद को छोड़ भटार्क की ओर मुड़ जाता है। वह भटार्क को स्वेच्छा वरण कर लेती है और देवसेना से अपने उस वरण का दृढ़ शब्दों में उद्घोष करती है।

स्कंदगुप्त विजया से प्रेम करता है। वह साम्राज्य के बोझ की कल्पना करके अपने हृदय को अशांत और निरीह पाता है। उसे शांति चाहिये, एक [illegible]

१- स्कंदगुप्त कि नारी - पात्र -

शांति जहाँ स्नेह का पारावार उसके क्षुब्ध हृदय को शांत करने के लिए उमड़ रहा हो। इसके विपरीत विजया को शांति नहीं चाहिये। उसे चाहिए जीवन की वह मधुर प्यास जिसमें वह पीकर भी और पीने के लिए तथा डूबकर भी और डूब जाने के लिए आतुर रह सके। विजया के यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण करते हुए स्कंदगुप्त स्वयं कहता है -" ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा। जिसे हमने सुख शर्वरी की संध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्त दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया? -------"[1]

मिथ्या प्रेमजन्य लालसाओं के मायाजाल में विजया अपने स्त्री-सुलभ कोमल गुणों को भूल जाती है। यहाँ तक कि उसकी सारी उदात्तता विलास की आँधी में उड़ जाती है और वह ऐन्द्रिक लालसाओं की मृग मारीचिका मात्र रह जाती है। यहाँ तक कि वह अपने प्रेम पूर्ति के लिए जघन्य से जघन्य कृत्य करने के लिए भी तैयार हो जाती है। वह देवसेना को अपना शत्रु समझकर उसकी हत्या के षड्यंत्र में भी सम्मिलित होती है। " उपकारों की ओट में मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना- लता को समूल उखाड़कर कुचल दिया।"[2] वह भूल जाती है कि देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लेना चाहती। देवसेना स्कंद को हृदय से प्यार करती है, किंतु उसका प्रेम किसी के सम्मुख बाधक बनकर नहीं खड़ा होता। बलि पर चढ़ायी जाने के पूर्व वह इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है—विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूंगी, उसे प्रम है, यदि वह छूट जाता। यद्यपि विजया में इसकी कोई कोमल या सहानुभूति-जन्य प्रतिक्रिया नहीं होती। बहुत ही निर्मम और नृशंस हृदय था उस विजया का।

विजया का चिर अतृप्त हृदय, पुनः पुरगुप्त की ओर आकर्षित होता है। वह पुरगुप्त को मदिरा का पात्र पिलाकर अपनी भाव-भंगिमाओं और अपने यौवन के निखार से बहलाती है। अपने प्रेमी भटार्क के समक्ष ही वह कहती है - " अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनंदन कर सकती है

1- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; पृ० ८४ -
2- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " तृतीय अंक " ; पृ० ८१ -
3- प्रसाद : स्कंदगुप्त, पृ० ८७ -

मिथ्या प्रेम के झकोरों ने उसे गर्त की किस निचली तह तक पहुँचा दिया है संभवत: विजया को भी इसका ज्ञान नहीं रह गया था।

विजया के हृदय की अस्थिरता ही उसमें पुन: महादेवी बनने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न करती है। वह स्वयं अपना विश्लेषण करती हुई कहती है - " ----- यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती। मेरा रत्नगृह अभी बचा है, उस सेना संकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी, और एक बार बनूँगी महादेवी। क्या नहीं होगा? अवश्य होगा।"[1]

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने नारी के व्यक्तित्व में एकनिष्ठ प्रेम को प्रेम का आदर्श माना है। जहाँ प्रेम की इस एकनिष्ठता में विचलन की स्थिति दिखाई पड़ी है, वहीं प्रेम का सात्विक रूप नहीं रह गया है, और वहीं प्रसाद ने नारी को मिथ्या प्रेम और ऐंद्रिक लालसाओं के मायाजाल में भ्रमित दिखाया है। यही कारण है कि प्रसाद ने विजया के प्रकरण में स्कंद से यहाँ तक भी कहला दिया है कि, " तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले, तो मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ।"[2]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि प्रेम की एकनिष्ठता में प्रसाद ने नारी को जितनी ही वरणीय माना है, उतना ही प्रेम की विचलनशीलता में उसका यह रूप पुरुष के हृदय में वितृष्णा उत्पन्न कर देता है।

१- प्रसाद : स्कंदगुप्त ; " पंचम अंक, प्रथम दृश्य " ; पृ०१२९ -
२- वही ,, , " पंचम अंक, द्वितीय दृश्य " ; पृ० १३६ -

(ग) अहंकार

स्व और आत्माभिव्यक्ति मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में से है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ अपने आपको प्रकट करने की भावना होती है। यही आत्माभिव्यक्ति कभी - कभी स्व की सीमा पर इतनी दूर तक पहुंच जाती है कि वह अहंकार का रूप ले लेती है। नारी में भी यह अहंकार वृत्ति पायीजाती है। जहाँ तक केवल आत्माभिव्यक्ति का संबंध है, प्रत्येक व्यक्ति में अपने आपको प्रकट करने की शक्ति और उत्सुकता का होना आवश्यक है। किंतु यही स्व-भावना जब अहंकार का रूप धारण करती है तो फिर अहंकारी व्यक्ति अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानने लग जाता है। रीति-काल में इस दृष्टि से रूप गर्विता और प्रेमगर्विता नायिकाओं का विवेचन हुआ है।

प्रसाद जी ने अपने साहित्य में रूपगर्व और बुद्धिगर्व से गर्विता नारियों का चित्रण किया है। रूप, गर्व की कोटि में मागंधी, कमला और शैलवती आदि नारियां आती हैं। कामायनी की इड़ा बुद्धि गर्व से गर्विता उस महाकाव्य की एक महत्वपूर्ण नारी पात्र है।[1]

मागंधी रूप के अहंकार में चूर है। उसे विश्वास है कि उसके रूप-सौंदर्य पर कोई भी युवक आकृष्ट हो सकेगा। गौतम को वह अपने रूप की माधुरी में लुभा लेना चाहती है, किंतु गौतम की ओर से आकर्षण न देखकर उसका रूप गर्व अपने वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। यहां तक कि रूप के नशे में मागंधी भूल जाती है कि जिसे वह अपना प्रेम-पात्र बनानाचाहती थी, वह कोई दरिद्र भिक्षु नहीं मानवता का एक महान् देवता है। गौतम के प्रति उसके उद्गार देखिये - " इस रूप का इतना अपमान! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ! मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया![2] रूप का अहंकार मागंधी को वासना के

1- अजातशत्रु की नारी - पात्र -

2- प्रसाद : अजातशत्रु, " पहला अंक " ; पृ० ३ -

क्षेत्र में खींच लाता है। और यही क्षेत्र उसके पतन का कारण है।

प्रसाद ने अहंकार को व्यक्तित्व की विकृति के रूप में माना है और विशेष रूप में यह नारी के अहंकार - जन्य व्यक्तित्व को विध्वंस की ओर ले जाती है। नारी के असत् रूप को प्रकट करने वाली एक अहंकार वृत्ति भी है।[1] " प्रलय की छाया " में कमला 'रूप राशि स्वरूपा किंतु रूपगर्विता' नारी के रूप में चित्रित हुई है, जो कि अपनी ही " मृदुगंध से कस्तूरी मृग जैसी " पागल हो जाती है। यहाँ तक कि उसका रूप-गर्व अपनी शान के आगे पद्मिनी की उस प्रशंसा को भी सुनने को तत्पर नहीं है, कि अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए पद्मिनी और अनेक नारियों ने जौहरव्रत कर लिया था। वह सुल्तान को पराजित करना चाहती है, किंतु केवल अपने रूपाकर्षण से। उसका रूप-गर्व यहाँ तक बोलने लगता है कि -

" पद्मिनी जली थी स्वयं किंतु मैं जलाऊँगी -
वह दावानल ज्वाला जिसमें सुल्तान जले।
देखे तो प्रचंड रूप ज्वाला सी धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।"[2]

यहाँ भी अहंकार का अंत नारी को शक्ति में अबला, किंतु रूप में प्रबला मात्र सिद्ध करता है।

शालवती " वैशाली की सौंदर्य-लक्ष्मी।"[3] की प्रतिमा के समान सुंदर है और उस सुंदरता के अनुरूप ही उसमें रूप-गर्व भी विद्यमान है। वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी होने का दर्प उसे एक साधारण नारी नहीं रहने देता, और वह कुलवधू बनने से इनकार कर देती है।

1- डा० शैलकुमारी : आधुनिक-हिन्दी-काव्य में नारी भावना ; पृ० १५७ -
2- प्रसाद : लहर, " प्रलय की छाया ", पृ० ६५-
3- प्रसाद : " इंद्रजाल ", "शालवती " ; पृ० १३२ -

सालवती में ऐश्वर्य का अहंकार भी बहुत कुछ भरा हुआ है। वह कहती है - " पिता हिरण्य के उपासक थे। स्वर्ण ही संसार में प्रभु है - स्वतंत्रता का बीज है। वही ८० स्वर्ण-मुद्राएं उसकी दक्षिणा हैं, और अनुग्रह करेंगी वही। किस पर इतनी संवर्धना। इतना आदर ? "[1]

अंत में उसका सारा रूप गर्व एक वारांगना के रूप में बनकर सिमट जाता है, और नारी का इससे अधिक अधः पतन फिर दूसरा हो ही क्या सकता था ?

कामायनी की इड़ा अपने बुद्धि-दर्प के लिए प्रसिद्ध है। " प्रसाद ने हृदय (भावना-विश्वास) को नारी के यथार्थ स्वरूप का पर्यायवाची माना है, और मस्तिष्क (बुद्धि, तर्क) को पुरुष का। स्त्री जब इस पौरुषी वृत्ति को ग्रहण करती है, जैसा 'कामायनी' की इड़ा ने किया, तो वह अपने नारीत्व को, पुरुष के हृदय को पाने की शक्ति को खो बैठती है।"[2]

इड़ा तर्कमयी है और उसे अपनी सर्जना शक्ति पर केवल विश्वास ही नहीं अहंकार भी है। उसके रूप का चित्रण करते हुए प्रसाद जी ने नारी का एक बहुत ही विलक्षण और कौतुकपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। उसकी अलकें ऐसी बिखरी हुई हैं जैसे तर्क का ताना-बाना दूर तक बिखरता चला गया हो। उसके वक्षस्थल पर मातृत्व का अमिय स्रोत छलका देने वाले कलश नहीं, अपितु संसार के सभी ज्ञान और विज्ञान आकर बंध गए हैं। हाथों में एक ओर कठोर कर्म का कलश है और दूसरी ओर विचारों के नभ को अवलंब देने की भावभंगिमा भी है। उसके चरणों में एक ऐसी गति भरी ताल है, जो साधारणतया भावना और विश्वास प्रधान नारी में देखने को नहीं मिलती। यह तो इड़ा का बुद्धि दर्प ही है, जिसने उसे साधारण नारी से कुछ भिन्न बना रखा है -

" बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

x x x

१- प्रसाद : 'इंद्रजाल', 'सालवती' ; पृ० १२८, १२९ -

२- डा० शैलकुमारी : आधुनिक हिन्दी - काव्य में नारी भावना ; १४२ -

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान -
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।[1]

इड़ा स्वयं कर्ममयी है और मनु को कर्म का आसव पिला-पिलाकर और अधिक उकसाती जाती है। बौद्धिकता, भौतिकता, स्वातंत्र्य आदि की ओर बढ़ती हुई इड़ा एक अतृप्ति बनकर रह जाती है, और उसका आसव अंत तक मन को तृप्त नहीं कर पाता -

इड़ा ढालती थी वह आसव, जिसकी बुझती प्यास नहीं,
तृषित कंठ को, पी-पी कर भी, जिसमें है विश्वास नहीं।[2]

इस प्रकार नारी में जहाँ अहंकार दिखाई पड़ा है, चाहे वह रूप का अहंकार हो, बुद्धि या प्रेम का अहंकार हो, शक्ति या ऐश्वर्य का अहंकार हो, वहाँ उसके त्याग, सेवा, समर्पण के भावों का विध्वंस हो जाता है और ऐसी स्थिति में प्रसाद उसे अधःपतन की अधिकारिणी मान लेते हैं।

(घ) भौतिक लालसाएँ और महत्वाकांक्षाएँ -

प्रसाद एक ऐसे संक्रमण काल में हुए थे, जब पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का मेल हो रहा था। एक ओर पौर्वात्य संस्कृति का निवृत्तिमार्ग था, और दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति का प्रवृत्तिमार्ग या भोगवाद। प्रसाद जी के

१- प्रसाद : कामायनी, "इड़ा सर्ग"; पृ० १३२ -
२- प्रसाद : कामायनी, "स्वप्न सर्ग"; पृ० १६५ -

व्यक्तित्व में मूलत: भारतीय संस्कृति का प्रभाव था, किंतु पाश्चात्य संस्कृति को वे अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखते थे। वास्तव में न तो वे भारतीय संस्कृति के अतिशय निवृत्तिमार्ग को ही श्रेयस्कर मानते थे और न पाश्चात्य अतिशय भोगवाद को ही। वे दोनों के बीच जीवन का एक सुगम और समतल मार्ग ढूँढना चाहते थे, और उनके पात्रों में ऐसे ही समन्वयवाद की छाया दिखाई पड़ती है।

जहाँ तक नारी-जाति का संबंध है, प्रसाद जी ने प्राय: नारी में उदात्त गुणों की कल्पना की है। वे समाज के व्यापक हित में आत्मबलिदान करना जानती हैं, और उससे प्राप्त करना कम। संतोष, सहिष्णुता और सद्भावना, नारी के सत् रूप के परिचायक हैं, इसके विपरीत जहाँ नारी में भौतिक लालसाओं की प्रधानता देखी गयी है, वहीं प्रसाद जी ने ऐसी नारियों के असत् रूप को सामने लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ अहंकार है, कुप्रवृत्तियाँ हैं, और है भौतिक लालसाओं का अनंत नर्तन।

पाश्चात्य विद्वान भले ही भौतिक सुखों को शाश्वत मानते हों, और भौतिक लालसाओं की पूर्ति में ही जीवन का चरम उत्कर्ष समझते हों, किंतु लालसाओं का स्वत: कोई अंत नहीं होता एक लालसा दूसरी लालसा को जन्म देती है, और उससे नई-नई अतृप्तियाँ उत्पन्न होती हैं। नारी जब अपने उदात्त गुणों की सीमा को लाँघकर भौतिक लालसाओं के संसार में उतर पड़ती है, तो उसको भी अंत वही होता है, जो अपने ही जाल में फँसी हुई मकड़ी का हुआ करता है। सांसारिक लालसाओं का ताना-बाना प्रत्यक्षत: इतना मोहक किन्तु परोक्षत: इतना सारहीन है कि प्रसाद जी उदात्त नारी पात्रों को उस जाल में फँसी हुई देखना स्वीकार नहीं करते। किंतु भौतिक लालसाओं का भी जीवन में एक स्थान होता है, और नारी उसके लिए अपवाद नहीं कही जा सकती। इसीलिए प्रसाद ने अपने साहित्य में ऐसे नारी पात्रों की भी कल्पना की है, जो भौतिक ऐश्वर्यजनित लालसाओं में डूबी हुई हैं। अपने सिद्धांत के अनुसार प्रसाद जी ऐसे नारी-पात्रों को अपनी लालसाओं के मायाजाल में बंधा हुआ दिखाने से नहीं चूके हैं। नीचे दिये गए कुछ उदाहरणों से स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

तरला[1] इसी वर्ग की नारियों का प्रतिनिधित्व करती है। स्वर्ण प्राप्त कर अपनी कामनाओं की पूर्ति करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। इसकी पूर्ति के लिए वह अपने पति से निम्न से निम्न कार्य पूरा कराने में नहीं झिझकती। उसका पति उसे आभूषण का लोभ दिखाता है, वह तुरंत ही पिघल उठती है, और उसकी प्राप्ति की कामना उसे बेचैन कर देती है। महापिंगल के शब्दों में उसका व्यक्तित्व - " देखो कैसी पिघल गयी। गर्म कड़ाई में घी ली गई। गहने का जब नाम सुना, बस पानी - पानी।"[2]

तरला का चरित्र प्रारंभ से अंत तक भौतिक लालसामय है। इसमें आदर्श के कोई भी गुण विद्यमान नहीं है। वह भौतिक लालसाओं में ही पनपी है, और भौतिक लालसाओं में उलझी हुई रह गई है। इसीलिए उसमें नारी सुलभ उन प्रवृत्तियों का विकास नहीं हो पाया है, जिनके कारण उसे हम उदात्त नारी की संज्ञा दे सकें।

ललना नारी चरित्र की दुर्बलता की प्रतिनिधि है। नारी स्वभाव का समग्र ओछापन, कठोरता, उग्रता तथा ईर्ष्यालुपन आकर उसमें समाविष्ट हो गया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि ललना ऐहिक लालसाओं के मायाजाल में पड़ी रहती है और उन लालसाओं की पूर्ति न होने पर अतृप्ति, असंतोष, ईर्ष्या और विद्रोह का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यहाँ तक कि ललना को इन्हीं लालसाओं के कारण नारी चरित्र के दुर्बलतम आचरणों को भी अंगीकार करना पड़ता है।

कामना भौतिक लालसाओं से युक्त एक चंचलता की प्रतीक नारी है। उसे जीवन में शांति और संतोष का संदेश नहीं चाहिये। वह भविष्यन्यता में विश्वास नहीं करती यद्यपि संतोष को वह अपने हृदय के समीप पाती है, किंतु उसे

1- "विशाख" नाटक की नारी पात्र -

2- प्रसाद : विशाख ; पृ० ७२-

" कलह के विश्राम का स्वप्न " नहीं चाहिये। वह अपना पेट ही भरना चाहती है, लालसाओं की तरह तरंगी है। यहां तक की मुरझाये हुये पुष्पों में भी उसे विश्वास नहीं। कलियां चुनने, गूंथने, सजाने और तब कहीं पहनने में उसे एक विडंबना मालूम पड़ती है। वह तात्कालिक सुगंध चाहती है; और जीवन का सुरुचिपूर्ण वातावरण चाहती है वह कहती है - " ये मुरझाये हुए पुष्प, ऊंह - कलियां चुनो, उन्हें गूंथो और सजाओ, तब कहीं पहनो। हां, इन्हें कुचलने में भी देर नहीं लगती ---- सुगन्ध और रुचि के बदले उनमें एक दबी हुई गर्म सांस निकलने लगती है ------"[1]

अभी अतृप्ति में कामना लालसाओं के संसार में डूबी हुई है। जो कुछ भी उसे प्राप्त है, उससे उसे संतोष नहीं। उसका हृदय कुछ अधिक गहराई में पहुंचकर तृप्ति चाहता है। वह स्वयं कहती है :-

" मैं क्या चाहती हूं? जो कुछ प्राप्त है, उससे भी महान्। वह चाहे कोई वस्तु हो। हृदय को कोई कमी रहा है। कुछ आकांक्षा है; पर क्या है? उसका किसी को विवरण नहीं देना चाहती। केवल वह पूर्ण हो, और वहां तक, जहां तक कि उसकी सीमा हो-[2]

इसीलिए उसका व्यक्तित्व आरंभ में अत्यंत ही प्रगल्भ दिखाई पड़ता है। अंत में जीवन के थपेड़ों का अनुभव करती हुई वह स्त्रैण नारी - सुलभ गुणों की ओर वापस आती है, किंतु उसकी भौतिक लालसा-जन्य प्रवृत्तियां उसे भौतिकता के जाल में छिपाये रखती हैं। यहां तक कि वह द्वीपवासियों के प्रति भी ऐसी ही लालसाएं करती है, और प्रत्येक व्यक्ति को स्वर्ण के आभूषणों से लदा हुआ देखना चाहती है :- " प्यारे द्वीपवासियों, मेरी एकान्त इच्छा है कि हमारे द्वीप - भर के लोग स्वर्ण के आभूषणों से लद जायं। उनकी प्रसन्नता के लिए मैं

१- प्रसाद : कामना, " अंक ६ दृश्य १ " ; पृ० ८, ६ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ११ -

प्रचुर साधन एकत्र करूँगी -----"।[1]

अंत में भौतिक लालसाओं का समाहार उदात्त नारी भाव में संक्रमित हो जाता है और वह नारी - पुरुष संतोष और सहिष्णुता की वृत्ति को अपना लेती है।

कमला[2] की चंचल प्रवृत्तियों, दृढ़ संकल्पहीनता, असत् महत्वाकांक्षाओं आदि का निरूपण करके कवि ने नारी जाति की अनुदात्त प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण किया है। महत्वाकांक्षिणी कमला अलाउद्दीन को आत्मसमर्पण करके भारतेश्वरी बनने का स्वप्न देखती है। इसी कारण वह आत्महत्या की अपेक्षा सुल्तान के सम्मुख झुक जाती है। भौतिक लालसाओं की पूर्णता के लिए वह अत्यंत अबला और प्रमदा बन जाती है।-

" सुल्तान ही के उस निर्मम हृदय में, नारी मैं।
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की।"[3]

किंतु जब उसके रूप का एक अन्य लोभी ख़ुसरो - अनुचर मानिक, दासवंशीय सुल्तान की हत्या कर राजदंड ग्रहण करता है, तब कमला की आँखें खुलती हैं। उसे ज्ञात होता है कि उसका रूप जीवित अभिशाप है, जिसमें पवित्रता की छाया भी नहीं पड़ी।

अन्त में भौतिक लालसाओं का अंत नारी के हृदय में जागृति उत्पन्न कर देता है। उसे चेतना हो जाती है :-

नश्वर संसार में
लोभ प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि हैं जागती।

< < < <

लंबी है वासना की छलना पिशाची - सी

१- प्रसाद : कामना ; पृ० ११ -
२- " प्रलय की छाया " की नारी -
३- प्रसाद : प्रलय की छाया ; पृ० ७५ -

छिपकर चारों ओर व्रीड़ा की अंगुलियाँ
करती संकेत हैं व्यंग्य उपहास में।

< < < <

अपदस्थ सृष्टि होती
प्रलय की छाया में।[१]

प्रसाद जी ने कमला के माध्यम से नारी - दुर्बलता के एक ऐसे पक्ष का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, जिससे आज की स्वतंत्र और विलास - प्रिय नारी समाज को शुभ संदेश मिल सके।

(ङ) हिंसा और क्रूरता -

मनोवैज्ञानिक आधार पर सहानुभूति मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सभी प्राणियों से प्रेम करना सीखता है। यह प्रवृत्ति कुंठाओं में पड़कर व्यक्ति में हिंसा, क्रोध, और क्रूरता उत्पन्न कर देती है। प्रसाद ने नारी में जिन कोमल गुणों की कल्पना की है, उनमें इन विकृतियों के लिये स्थान नहीं है। फिर भी, उनके कुछ नारी पात्र ऐसे देखे जा सकते हैं, जिनमें हिंसा, क्रोध और क्रूरता के भाव बहुत ही तीव्रता से आये हैं। ऐसे नारी-पात्रों में अहम् की भावना भी अत्यधिक विद्यमान है।

छलना[२] अहिंसा की भर्त्सना करती है और उसे एक कमजोरी मानती है - "उसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्दी सीख है? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिक्षुओं का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दंड के आधार पर है। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है।"[३]

१- प्रसाद : प्रलय की छाया ; पृ० ८० -
२- अजातशत्रु की नारी-पात्र -
३- प्रसाद अजातशत्रु ; "पहला अंक" ; पृ० २५ -

विजया[1] के अहम् का भाव उसके व्यक्तित्व में अपने उग्रतम रूप में पहुंचकर ईर्ष्या का रूप ले लेता है। वह भटार्क को अपना समझती है, और क्रूरता - भरे शब्दों में उस नारी की भर्त्सना करती है, जो भटार्क को उससे छीन रही है -
" एक पाप-पंक में फंसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा? समझो, नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबाकर भंग कर दिया जायगा।"[2]

इतना ही नहीं, उसकी उग्रता और क्रूरता इस सीमा तक पहुंच जाती है कि वह अनंतदेवी को धमकी देती हुई कहती है -
" समझो, और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है।"[3]

विजया स्वत: कितनी भयानक हो सकती है, और आवश्यकता पड़ने पर नारी कितनी भयानक, वीभत्स, और क्रूर हो सकती है, उसका प्रमाण इस प्रकार दिया जा सकता है - " प्रणय - वंचिता स्त्रियां - अपनी राह के रोड़े - विघ्नों - को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हताश्वस्ता रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल शिखा से भी लहरदार होती है।"[4]

इड़ा प्रजापति मनु को अधिकारों का आभार देती है, किंतु जब वे उससे भावनाओं की भी तृप्ति चाहते हैं तो उसका भयंकर, क्रूर और हिंसात्मक रूप उस समय दिखाई पड़ता है, जब कि वह न्याय और नियम की रक्षा हेतु

१- स्कंदगुप्त की नारी पात्र -

२- प्रसाद : स्कंदगुप्त, " चतुर्थ अंक " ; पृ० १०३ -

३- वही ,, ,, ; पृ० १०४ -

४- वही ,, ,, ; पृ० १०४ -

अपनी प्रजा की दुहाई देती है, और उसकी प्रजा उत्तेजित होकर उत्क्रांति के लिए आ खड़ी होती है।[१]

उपरोक्त नारी वर्गों में जो सत् और असत्, शिव और अशिव तथा सुन्दरम् और असुन्दरम् का भेद पाया जाता है, उसका विश्लेषण निम्नवत् किया जा सकता है : " ------ सत् स्वरूपा नारी यदि मानवता के लिए एक आदर्श लेकर उपस्थित होती है, क्षमा, न्याय और सहनशीलता की सजीव प्रतिमा है, कर्त्तव्यानुगामिनी है, पतिपरायणा है, अलौकिक है, तो असत् नारी घोर लौकिक है, निरंतर द्वंद्वमयी है, विध्वंसमयी महत्वाकांक्षा और अधिकारवासना से पूर्ण है, निज रूप के कारण दंभमयी है, प्रेम की असफलता में प्रतिहिंसामयी है और नारी की स्वभावज कोमलता से रहित होकर पौरुषी है -----"[२] यह पौरुषी वृत्ति नारी-सुलभ श्रद्धा तथा उदात्त गुणों के अनुकूल नहीं है। ~~यह भी~~

यह भी कहा जा सकता है कि " जब स्त्री अपनी यथार्थ प्रकृति को त्यागकर पुरुष की क्रूरता अपनाने का प्रयत्न करती है और उच्छृंखलता के कारण नाना प्रकार की दुरभिसंधियों में पड़ती है, तभी अंत में असफल होकर गिरती है। तब उसे नतमस्तक होना पड़ता है; और जब जीवन की पथ-प्रदर्शिका, 'सत् नारी' उसमें सुधार करती है -----।"[३]

१- कृपया कामायनी का इड़ा सर्ग देखें।

२- डा० शैलकुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी ; पृ० १५ -

३- डा० शैलकुमारी : आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना ; पृ० १५ -

—अध्याय ९

प्रसाद-साहित्य में नारीगत उपलब्धियाँ

प्रसाद - साहित्य में नारीगत उपलब्धियाँ

नारी समाज के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण एक नवीनता और क्रांति का परिचायक है। प्रसाद जी के पूर्व हिन्दी साहित्य में मुख्य रूप से नारी को दो दृष्टियों से देखा जाता था - (१) रीतिकालीन यौनजनित दृष्टि ; और (२) भारतेन्दु - कालीन इतिवृत्तात्मक दृष्टि।

रीतिकाल की यौनजनित दृष्टि में नारी के व्यक्तित्व का बहुत कुछ संकुचन हो गया था। भारतेन्दुकालीन इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण के अंतर्गत नारी के प्रति एक नवीन और अपेक्षाकृत स्वस्थ वातावरण का सृजन हुआ, किंतु उसे वह पुष्ट और सौष्ठवयुक्त व्यक्तित्व न मिल सका, जिसमें उसके अन्त: और बाह्य-सौंदर्य का समन्वय हो सके। इस काल की ब्रजभाषा - कविता में नारी के प्रेम का भावनात्मक परिष्कार अवश्य किया गया, किंतु खड़ीबोली काव्य में नारी का जो रूप चित्रित हुआ उसमें परिस्थितियों का वर्णनात्मक और बाह्य रूप अधिक मुखर होकर सामने आया। इससे नारी के प्रति बाह्य और सामाजिक दृष्टिकोण में अंतर अवश्य आया, किंतु उसकी भीतरी आत्मा का स्पर्श नहीं हो पाया। यहाँ तक कि हरिऔध " जी के काव्य में भी नारी के व्यक्तित्व का जो नवीनीकरण हुआ, उसमें नारी के समाज - सेवी रूप का इतिवृत्तात्मक वर्णन ही प्रधान रहा ; आत्मा की सुकुमार रागिनी का जीवन की विषम परिस्थितियों से मेल नहीं कराया जा सका। इन कमियों की पूर्ति हुई " प्रसाद " जी के साहित्य में। अब तक नारी को स्थूलता और मांसलता की दृष्टि से देखा जाता था। इस स्थूलता का परिहार " प्रसाद " के साहित्य में हुआ। प्रसाद जी ने नारी संबंधी समस्त स्थूलताओं को अन्त:दृष्टि की सूक्ष्मताओं के परिधान में परिवेष्ठित कर दिया। संभवत: प्रसाद जी के साहित्य की सबसे बड़ी देन यही नारी के व्यक्तित्व की सूक्ष्मता के आधार-शिला पर नवीन अभिव्यक्ति है। प्रसाद जी के साहित्य में नारी को जो महानता मिली उससे सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में नारी के व्यक्तित्व का उत्कर्ष हुआ और युगव्यापी कुंठाओं ने नारी को छोड़कर उन्हें नये ढंग से विकसित होने का अवसर प्रदान कर दिया।

प्रसाद के नारीगत दृष्टिकोण में रीतिकालीन परंपरा के प्रति विद्रोह -

रीतिकाल हिन्दी साहित्य की अंतर्मुखी प्रवृत्ति और भावनाओं के संकुचन के काव्य का काल था। इस युग के, कवियों की दृष्टि में साधारण मनुष्यों का कोई मूल्य न रह गया था। काव्य का विषय संकुचित था। १६वीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य का समय एक प्रकार से हिन्दी साहित्य के अंधकार और तंद्रा का काल था। सामाजिक पुरुषार्थ और मनोबल क्षीण हो चुका था। राजनीतिक जीवन में शांति, वैभव, और आलस्य का युग था। नरेशों के दरबार परंपरागत पद्धति से सजते थे, किंतु उनमें युद्ध-संधि, न्याय आदि विषयों पर विचार करने के लिए कोई प्रश्न सामने उपस्थित न था। आलस्य के क्षणों में विलास वृत्ति का जगना स्वाभाविक था। सामन्त युग की समृद्धि राजाओं को भोगविलास में आकंठ लिप्त करने के लिए पर्याप्त थी। यहाँ तक कि अवहेलित स्त्री (रानी या नायिका) के यौवन में फँसे हुए राजाओं को, उनके कर्तव्यों के प्रति चेतावनी देने की आवश्यकता भी पड़ जाया करती थी।[१]

कवि जनजीवन की अन्तरात्मा की ध्वनियों को प्रतिध्वनित करने वाले न रह गये। प्रशस्ति, मुद्रों की लालसा, भोग विलास और पुरस्कार पाने के प्रलोभनों ने उन्हें जनसमुदाय से दूर खींचकर दरबारों की सीमा में आबद्ध कर दिया। उनका मुख्य विषय हो गया, शृंगारिक कविताओं द्वारा अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना। भक्तिकाल की जो "गिरा" "प्राकृत-जन" के गुणगान करने में अपना अपमान समझती थी, वही अब प्राकृत जनों की भौतिक लालसाओं और इन्द्रिय एषणाओं का गुणगान करने में अपना परम सौभाग्य मानने लगी।

रीतिकालीन हिंदी काव्य के केन्द्र में एक ऐसी नारी खड़ी थी, जिसके

१- नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल
अली कली ही सों बिन्ध्यो, आगे कौन हवाल ।।

--"बिहारी" -

समग्र नारीत्व से केवल एक अनन्त उन्मादकारिणी एवं परिरम्भण-प्रिय नायिका का चित्र उभड़कर सामने आता था और इस चित्र के आगे उसके सभी वैभव लुप्त हो गए थे। उस काल में नारी का केवल एक ही कृतित्व रह गया था, उच्छृंखल नायक की कामजनित पिपासाओं की पूर्ति करना। उसकी मातृवत्सलता का उस युग में कहीं भी पता नहीं है। भगिनी रूप में वह कहीं भी इस युग में सामने नहीं आई है। पुत्री रूप में उसका चित्रण कहीं नहीं हुआ है। उसका अस्तित्व स्वकीया और परकीया के वर्गों में विभक्त होकर रह गया। नायक के प्रति उसका प्रेम भी हृदय से उत्पन्न होने वाला स्वाभाविक प्रेम नहीं था। नायक की आंखों में उसके उन्मादक अंगों की शोभा आकर ऐसे विकृत रूप में बस गई थी कि उसने कभी अनुकूल और कभी विपरीत रति की ऐहिक एषणाओं को ही जागृत किया। उस काव्य में कभी भी किसी उदात्त भावना का स्फुरण होता दिखाई न पड़ा। नायक यदि उस पर बहुत रीझ गया तो उसने कामुक भावना से कभी उसके अंगों को स्पर्श कर लिया। यदि उसका आकर्षण और भी बढ़ा तो हृदय में काम की उत्प्रेरणाएं झूलने लगीं, उरोजों में प्रलोभन के नेत्र उलझने लगे और कोई नायक श्याम किसी प्यारी की अनियारी आंखों में झूलकर वासनाओं की पेंग मारने लगा।[2] यहाँ तक कि त्रिवली नाभि आदि तक के वर्णनों में भी कवियों की रुचि रमी है।[3] नारी का व्यक्तित्व भी इस भूख की मादकता को बढ़ाने वाला ही सिद्ध हुआ।

१- छलिया छबीलो छैल छाती छुवै चल्यो गयो।

- पद्माकर -

२- काम झूलै उर में, उरोजनि में दाम झूलै,

स्याम झूलै प्यारी की अनियारी अँखियान में।

प्रो० शिवकुमार शर्मा : हिन्दी-साहित्य : युग और प्रवृत्तियां, पृ० ४४२

३- स्वेद बढ़्यौ तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसू, कपोलन लाली।

- देव।

यदि वह किसी नायक से प्रेम के बंधनों में बंधी दिखायी पड़ी तो उसके हृदय के प्रभावित होने और न होने की चिंता उस काल के कवियों को न थी । उस प्रभाव का स्पष्ट आभास उसके अंगों में होने लगा और कामुक संवेदनायें उत्पन्न होने लगीं । यही नहीं उसने कभी रति की क्रियाओं से उब प्रकट न की । उसके व्यक्तित्व मे क्रांति का कहीं पता नहीं है । उसकी आत्मा में स्वाभिमान का कहीं अंश नहीं है । उसने पुरुष की इस कामुकता का कभी प्रतिकार न किया । वह इन लालसाओं के अबाध गति से बढ़ने में एक सहायिका के रूप में ही काम करती रही ।[1] इस प्रकार रीतिकाल की नारी का बचा हुआ जो भी अस्तित्व रह गया था, वह था केवल एक असामाजिक अस्तित्व ।

रीतिकाल में जिस समाज का भी चित्रण हुआ वह भारतीय संस्कृति के किसी समुन्नत रूप को सामने न ला सका । पुरुष की कामुक भावनाओं ने नारी की निर्दोष आत्मा को पूर्णतः वशीभूत कर लिया । वह मादकता में डूबी हुई एक ऐसे रूप में सामने आई, जिसके अंग - अंग पर उन्मादक अलंकरणों और अंगराग की शोभा तो अवश्य विद्यमान थी, किंतु उन अंगों को ढंक लेने के लिए मर्यादा का कोई पट न था ।

<u>प्रसाद जी के नारी दृष्टिकोण में भारतेन्दु-कालीन परंपरा का परिष्कार -</u>

भारतेन्दु युग हिंदी साहित्य के उद्बोधन और उन्नयन का काल था । भारतेन्दु जी स्वयं सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक धरातल पर एक नवीन क्रांति के अग्रदूत थे । उन्होंने रीतिकाल की सड़ांध को भावनाओं के नवोन्मेष के द्वारा प्रक्षालित करने का प्रयत्न किया । काव्य में खड़ीबोली के समावेश द्वारा उन्होंने एक नयी परंपरा को स्थिर किया और साहित्य की अन्य विधाओं के साथ ही काव्य के क्षेत्र में भी एक नूतन परिवर्तन उपस्थित किया । कविता

१- करति कोलाहलु किंकिनी , नूपुरी बीन मंजीर -

जनजीवन के अधिक निकट आई, किंतु लंबी परंपरा से चलनेवाले रीतिकाल का अंशतः प्रभाव अब भी बना रहा। राधा और कृष्ण अब भी कवियों के मस्तिष्क में यदि उच्छृंखल नहीं तो शिष्ट नायक-नायिका के रूप में अवश्य घूमते रहे। कविता के क्षेत्र में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विशिष्ट समस्याओं का समावेश हुआ, और नारी को लेकर पर्दा, विधवा-विवाह, अशिक्षा आदि कुप्रथाओं की बार-बार चर्चा हुई। इसी परंपरा को अग्रसर करते हुए द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मक ढंग से नारी के व्यक्तित्व का चित्रण हुआ, जिसमें सुधारक वृत्ति ही प्रधान थी।

नारी के प्रति दृष्टिकोण में निश्चित रूप से परिवर्तन का आरंभ हरिऔध जी के "प्रियप्रवास" और "वैदेही वनवास" से हुआ। रीतिकालीन शृंगार प्रिय और संयोग और वियोग की सीमाओं में सिमटी हुई राधा अब एक नये प्रोज्ज्वल, लोक संस्थापिका और सहानुभूतिमयी स्वरूप में सामने आई। कृष्ण ने अपना कामुक नायक रूप छोड़कर जननायक और लोकरक्षक रूप अपनाया। प्रेम की वासनाजनित उच्छृंखलता का युग समाप्त हो गया।[१] कर्मठ पुरुषार्थ, नेतृत्व और मानवता के दृष्टिकोण का आरंभ हुआ।

यही नहीं रीतिकालीन इस धारणा का कि संसार में केवल राधा ही एक रमणी हैं और उन्हीं का संयोग और वियोग संसार के प्राणिमात्र का संयोग-वियोग है, इस परंपरा का अंत भी हरिऔध जी ने किया। उन्होंने

१- ब्रज के लता पता मोहि कीजै
गोपी पद पंकज पावन की रज जामें सिर भीजै।
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै
श्री राधे मुख यह बर मुंह मांगो हरि दीजै।।
- भारतेन्दु -

जहाँ एक ओर राधा के मुख से ग्राम-वनिताओं के प्रति मानवोचित सहानुभूति व्यक्त करायी[1] वहाँ दूसरी ओर उन्होंने भगवती सीता के जीवन के उस विकटतम परिस्थिति का भी अंकन किया, जिसमें कानन-निवासिनी सीता के करुण-रोदन में वाल्मीकि आश्रम का समीपवर्ती सारा अरण्य रो उठा। मानवीय भावनाओं के उद्रेक की हिंदी काव्य में यह प्रथम और अत्यंत ही सशक्त प्रस्तावना थी।

उपाध्याय जी की रचनाओं में नारी के प्रति उदात्त भावनाओं का उद्रेक तो अवश्य मिला, किंतु उनका क्षेत्र केवल राधा और सीता तक सीमित रहा। यह दोनों पौराणिक नारियाँ थीं। दोनों के संबंध में हिंदू जनता के मन में कुछ निश्चित धारणाएँ पहले से विद्यमान थीं। अतः इनके व्यक्तित्व के चित्रण में कवि इनकी हृदय की महानता को ही चित्रित कर सका, जिसमें उदार भावनाओं का भंडार भरा था, किंतु उपाध्याय जी भारतीय नारी के विविध व्यक्तित्व को जीवन के विविध क्षेत्र में लाकर चित्रित न कर सके। वे अपने नारी पात्रों में सामाजिक चेतना का प्रभावकारी विकास नहीं दिखा सके। वे उसे पुरुषों की तुलना में समान अधिकारों की माँग करनेवाली क्रांतिकारिणी नारी के रूप में चित्रित न कर सके। हरिऔध ने भारतीय नारी की आत्मा का परिष्कार अवश्य किया, किंतु उसमें जीवनजनित विविधता, चेतना और गतिशीलता का संचार किया स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने।

<u>प्रसाद और उनकी नारीगत विशिष्ट उपलब्धियाँ</u>

द्विवेदीयुग के दो महान् कवियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से समग्र नारी के व्यक्तित्व की दो परिभाषाएँ दीं - प्रसाद ने नारी को श्रद्धा का समुज्ज्वल रूप माना और उन्होंने उसके जीवन का उद्देश्य भी स्थिर किया और वह उद्देश्य था-" जीवन के सुंदर समतल में पीयूष स्रोत की भाँति अविरल गति से बहती रहना[2]

१- " प्यारी जियें, जगहित करें, गेह चाहे न आवें। "
अयोध्यासिंह उपाध्याय : प्रियप्रवास :

२- प्रसाद : कामायनी, लज्जासर्ग ; पृ० ८४ -

इसके समानांतर गुप्तजी ने नारी के जीवन की परिभाषा करते हुए उसे करुणा का स्रोत माना, और उसके अबला रूप पर सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्होंने उसे "अंचल में दूध और आंखों में पानी" लिए हुए देखा।[१] स्वर्गीय प्रेमचंद ने भी नारी की विविध समस्याओं का परीक्षण किया और उन्होंने अपने उपन्यासों और अपनी कहानियों में नारी के बहुल व्यक्तित्व को समाज के यथार्थवादी परिपार्श्व में लाकर चित्रित किया, किंतु जहां तक हिंदी के आधुनिक कवियों का संबंध है, प्रसाद जी ही एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने नारी के जीवन की विकट परिस्थितियों का उल्लेख तो कम किया, किंतु नारी के व्यक्तित्व और अंतर्मन को यथार्थवादी और सांस्कृतिक धरातल पर लाकर पूरी आभा के साथ व्यक्त किया। "इन वर्षों के दौरान अब यह सच्चाई ज्यादा खुलती चली जा रही है कि हिंदी के कृतिकारों में सबसे विविध और बहुल, समृद्ध और दुर्लभ, विलक्षण और विशिष्ट नारी संसार की अनुभावना तथा अनुरंजना करने वाले अकेले प्रसाद ही हैं --।"[२]

व्यक्तिजनित भावोन्मेष -

प्रसाद जी के हृदयरूपी करुण राज्य में एक भावुक किशोर आरंभ में अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न छायावादी प्रतीकों का माध्यम ढूंढता रहा, किंतु विचारों और भावनाओं के पुष्ट होने की स्थिति तक पहुंचकर वही एक ऐसे दार्शनिक रूप में प्रकट हुआ जिसने व्यक्ति और समाज दोनों के अंतर्मन को पहचाना और दोनों को अपनी सशक्त लेखनी का सहारा देकर उभारा।

१- "अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध, और आंखों में पानी।"
मैथिलीशरण गुप्त - यशोधरा; पृ० [illegible] -

२- रमेशकुंतल मेघ, "आलोचना" [illegible]; पृ० ६६ -

प्रसाद जी का व्यक्तित्व किस प्रकार विशिष्ट नारी प्रभावों से अभिभूत हुआ, इसका विवेचन पहले किया जा चुका है[1]। भावुकता के धरातल से ऊपर उठकर दार्शनिकता, आध्यात्मिकता, और सामाजिकता के क्षेत्र में आने पर प्रसाद जी एक निर्णायक तत्वदर्शी की भाँति पुरुष और नारी के अस्तित्व की मीमांसा करने लगते हैं, और अपनी लेखनी से नारी के जितने दृढ़ व्यक्तित्वों का चित्रण वे करते हैं, उनमें उनका एक निश्चित उद्देश्य अंतर्निहित रहता है। उनकी प्रत्येक नारी इस द्वन्द्वात्मक संसार में एक समस्या लेकर आती है। प्रसाद जी उस समस्या का समाधान और नारी जीवन की समृद्धि का एक आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं। नारी की आंतरिक शक्ति की व्याख्या करना ही उनका मुख्य लक्ष्य रहा है।

प्रसाद की नारियाँ सामाजिक धरातल पर नवीन आनंदमय सृष्टि करने की प्रेरणा लेकर आती हैं। जहाँ उनमें लज्जा, उत्सर्ग, त्याग और समर्पण के गुण दिखाई पड़ते हैं, वहीं उनमें नेतृत्व के गुणों की प्रबलता भी देखने को मिलती है। काव्य, नाटक, कहानी, और उपन्यास सभी क्षेत्रों में प्रसाद ने ऐसी परिस्थिति अवश्य उत्पन्न की है, जहाँ पुरुष की तुलना में नारी अधिक नेतृत्व गुण से युक्त है, उनका यह नेतृत्व[2] आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनों क्षेत्रों में देखने को मिलता है।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक नारी का मूलन संस्कार -

प्राचीन धर्मग्रंथों में नारी के जिस महान् अस्तित्व की कल्पना की गई है, प्रसाद जी ने प्रत्यक्षत: देखा कि भारतीय समाज में नारी अधिकारों से वंचित होकर पुरुष के लिए एक दासी का जीवन व्यतीत कर रही है। प्रसाद जी का भावुक हृदय

१- "व्यक्तित्व संबंध में प्रसाद की नारी संरचना" शीर्षक देखिए।

२- श्रद्धा, ध्रुवस्वामिनी आदि।

इस विपर्यय पर क्रांतिकारी होकर खड़ा हो गया ।

प्रसाद के पूर्व बहुत से कवियों ने पौराणिक पात्रों को चित्रित किया था, किंतु प्रसाद ने अतिशय प्रसिद्ध पौराणिक पात्रों को नहीं लिया, क्योंकि उसमें ठीक छोड़कर नई बात कहने की संभावनायें नहीं थीं । इसीलिए प्रसाद ने पौराणिक पात्रों में से बहुत ही अप्रसिद्ध पात्रों को चुना, और उन्होंने उनकी एक नूतन व्याख्या प्रस्तुत की । उन्होंने अधिकांशत: ऐसे ऐतिहासिक पात्रों को अपने साहित्य के लिए चुना जिसकी व्याख्या अभी तक किन्हीं कवियों ने नहीं की थी । प्रसाद जी ने पुराण-प्रमाणित और इतिहास प्रसिद्ध उन नारीपात्रों के चित्रण का कार्य आरंभ किया, जिनका यत्र-तत्र नामोल्लेख तो मिलता है, किंतु जिनके गुणों के संबंध में कुछ सूत्र मात्र उपलब्ध हो पाते हैं, पूरा विवरण प्राप्त नहीं हो पाता । पौराणिक आधारों के साथ अपनी सक्रिय कल्पना का पुट देकर उन्होंने अनेक नारियों के प्रभावकारी व्यक्तित्व गढ़कर तैयार कर दिये । वे एक ऐसे कुम्हार थे जिसकी चाक पर घूमकर निकलने वाला हर नारी-पात्र एक सजीव प्रतिमा लेकर निकला ।

प्रसाद जी ने उपनिषदों में पाये जाने वाले नारीगत आदर्शों को भले ही वे सूत्र रूप में क्यों न प्राप्त हुए हों, ढूंढने, विस्तारित करने और उन्हें ऐसे पौराणिक पात्रों में आरोपित करने का यत्न किया है, जिन पर परिस्थिति और स्वभाव विशेष के कारण आरोपित किया जाना सर्वथा समीचीन था । उनका एक अपना दृष्टिकोण था । उन्होंने पुराणों में दिए गए प्रतीकात्मक भावों का मानवीय विश्लेषण किया है जैसे महाभारत में नागजाति से तात्पर्य सर्पों से माना गया है, इसी कारण जहां ऐसे व्यक्तित्व सामने आये हैं, उन्हें सर्प के रूप में ही चित्रित किया गया है । महाभारत का नागयज्ञ साधारणतया सर्पों के विनाश का एक महायज्ञ है।[१] किंतु प्रसाद जी ने इस यज्ञ को मनुष्यों द्वारा नागजाति की पराजय का यज्ञ माना है । इसीलिए महाभारत में जिस सरमा को सर्पिणी रूप में चित्रित किया गया है उसे प्रसाद जी ने नागजाति का प्रतिनिधित्व करने वाली

१- महाभारत, "आस्तीक पर्व" ; पृ० १६ -

मानवीय नारी कहा है। इसी प्रकार जिस ममता के लिए महाभारत में कुलिया शब्द कहा गया है,[1] उसे प्रसाद जी ने अपनी खोज के द्वारा कुरुवंशीय क्षात्रियजाति की नारी कहा है।

इसी प्रकार पुराणों में श्रद्धा को प्रजापति मनु की दुहिता और पथप्रदर्शिका दोनों माना गया है।[2] इसे व्यक्त करने की चिंता में प्रसाद जी इस उलझन में नहीं पड़े हैं कि श्रद्धा प्रजापति मनु की पुत्री और पत्नी दोनों किस प्रकार हो सकती है, इसके स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने मात्र इतना कहलवाया है कि तुम्हारे यज्ञों से बचे हुए अन्न को खाकर मैं पत्नी हूं।[3]

इस प्रकार प्रसाद जी ने उपनिषदों या पुराणों से लिए गए नारीपात्रों का मानवीकरण किया है, और उन्हें केवल साहित्यालोक की काल्पनिक नारी न मानकर यथार्थ जीवन की पूर्ण व्यवहृति प्रदान की है।

प्रसाद जी भारतीय विचारों के पोषक थे। उन्होंने उपनिषदों या पुराणों से जिन नारी पात्रों को अपने साहित्य के लिए चुना, उनमें से प्रत्येक को वे नये परिवेश में प्रस्तुत करना कदापि नहीं भूले हैं। उनके समक्ष नारी जीवन की तीन परिस्थितियां रही हैं। १- पौराणिक आदर्शों की महानता २- वर्तमान नारी जीवन की दयनीयता ३- और पाश्चात्य नारी जीवन की स्वच्छंदता। इनमें से प्रसाद जी ने क्रमशः पौराणिक परंपराओं से नारी जीवन के महान् आदर्श को और पाश्चात्य परंपरा से स्वच्छंदता के आदर्श को अपनाया है, किंतु प्राचीनता के आदर्शों के पालन और पाश्चात्य स्वच्छंदता के अनुकरण दोनों क्षेत्रों में प्रसाद जी ने अपना एक संतुलन रखा है और वह संतुलन है - नैतिकता का।

१- प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ, "प्राक्कथन" ; पृ० ५ -

२- ऋग्वेद ८।३।११ -

३- प्रसाद : कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ६२

ऐतिहासिक नारियां और उनकी नवीन अभिव्यक्ति -

प्रसाद जी ने अपने साहित्य में इतिहास- प्रमाणित नारियों को भी आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुरूप एक नवीन अभिव्यक्ति प्रदान की है। इतिहास के पृष्ठों में राजा महाराजाओं, सेनापतियों और उनके युद्धों आदि का तो विस्तृत वृत्तांत मिलता है, किंतु समाज की परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण उपलब्ध नहीं होता। इतिहास विभिन्न काल के नारी समाज की स्थिति के संबंध में मौन है। यत्र-तत्र कुछ रानी - महारानियों, बेगमों आदि के नाम अवश्य देखने को मिल जाते हैं, किंतु व्यापक रूप से स्त्री समाज की स्थिति ढूंढने वाले को निराश ही होना पड़ता है। जहां कुछ विशिष्ट गरिमायुक्त नारियों का नाम आया है[1], वहां उनके जीवनादर्श की महानता का ठीक - ठीक अंकन करने के लिए इतिहास हमारे सम्मुख बहुत ही क्षीण आधार प्रस्तुत करता है। उन आधारों पर किसी महान् व्यक्तित्व को गढ़कर खड़ा करना एक कठिन काम है।

प्रसाद जी ने ऐसे ही संकेतों को अपने विस्तृत अध्ययन का विषय बनाया। उन्होंने अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा दिये गये वृत्तांतों, शिलालेखों, गुफाचित्रों आदि का विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण किया। इसके साथ ही उन्होंने प्राचीन धर्मग्रंथों में उल्लिखित विशिष्ट विषयों पर दी गई व्यवस्थाओं का भी विवेचन किया, और उन आधारों पर नारी चरित्रों का सृजन भी किया।[2] ऐतिहासिक नारी पात्रों के नवीन चित्रण में प्रसाद जी का मुख्य उद्देश्य वर्तमान समाज की नारी संबंधी अनेक समस्याओं का ऐसे आधारों सहित समाधान प्रस्तुत करना था, जो भारत की धर्मप्राण जनता को सहज ही में स्वीकार्य हो सके।

१- राज्यश्री, जहांआरा आदि -

२- ध्रुवस्वामिनी।

सांस्कृतिक परिवेश में नारी -

प्रसाद जी ने नारी के व्यक्तित्व में अशिव तत्व की कभी कल्पना नहीं की। उन्होंने नारी को श्रद्धा, करुणा, लज्जा, समर्पण, समुन्नति आदि का प्रतिनिधि माना। उन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध नारियों में से उन्हीं को अपने साहित्य के लिए चुना जिनमें कल्पना के मंजुल संयोग से इनगुणों की सार्थक प्रतिष्ठा की जा सकती थी। युग विशेष की सामान्य सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने ऐसी नारी चरित्रों का अपनी कल्पना के बल पर सृजन किया[1] जो काल विशेष की गरिमा को शाश्वत सांस्कृतिक परिवेश में प्रकट कर सकें।

प्रसाद की कल्पना मुख्यरूप से भारतीय है। उनकी धारणा है कि नारीत्व का अर्थपूर्ण विकास सामंजस्य की आदर्श स्थापना में है। इसी समन्वय एवं सामंजस्य की आधारशिला पर उनके नारी चरित्रों का गठन हुआ है।

यहाँ तक कि पाश्चात्य संस्कृति से युक्त नारियों को भी प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के रंग में रंगकर प्रस्तुत किया है। कला, संगीत, नृत्य आदि के भौतिक वातावरण में पलकर भी उनकी अनेक नारियाँ भारतीय जीवनादर्श से युक्त हैं। प्रसाद जी ने जीवन की जिस समरसता को अपने काव्य का लक्ष्य बनाया है, उसकी पृष्ठभूमि में प्रमुख भूमिका ऐसी नारी संपन्न करती है, जिसमें पूर्ण सांस्कृतिक गौरव भरा हुआ है।

मनोवैज्ञानिक परिवेश में नारी -

रीतिकालीन काव्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए आधुनिक आलोचकों ने यथार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति पाई है। 'राकेश' ने रसों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में इस बात का समर्थन किया है। किंतु रीतिकाल ने काम

१- श्रद्धा, देवसेना, मालविका, आदि।

को अपनी सीमा बना दिया था। उसमें मनोवैज्ञानिक यथार्थ तो मिलता है, किंतु जीवन के अन्य अंशों का सर्वथा अभाव है। प्रसाद जी ने यथार्थ की सीमा 'काम' को ही नहीं माना, वरन् उन्होंने जीवन की विविध समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया। उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति अत्यंत ही व्यापक और सार्थक थी।

वास्तव में मनोवैज्ञानिक धरातल पर आकर प्रसाद जी नारी में दोनों प्रकार के गुणों - व्यक्तित्व की बहिर्मुखता और अंतर्मुखता, की कल्पना करने लगते हैं। उनकी परिभाषा में नारी अपनी हृदय की विभूतियों को अपने आप में समेटे अंतर्मुखी[1] व्यक्तित्व की है। किंतु जीवन के द्वंद्वमय संघर्षों के क्षेत्र में उतरकर उसी नारी का व्यक्तित्व पूर्णतया बहिर्मुख[2] हो जाता है। यहाँ तक उनका व्यक्तित्व उभरकर प्रभावकारी हो गया है कि प्राय: यह निश्चय करना कठिन हो जाता है, कि उनकी रचनायें नायिका प्रधान हैं अथवा नायक प्रधान।

प्रसाद जी को मानव मनोविज्ञान का प्रचुर ज्ञान था। उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों के बीच विभिन्न आचरण और व्यवहार तथा मनोवैज्ञानिक क्रिया - प्रक्रिया के विश्लेषण में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है। यही कारण है कि उनकी नारी कहीं अधिकारों के लिए संघर्षरत है, तो कहीं प्रणय की आकांक्षाओं से आपूर्ण। उसका व्यक्तित्व कहीं सामाजिक कर्तव्यों का प्रतिनिधित्व करता, तो कहीं उसका ज्योतिर्मय राष्ट्रीय स्वरूप झलकता दिखाई पड़ता है। एक ओर उसमें जीवन के संघर्ष हैं तो दूसरी ओर शान्ति की तरह छाया में सुख स्वप्नों के रेशमी गुच्छ अपनी मृदुलता फैला देते हैं। इस प्रकार उनकी नारी विविध

1- Introvert

2- Extrovert

व्यक्तित्व से युक्त है। कहीं पर उसका आत्मसम्मान जागृत दिखाई पड़ता है, तो कहीं वह अपने को त्याग की प्रतिमा के रूप में प्रकट करती है। कहीं वह प्रणय की भीख लेने की चेष्टा करती है, तो कहीं दुनियाँ की आँखों से छिपाकर किसी को अपने अंतःस्तल के सुरक्षित कक्ष में छिपाती हुई नजर आती है।

प्रसाद जी ने नारी के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में दार्शनिक और यथार्थवादी दोनों पक्षों को अपनाया है। उनकी नारी सामान्य परिस्थितियों में आशा, लालसा, उत्साह, लज्जा, करुणा आदि गुणों से युक्त है। नारी का, प्रसाद जी की परिभाषा में वास्तविक रूप भी यही है, किंतु प्रसाद जी इस बात को स्वीकार करते हैं, कि नारी को भी परिस्थितियों के थपेड़े में विभिन्न प्रकार के उन्माद, वासनाएँ, एषणाएँ, ईर्ष्या आदि आकर घेर सकते हैं। मानवी होने के नाते उसका इन विकारों से ग्रसित हो जाना कोई असंभव बात नहीं है, किंतु संवेगजनित आँधियों के शांत हो जाने पर उसका प्रांजल रूप सामने आता है और इसी प्रांजल रूप को अपनाकर वह जीवन के मार्ग पर सच्चे आनंद की सृष्टि कर सकती है।

प्रसाद जी फ्रायड की भाँति नारी को केवल कामजनित मूलप्रवृत्ति का एक पुंज नहीं मानते। कामवासना मनुष्य की ही नहीं, अपितु जीवमात्र की एक सार्वभौम आवश्यकता है। भारतीय नारी के जीवन के आदर्श इतने महान् हैं और वह समाज देश और विश्व की समृद्धि में अपने आपको इतना लीन कर देती है कि उसके सामने कर्तव्य और त्याग अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं; वासनाएँ गौण होकर तिरोहित हो जाती हैं।

समसामयिक समाज की नारी का उद्‌बोधन -

प्रसाद जी के युग में नारी का सामाजिक स्तर प्राय: दो प्रकार का था। एक प्रकार की नारी वह थी जो कि प्राचीनता, अशिक्षा, अंधविश्वास और रूढ़ियों में जकड़ी हुई थी और अपनी अधोगति में ही समाज द्वारा स्थिर आदर्शों के पालन में अपनी महानता मानती थी। दूसरे प्रकार की वे नारियां थीं जो शिक्षा और विचारों के मनोन्मेष के साथ युग के अनुरूप चलने के लिए तत्पर थीं। किंतु पाश्चात्य संस्कृति के उच्छृंखल आकर्षणों के निरंकुश रूप में बहता जाना भयावह था। इसलिए उनके सामने कमी थी तो केवल एक सच्चे मार्ग-दर्शक की।

प्रसाद जी ने नारी - जीवन की विविध समस्याओं के समाधान के लिए भारतीय और पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों और विचारधाराओं का गहन अध्ययन किया और उन दोनों के बीच एक प्रकार का मेल स्थापित करने का यत्न किया। वे इस निष्कर्ष तक पहुंचे कि पाश्चात्य उच्छृंखल प्रगल्भता की अपेक्षा भारतीय नारियों के लिए प्राचीन भारतीय आदर्श अधिक उपयोगी और अनुकरणीय हैं। यही कारण है कि उन्होंने ऐसी नारियों का विरोध किया जो समाज के उस उद्‌बोधन काल में वैयक्तिक स्वच्छंदता के नाम पर पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में भ्रमित हो रही थीं, या रोमानी धरातल पर मर्यादाहीन स्वच्छन्दता एवं भौतिकता का अनुसरण कर रही थीं। प्रसाद जी का विश्वास था कि अबाध भौतिक लालसाएं मनुष्य को अन्तत: सुख, संतोष और शांति के स्थान पर दुख, असंतोष और विक्षोभ ही देपायेंगी। इसीलिए नारी का निर्विघ्न रूप में भौतिक लालसाओं के पथ में आगे बढ़ते जाना प्रसाद की दृष्टि में उच्छृंखलता की सीमा में आता है, इसीलिए उपयोगी नहीं है। नाटककार मागन्धी के रूप में एक ऐसी नारी

१- प्रसाद : अजातशत्रु की प्रमुख नारी - पात्र।

पात्र को प्रस्तुत करता है जो भौतिक एषणाओं की आंधी में उड़ती हुई बहुत दूर तक चली जाती है। अंत में उसे उन लालसाओं की निस्सारता का आभास होता है और वह मानवीय धरातल की ओर पश्चाताप की स्वांस भरती हुई लौट आती है।

प्रसाद युग के नारी - समाज की सामयिक समस्याओं को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :-

(क) अशिक्षा की कमी ;
(ख) अंधविश्वास और रूढ़ियां ;
(ग) विवाह संबंधी विभिन्न समस्याएं ;
(घ) समाज में हीन स्थान और नारी की विभिन्न स्वतंत्रताओं की मांग ;
(ङ) स्वच्छंदता और समाजगत रूढ़ियां ;
(च) प्रेमगत समस्याएं ;
(छ) राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्र में नारी का स्थान।
(ज) नारी जीवन और गार्हस्थ्य।

प्रसाद जी ने अपने साहित्य में नारी की इन सभी समस्याओं को अपनाया। पिछले अध्यायों में यथास्थान इन समस्याओं का सविस्तार वर्णन किया जा चुका है। यहां तक कि उन्होंने नारी को समानता का अधिकार देते हुए जीवन के हर क्षेत्र में उसे स्वच्छंद गति से बढ़ने के अवसरों का समर्थन किया। विधवा - विवाह और अनिवार्य परिस्थितियों में सधवा के पति - परित्याग और पुनर्लग्न जैसी उलझी हुई समस्याओं का भी उन्होंने शास्त्र सम्मत समाधान ढूंढ निकाला।[1] उन्होंने नारी के विविध सामाजिक चरित्रों की सशक्त अभिव्यक्ति द्वारा उसे एक ऐसा नवीन और ठोस स्वरूप प्रदान किया जो हिन्दी साहित्य में ही क्या भारत के समग्र साहित्य में अनूठा है। यहां तक कि ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर भी नारी - जीवन की इतनी विपुल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत न कर सके।

---

1 ध्रुवस्वामिनी

वेश्यावृत्ति और प्रसाद जी का दृष्टिकोण -

समाज में नारियों का एक ऐसा भी वर्ग है, जिसे वेश्या कहा जाता है। वेश्यावृत्ति नारी के दुर्भाग्य की एक पराकाष्ठा है। इस वृत्ति के अंतर्गत नारी की आत्मा, उसका धर्म, उसका समाज और वह स्वयं पैसे के चंद टुकड़ों पर खुले आम बिकती है। समाज इस वृत्ति से अपनी ऐन्द्रिक पिपासाओं की पूर्ति करता है, और उन पिपासाओं की पूर्ति के उपरांत उनकी भर्त्सना भी करता है; उन्हें हेय भी मानता है। किंतु वेश्यायें समाज की कुत्सित भावनाओं की ही उपज हैं - समाज इसे भूल जाता है।

जिन्हें आज वेश्या की संज्ञा दी जाती है, उनका अस्तित्व देव संस्कृति से लेकर ऐतिहासिक प्रमाणों तक विद्यमान है। कभी इन्हें अप्सरा, गणिका, आदि सम्मानजनक संबोधनों से पुकारा जाता था। वैशाली की नगरवधुएं सांस्कृतिक और कलात्मक उत्कर्ष की प्रतीक मानी जाती थीं। कला, विद्या, संगीत आदि के आकर्षक केन्द्रों के रूप में इनके धाम व्यवस्थित हुआ करते थे। समय की गति और सामंतवादी व्यवस्था ने उनकी संगीत - प्रवीणता, उनकी कलात्मकता, उनकी नृत्य-निपुणता, उनकी वाक्पटुता और उनकी विदग्धता को एक अंधकार के चादर से ढंक दिया। यह एक अनिवार्य शर्त सी मान ली गई कि जहाँ नर्तकियां होंगी वहाँ वेश्यावृत्ति भी चलती होगी। कला के विविध क्षेत्रों में प्रवीण होने के उपरांत भी इन नारियों का जीवन घिनौना हो गया। यहाँ तक कि उनका क्षणमात्र के लिए संपर्क हो जाना समाज की आँखों में पाप के अंतर्गत माना जाने लगा।

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद और कविवर प्रसाद जी ने समाज की ऐसी नारियों की अन्तरात्मा को भी पहचानने का यत्न किया। प्रसाद ने इस कोटि में आने वाली नारियों के पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी पहलुओं पर विचार किया और उन्होंने देखा कि परिस्थितियों की विडम्बनाओं में पड़कर जिन नारियों ने वेश्यावृत्ति अपना ली है उनमें भी एक आत्मा है; और उनमें भी नारीत्व उत्पन्न करने के अवसर प्रदान किये जा सकते हैं। विशेषरूप में प्रसाद ने देखा कि उनकी यह

नारी एक ऐहिक सुख की लालसाओं और पुरुष की निरंकुश कामवासनाओं के गर्त में घिरा होने के कारण धूमिल हो गया है। उसे फिर से प्रक्षालित करने की आवश्यकता है। प्रसाद ऐसी नारियों की कलाप्रियता को समाज के लिए हितकर मानते हैं और रक्षणीय भी कहते हैं, किंतु जहां तक उनके वासनात्मक जीवन का संबंध है, प्रसाद ने इसे व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर माना। उन्होंने अपने काव्य, नाटक, कहानी, या उपन्यास में इस वासनात्मक पक्ष को कहीं भी पनपने का अवसर ~~कककक~~ नहीं प्रदान किया।

प्रसाद जी की इस कलाप्रियता को ध्यान में रखते हुए कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रसाद जी की नारियां " तीन कलाओं तथा विधाओं में प्रवीण हैं - १- संगीत और नृत्य २- प्रेम और रोमांस, ३- स्वच्छंदता और संस्कार। इस तरह प्रसाद की प्रेमिकाएं या युवतियां या रमणियां सुसंस्कृत (कल्चर्ड) भी है, तथा एक नागर सामंतीय संस्कृत में सांस्कृतिक (कल्चरल) भी। वे सभी कम से कम गान व प्रेम में तो बेहद चतुर हैं और पेशल हैं। यह उनमें से कुछ नारियों का दालमंडी के झरोखों वाला समसामयिक बनारसी पर्यावरण भी हो सकता है।[1]

यहां एक बात विचारणीय है। प्रसाद जी ने अपने जीवन में एक प्रौढ़ और विवेकशील व्यक्ति की भांति जीवन के अनेक क्षेत्रों से " नारियों का तरोताजा संपर्क तथा अनुभव लिया "[2] किंतु उन अनुभवों में उनकी शाश्वत संस्कृति के निर्माण की भावना ही प्रमुख रही। उसमें कवि की उच्छृंखल प्रवृत्तियां कहीं भी आगे बढ़कर सामने न आईं। उन्होंने उच्छृंखलता को जीवन का एक अभिशाप माना। उन्होंने अपने साहित्य में जिस नारी - जगत का निर्माण किया, वह जीवन के

१- रमेशकुंतल मेघ, ' ज्ञानोदय ' ; सन् ६२ ; पृ० ६६ -
२- वही ,, ,, ; पृ० ६६ -

यथार्थ और संस्कृति के आदर्शमय चट्टान पर निर्मित हुआ है। अत: हम इस कथन से सहमत नहीं हो सकते कि प्रसाद के साहित्य में "वास्तविक नारियों की छायाएं खोजना तो मुश्किल है ---- अलबत्ता उनके नारी - संसार से कुछ अनूठे और अनागत नतीजे हासिल हो सकते हैं।"[1]

प्रसाद जी का सारा साहित्य यथार्थ की आधारशिला पर होकर चला है। हाँ, उस आधारशिला को प्रसाद जी ने सदैव सांस्कृतिक गौरव के पुनीत जल से अभिषिक्त रखा है। निरावरण संस्कृति का उन्होंने कभी भी समर्थन नहीं किया। वेश्याओं के संदर्भों में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। प्रसाद जी ने जिस प्रकार समाज के प्रत्येक नारी - वर्ग को एक नया जीवन प्रदान किया, ठीक उसी प्रकार उन्होंने एक कुशल निर्णायक की भाँति वेश्या - समाज को भी सुधारने का और मानवधर्म स्वीकार करने का वह मार्ग प्रशस्त कर दिया जो पहले से अनेक कुंठाओं में ग्रस्त था।

<u>नारी और नारीत्व का स्पष्टीकरण -</u>

प्रसाद जी नारीत्व को एक ऐसा गुण मानते हैं, जिसे उनकी कल्पना में प्रत्येक नारी में विद्यमान होना चाहिए।

नारी समर्पणमयी है, किंतु इस समर्पण में उसकी दुर्बलता प्रमुख कारण नहीं है। नारी ने स्वेच्छया, त्याग, लज्जा और समर्पण को अपना अलंकार बनाया है। प्रसाद जी उसे इसी परिवेश में देखना चाहते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रसाद ने नारी की एक विशेष परिभाषा दी है, नारी श्रद्धा है, और उसकी सरलता के पीयूष स्रोत को प्रसाद जी जीवन के समतल मार्ग में निरंतर बहते हुए देखना चाहते हैं।[2]

१- रमेश कुंतल मेघ : "नारी की मुक्ति और महाकाव्य के कमल का खिलना।"
आलोचना, सन् [illegible] ; पृ० ६६ -

२- नारी तुम केवल श्रद्धा हो।
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में।
जयशंकर प्रसाद : कामायनी - "लज्जा सर्ग" ; पृ० ८४ -

कामायनी में प्रसाद ने नारी के सूक्ष्म और स्थूल दोनों आदर्शों की कल्पना की है। इस महाकाव्य की नारियों में एक और भावमयी श्रद्धा है, और दूसरी ओर तर्कमयी इड़ा। एक चित्रमूर्ति मातृमूर्ति है और दूसरी जनपद कल्याणी रानी इन्हीं के बीच प्रसाद जी ने नारी के शाश्वत स्वरूप की कल्पना की है।

" नारी दुर्बल है और अपने हृदय का समर्पण कर चुकी है। किंतु उसकी एक छायामूर्ति लज्जा है, जो चेतना के उज्ज्वल वरदान अर्थात् सौंदर्य की धात्री है, गौरव- महिमा तथा शालीनता सिखलाने वाली अध्यापिका है, और चंचल किशोर सुंदरता की रखवाली करनेवाली राधिका है। इस ढंग से प्रसाद नारी और नारीत्व का संकेत करते हैं।"[1]

नारी अपने नारीत्व में तदाकार होकर भी पुरुष तत्व के लिए समर्पणमयी है। उसका यह समर्पण किसी दैहिक स्वार्थ के कारण कदापि नहीं है। समर्पण उसके उदार हृदय की सहज एवं स्वाभाविक वृत्ति है। उसके संपूर्ण व्यक्तित्व पर लज्जा का एक कड़ा अंकुश बना रहता है। यही लज्जा उसे शालीनता सिखाती है और उसके व्यक्तित्व को विकसित करती है।

" पुरुष की हृदय - प्रतिमा नारी है, नारी की छाया प्रतिमा लज्जा है और लज्जा रति की प्रतिकृति है - इस निगूढ़ कामसूत्र को पकड़कर प्रसाद लज्जा को रति से तथा नारी को प्रीति से जोड़ देते हैं।"[2]

प्रसाद नारी और नारीत्व का तादात्म्य जीवन के एक ऐसे सुंदर समतल पर करते हैं, जहां पूर्ण समरसता की स्थिति है। जहां कोई दुख नहीं है, कोई द्वन्द्व नहीं है, कोई विकार नहीं है, कोई द्विविधा, संघर्ष, अशान्ति या क्षोभ नहीं है। जहां पूर्ण आनंद है - लौकिक और परलौकिक दोनों। पूर्ण समरसता की स्थिति में लौकिक और पारलौकिक का भेद भी मिट जाता है।

१- रमेश कुंतल मेघ : आलोचना सन् ५६ ; पृ० ६७-

२- वही ,, ,, : पृ० ६७ -

प्रसाद जी सब कुछ कहने के बाद भी चेतना (महाचिति) या चैतन्य (शिव) के धरातल को नहीं छोड़ते। प्रसाद ने "सौंदर्य" को चेतना का उज्ज्वल वरदान और "सत्य" को चेतना का सुंदर इतिहास माना है। "उनके सौंदर्य-तत्व में अनन्त आकांक्षाओं के सपने हैं तो सत्य तत्व में अखिल मानव-भाव है। किंतु भाव और स्वप्न दोनों का बिंदु एक है। वह है चेतना।"[1]

प्रसाद ने नारी को हृदय की भावनाओं और बुद्धि की चेतना शक्ति दोनों से युक्त माना है, किंतु नारी के लिए केवल बौद्धिक जगत संघर्षों का प्रभजाल उत्पन्न कर सकता है, अतः वे हृदय और बुद्धि का सम्यक् सामंजस्य ही नारी के प्रौढ़ व्यक्तित्व का आधार मानते हैं।

निष्कर्ष -

प्रसाद जी कोमल भावनाओं के कवि हैं। उनकी लेखनी में सत्यम्, शिवं एवं सुन्दरम् का अद्भुत समन्वय है। उनकी दृष्टि में जीवन का यथार्थमय सत्य शिवत्व की गुरुता है। शिवत्व की यह गुरुता भी उस समय तक सार्थक नहीं है, जब तक कि वह सुंदरम् की आभा से संपृक्त न हो।

पुरुष का पुरुषार्थ और नारी का नारीत्व दोनों मिलकर ही जीवन के मार्ग को सुकर बनाते हैं। प्रसाद जी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए पुरुष को शिव के रूप में मानते हैं, तथा स्त्री को शक्ति मानते हैं। मूलतत्व शिव को सबल और सक्रिय बनाने के लिए शक्ति की आवश्यकता है। शिव और शक्ति के निरंतर संघात से सृष्टि गतिमान होती है।

पुरुष की तुलना में प्रसाद की नारी अधिक सशक्त, वेगमयी और जागरूक है। उनका समूचा साहित्य पुरुष की अपेक्षा नारी के सशक्त चित्रण का एक सुंदर संकलन है। "वे नारियाँ केवल स्वतंत्र तथा स्वच्छंद होने के बावजूद, पुरुषों के संपर्क में बुद्धिमती तथा पुरुषों के संपर्क में भावुक होने के बावजूद जीवन संस्कारों को

१- रमेश कुंतल मेघ "आलोचना", सन् १९६६ ; पृ० ४७-

सुरक्षित करने में भी शीलवती एवं शीलमयी है। अत: इन की परिणति आत्मसम्मान के साथ-साथ त्याग और सेवा, उत्सर्ग और उन्माद में भी होती है। इस तरह आत्मरति से आत्मसम्मान और आत्मसम्मान से आत्मबलिदान के पन्थ पर चलनेवाली उनकी प्रमुख नारियां रूप और त्रिगुण में रोती तथा हंसती है।[1] अत: कह सकते हैं कि छायावादी कवियों में केवल प्रसाद ही नारी के जगत को इतने नजदीक से सम्मुख देख सके हैं।

प्रसाद जी ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से नारी के अंतर्मन की वृत्तियों को देखा और परखा है। उन्होंने एक ओर तो ऐसी नारियों को देखा है, जो सामन्तवादी विलास के वातावरण में सुख, ऐश्वर्य और कलात्मकता का जीवन व्यतीत करती हैं, और दूसरी ओर उन्होंने ऐसी नारियों को भी देखा है, जो निम्नवर्ग की हैं और जो अपनी रूढ़िग्रस्तता की सीमा से निकल सकने में समर्थ नहीं हैं। नारी के उपर्युक्त दोनों स्वरूप प्रसाद जी की दृष्टि से वास्तविक और यथार्थमय नहीं हैं। उनकी दृष्टि में नारी उदात्त आदर्शों की प्रतिनिधि है। उसके व्यक्तित्व उसकी भावात्मकता, उसकी करुणा, उसकी सहृदयता आदि को केवल वासनाओं की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वासनाओं से ऊपर उठकर भी उसका अपना एक निश्चित जीवन है, आत्मा है और अस्तित्व है। वह सृष्टिकारिणी और संहारकारिणी दोनों है। आपद्ग्रस्त परिस्थितियों में उसका व्यक्तित्व बहुत रूपों में प्रखर होकर सामने आता है, किंतु घोर प्रभंजन के अवसान के पश्चात् जिस प्रकार निर्मल आकाश शांत और स्वच्छ होकर सामने आता है, उसी प्रकार शांति और सुख के क्षणों में नारी जीवन की एक मादक अभिव्यक्ति उभर सामने आती है, और समस्त अवसादों को दूर कर एक मोहक और मधुमय वातावरण सृजित कर जाती है। वह तेजस्विनी भी है और मनस्विनी भी है। उसमें अंगारे भी हैं और प्रेम के

१- रमेशकुंतल मेघ, "आलोचना", सन् १९६५; पृ० ६६ -

भावुक पुष्पों की सुरभि भी है। वह भावनाओं के संसार में रमनेवाली एक अंतर्मुखी दृष्टि भी है और कर्म के बीहड़ और कंटकाकीर्ण मार्गों पर बहिर्मुख होकर बढ़नेवाली ओज की मूर्ति भी है। वात्सल्य उसकी अपनी विभूति है। करुणा उसकी अपनी शक्ति है, और लज्जा उसकी अपनी शोभा है। रति की प्रतिकृति होती हुई भी वह जीवन के सुंदर समतल में अजस्र प्रवाह लेकर बहनेवाली एक सरिता है - पीयूष-स्रोत से भरी हुई। उसे रूठना भी आता है और इतराना भी। रीतिकालीन कवियों के लिए वह क्रीड़ामात्र नहीं है, वरन् वह कामायनी बनकर रूठे हुए पति के पीछे-पीछे बहुत दूर तक बहनेवाली समर्पणमयी नारी है, तो वही कहीं नपुंसकता, क्लीवत्व और पापाचरण का तीव्र विरोध करनेवाली ध्रुवस्वामिनी भी है। कहीं नारी के व्यक्तित्व की प्रखरता इड़ा के रूप में जनकल्याण के रक्षार्थ प्रेम के प्रस्ताव को निर्मम रूप से ठुकराकर आगे बढ़ती है, तो कहीं उसके हृदय की प्रेममयी भावाकुलता कोमा के रूप में संघर्षशील संसार की सीमाओं में आबद्ध हो जाती है।

प्रसाद जी पर छायावादी या रोमांटिक प्रभाव भी है। उन्होंने एक अभिसारिकामयी नारी को भी देखा है और उसके उस खिलखिलाते हुए यौवन को भी। ~~देखा है~~, जहाँ कवि को इस बात का अंकुश लगाना पड़ता है कि नारी अपनी भावुकता में कहीं अपने आपको इतना न उछाल दे कि सारा संसार उसकी निरर्थकता को देख सके। आँसू में उनकी एक ऐसी वेदना व्यक्त हुई है जो अपने आप में रहस्यमयी होती हुई भी बहुत व्यापक है, साथ ही बहुत ही स्पृहणीय भी है।

इन सभी रूपों में प्रसाद ने जिस नारी को अंकित किया है उसका चित्र बहुत ही भव्य और अपने-आप में पूर्ण है।

परिशिष्ठ

(क) प्रसाद की रचनाओ की सूची

(ख) सहायक संदर्भ

(ग) अंग्रेजी सहायक संदर्भ

(घ) पत्र-पत्रिकायें

परिशिष्ट (क)

प्रसाद की रचनाओं की सूची -

(क) चंपू -

१- उर्वशी - १९०६ ई० में प्रकाशित ।

२- बभ्रुवाहन - इंदु, कला ८, किरण १२, सं० १९६८ वि० में प्रकाशित ।

(ख) प्रबंध काव्य -

१- अयोध्या का उद्धार - इंदु, कला १, किरण १०, सं० १९६७, वैशाख में प्रकाशित ।

२- वनमिलन - 'वनवासिनी बाला' के नाम से इंदु, कला १, किरण ६, पौष १९६६ में प्रकाशित ।

३- प्रेमराज्य - इंदु, कला १, किरण ४, कार्तिक १९६६ वि० में प्रकाशित ।

(ग) उपलब्ध काव्य ग्रंथ

१- चित्राधार - प्रारंभिक रचनाओं का प्रथम संकलन, १९१८ ई०। (इसमें स्तंभ (क) और (ख) की रचनायें संकलित हैं।)

२- कानन कुसुम - द्वितीय संस्करण १९१८ ई०, चित्राधार के प्रथम संस्करण के अंतर्गत ।

३- प्रेमपथिक - प्रथम संस्करण, जुलाई १९१४ ।

४- झरना - प्रथम संस्करण १९१८, सन् १९२७ में संशोधित संस्करण ।

५- आंसू - प्रथम संस्करण १९२५, साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी ।

६- करुणालय - १९२८, भारती-भंडार, काशी ।

७- महाराणा का महत्व - १९२८, भारती-भंडार, काशी ।

८- लहर - प्रकाशन काल १९३३ ई०, भारती-भंडार, प्रयाग ।

९- कामायनी - प्रकाशन काल १९३५, भारती-भंडार ।

(घ) नाटक -

१- राज्यश्री - प्रकाशन काल १९१५ ई०, भारती-भंडार, काशी ।

२- विशाख - प्रकाशन काल १९२१ई०, हिन्दी ग्रंथ भंडार, कार्यालय, बनारस ।

३- अजातशत्रु - प्रकाशन काल १९२२ ई०, हिन्दी ग्रंथ भंडार कार्यालय, बनारस ।

४- कामना - प्रकाशन काल १९२६ ई० ।

५- जनमेजय का नागयज्ञ - प्रकाशन काल १९२६ ई०, साहित्य रत्नमाला, कार्यालय, बनारस ।

६- स्कंदगुप्त - प्रकाशन काल १९२८ ई०, भारती-भण्डार, बनारस सिटी ।

७- एक घूंट - प्रकाशन काल १९३० ई० भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।

८- चंद्रगुप्त - प्रकाशन काल १९३१ई०, बाबू अम्बिकाप्रसाद ; सराय गोवर्द्धन, बनारस ।

९- ध्रुवस्वामिनी - प्रकाशन काल १९३३ई०, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।

(ङ) उपन्यास-

१- कंकाल - ग्यारहवां संस्करण, संवत् २०२२वि०, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

२- तितली - बारहवां संस्करण, संवत् २०२१, भारती-भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

३- इरावती	- भारती-भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद संवत् २००० ।

(घ) कहानी संग्रह -

१- छाया	- प्रकाशन काल १९१२ ई० ।
२- प्रतिध्वनि	- प्रकाशन काल १९२६ ई०, साहित्य सदन, झांसी
३- इन्द्रजाल	- प्रकाशन काल १९३६ ई०, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
४- आकाशदीप	- प्रकाशन काल १९२९ ई०, भारती भंडार, काशी , प्रयाग।
५- आंधी	- प्रकाशन काल १९३१ ई०, भारती- भंडार, प्रयाग

(ङ) विविध -

१- काव्य और कला तथा अन्य निबंध -	- सं० १९९६ , प्रथम संस्करण, भारती- भंडार लीडर प्रेस , प्रयाग।
२- प्रसाद संगीत	- २०१३ वि० , प्रयाग , भारती भंडार

परिशिष्ट (ख)

सहायक ग्रंथ -

१- इन्द्रनाथ मदान	- जयशंकर प्रसाद , जालंधर प्रथम संस्करण।
२- डा० उदयभानु सिंह	- छायावाद , प्र०सं० , दिल्ली सामयिक प्रकाशन, १९५७ ।
३- डा० उर्वशी जे० सूरती	- आधुनिक हिन्दी कविता में मनोविज्ञान , प्र० सं० १९६६ ।
४- कन्हैयालाल पोद्दार	- संस्कृत साहित्य का इतिहास, राजस्थान प्रेस कलकत्ता, १९३८ ।
५- कन्हैयालाल सहल तथा विजयेन्द्र स्नातक	- कामायनी -दर्शन, दिल्ली, प्र०सं० १९५५ ई० ।
६- कमल साहित्यालंकार	- कामायनी दर्शन।

७- कला और कीर्ति - प्रसाद का जीवन दर्शन

८- कालिदास - रघुवंशम्, सं० चंडीप्रसाद सेन, प्रयाग, रामना० २००६ वि० ।

९- कामेश्वर प्रसाद - प्रसाद की काव्य प्रवृत्ति ।

१०- किशोरीलाल गुप्त - प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन ।

११- कुमार विमल - छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन ।

१२- केदारनाथ शुक्ल - (क) प्रसाद की कहानियाँ
(ख) प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी

१३- के० पी० वैद्य - प्रसाद का साहित्य ।

१४- कृष्णदेव प्रसाद गौड़ - प्रसाद का साहित्य ।

१५- प्रो० कृष्णदेव झारी - छायावाद और उसके चार स्तंभ, २००१ वि०

१६- गणपतिचंद्र गुप्त - (क) आधुनिक काव्य में प्रेम और सौंदर्य
(ख) आधुनिक साहित्य और साहित्यकार -

१७- गणेश खरे - (क) प्रसाद के प्रगीत
(ख) युग कवि प्रसाद

१८- गुलाबराय - (क) प्रसाद जी की कला
(ख) प्रसाद जी का काव्य, आगरा साहित्य-रत्नमंदिर, १९५६ ई० ।

१९- चंद्रकली त्रिपाठी - भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास-

२०- डा० चक्रवर्ती - प्रसाद की दार्शनिक चेतना -

२१- जगदीश गुप्त - छायावाद की भावभूमि -

२२- जगदीश चंद्र जोशी - प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, प्रथम संस्करण, संवत् २०१६ वि० -

२३- जगदीश नारायण - प्रसाद के नाटकीय पात्र, साहित्य निकेतन, कानपुर, १९५७ ई० ।

२४- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, सरस्वती मंदिर, बनारस ।

२५- जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल - हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, षष्ठ संस्करण, १९६७ -

२६- के० एन० दीक्षित - प्रसाद के नाटकीय पात्र -

२७- लक्ष्मीन्द्रशेखर शुक्ल - कामायनी और दिग्दर्शन -

२८- श्री तारकनाथ बाली - जयशंकर प्रसाद और अजातशत्रु -

२९- देवराज - भारतीय संस्कृति महाकाव्यों के आलोक में -

३०- देवराज उपाध्याय - आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान ।

३१- देवेश ठाकुर - प्रसाद के नारी चरित्र ।

३२- द्वारिका प्रसाद मिश्र - कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, विनोद पुस्तक मंडार, आगरा सं० २०१४ -

३३- धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य कोश, 'ज्ञानमंडल बनारस', सं० २०१५ -

३४- नंददुलारे वाजपेयी - जयशंकर प्रसाद, प्रयाग, तृतीय संस्करण ।

३५- नगीनचन्द्र सहगल - कामायनी दीपिका, १९६१ ई० ।

३६- डा० नगेन्द्र - विचार और अनुभूति -

३७- नामवरसिंह - छायावाद, १९५५ ई० -

३८- निर्मल तलवार - प्रसाद, प्र०सं० आगरा, साहित्य प्रतिष्ठान सं० २०२० -

३९- पट्टाभि सीतारमैया - कांग्रेस का इतिहास (१८८५- १९३५)

४०- परशुराम चतुर्वेदी - भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें, प्रयाग सा०भ०लि०, १९५५ ई० ।

४१- प्रभाकर माचवे - व्यक्ति और वाङ्मय, दिल्ली, साहनी प्रका० १९५१ ई० ।

४२- प्रशान्तकुमार वेदालंकार - वैदिक साहित्य में नारी ।

४३- प्रेमनारायण टंडन - प्रसाद के तीन नाटक ।

४४- प्रेमशंकर - प्रसाद का काव्य ।

४५- फतहसिंह - कामायनी सौन्दर्य, तृतीय संस्करण, सं० २०१९ ।

४६- डा० बच्चनसिंह - बिहारी का नया मूल्यांकन, संस्करण प्रथम, १९

४७- बलदेव उपाध्याय - संस्कृत साहित्य का इतिहास, बनारस सन् १९५३ ।

४८- भवभूति - उत्तररामचरित, बनारस, चौ०सं० सं०सी०, २००६ वि० ।

४९- भागीरथ दीक्षित - कामायनी - विमर्श, पु०स०, १९६५ ।

५०- भोलानाथ तिवारी - कवि प्रसाद, दिल्ली, राजकमल प्रका० १९६० ई०।

५१- महादेवी वर्मा - आधुनिक कवि, भाग १, द्वि०सं० प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सं० २००३ ।

५२- महादेवी वर्मा - (क) "यामा", १९३९ ई० किताबिस्तान, इलाहाबाद ।
(ख) "रश्मि" १९३२ ई० साहित्य भवन, प्रयाग ।
(ग) "सान्ध्य-गीत", १९३६ ई०, टेम्पुल आफ मिस्टिसिज्म प्रयाग ।

५३- महावीर अधिकारी - प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, दिल्ली, आत्मा० एंड सं०, १९५५ ई० ।

५४- डा० माधुरी दुबे - (क) हिन्दी साहित्य में कुछ नारी पात्र, प्र०सं०, दिल्ली, १९६८ ।
(ख) हिन्दी गद्य का वैभवकाल प्र०सं०, दिल्ली, १९६७ ।

५५- माधुरी वाजपेयी - प्रसाद के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों का अनुशीलन, प्र०सं०, वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९६९ ।

५६- माणिक्य सिंह - प्रसाद का कथा साहित्य, वाराणसी, आनंद पु०मं०, १९५७ ई० ।

५७- मैथिलीशरण गुप्त - (क) यशोधरा, प्र०सं० १९३२ -
(ख) साकेत, प्र०सं० १९३१ -

५८- डा० मोती चंद्र - काशी का इतिहास -

५९- यदुवंशी - शैव धर्म -

६०- योगेन्द्र शुक्ल - कामायनी अध्ययन और समीक्षा, प्रेन्टिस बुक डिपो, पृ० सं० १९५९ -

६१- रमाकान्त त्रिपाठी - हिन्दी आर्यसिद्धशती, चौखम्बा प्रकाशन १९६५ -

६२- रमाशंकर त्रिपाठी - प्राचीन भारत का इतिहास -

६३- राजबली पाण्डेय - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, सं० २०१४ वि०, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

६४- रामकुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रयाग, रामना० १९५१ ई०।

६५- रामजी उपाध्याय - (क) भारत की संस्कृति साधना।
(ख) प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति।

६६- रामजी उपाध्याय - संस्कृत साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद, सं० २०१८ -

६७- रामधारी सिंह दिनकर - अर्धनारीश्वर, कलकत्ता, जनवाणी प्रका० १९५२।

६८- रामधारी सिंह दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय, दिल्ली राजपा० के० १९५६ ई०।

६९- रामनाथ शुक्ल - कवि प्रसाद की काव्य साधना, १९ ई०, छात्र हितकारी पुस्तक माला-प्रयाग।

७०- रामरतन भटनागर - (क) प्रसाद की विचारधारा, प्रयाग रामना० १९५१ ई०।
(ख) प्रसाद साहित्य और समीक्षा, साहित्य प्रकाशन दिल्ली १९५८ ई०।
(ग) प्रसाद का जीवन और साहित्य, देहली, राजपाल प्रकाशन, १९५१ ई०।

७१- रामलाल सिंह - कामायनी अनुशीलन, इलाहाबाद, सं०२००२।

७२- रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल - प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक, प्रयाग सा० का० १९ ई०।

७३- रामेश्वर प्रसाद खंडेलवाल - आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य दिल्ली नेश०पब्लि०हा०, १९५८ ई० ।

७४- रामानन्द तिवारी 'भारतीनंदन' - काव्य का स्वरूप, प्र०सं०, भरतपुर, भारती मंदिर, १९६८ ।

७५- रामानन्द तिवारी 'भारतीनंदन' - सत्यं शिवं सुन्दरम्, प्र०सं०, प्र०भाग, मेरठ प्रकाशन प्रतिष्ठान, १९६३ ।

७६- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, अष्टम संस्करण, सं० १९६८ ।

७७- वाचस्पति पाठक - प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी की श्रेष्ठ रचनायें, प्र०सं० इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन, १९६६।

७८- वाचस्पति गैरोला - संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा, विद्याभवन वाराणसी, सं०२०१७ ।

७९- विजयनारायण मणि त्रिपाठी - हिन्दू विधि, गायत्री प्रेस, इलाहाबाद, १९६६ ।

८०- विजयेन्द्र स्नातक, राधेश्याम खण्डेलवाल- - महाकवि प्रसाद, दिल्ली १९६० ई० ।

८१- विश्वमोहन शर्मा - कवि प्रसाद : आंसू तथा अन्य कृतियाँ, नागपुर प्रतिभा प्रका०, १९५२ ई० ।

८२- विनोदशंकर व्यास - प्रसाद और उनका साहित्य, [illegible] सदन- बनारस, १९४० ई० ।

८३- विशम्भर 'मानव' - प्रसाद और उनकी कविता ।

८४- विश्वनाथ - कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस १९५९ ई० ।

८५- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य, वाराणसी विश्वविद्यालय प्रकाशन १९६८ ई० ।

८६- शंकर सदाशिव जावडेकर - आधुनिक भारत(अनु०) हरिभाऊ उपाध्याय । दिल्ली, सस्ता सा० मं०, १९५३ ई० ।

८७- शंभूनाथ पाण्डेय - प्रसाद की साहित्य साधना, आगरा, प्र०सं० २०१४ वि० ।

८८- शंभुनाथ पाण्डेय - नाटककार प्रसाद, आगरा, विनोद पु० मं०, १९५२ ई०।

८९- शंभुनाथ सिंह - छायावाद की सौंदर्य दृष्टि -

९०- शंभुनाथ सिंह - छायावाद युग, बनारस, सरस्वती मंदिर, १९५२ ई०।

९१- शिखरचंद जैन - प्रसाद का नाट्य चिंतन आगरा, सा०र० मं० १९५१ ई०।

९२- शिलीमुख - प्रसाद की नाट्यकला।

९३- डा० शिवकरण सिंह - स्वच्छंदतावाद एवं छायावाद का तुलनात्मक अध्ययन, प्र० सं०, १९६५।

९४- शिवकुमार मिश्र - कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा, रवि प्रकाशन कानपुर, सन् १९७०।

९५- डा० शिवकुमार शर्मा - हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, चतुर्थ संस्करण, १९६८।

९६- डा० शैलकुमारी - आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना, प्रथम संस्करण १९५१।

९७- श्रीधर पाठक - आर्य महिला।

९८- श्यामसुन्दर व्यास - हिन्दी महाकाव्यों में नारी चित्रण।

९९- सत्यकेतु विद्यालंकार - भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास। मंसूरी सर० स० १९५३ ई०।

१००- सरला दुआ - आधुनिक साहित्य में नारी १९६६ ई०।

१०१- साने गुरुजी - भारतीय संस्कृति, तृतीय संस्करण, १९६४।

१०२- सुधाकर पाण्डेय - प्रसाद की कविताएँ, वाराणसी, आराधना प्रका० १९५८ ई०।

१०३- सुमित्रानंदन पंत - छायावाद पुनर्मूल्यांकन, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, प्र० सं० १९६५ ई०।

१०४- सुमित्रानन्दन पंत - (क) पल्लव, प्र०सं० १९२६ ई०
(ख) युगान्त प्र०सं० १९३६ -
(ग) युगवाणी, प्र०सं० १९३९ -
(घ) ग्राम्या, द्वि० सं० १९४२ -

१०५- स्नातक - महाकवि प्रसाद -

१०६- स्नेहलता श्रीवास्तव - प्रसाद की विचार एवं शक्ति -

१०७- सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' - (क) तुलसीदास प्र०सं० १९३८ -
(ख) जुही की कली -
(ग) परिमल, प्र०सं० १९२९ -
(घ) अनामिका, प्र०सं० १९२३ -
(ङ) गीतिका, १९३६ -

१०८- हरदत्त वेदालंकार - भारतीय संस्कृति का इतिहास -

१०९- हरदेव बाहरी - प्रसाद काव्य विवेचन

११०- हरदेव बाहरी - (क) हिन्दी साहित्य की रूपरेखा -मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, बनारस, पटना।
(ख) प्रसाद साहित्य-कोश, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि० ।

१११- हरनारायन सिंह - छायावाद काव्य तथा दर्शन।

११२- हरिकृष्ण प्रेमी - जादूगरनी, प्र०सं० १९३२ ।

परिशिष्ट (ग)

पत्र - पत्रिकायें -

१- आलोचना — जनवरी १९५३
अप्रैल १९५६ -

२- उपलब्धि — हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ
विद्यापीठ, वाराणसी - २ ।

३- कल्याण	- (नारी विशेषांक)
४- नागरी प्रचारिणी पत्रिका	- संवत् २०१७
	संवत् २०१८ -
५- माधुरी	- २६ अगस्त १९३७,
	जनवरी १९३८ -
६- साहित्य संदेश	- ३ नवम्बर १९३७ ई०
	सितम्बर १९३८ ई०
७- संगम	- १८ फरवरी, १९५१ -
८- ज्ञानोदय	- मई १९६९ ।

परिशिष्ट (घ)

अल्टेकर	- द पोजीशन आफ विमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन -
इन्दिरा	- स्टेटस आफ वुमन इन एन्श्यंट इंडिया
उपाध्याय	- वीमन इन ऋग्वेद -
एस० सी० उपाध्याय	- कामसूत्र आफ वात्स्यायन -
क्लैरिसे बेडर	- वुमन इन एन्श्यंट इंडिया -
ह्यूज	- दि साइकोलोजी आव विमन, प्रथम पोथी
राधेकृष्ण ल्यारा	- ग्रेट विमेन आफ इंडिया -
शकुंतला राव शास्त्री	- वुमन इन वैदिक ऐज १९५२ -
स्वामी माधवानंद, रमेशचंद्र मजुमदार	- ग्रेट वुमन आफ इंडिया प्रथम संस्करण १९